देवाय तस्मै नमः

भारतीय दर्शन का इतिहास

निखिलमनुजचित्तं ज्ञानसूत्रैर्नवैर्यः
स्रजमिव कुसुमानां कालरन्ध्रैर्विधत्ते ।
स लघुमपि ममैतं प्राच्यविज्ञानतन्तुं
उपहृतमतिभक्त्या मोदता मे गृहीत्वा ।।

जो मनुष्य मात्र के हृदयों को समयरूपी छिद्रों मे होकर पुष्प माला के समान पिरोये हुए नये नये ज्ञान-तन्तुओं द्वारा निबद्ध करता है, वह परम शक्ति मेरे द्वारा भक्ति-पूर्वक अर्पित पूर्वीय ज्ञान राशि का यह सूत्र तुच्छ होते हुए भी गृहण करने की अनुकम्पा करे ।

भारतीय दर्शन का इतिहास

भाग–१

लेखक

एस० एन० दासगुप्त

अनुवादक

कलानाथ शास्त्री

सुधीरकुमार

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–४

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
उपलब्ध कराए गए कागज से निर्मित ।

प्रथम अनूदित संस्करण : 1978
Bhartiya Darshana Ka Itihas

मूल्य 20·00

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए–26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर–302004

मुद्रक :
शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस
अलवर–301001

भूमिका

भारत की प्राचीन सभ्यता–कला, स्थापत्य, साहित्य, धर्म, नीति तथा विज्ञान–जितना कि वह तब तक विकसित हो पाया था–इन सबका एक समन्वित मूर्त रूप था। किन्तु भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैचारिक उपलब्धि थी दर्शन। यही समस्त मूर्धन्य व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक गतिविधियो का चरम लक्ष्य माना जाता था तथा विविध प्रकार की जातियो वाले इस विशाल भूभाग की सामासिक सस्कृति मे जो विविधता है–उसमे एकता तथा तादात्म्य स्थापित करने वाला यही एक बिन्दु था। यदि भारत की इस एकता को ढूंढना है तो वह आपको न तो विदेशी आक्रमणो के इतिहास मे प्रतिबिम्बित मिलेगी न समय-समय पर हुए विभिन्न राज्यों के उद्‌भव में, न किसी भी महान् सम्राट् के साम्राज्य-विस्तार मे। वास्तव मे यह एकता हमारी प्राचीन सस्कृति की एक आत्मिक आकांक्षा का फल थी, उन आध्यात्मिक सिद्धान्तो के महत्वबोध का फल थी–जो अन्य सभी मूल्यों की बजाय कही अधिक महत्वपूर्ण माने जाते थे–और यह भावना विभिन्न राजनीतिक परिवर्तनो के युगो की लम्बी यात्रा के बाद आज भी यो की यो जीवन्त है।

जिन आक्रमणकारियो ने इस भूमि पर कब्जा किया और जनता पर शासन किया चाहे वे यूनानी हो, हूण हो, शक हों, पठान हों या मुगल हों, वे यहां के जनमानस पर शासन नही कर पाए। ये राजनीतिक उथल-पुथले इसी तरह आती और जाती रहीं जैसे तूफान आता और जाता है, मौसम आते और जाते है–एक सामान्य प्राकृतिक या भौतिक घटना के रूप मे, जिसका प्रभाव हिन्दू सस्कृति की आध्यात्मिक एकता पर कभी नही पडा। यदि आज कुछ शताब्दियो की निष्क्रियता के बाद भारत मे पुन: एक चेतना आ रही है तो वह उसकी अपनी मूलभूत एकता, प्रगति और सभ्यता की अपनी थातियो के बल पर है न कि किन्ही ऐसे मूल्यो की वजह से जो उसने किसी अन्य देश से उधार लिए हो। इसीलिए जो कोई भारतीय सस्कृति की महत्ता तथा क्षमताओ का सही अध्ययन करना चाहता हो उसके लिए यह अनिवार्य सा हो जाता है कि वह भारतीय विचार दर्शन के इतिहास का सही अर्थों मे अध्ययन करे क्योकि वही एक धुरी है जिसके चारों ओर भारत के उन मूल्यो का विकास होता रहा है जो यहां की सर्वोत्तम उपलब्धि कही जा सकती हैं। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओ के प्रचार ने पहले ही बहुत बडी हानि कर रखी है कि भारत की सस्कृति और भारत का दर्शन स्वप्निल और अमूर्त है। इसलिए यह अत्यावश्यक है कि भारत के लोग तथा बाहर के लोग भारतीय वैचारिक इतिहास के वास्तविक स्वरूप से अधिकाधिक अवगत हो तथा इसके विशेष तत्वो का सही मूल्याकन कर पाएं। किन्तु भारत का सही अर्थों मे तात्पर्य समझने के लिए या भारत के विचारों के इतिहास के अभिलेख के रूप

मे भारतीय दर्शन का अध्ययन आवश्यक हो केवल यही बात नही है–दरअसल आधुनिक युग में जिन समस्याओं पर आज भी दार्शनिक विचार मथन होता रहता है उनमें से अधिकाश ऐसी हैं जिन पर किसी न किसी रूप में प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने भी विचार किया है। उन विचारकों के विमर्शों, कठिनाइयों तथा निष्कर्षों पर यदि हम आज की आधुनिक समस्याओ के परिप्रेक्ष्य में दृष्टि डालें तो आधुनिक विचारों के भावी इतिहास पर बहुत महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ सकता है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का पुनः प्रकाश में लाना और उनके महत्व और सदर्भों की व्याख्या आधुनिक दर्शन के क्षेत्र में उतने ही महत्व की युगान्तरकारी घटना सिद्ध हो सकती है जितनी संस्कृत भाषा की खोज आधुनिक भाषाशास्त्रीय अनुसधान के क्षेत्र मे सिद्ध हुई है। यह खेद की बात है कि अब तक भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के पुनर्निर्वचन और पुनर्मूल्यांकन का कार्य व्यापक पैमाने पर प्रारम्भ ही नही हो पाया है। कुछ अपवादो को छोडकर सस्कृत पडितो ने भी इस महत्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा ही की है क्योकि अधिकांश पडितों की रुचि दर्शनो की अपेक्षा पुराणो मे, भाषाशास्त्र मे या इतिहास में अधिक रही है। वैसे बहुत बडी सख्या मे महत्वपूर्ण मूल ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है और उनमे से कुछ का अनुवाद भी हुआ है। इस प्रकार कुछ काम तो हुआ है किन्तु सस्कृत के दार्शनिक वाङ्मय मे उच्च स्तर की शास्त्रीय सज्ञाओ का प्रयोग होने के कारण, जो अनुवादों मे भी प्रयुक्त हुई है, इन अनुवादो मे से अधिकाश उन पाठको लिए दुर्बोध हैं जो इन शास्त्रीय सज्ञाओ से परिचित नही है।

इस दृष्टि से प्रमुख दर्शन शाखाओ का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए भारतीय दर्शन का एक समूचा सामान्य विवेचन उन पाठको के लिए आवश्यक हो जाता है जो किसी एक दर्शन शाखा का और अधिक गहन अध्ययन करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त दर्शन मे रुचि लेने वाले सामान्य पाठको के लिए एव पाश्चात्य दर्शन के अध्येताओ के लिए भी जिनको किसी विशेष भारतीय दर्शन-शाखा का विशिष्ट अध्ययन करने की इच्छा या समय नही है किन्तु जो भारतीय दर्शन के बारे मे कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसी पुस्तक आवश्यक हो जाती है। 'द स्टडी आफ पतजलि' तथा 'योग फिलोसफी इन रिलेशन टू अदर इण्डियन सिस्टम्स आफ थाट' नामक मेरी दो पुस्तको मे मैंने साख्य और योग दर्शनो का विवेचन, उनके अपने सिद्धान्तो तथा अन्य दर्शनो से उनके सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए, करने का प्रयत्न किया है। अब यह प्रस्तुत ग्रन्थ इन दर्शनो के तथा अन्य समस्त दर्शनो के महत्वपूर्ण सिद्धान्तो के विवेचन तथा उनके पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन विशेषकर उनके विकास के इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे उनकी समीक्षा करने का प्रयत्न है। मैंने जितना सम्भव हो सका, मूल ग्रन्थो के ही पदाको पर चलने का प्रयत्न किया है तथा सस्कृत और पाली की उन संज्ञाओ को भी उन अध्येताओ की सुविधा के लिए दे दिया है जो इस ग्रन्थ के मार्गदर्शन मे आगे और अध्ययन करना चाहते है। इन संज्ञाओ का प्रारम्भिक ज्ञान तो अध्येता के लिए

निश्चय ही आवश्यक है ता कि वह दार्शनिक सिद्धान्तों के आधारभूत तत्त्वों को सही तरह से समझ सके।

संस्कृत ग्रन्थों में प्रतिपादान-शैली तथा विभिन्न विषयों के विवेचन की पद्धति किसी भी आधुनिक दर्शन ग्रन्थ की शैली से बिल्कुल विभिन्न प्रकार की पाई जाती है। इसलिए पहले मुझे प्रत्येक दर्शन शाखा के विभिन्न ग्रन्थों से सामग्री संकलित करनी पड़ी और फिर मैंने उन सबके आधार पर पूरी दर्शन शाखा का एक ऐसा स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया जो संस्कृत ग्रन्थों की शैली से अपरिचित पाठक के लिए भी सुविधा से बोधगम्य हो सके।

इसके बावजूद भी मैंने उस स्थिति को बिल्कुल अवांछनीय समझा है कि भारतीय चिन्तन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि वह योरपीय ही लगने लगे। यदि किसी योरपीय पाठक को इस पुस्तक मे कुछ स्थल कठिन या विचित्र लगें तो उसका प्रमुख कारण यही है। किन्तु भारतीय चिन्तको के सिद्धान्तों और अभिव्यक्तियो को सही रूप मे प्रस्तुत करते हुए मैंने उन्हे इस प्रकार की व्यवस्थाबद्ध पद्धति में समन्वित करने का प्रयत्न भी किया है जो उनके संकेतो और आशयों के अनुरूप प्रतीत हुई। ऐसा बहुत कम हुआ है जबकि किसी भारतीय सज्ञा को पाश्चात्य दर्शन की संज्ञा से अनूदित किया गया हो और ऐसा तभी किया गया जबकि वे पाश्चात्य संज्ञाएँ भारतीय संज्ञाओ के आशय के निकटतम जान पड़ी। अन्य सभी स्थानों पर मैंने अनुवाद के रूप मे उन्हीं शब्दो का प्रयोग किया है जो किसी विशिष्ट तकनीकी अर्थों मे रूढ़ नही हुए हैं और निरापद है। यह काम कठिन होता है क्योंकि जो शब्द दर्शन मे काम आते हैं वे कोई न कोई पारिभाषिक अर्थ अवश्य ले लेते हैं। इसलिए पाठको से निवेदन है कि उन शब्दो को वे उनके अतकनीकी और अप्रतिबद्ध अर्थों मे ही लें तथा जिन सदर्भों मे वे प्रयुक्त हुए हैं उनके अनुरूप ही उन्हे समझे। किसी अध्याय मे यदि कोई बात अस्पष्ट और दुरुह लगे तो उसका समाधान ध्यानपूर्वक पुन. पढ़ने से हो सकता है ऐसी मेरीआशा है, क्योंकि कई बार अपरिचय भी सही अवबोध के मार्ग मे बाधा बन जाता है। यह अवश्य हो सकता है कि कई जगह जहाँ सक्षेप अनिवार्य हो गया हो, पूर्ण व्याख्यात्मक विवेचन नही हो पाया हो। इन दर्शनो मे भी कभी-कभी ऐसी कठिनाइयाँ आती हैं क्योकि कोई भी दर्शन शाखा कठिन और दुरुह स्थलो से मुक्त नही रह पाती।

यद्यपि मैंने वेदों और ब्राह्मणो के युग से ही प्रारम्भ किया है किन्तु उसका विवेचन सक्षिप्त ही है। वैसे भी दार्शनिक चिन्तन के विकास का प्रारम्भ यद्यपि परवर्ती वैदिक सूक्तो मे प्रतिबिम्बित मिलता है तथापि उस समय वह इतना सुव्यवस्थित नही था।

ब्राह्मण ग्रन्थों मे यद्यपि अधिक सामग्री है किन्तु उस युग के चिन्तन के बिखरे सूत्रों को अधिक विस्तार देना मैंने उपयुक्त नही समझा। उपनिषद् काल पर मैं अधिक

विस्तार से लिख सकता था किन्तु उस विषय पर योरप में अनेक पुस्तकें पहले ही प्रकाशित हो चुकी हैं और जो लोग विस्तार में जाना चाहते हैं वे उन्हें अवश्य देखेंगे। इसलिए मैंने अपने आपको पूर्ववर्ती उपनिषदों की प्रमुख धाराओं तक ही सीमित रखा है। अन्य चिन्तन-धाराओं का विवेचन दूसरे भाग में अन्य दर्शन-शाखाओं की व्याख्या करते समय किया जाएगा जिनसे वे अधिक सम्बद्ध हैं। यह स्पष्ट होगा कि प्रारंभिक बौद्ध दर्शन के विवेचन मे कुछ स्थलों पर मैंने सर्वांगपूर्ण व्याख्या नही की है। उसका प्रमुख कारण यह है कि तत्सबधी ग्रन्थो की प्रकृति सर्वांगपूर्ण नही रही है क्योंकि वे बुद्ध के बहुत समय बाद सवादों के रूप मे लेखबद्ध किए गए थे जिनमे दर्शनोचित सुसम्बद्धता और शास्त्रीयता आवश्यक नही समझी गई थी। यही कारण है कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन की समस्याओ के निर्वचन के बारे में आधुनिक बौद्ध विद्वानों मे अनेक मत उद्भूत हो गए है और निष्पक्ष रहते हुए उनमे से किसी भी एक को अन्तिम सत्य नही कहा जा सकता। वैसे भी, इस ग्रन्थ का उद्देश्य भी यह नही है कि ग्रन्थों के ऐसे मत-मतान्तरो का अधिक विस्तृत विवेचन किया जाए, तथापि अनेक जगह मैंने स्वयं अपने मत भी प्रतिपादित किए हैं। वे सही हैं या गलत इसका निर्धारण मैं विद्वानो पर ही छोड़ता हूँ। किसी मत पर वाद-विवाद या शास्त्रार्थ करने का अवकाश इस ग्रन्थ मे नही था किन्तु आप यह अवश्य पाएँगे कि दर्शन शाखाओ के मेरे निर्वचन कुछ स्थलों पर योरपीय विद्वानो द्वारा किए गए उनके निर्वचनो से विभेद रखते हैं, यह बात मैं उस विषय के विशेषज्ञो पर छोड़ता हूँ कि हममे से कौन अधिक सही हैं। बगाल के नव्यन्याय पर मैंने अधिक नही लिखा है जिसका कारण स्पष्ट है। नव्यन्याय का मुख्य स्वरूप यही है कि पारिभाषिक अभिव्यक्तियो मे लक्षणो को ऐसे यथार्थ और तकनीकी शब्दों मे परिभाषित किया जाए कि तार्किक निर्वचन और शास्त्रार्थ मे वही कसावट बनी रहे। इनकी शब्दावली का अंग्रेजी मे अनुवाद करना लगभग असभव ही है। फिर भी मैंने दार्शनिक दृष्टि से इसमे जो भी महत्वपूर्ण विशेषताएँ पाईं उन सबको शामिल कर लिया है। विशुद्ध तकनीकी स्वरूप के शास्त्रार्थों की इस प्रकार के ग्रन्थ मे कोई सार्थकता भी नहीं थी। अन्तिम छ अध्यायो मे विभिन्न दर्शन-शाखा की जो पुस्तक सूची दी गई है वह स्वत. पूर्ण नही है, केवल उन ग्रन्थो की सूची है जिनका वस्तुत अध्ययन किया गया था उन अध्यायों के लिखने मे जिनसे सहायता ली गई। उन स्थितियो मे ग्रन्थो की पृष्ठ सख्या का भी हवाला सामान्यत. दे दिया गया है जिनमे निर्वचन मे मतभेद सम्भावित है या जहाँ यह प्रत्याशित है कि मूल ग्रन्थ के सदर्भ लेने से विषय और स्पष्ट होगा या जहाँ आधुनिक लेखकों के मतों को भी शामिल किया गया है।

यहाँ मुझे माननीय महाराजा सर महेन्द्र चन्द्र नन्दी के. सी. आई. ई कासिम बाजार, बगाल के प्रति विनीत कृतज्ञता ज्ञापित करने मे बहुत प्रसन्नता हो रही है जिन्होंने कृपापूर्वक इस ग्रन्थ के दोनों खण्डों के प्रकाशन के सम्पूर्ण व्ययभार को वहन करने की सहर्ष स्वीकृति दी है।

इन महाराजा ने शैक्षणिक और अन्य महत्वपूर्ण कार्यों का अपनी उदार दान-शीलता द्वारा जो उपकार किया है वह इतना महान् है कि इस गरिमामय व्यक्ति का नाम आज बंगाल के घर-घर में आदर से लिया जाता है। अब तक वे 3 लाख पौण्ड दान कर चुके हैं जिनमे से 2 लाख पौण्ड शिक्षा के लिए ही हैं। इनका व्यक्तित्व इन दान कार्यों की अपेक्षा भी कही अधिक महान् है। इनका उदात्त चरित्र, विश्वजनीन बन्धुत्व भावना, उदारता, सहृदयता, सबने उन्हे सच्चे अर्थों मे बोधिसत्व ही बना दिया है। मैने ऐसे उदात्त व्यक्तित्व बहुत कम देखे हैं। बंगाल के अन्य अनेक विद्वानों की भाँति मुझ पर भी उनका उपकार-भार है क्योंकि उन्होंने मेरे अध्ययन, शोध आदि को जितना प्रोत्साहन दिया है उसके लिए मैं किन शब्दो में उनका आभार और कृतज्ञता व्यक्त करूँ, नहीं जानता।

इस पुस्तक के प्रूफ पढ़ने मे मेरे आदरणीय मित्र डा ई जे टामस (केम्ब्रिज विद्यालय पुस्तकालय) तथा श्री डगलस ऐनसली ने भी जो श्रम किया है और मेरी अँग्रेजी मे भी कई जगह सुधार किया है उसके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ। डा. टामस ने अनेक सस्कृत शब्दों के अनुलेखन मे भी सहायता की तथा अनेक स्थलों पर महत्वपूर्ण सलाहे दी, विशेषकर पुनर्जन्म के कारण के बौद्ध सिद्धान्त की व्याख्या को तो मैं उनके साथ हुए लम्बे विचार-विमर्श की ही देन मानता हूँ।

मेरे मित्र स्वर्गीय श्री एन के सिद्धान्त एम ए (स्काटिश चर्चेज कालेज) का भी मै कृतज्ञ हूँ और मदाम पाल पोवी का भी, जिन्होंने अनुक्रमणिका बनाने मे सहायता की। इस ग्रन्थ के प्रकाशन द्वारा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस के अभिषद् सदस्यों ने भी मुझे उपकृत किया है। उन्हे भी धन्यवाद।

भारतीय दर्शन के उन अध्येताओं से जो यह ग्रंथ पढ़ने की कृपा करें और इसमें दोष और कमियाँ पाएँ, मैं हेमचन्द्र के शब्दों में यही निवेदन कर सकता हूँ—

> प्रमाण-सिद्धान्तविरुद्धमत्र यत्किंचिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात्।
> मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाधाय विशोधयन्तु॥*

ट्रिनिटी कालेज, कैम्ब्रिज,
फरवरी 1922

एस. डी.
(सु. दासगुप्ता)

---

* अपनी मन्दमति के कारण मैंने यहाँ प्रमाण और सिद्धान्त के विरुद्ध यदि कुछ कह दिया हो तो उस पर बुरा मानने की बजाय उदारचेता विद्वान् उसका शोधन करने की कृपा करें।

विषय-सूची

अध्याय-१

प्रारंभिक

अध्याय-२

वेद, ब्राह्मण और इनका दर्शन

अध्याय-३

प्रारम्भिक उपनिषद

अध्याय–४

भारतीय दर्शन प्रणाली का सामान्य विवेचन

अध्याय–५

बौद्ध दर्शन

अध्याय-६

जैन दर्शन

अध्याय-७

कपिल एवं पातंजल सांख्य (योग)

अध्याय-८

न्याय-वैशेषिक दर्शन

अध्याय–९

मीमांसा दर्शन

अध्याय–१०

शंकर का वेदान्त दर्शन

अध्याय १

प्रारंभिक

दर्शन के क्षेत्र मे प्राचीन भारतीय विचारको की उपलब्धियो के बारे मे समूचे विश्व मे आज जितनी सी जानकारी है वह नितान्त अपूर्ण है और यह दुर्भाग्य की बात है कि स्वय भारत मे स्थिति कोई बहुत अच्छी नही है। ऐसे हिन्दू पडित तथा एकान्त मे कही शान्त जीवन विता रहे सन्यासी विद्वान् बहुत थोड़े से होगे जो इस विषय के अधिकारी विद्वान् है पर उन्हे भी अग्रेजी नही आती तथा आधुनिक विचार-प्रक्रिया से भी वे अवगत नही है। उन्हे यह भी पसद नही कि वे दर्शन का ज्ञान सर्वसाधारण तक पहुँचाने हेतु जनभाषाओ मे किताबें लिखे। योरप एव भारत की विभिन्न विद्वत्सस्थाओ, विद्वात्परिवारो और विद्वानो के प्रयत्नो के फलस्वरूप सस्कृत तथा पाली के अनेक दार्शनिक ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ है, उनमे से कुछ का अनुवाद भी हुआ है किन्तु उनके अध्ययन तथा सही मूल्याकन की दिशा मे विद्वानो द्वारा अब तक कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नही किया गया। भारतीय दर्शन की प्रत्येक प्रणाली पर सैकडो सस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध है पर उनके शताश का भी अनुवाद नही हो पाया है। योरपीय विचारधारा से हमारे भारतीय दर्शन की अभिव्यजना शैली जिसमे कठिन दार्शनिक सज्ञाएँ बहुत आती है, इतनी भिन्न है कि पाश्चात्य भाषाओ मे उनका बिल्कुल सही अनुवाद हो पाना अत्यन्त कठिन है। इसलिए संस्कृत से अनभिज्ञ किसी भी व्यक्ति के लिए केवल अनुवाद से उस दार्शनिक विचार सरणि को सही सही मायनो मे पकड पाना असम्भव सा ही है। पाली सस्कृत की अपेक्षा सरल है पर पाली केवल बौद्ध दर्शन के उन प्रारम्भिक मतो की जानकारी मे ही सहायक हो सकती है जो उस समय अर्द्ध-दर्शन की सी प्रारभिक अवस्था मे थे। संस्कृत सामान्यत. एक कठिन भाषा ही समझी जाती है किन्तु जिसे वैदिक संस्कृत या सामान्य सस्कृत भाषा का ही परिज्ञान हो उसे दार्शनिक ग्रन्थों मे प्रयुक्त तार्किक एव जटिल संस्कृत शब्दशैली का कोई अन्दाजा नही हो सकता। चाहे वेदो, उपनिषदो, पुराणो, धर्मशास्त्रो तथा काव्यो का किसी को पर्याप्त ज्ञान हो, साथ ही योरपीय दर्शनशास्त्र का भी पूर्ण ज्ञान हो फिर भी उसके लिए गूढ तर्कशास्त्र के, ऊँचे ग्रन्थ के या द्वैतवेदान्त के किसी ग्रन्थ के एक वाक्य का समझना भी पूर्णत: असम्भव होगा। इसके दो कारण है—एक तो बहुत सक्षिप्त सूत्रात्मक पारिभाषिक सज्ञाओं का प्रयोग तथा अन्य प्रणालियों के पारिभाषिक सिद्धान्तों के उनमें छिपे संदर्भ। यद्यपि सस्कृत दर्शन की यह एक विशिष्ट प्रवृत्ति रही है कि दार्शनिक समस्याओं को स्पष्ट तथा निश्चितार्थ-बोधक शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त किया जाए किन्तु नवी शताब्दी

के बाद से स्पष्ट, निश्चितार्थ बोधक तथा ग्रतिसक्षिप्त ग्रभिव्यक्तियों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति बहुत ग्रधिक बढ़ती गई जिसके फलस्वरूप बड़ी मात्रा मे दार्शनिक पारिभाषिक सज्ञाएँ उद्भूत होती गईं। इन संज्ञाग्रों की ग्रलग से कोई व्याख्या भी नही की गई, यह माना जाता रहा कि जो पाठक दर्शन ग्रन्थों को पढ़ता है वह इनका ग्रर्थ जानता ही होगा। प्राचीन काल में जिस किसी को भी इन ग्रन्थो का ग्रध्ययन प्रारम्भ करना होता, वह किसी गुरू की सहायता लेता जो उसे इन पारिभाषिक सज्ञाग्रो का ग्रर्थ समझाता। गुरू को यह ज्ञान ग्रपने गुरू से मिला होता था ग्रौर उसे फिर ग्रपने गुरू से। दर्शन के ज्ञान को जन साधारण तक पहुँचाने की कोई प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नही होती थी क्योंकि यह धारणा उन दिनो ग्राम थी कि दर्शन के ग्रध्ययन के ग्रधिकारी कुछ चुने हुए लोग ही हो सकते है जो ग्रन्य सभी तरह से ग्रपने ग्रापको इसके लिए योग्य सिद्ध कर किसी गुरू से यह शास्त्र सीखे। जिनके पास ऐसी कुव्वत तथा उदार नैतिक शक्ति होती थी कि वे ग्रपना समस्त जीवन दर्शन के सही ग्रध्ययन मनन के लिए निछावर कर सके तथा उसके तथ्यो को ग्रपने जीवन मे उतार सके — वे ही इसके ग्रध्ययन के पात्र समझे जाते थे।

एक ग्रन्य कठिनाई जो प्रारम्भिक ग्रध्येताग्रो को ग्राती है वह यह है कि कई बार एक ही पारिभाषिक सज्ञा विभिन्न दर्शन शाखाग्रो मे नितान्त विभिन्न ग्रर्थो मे प्रयुक्त की जाती है। इसलिए दर्शन शास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह ग्रावश्यक है कि वह प्रत्येक दर्शन मे प्रत्येक दर्शन के प्रसगानुसार पारिभाषिक शब्दो के विशेष रूपो ग्रौर ग्रर्थो से परिचित हो जिसके लिए उसे किसी शब्दकोश से प्रकाश प्राप्त नही हो सकता। विभिन्न प्रयोगो के ग्रनुसार इन शब्दो के ग्रर्थ दर्शनशास्त्र मे जैसे-जैसे गति होती है, बोधगम्य होते जाते है। विद्वान् एव पडित पाठको को भी दर्शनशास्त्र की जटिल मीमासा, वाद-विवाद एव ग्रन्य दर्शनो के दृष्टातो एव सकेतो को समझने मे कठिनाई एव मति-भ्रम हो जाता है। क्योंकि किसी भी व्यक्ति से यह ग्राशा नही की जा सकती कि वह सभी दर्शनो के ग्रन्य सिद्धान्तो का ग्रध्ययन किए बिना ही जानता हो, ग्रत इन व्याख्याग्रो एव मीमासाग्रो के प्रश्नोत्तरो को समझने मे ग्रत्यन्त कठिनाई प्रतीत होती है। सस्कृत साहित्य मे भारतीय दर्शन के मुख्य ग्रगो का सक्षिप्त वर्णन दो महत्वपूर्ण ग्रन्थो मे पाया जाता है। सर्वदर्शन सग्रह तथा हरिभद्र द्वारा रचित षड्दर्शन समुच्च जिस पर गुणरत्न की टीका है, इनमे से प्रथम ग्रन्थ साधारण कोटि का है ग्रौर किसी भी दर्शन की जीव विकास विज्ञान ग्रथवा भौतिक ज्ञान मीमासा सम्बन्धी विचारधाराग्रो को समझने मे विशेष सहायक सिद्ध नही होता। कॉवेल ग्रौर गफ महोदय ने इस ग्रन्थ का ग्रनुवाद किया है परन्तु सम्भवत. यह ग्रनुवाद ग्रासानी से समझ मे नही ग्रा सकती। गुणरत्न द्वारा लिखित टीका जैन तत्त्वो पर बडे सुन्दर ढग से प्रकाश डालती है ग्रौर कभी-कभी ग्रन्य दर्शन सम्बन्धी एव तत्कालीन पुस्तक सामग्री के सम्बन्ध मे भी टिप्पणियों एव सूचनाग्रो के लिए महत्वपूर्ण है परन्तु सिद्धान्तो एव मतों की मीमासा ग्रथवा व्याख्या से

सम्बन्धित विशिष्ट प्रकाश नहीं डालती जो भारतीय दर्शन के विशिष्ट अगों को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अत किसी ऐसी पुस्तक के अभाव मे जो भारतीय विचारकों की मनोवैज्ञानिक तथा शास्त्रीय अवधारणाओ और सिद्धान्तो को स्पष्ट कर सके, एक संस्कृत के विद्वान् पडित के लिए भी जिसको दर्शनशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का परिचय हो, उच्च दर्शन शास्त्रीय साहित्य को समझना कठिन है। भारतीय दर्शन के अध्ययन मे उपरोक्त कठिनाइयों के होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति पारिभाषिक शब्दो का परिचय प्राप्त कर लेता है और विभिन्न भारतीय विचारकों की मुख्य स्थापना एवं प्रतिपादन के ढग को समझ लेता है तो प्रयत्न करने पर उसे कोई विशेष कठिनाई का अनुभव नही होगा। प्रारभिक अध्ययन मे जो पारिभाषिक शब्द कठिन प्रतीत होते है वे कुछ समय पश्चात् लेखक के सही मन्तव्य और तात्पर्य को समझने मे अत्यन्त मूल्यवान् सिद्ध होते है, साथ ही लेखक के अभिमत के विषय मे किसी प्रकार की भ्रान्ति या संदेह होने की सम्भावना नही रहती। यह सर्वविदित ही है कि पारिभाषिक शब्दों का सम्यक प्रयोग न होने पर दार्शनिक ग्रन्थ शब्दजाल परिपूर्ण एवं जटिल लगने लगते है, साथ ही अर्थ भ्रम की सम्भावना भी रहती है। सुगम एवं सुबोध लेखन एक ऐसा गुण है जो बहुत कम पाया जाता है और प्रत्येक दार्शनिक से इसकी आशा भी नही की जा सकती परन्तु जब पारिभाषिक शब्द एवं शास्त्रीय कथोपकथन की पद्धति निर्धारित कर दी जाती है तो साधारण लेखक भी सरलता से अपने विचारो को सही सही समझ सकता है। इस पुस्तक मे भी ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं जो विभिन्न स्थलो पर अनेक अर्थों पर प्रयुक्त हुए है और जिनके कारण ठीक प्रकार से सही अर्थो को समझने में कठिनाई होती है।

प्रश्न यह है कि क्या भारतीय दर्शन के इतिहास को लिखने की कोई आवश्यकता है ? कुछ लोगो का मत है कि सही अर्थ मे भारतीय दर्शन नाम की कोई वस्तु नहीं है। क्योकि भारतीय दर्शन केवल साधारण निष्ठा और विश्वासों पर ही आधारित है और वह साधारण सीमा से ऊपर नही उठ सका है। कोर्नेल विश्वविद्यालय के आचार्यफ्रैंक थिल्ली ने अपनी पुस्तक 'दर्शन के इतिहास' मे कहा है–'विश्व दर्शन का इतिहास सभी जातियो के विचार दर्शन का इतिहास होना चाहिए। परन्तु सभी राष्ट्रो मे क्रमबद्ध वास्तविक विचार दर्शन नही पाया जाता और बहुत कम ऐसे देश है जिनके वैचारिक विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मिलती है। बहुत से ऐसे है जो पौराणिक गाथाओं के स्तर से ऊपर नही उठ पाए है। यहाँ तक कि पौर्वात्य राष्ट्रो की जैसे हिन्दू, मिस्री, चीनी सस्कृतियो के दर्शन भी गाथाओ और आचार नियमो के सिद्धान्तो तक ही पहुँच पाए है। इन सस्कृतियो मे पूर्ण विकसित, क्रमबद्ध तर्कमय विचारदर्शन नही पाया जाता। उनका आधार केवल काव्यात्मकता एवं श्रद्धा है अतः हम केवल पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन का प्रयास करेगे और सर्वप्रथम प्राचीन यूनानी दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ करेगे जिस पर हमारी संस्कृति कुछ अंशो तक आधारित है।' सम्भवतः ऐसे

और भी व्यक्ति है जो भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में अनभिज्ञ है एवं इस प्रकार के तथ्य-हीन तथा भ्रामक विचारो से पीड़ित हैं। इस प्रकार से ऐसे भ्रमपूर्ण विचारों के निवारण की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती क्योंकि इस पुस्तक मे जो कुछ लिखा गया है स्वतः ही उनकी शकाओं का समाधान हो जाएगा। यदि वे सतुष्ट नही हो पाते है और भारतीय दर्शन के अगो-पागो के विषय में और अधिक जानना चाहते हैं तो उन्हें पुस्तक की अनुक्रमणिका मे दिए ग्रन्थो का मूल रूप मे अध्ययन करना पड़ेगा।

एक ऐसा मत भी है कि अभी भारतीय दर्शन के इतिहास को लिखने का उपयुक्त समय नही है इस पर दो विभिन्न दृष्टिकोणो से दो प्रकार से तर्क प्रस्तुत किए जाते है। ऐसा कहा जाता है। कि भारतीय दर्शन का क्षेत्र इतना विशाल है और इतना विशुद्ध साहित्य प्रत्येक दर्शन के सम्बन्ध मे उपलब्ध है कि किसी भी व्यक्ति के लिए मूल स्रोतों से यह सारी सामग्री एकत्रित करना तब तक असम्भव है जब तक विशेषज्ञो द्वारा प्रत्येक दार्शनिक धारा का अलग से समूचा साहित्य सूचीबद्ध न कर लिया जाए। यह कथन कुछ अशो तक सत्य है। दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण अगों के ऊपर जो साहित्य उपलब्ध है वह अत्यन्त विशाल है परन्तु उनमे अधिकाश ग्रन्थों मे एक से ही विषय का पुन पुनरनुशीलन है। प्रत्येक शाखा के २०-३० महत्वपूर्ण ग्रन्थ ऐसे छाटे जा सकते है जो उस विषय मे या उस दर्शन के तात्पर्य को पूर्णत. समझने मे सहायक सिद्ध हो सकते है। मैंने सदैव सर्वश्रेष्ठ मूल ग्रन्थो का आधार लेकर लिखने का प्रयत्न किया है। स्थान की न्यूनता के कारण केवल महत्वपूर्ण प्रसगो को ही चुना गया है। कई कठिन तत्वो की व्याख्या को छोडने के लिए बाध्य होना पडा है। अनेक रोचक मीमासाओ को भी स्थानाभाव के कारण छोड देना पडा है। इस बात के लिए मैं क्षमा का भी पात्र हूं कि दर्शन का कोई भी इतिहास सम्पूर्णता का दावा नही कर सकता। इस इतिहास मे कई प्रकार की त्रुटियाँ रह गई है जो मुझसे अधिक विद्वान् लेखक के लिखने पर नही हो सकती थी। मै यह आशा लेकर चलता हू। सम्भवतः इस पुस्तक की त्रुटियो से अन्य विद्वानो को अधिक विद्वत्तापूर्वक पुस्तक लिखने की प्रेरणा प्राप्त होगी। त्रुटियो एव कठिनाइयो के होने के कारण इस प्रकार का प्रयास करना असम्भव ही मान लिया जाए यह तो उपयुक्त न होगा।

दूसरे, ऐसा कहा जाता है कि शुद्ध ऐतिहासिक अभिलेख और जीवन वृत्तातो के भारत मे उपलब्ध न होने के कारण भारतीय दर्शन का इतिहास लिखना एक असम्भव कार्य है। इस कठिनाई मे भी कुछ अशो तक सत्यता है लेकिन इससे भी कोई विशेष अन्तर नही पड़ता। प्रारभिक काल मे यद्यपि बहुत सी तिथियों का पता नही चल पाता है परन्तु कुछ काल पश्चात् तिथियो का आधार स्पष्ट होने लगता है और हम विभिन्न विचारधाराओ के पूर्ववर्ती होने की महत्वपूर्ण मीमासा या कुछ के परवर्ती होने की सत्य परीक्षा कर सकते हैं। चूकि दर्शन के अधिकाश अंग एक साथ ही विकसित

हुए और अनेक शताब्दियों में उनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं आधार भी विकसित हुए, अतः उनका सरलता से अध्ययन किया जा सकता है। इस प्रकार के विकास की विशिष्टता का दिग्दर्शन इस पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में किया गया है। अधिकाश दर्शन धाराएँ बहुत प्राचीन हैं। वे प्रारम्भ मे साथ साथ ही अनेक शताब्दियों में परम्परागत क्रमिक रूप से विकसित होती रही। इसलिए यह सम्भव नही है कि एक दर्शन प्रणाली विशेष को लेकर किसी निश्चित काल और समय मे उसकी व्याख्या आसानी से की जा सकती हो और फिर उसका तुलनात्मक अध्ययन किसी दूसरे काल में उस प्रणाली के विकास को लेकर किया जा सकता हो। क्योंकि किसी भी उत्तरकालीन अवस्था मे पुरानी या पूर्वकाल मे विकसित दर्शन परम्परा का लोप नही हुआ केवल इतना ही हुआ कि उत्तर काल मे वह दार्शनिक प्रणाली अधिक समन्वित एव तर्कसगत हो गई। वह मूल दर्शन के सत्य स्वरूप के निकट तो रही, परन्तु उसका दार्शनिक पक्ष अधिक सुनिश्चित हो गया। पाश्चात्य देशो मे ऐतिहासिक विकास के साथ साथ ही दर्शन-शास्त्र की विभिन्न धाराओ मे अधिक बौद्धिक एव तर्कसगत विकास परिलक्षित होता है परन्तु भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास की परम्परा ऐसी रही है कि उसमें यद्यपि दार्शनिक प्रणालियो की विचारधारा मे कोई अन्तर नही आया किन्तु कालक्रम से इन विचारधाराओ की प्रणालियां सुनिर्धारित होती गई और उन्हें एक निश्चित दिशा प्राप्त होती गई। प्रारभिक अवस्थाओ मे भी उन प्रणालियो का अधिकाश स्वरूप उसी प्रकार विद्यमान था परन्तु वह उस स्वरूपहीन अवस्था मे था जहाँ उसका विभेदीकरण कठिन था परन्तु विभिन्न मतो की आलोचना प्रत्यालोचना एव विचार सघर्ष के कारण इनका स्वरूप निरन्तर सुस्पष्ट, सुनिश्चित एव सु-समन्वित होता गया। कुछ अवस्थाओं मे यह विकास स्पष्टत दृष्टिगोचर भी नही होता और कुछ प्रणालियो के प्रारभिक स्वरूप या तो लुप्तप्राय हो गए है या उनका कोई स्पष्ट विवेचन उपलब्ध न होने से उनके स्वरूप के बारे मे कोई निश्चित धारणा नहीं बनायी जा सकती। जहाँ भी इस प्रकार के विश्लेषण का अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ दार्शनिक पक्ष को प्रमुख रखते हुए उनका विश्लेषण करने का प्रयत्न मैंने किया है। दार्शनिक पक्ष को ध्यान मे रखते हुए कालक्रम निर्धारणात्मक पक्ष का विश्लेषण भी किया गया है परन्तु दार्शनिक पक्ष को ऐतिहासिक पक्ष की अपेक्षा गौण नही माना गया अर्थात् कालक्रम स्पष्ट न होने से दार्शनिक स्थापना का निरूपण न करना उचित नही समझा गया है। इसमें कोई संदेह नही है कि यदि दर्शन साहित्य के विकास के सम्बन्ध मे कालक्रम के अनुसार ऐतिहासिक सूचना प्राप्त हो सकती तो बहुत सुन्दर होता परन्तु मेरी निश्चित राय यह है कि जो भी ऐतिहासिक आधार हमारे पास है उनके द्वारा दर्शनशास्त्र की विभिन्न प्रणालियो की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध मे तुलनात्मक एव पारस्परिक अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है और उससे हमे काफी सहायता भी मिलती है। भारत मे यदि दर्शनशास्त्र के विकास की अवस्था ऐसी होती जैसीकि योरपीय देशों में है तो हमारे लिए ऐतिहासिक

पृष्ठभूमि का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता। जब एक दार्शनिक मत लुप्त होकर दूसरे दार्शनिक मत को स्थान देता है तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस बात की जानकारी करे कि कौन-सा मत किस मत से पहले प्रादुर्भूत हुआ और कौन पीछे। परन्तु जब दर्शन की विभिन्न प्रणालियाँ एक साथ ही विकसित हो रही हो और जब वे समय पाकर और अधिक समृद्ध और परिष्कृत रूप धारण करती जा रही हो तब उनके विकास का कालक्रम के माध्यम से अध्ययन करना केवल ऐतिहासिक रुचि का ही परिचायक होगा। मैंने दर्शन के विभिन्न अगों के प्रारभिक विकास की साधारण विवेचना ही की है जिससे उसके सम्बन्ध मे साधारण ज्ञान हो सके। यद्यपि इस पुस्तक मे उसकी विस्तृत रूप रेखा देना सम्भव नही हुआ परन्तु इससे मेरा विवेचन अपूर्ण सिद्ध नही होगा। इसके अतिरिक्त यदि हम विभिन्न विचारको के कार्यकाल की तिथियो का विवेचन करे तो भी कोई लाभ नही होगा क्योंकि दर्शन विशेष के प्रत्येक विचारक ने किसी नए मत का निरूपण न कर उसी प्रणाली की व्याख्या करते हुए अपने मत की पुष्टि की है और उसे एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया है। यह प्रणाली पाश्चात्य प्रणाली से निश्चित रूप से भिन्न है।

भारत मे वैदिक साहित्य से प्राचीन और कोई साहित्य उपलब्ध नही है। अग्नि, वायु आदि प्रकृति के देवताओ की स्तुति मे लिखे मत्र ही इस साहित्य मे पाए जाते हैं और हमारे दृष्टिकोण से इनमे कोई विशेष दर्शन प्राप्त नही होता। लेकिन परवर्ती वैदिक वाड्मय के कुछ सूक्तो मे जो सम्भवत: ई० पू० १००० वर्ष के आसपास लिखे गए होगे, दर्शनशास्त्र के कई ब्रह्मांड विषयक रोचक प्रश्न, काव्यात्मकता और कल्पना से संपुटित, प्राप्त होते है। उत्तरवैदिककालीन ग्रन्थ ब्राह्मण एव आरण्यक है। ये ग्रंथ मुख्यतया गद्य मे है। इन ग्रन्थो मे दो विशिष्ट धाराएँ पायी जाती है। पहली मे पूजा या कर्म-काण्ड की विधि जो चमत्कारात्मक अधिक थी, सम्मिलित है और दूसरी मे कल्पनात्मक ढग पर कुछ विचारणीय तथ्यों का बहुत साधारणीकरण करते हुए चिन्तन के धरातल पर विचार-विमर्श करने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि चिन्तनात्मक पक्ष बहुत कम है, कर्मकाण्डीय ही अधिक है और यह भी स्पष्ट लगता है कि वैदिक वाड्मय के परवर्ती भाग मे जिन थोड़े दार्शनिक विचारो का परिचय मिलता है उस पर वह अधिकाश वाड्मय जो कर्मकाण्ड की विधियो के ऊपर विशेष बल देता है, हावी हो गया है और अन्त तक कर्मकाण्ड की मरुभूमि मे इस धारा का लोप ही हो गया है। इसके पश्चात् गद्य और पद्य में लिखे उपनिषद् नाम के दर्शन ग्रथ प्राप्त होते है जिनमे एकात्मवादी अथवा अद्वैतवादी विविध दार्शनिक विवेचन पाया जाता है। साथ ही द्वैतवाद एव बहुलवादी (अनेकेश्वरवादी) विचारधाराओं का भी उल्लेख पाया जाता है। इन विषयों का कोई तर्कसगत प्रतिपादन नही किया गया वरन् इसमे स्थान-स्थान पर उन सत्यो की स्थापना की गई है जिनको शाश्वत सत्यों के रूप मे दैवी अनुभूति की भाँति मनीषियो द्वारा देखा गया है और जिनके प्रामाण्य के सम्बन्ध

मे किसी प्रकार का सदेह नही है। इनकी भाषा बडी शक्तिशाली, ओजमय एव हृदय-ग्राहिणी है। यह सम्भव है कि इस साहित्य का प्रारभिक भाग ईसा से ५०० वर्ष पूर्व से ७०० वर्ष पूर्व तक लिखा गया है। बौद्ध दर्शन बुद्ध के प्रादुर्भाव के साथ ईसा से ५०० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। यह विश्वसनीय ढग से कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन १०वी अथवा ११वी शताब्दी तक किसी न किसी स्वरूप मे विकसित होता रहा। बुद्ध काल और ईसामसीह से २०० वर्ष पूर्व के समय के बीच अन्य भारतीय दार्शनिक विचारधाराओ का भी प्रादुर्भाव हुआ होगा, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। जैनदर्शन सभवत. बौद्ध दर्शन से पहले उद्भूत हुआ। जैन दर्शन अन्य हिन्दू दार्शनिक विचार-धाराओ से कभी निकट सम्पर्क मे आया हो ऐसा नही लगता, यद्यपि प्रारभिक काल मे बौद्ध दर्शन के साथ इसका कुछ सघर्ष रहा था। उत्तरकालीन वैष्णव दर्शन की कुछ धाराओ को छोडकर, जैन दर्शन का हिन्दू अथवा बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थकारो ने कही भी उल्लेख नही किया। यद्यपि हरिभद्र और गुणरत्नादि कुछ जैन लेखको ने बौद्ध एवं हिन्दू धर्म का खडन करने का प्रयत्न किया था। जैन धर्म के अहिसात्मक रुझान एवं आदर्श के कारण वह स्थिति बन गई हो सकती है किन्तु जैन दर्शन का सघर्ष किसी और दर्शन से नही हुआ। इसके निश्चित रूप से क्या कारण थे इसका सही अनुमान लगाना कठिन है। यद्यपि जैन धर्म मे आन्तरिक सैद्धान्तिक मतभेद और अनेक पन्थ रहे है फिर भी बौद्ध दर्शन की भाँति जैन दर्शन अनेक विपरीत दार्शनिक विचारधाराओ एवं शाखाओ मे विभक्त नही हुआ है।

इस ग्रथ के प्रथम भाग मे बौद्ध और जैन दर्शन एव भारतीय विचारधारा के दर्शनो का विवेचन किया जाएगा। हिन्दू धर्म की पुरातन दार्शनिक विचारधारा की छ प्रणालियाँ इस प्रकार है—साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमासा (जो पूर्व मीमासा के नाम से प्रख्यात है) और वेदान (जिसे उत्तर मीमासा कहा जाता है)। इनमे से जिनको साख्य और योग की सज्ञाएँ दी जाती है वे वस्तुत. एक ही दर्शन की दो विभिन्न शाखाएँ है। उत्तर काल मे वैशेषिक और न्याय भी इतने समीप आकर घल मिल गए कि यद्यपि प्रारभिक काल मे वैशेषिक को न्याय की अपेक्षा मीमासा के समरूप माना जाता था परन्तु उत्तर काल मे वैशेषिक और न्याय लगभग एक ही प्रणाली के रूप में लिखे जाने लगे। अत न्याय और वैशेषिक की एक साथ ही विवेचना की गई है। इनके अतिरिक्त ६वी शताब्दी मे ईश्वरवादी आस्तिक प्रणालियो का भी प्रादुर्भाव होने लगा था। इसका प्रारम्भ सम्भवत उपनिषद् काल में ही हो गया होगा लेकिन उस समय शायद इन मतो का विशेष बल आचार विचार और धार्मिक समस्याओ पर रहा होगा। यह असम्भव नही कि तत्त्वमीमासात्मक चिन्तन और सिद्धान्तो मे भी इनका सम्पर्क रहा हो लेकिन ऐसी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है जिसमे इनका प्रामाणिक ढग से विश्लेषण किया गया हो। इस सम्बन्ध मे सबसे प्रारभिक ग्रथ भगवद्गीता मिलता है। इस पुस्तक को सही ही, हिन्दू चिन्तन की सर्वोत्तम कृति माना जाता है।

यह श्लोकबद्ध है और धार्मिक, नैतिक एवं आत्मिक समस्याओ के ऊपर व्यापक एवं स्वतत्र ढग से विचार विमर्श करती है। इसकी विशेषता विचार की किसी विशेष प्रणाली से सबद्ध न होना है। इससे इसकी पद्धति उपनिषदो के काव्यात्मक विवेचन के अधिक निकट लगती है। सैद्धान्तिक मीमासा की जटिल तार्किक शैली मे निबद्ध हिन्दू दर्शन की विवेचना पद्धति से परे हटकर काव्यमय सौन्दर्य से यह सभी के हृदयों को अभिभूत कर देती है। ६वी शताब्दी के पश्चात् इस बात का प्रयत्न किया जाने लगा कि बिखरे हुए सभी ईश्वरवादी सिद्धान्तो को जो धार्मिक निष्ठाओ के अन्तरग आधार-सूत्र थे, निश्चित दार्शनिक सज्ञाओं एवं तत्त्व-मीमासात्मक सिद्धान्तो मे निहित किया जाय। आस्तिकवाद, द्वैतवादी और बहुलवादी (अनेकेश्वरवादी) है और ऐसा ही उन सब दर्शनो की प्रणालियो के बारे मे कहा जा सकता है जो वैष्णव दर्शन के विभिन्न मतो के नाम से जाने जाते है। अधिकाश वैष्णव विद्वान् इस बात की पुष्टि करना चाहते हैं कि उनकी प्रणाली अथवा उनका मत उपनिषदो के द्वारा समर्थित है अथवा उन मतो का स्रोत अत्यत प्राचीन उपनिषदो मे पाया जाता है। अपने मत की पुष्टि मे उन्होने उपनिषदो की अनेक टीकाएँ लिखी और साथ ही उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा के आधार पर लिखे हुए महत्वपूर्ण आकारग्रन्थ ब्रह्मसूत्र के ऊपर भी टीकाएँ लिखने का प्रयत्न किया। इन वैष्णव विद्वानो के ग्रथो के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के आस्तिकवादी ग्रथ लिखे गए जो अधिकाशतया ढग के थे। इनका प्रारम्भ भी उपनिषद् काल मे ही हुआ माना जाता है। यह शैव और तत्र प्रणाली के नाम से जाने जाते है और इनका वर्णन इस ग्रथ के दूसरे भाग मे किया गया है।

इस प्रकार हम इस निश्चय पर पहुँचते है कि हिन्दू विचारधारा की प्रणालियो का प्रादुर्भाव ईसा मसीह से ६०० वर्ष पूर्व से लेकर २०० अथवा १०० वर्ष पूर्व तक हुआ। इन प्रणालियो का पौर्वापर्य निर्धारण अर्थात् ऐतिहासिक दृष्टि से कौन-सा दर्शन पहले प्रारम्भ हुआ और कौन-सा बाद में यह बताना कठिन है। इस विषय पर अनुमानतः प्रकाश डालने का प्रयत्न इस ग्रन्थ मे किया गया है परन्तु यह कहाँ तक सही हो सका है यह पाठक ही निश्चय कर सकते हैं। किसी भी दर्शन प्रणाली की प्रारम्भिक अवस्था मे उसके मोटे-मोटे सूत्र ही मिल पाते है। समय के साथ साथ इन प्रणालियो अथवा तत्रो का समानान्तर विकास होने लगा। गुरू-शिष्य परम्परा की अविच्छिन्न मर्यादाओ मे प्रारभिक काल से १७वी शताब्दी तक इन मत-मतान्तरो का ज्ञान अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होता रहा। आज भी प्रत्येक हिन्दू दर्शन की प्रणाली के अपने-अपने नैष्ठिक मतावलबी है परन्तु इनमे से बहुत कम ऐसे है जो इन प्रणालियो के सम्बन्ध में कोई ग्रथ लिखें। हिन्दू विचारधारा की दर्शन प्रणालियो के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि भूतकाल मे जैसे-जैसे नयी जिज्ञासाओं का प्रादुर्भाव हुआ वैसे ही प्रत्येक प्रणाली ने अपने मत की परिपुष्टि के लिए अपने सिद्धान्तों की मर्यादाओं में उनके

समाधान का प्रयत्न किया। जिस क्रम मे हमने विभिन्न दर्शनों की विवेचना इस ग्रन्थ मे की है वह ऐतिहासिक कालक्रम के आधार पर नही बनाया गया है। उदाहरणार्थ, यह सम्भव है कि सांख्य, योग, मीमांसा दर्शन के प्रारंभिक स्रोत बौद्ध और जैन धर्म के पहले प्रादुर्भूत हो चुके हों परन्तु हमने इनकी विवेचना बौद्ध और जैन धर्म के पश्चात् की है क्योंकि इनकी मुख्य स्थापना करने वाले ग्रन्थ बौद्ध ग्रथों के पश्चात् लिखे गए है। मेरी राय मे वैशेषिक दर्शन भी सम्भवतः बुद्ध काल से पूर्व का है परन्तु इसका भी वर्णन बाद मे किया गया है। इसका एक कारण तो यह है कि इसका सम्बन्ध कुछ न्याय दर्शन के साथ है और दूसरा कारण यह है कि इसकी टीकाएँ बाद मे लिखी गई है। मुझे यह निश्चित सा लगता है कि प्राचीन दर्शन वाङ्मय का बहुत बडा अश अब विलुप्त हो चुका है और यदि उसका हस्तगत करना सम्भव होता तो हिन्दू दर्शन के विभिन्न दर्शन अगो और उपागो के पारस्परिक आधार, प्रादुर्भाव के समय के वाङ्मय एव विकास के ऊपर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला जा सकता। परन्तु यह साहित्य अब उपलब्ध नही है इसलिए जो कुछ अवशिष्ट है अब उसी से सतुष्ट होना पड़ता है। प्रत्येक दर्शन की व्याख्या करने से पूर्व जिन मूल स्रोतो से मैंने सामग्री प्राप्त की है उनका विवरण साथ ही मे दे दिया गया है।

मैंने यह प्रयत्न किया है कि मेरी विवेचना मे मूल ग्रन्थो का अनुसरण जितनी अधिक शुद्धता के साथ हो सके किया जाए। इसके कारण कहीं-कही अभिव्यक्ति का ढग विचित्र एव पुरातन सा गया है परन्तु हिन्दू दर्शन की व्याख्या मे मैंने यह उचित समझा है कि पाश्चात्य ढग की अभिव्यक्ति के अपनाने के स्थान पर भारतीय विचारो के उपयुक्त ही शब्दो का चयन किया जाए। इस सबके होते हुए भी अनेक स्थलों पर आधुनिक दार्शनिक सिद्धान्तो से प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों का साम्य दिखाई देगा। इससे यह सिद्ध होता है कि मानवीय मस्तिष्क एक प्रकार की ही बुद्धिसगत विचारधाराओ से आदोलित होता है। मैंने किसी भी भारतीय विचारधारा के साथ पाश्चात्य विचार-धारा की तुलना करने का प्रयत्न नही किया है क्योंकि यह मेरे लेखन क्षेत्र के बाहर की वस्तु है परन्तु मुझे अपनी धारणाओ को प्रकट करने की अनुमति दी जाय तो मैं यह कहूगा कि पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धान्तो मे से बहुत अधिक या अधिकाश सिद्धात ऐसे है जो भारतीय दर्शन मे शाश्वत रूप से पाए जाते है। मुख्य रूप से केवल दृष्टिकोण की ही विभिन्नता है जिसके कारण एक सी ही समस्याएँ दोनो देशो मे विभिन्न स्वरूपो मे प्रकट हुई है। भारतीय दर्शन के विकास के मूल्यांकन के सम्बन्ध में मेरे विचार इस ग्रथ के द्वितीय भाग के अन्तिम अध्याय मे निहित है।

अध्याय १

वेद, ब्राह्मण और इनका दर्शन

वेद और उनका प्राच्य काल

भारतवर्ष के पवित्र ग्रथ वेदो के सम्बन्ध मे ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह इण्डो यूरोपियन अर्थात् आर्य जाति का सबसे प्राचीन लिखित साहित्य है। यह कहना कठिन है कि इन सहिताओ के प्रारभिक भागो का किस काल मे उद्भव हुआ। इस सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की तर्क पूर्ण कल्पानाएँ की जाती है परन्तु इनमें से किसी को भी निश्चित रूप से सत्य नही माना जा सकता। मैक्समूलर महोदय के मत से इनका काल १२०० ई० पू०, हॉग के मत मे २४०० वर्ष पूर्व और बाल गगाधर तिलक के मत से ४००० वर्ष पूर्व इनका काल माना जाता है। प्राचीन भारतीय मनीषी अपने साहित्य का — धार्मिक अथवा राजनैतिक कृतियो का — किसी प्रकार का ऐतिहासिक लेखा नही रखा करते थे। अत्यत प्राचीन समय से गुरु अपने शिष्यो को इन सहिताओ को कठस्थ करा दिया करते थे और इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से अलिखित रूप से यह साहित्य अनादिकाल से चला आ रहा है। साधारणतया हिन्दुओं का यह विश्वास है कि वेद, अपौरुषेय साहित्य है अर्थात् यह साहित्य किसी मनुष्य के द्वारा रचित नही है। अत. साधारणतया यह मान्यता रही है कि ये शास्त्र स्वय भगवान् ने ऋषियो को ज्ञान के रूप मे प्रदान किए अथवा मत्रद्रष्टा के रूप में इन ऋषियो ने स्वय ही अन्तर्दृष्टि द्वारा इनका अभिव्यजन किया। इस प्रकार वेदो के सृजन के कुछ समय पश्चात् जन साधारण की यह धारणा हो गई कि ये शास्त्र प्राचीन ही नही अनादि भी है और सृष्टि के प्रारभ मे अज्ञात समय से ऋषियों ने अन्त प्रेरणा से प्रभु-प्रदत्त रूप मे (इल्हाम के तौर पर) प्राप्त किया।

हिन्दू मान्यताओं में वेदों का स्थान

जिस समय वेदो का सृजन हुआ उस समय भारत मे सम्भवतः कोई लेखन प्रणाली प्रचलित नही हुई थी लेकिन ब्राह्मणो के अदम्य उत्साह के कारण अपने गुरुओं से मत्रों को श्रवण कर कठस्थ किया हुआ यह सारा साहित्य कम से कम लगभग पिछले ३००० वर्षों से बिना किसी परिवर्तन या क्षेपकों के शुद्ध रूप से ज्यो का त्यो विद्यमान है।

भारतीय धार्मिक इतिहास में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए परन्तु सभी हिन्दू वर्गो की वैदिक साहित्य मे ऐसी श्रद्धा और विश्वास है कि वेद सभी कालो में उच्चतम शास्त्र के रूप मे मान्यता प्राप्त करते आए है। आज भी हिन्दुओ के जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के सारे संस्कार वेद विहित कर्म-काण्ड के अनुसार सम्पन्न किए जाते है। जिन मंत्रो के द्वारा ब्राह्मण आज भी दिन मे तीनो समय प्रार्थना करते है वे वही वैदिक मंत्र है जो आज से २००० या ३००० वर्ष पूर्व प्रचलित थे। साधारण हिन्दू जीवन की थोडी सूक्ष्म समीक्षा करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूर्ति पूजा का जो विधान उसके जीवन मे बाद मे प्रवेश कर गया उसकी भी सारी विधि और कर्मकाण्ड प्राचीन वैदिक प्रणाली के अनुसार ही सपन्न किया जाता है। अतः एक कट्टर ब्राह्मण इच्छानुसार मूर्ति पूजा का परित्याग कर सकता है परन्तु वैदिक प्रार्थना अथवा उसके द्वारा वेदविहित उपासना आदि को नही छोड़ सकता। आज भी अनेक व्यक्ति है जो वैदिक यज्ञादि सस्कारो के कराने और वेद शास्त्र के अध्ययन के लिए प्रभूत धन का व्यय करते है। वेदो के पश्चात् जितना सस्कृत साहित्य प्रचलित हुआ उन्होने अपने सत्य की पुष्टि के लिए वेदो का आश्रय लिया और उन्ही के प्रमाण को मान्यता देदी। हिन्दू दर्शन की सभी प्रणालियाँ वेदो को आधार मानकर उन्हे विशिष्ट सम्मान देती है। यहाँ तक कि प्रत्येक दर्शन प्रणाली के अनुयायी आपस मे इस बात पर वाद-विवाद और सघर्ष करते रहे है कि उनकी प्रणाली ही वेद सम्मत है और वेदो के दृष्टिकोण को यथार्थ रूप मे स्पष्ट करती है और इसलिए वह दूसरी प्रणालियो से अधिक मान्य है। प्राचीन वेदो के प्रमाणो के अनुसार लिखी हुई स्मृतियो के द्वारा निहित हिन्दुओ के सामाजिक, वैधानिक, पारिवारिक और धार्मिक नियमो का आज भी पालन किया जाता है और यह आवश्यक समझा जाता है कि ये सब नियम वेद विहित ही माने जाते है। ब्रिटिश प्रशासन के काल मे भी सारे वैधानिक मामलो मे जैसे पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकार, दत्तक की प्रथा आदि मे जिस हिन्दू सहिता का पालन किया जाता है उसका आधार वेद ही माने जाते है। इसकी और अधिक विस्तृत व्याख्या करना अनावश्यक ही होगा। केवल इतना ही कहना काफी होगा कि वेदो को प्राचीन मृत साहित्य न मानकर आज भी काव्य और नाटकादि साहित्य को छोडकर सारे हिन्दू वाङ्मय का स्रोत माना जाता है। सक्षेप मे हम यह कह सकते है कि अनेक परिवर्तनो के होते हुए भी परम्परानिष्ठ हिन्दू जीवन आज भी उसी वैदिक जीवन का प्रतिबिम्ब है जो उसे शाश्वत प्रकाश देता रहा है।

वैदिक वाङ्मय का वर्गीकरण

वैदिक काल के बाद के संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करने वाला किसी भी जिज्ञासु का प्रारंभिक अवस्था मे अनेक शकाओं से विचलित हो उठना स्वाभाविक है।

जब उसे ऐसे अनेक शास्त्रों का अध्ययन करना पडता है जो सभी वेद या श्रुति की संज्ञा से पुकारे जाते है और जिनका विषय और अर्थ भिन्न-भिन्न है। व्यापक अर्थ मे वेद किसी एक पुस्तक का नाम नहीं है। उस सारे साहित्य विशेष को इस सज्ञा से पुकारा जाता है जो लगभग २००० वर्ष तक की कालावधि में प्रणीत होता रहा। चूंकि इस साहित्य मे दीर्घ अवधि तक विभिन्न दिशाओं मे भारतीयो की उपलब्धियाँ निहित है। अत: यह स्वाभाविक ही है कि इनके अनेक स्वरूप पाए जाएँ। अगर हम इस सारे वाङ्मय को भाषा, काल और विषय की दृष्टि से वर्गीकृत करे तो हम इसको चार भागों में बाट सकते हैं—सहिता अथवा मत्रो का सग्रह, ब्राह्मण, आरण्यक (वन मे लिखे हुए ग्रथ) एव उपनिषद्। यह सारा साहित्य जो गद्य और पद्य मे है इनको लिखना प्राचीन काल मे लगभग पाप माना जाता था अत ब्राह्मण लोग इसको अपने गुरुओं के मुख से प्राप्त कर हृदयङ्गम किया करते थे। इसीलिए इस साहित्य का नाम श्रुति पडा अर्थात् सुना हुआ वाङ्मय।

संहिताएँ

वैदिक मत्रो के सग्रह अथवा सहिताएँ ४ है—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। इन सबमे ऋग्वेद प्राचीनतम है। सामवेद का अपना कोई स्वतन्त्र रूप नहीं है क्योंकि इसके ७५ मत्रो को छोडकर शेष सभी ऋग्वेद से लिए हुए है। ये सारे छद विशेष स्वर और लय के साथ गा कर पढे जाने के लिए एकत्रित किए गए है और इसलिए हम सामवेद को गेय ग्रथ कह सकते है। यजुर्वेद मे ऋग्वेद के मत्रो के अतिरिक्त कई मौलिक गद्य भाग है। सामवेद के मत्र, सोमयज्ञ की विधि और अनुष्ठानो के उद्देश्य से सकलित है। यजुर्वेद के मत्र विभिन्न धार्मिक यज्ञो के कर्म-काण्ड के दृष्टिकोण से सकलित है। अतः इसको यजुर्वेद अर्थात् यज्ञीय प्रार्थनाओ का वेद कहा जाता है। इसके विपरीत ऋग्वेद के श्लोक विभिन्न देवताओं की स्तुति के क्रम मे लिखे गए है। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम अग्नि की स्तुति मे लिखे हुए श्लोक ऋग्वेद मे सूक्त के रूप मे सकलित पाए जाते है और इसके पश्चात् इन्द्र की स्तुति के मत्र पाए जाते है। अथर्ववेद नाम की चतुर्थ सहिता से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद से काफी समय पश्चात् अथर्व सहिता प्रचलित हुई। प्रो० मैक्डुनल महोदय का कथन है कि "यह सहिता ऋग्वेद से पूर्णत: भिन्न तो है ही इसकी विचार धारा असाधारण रूप से आदिमकालीन सी भी लगती है। ऋग्वेद मे एक सभ्य सुसस्कृत समाज के याज्ञिक अनुष्ठानो के उच्च देवताओ की स्तुति संबधी श्लोक है। परन्तु अथर्ववेद मे मुख्यतया जनसाधारण के निम्न वर्ग पर प्रभाव डालने वाले प्रेत-माया, जादू-टोने एव असुरो की तुष्टि-हेतु लिखे मत्र-तत्र है। इस प्रकार अथर्ववेद और ऋग्वेद वर्ण्यविषय की दृष्टि से एक दूसरे की पूर्ति करने वाले दो अत्यन्त मुख्य ग्रन्थ हैं।"[1]

---

[1] ए० ए० मेक्डुनल्स, हिस्ट्री ओफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३१।

ब्राह्मण ग्रन्थ[1]

संहिताओं के पश्चात् उन ब्राह्मण ग्रन्थो का सृजन हुआ जो निश्चित रूप से एक विभिन्न साहित्यिक वर्ग के हैं। ये गद्य मे लिखे गए है और इनमें उन विभिन्न अनुष्ठानों का महत्व वर्णित हुआ है जिनसे इस सम्बन्ध मे न जानने वाले व्यक्तियों को ज्ञान प्राप्त होता है। प्रो० मैक्डुनल के मतानुसार–'यह उस काल की भावनाओ का प्रतिनिधित्व करते है जबकि सारे बौद्धिक क्रिया-कलाप, यज्ञ के महत्व, कर्मकाण्ड और आध्यात्मिकता से प्रेरित हुआ करते थे।' यज्ञ के अनुष्ठानों के संबद्ध विधानों, कट्टरपंथी स्थापनाओं और कल्पनात्मक प्रतीक योजनाओ से ये ग्रथ भरे पडे है। जब प्रारंभिक अवस्थाओ मे वैदिक मत्रो का उदय हुआ होगा तब सम्भवतः यज्ञ का कर्मकाण्ड इतना कठिन नही होगा जितना कि इस काल मे पाया जाता है। परन्तु इन श्लोको के परम्परा द्वारा इस काल तक पहुँचते-पहुँचते अनुष्ठान सम्पादन की क्रिया अत्यन्त जटिल हो गई। अत. यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि यज्ञ की क्रियाओ को ब्राह्मणो अथवा विशेषज्ञ के वर्गों मे विभक्त कर दिया जाए। हम यह मान कर चल सकते है कि इस काल में वर्ण व्यवस्था का उदय हो रहा था और धार्मिक व विद्वान् पुरुषो के लिए यज्ञ एव उसके जटिल कर्मकाण्ड ही ऐसे विषय थे जो उनको कार्यरत रख सकते थे। कल्पनात्मक एव मननात्मक क्षेत्र यज्ञ के कर्मकाण्ड की अपेक्षा गौण हो गया था। उसका फल यह हुआ कि इस काल मे प्रतीकवादी अदभुत याज्ञिक क्रियाओ का सूत्रपात हुआ जो सम्भवत विश्व मे अज्ञानवादियों (नॉस्टिक्स) के अतिरिक्त कही नही पाया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ब्राह्मण काल ईसा से ५०० वर्ष पूर्व तक रहा है।

आरण्यक ग्रन्थ

ब्राह्मण ग्रन्थो के विकास के क्रम मे आरण्यक ग्रथ प्राप्त होते है जिनका अर्थ है

---

[1] वेबर महोदय, हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर पृ० ९९ पर लिखते है कि ब्राह्मण शब्द का अर्थ है—वह जो ब्रह्म की स्तुति सबधी विषय पर लिखा गया है। मैक्समूलर का कथन है (सेक्रेड बुक्स आव द इस्ट भाग १ पृ० ६६) ब्राह्मण का अर्थ है मूल रूप से जो ब्राह्मणो का उपदेश हो चाहे वह साधारण पुरोहितों द्वारा दिए हुए उपदेश हो अथवा ब्राह्मण पुरोहितो द्वारा। एगलिग महोदय कहते है कि"–इन ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण इसलिए था कि वे ब्राह्मणो के मार्गदर्शन और शिक्षा के लिए थे अथवा वे उन ब्राह्मणो के शास्त्रोपदेश थे जो वैदिक ज्ञान और कर्मकाण्ड के न केवल विशेष वेत्ता थे परन्तु यज्ञ के ब्रह्मा अथवा पौरोहित्य कर्म करने के अधिकारी थे। परन्तु क्योंकि ऐसी मान्यता है कि ब्राह्मण ग्रंथ भी वेदो की भाँति ही अमानवीय हैं अतः वेबर महोदय का कथन अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है।

वन मे लिखे हुए शास्त्र। ये ग्रथ संभवतः वयोवृद्ध ऋषियो के लिए लिखे गए थे जो जीवन के अन्य कार्यों से उपरत होकर वन मे निवास करने लगते थे और जिनके लिए आवश्यक साधन और सामग्री के अभाव मे जटिल कर्मकाण्ड-विधियुक्त अनुष्ठानादि करना सम्भव नहीं था। इन ग्रन्थो मे विशिष्ट प्रतीको या सकेतो पर ध्यान और मनन को अधिक महत्वपूर्ण समझा गया है और शनै शनैः ध्यान योग, यज्ञ के स्थान पर, अधिक उच्च स्तर का समझा जाने लगा। मेधावी एवं विद्वान् व्यक्तियो के उच्च समुदाय ने कर्मकाण्ड को निम्न कोटि का समझते हुए सत्य की खोज मे दार्शनिक मनन एवं अध्ययन को अपनाना आरम्भ कर दिया। उदाहरण के तौर पर बृहदारण्यक के प्रारम्भ के भाग मे ऐसा उल्लेख आता है कि अश्वमेघ यज्ञ मे अश्व की बलि के स्थान पर अश्व के विराट् रूप को देखने और उसका प्रतीक के रूप मे मनन करना चाहिए, जिसमे उषा को अश्व का सिर, सूर्य को नेत्र और वायु को उसकी प्राणवायु के रूप मे मनन करने का उल्लेख है। यज्ञ के जटिल कर्मकाण्ड की क्रियाओ के ऊपर यह निश्चित रूप से ध्यान और धारणा की विशिष्टता को मान्यता प्रदान करता है। इस प्रकार मानसिक चिन्तन एव ज्ञान को जीवन के लिए परम श्रेय समझा जाना बौद्धिक विकास के क्रम मे एक नया अध्याय था, जिसमे वैदिक यज्ञानुष्ठान के स्थान पर आत्मज्ञान, ध्यान एव दार्शनिक मनन को जीवन का एक चरम लक्ष्य समझा जाने लगा। आरण्यक मे विचार स्वातत्र्य के कारण कर्मकाण्ड की वे शृंखलाएँ जिन्होने जीवन को आबद्ध कर रखा था, शनैः शनै छिन्न-भिन्न होने लगी। इस प्रकार आरण्यको ने उपनिषदो के विकास के लिए उचित पृष्ठभूमि भी तैयार कर दी, साथ ही वेदो के दार्शनिक मनन का सूत्रपात भी किया जिसके कारण हिन्दू उपनिषद् हिन्दू विचार दर्शन के महान् स्रोत के रूप मे विकसित हो पाए।

ऋग्वेद एवं तत्कालीन संस्कृति

ऋग्वेद के मत्र किसी एक व्यक्ति के द्वारा लिखे अथवा किसी एक युग में रचे हुए प्रतीत नही होते। सम्भवत इनका सृजन विभिन्न कालो मे अनेक ऋषियो द्वारा हुआ है और यह भी असम्भव नही है कि आर्यों द्वारा भारतीय भूमि में प्रवेश करने से पहले इनकी पूर्व रचना की गई हो। ये श्लोक मुख शास्त्र के रूप मे गुरु-शिष्यो की परम्पराओं द्वारा हस्तान्तरित किए जाते रहे और पीढी दर पीढ़ी मनीषी कवियों द्वारा इनमें वृद्धि होती गई। इस सग्रह के अत्यत विशाल हो जाने के पश्चात् सम्भवतः इसको वह स्वरूप दिया गया जो आज उपलब्ध है अथवा किसी ऐसे स्वरूप मे इनको सुव्यवस्थित किया गया होगा जिससे आजकल पाए जाने वाले स्वरूप का विकास हुआ। भारत में आने से पूर्व तक इसके पश्चात भी आर्यों की अनेक कालों की सम्यता एव प्राच्य संस्कृति का दिग्दर्शन इस साहित्य से होता है। यह अद्भुत ग्रन्थ जो अत्यन्त प्राचीन

लुप्त सभ्यता का प्रतीक है, अद्भुत सौन्दर्य कला एवं काव्य की अमूल्य निधि है। यह आर्य जाति की प्राचीनतम पुस्तक है और इससे आदिकालीन सभ्यता एवं समाज का परिचय प्राप्त होता है। जीवन निर्वाह के साधनो मे से मुख्य उस समय पशुपालन एवं कृषि थे। कृषि के लिए उत्तम हल, गेती, कुदाल आदि औजारो का प्रयोग ही नहीं किया जाता था वरन् सिंचाई के लिए नहरो आदि का प्रयोग भी होता था। कायगी साहब का कथन है कि–"आर्यों का मुख्य भोजन रोटी के साथ दूध की बनाई विभिन्न वस्तुएँ, मक्खन रोटी सब्जियाँ और फल था। सामिष भोजन का प्रयोग बहुत कम था और सम्भवतः विशेष पर्वों अथवा पारिवारिक उत्सवो पर ही वह प्राप्त होता था। पान सम्भवतः भोजन से अधिक महत्व रखता था।" काष्ठकार, युद्ध के रथ और शकट बनाया करते थे। साथ ही अत्यन्त कलात्मक प्याले एव मूल्यवान् वस्तुओ का भी निर्माण कलाकार करते थे। कुम्भकार लोहा एव अन्य धातु कर्मी शिल्प कर्मियो का व्यवसाय विशेष रूप से प्रचलित था। स्त्रियाँ सिलाई, बुनाई एव चटाई आदि बनाने के कार्यों मे कुशल थी। भेड की ऊन से मनुष्यो के लिए वस्त्र एव पशुओं के लिए झूल आवरण आदि बनाए जाते थे। एक ही जाति के व्यक्तियो के समुदाय अथवा गण उच्चतम राजनैतिक सस्था थी। एक ही वश के परिवार जिनसे जाति विशेष बनती थी, उस परिवार के मुखिया द्वारा अधिशासित होते थे। राजा लोग वश परम्परा से बनाए जाते थे परन्तु कही-कही चुनाव के द्वारा भी राजा बनाने का प्रचलन था। राजाओं की शक्ति सर्वोपरि एव निरकुश नही थी वरन् जनता के मतानुसार सीमित थी। इस देश मे न्याय, अधिकार एव विधि के सम्बन्ध मे बडे उन्नत विचार प्रचलित थे। कायगी महोदय कहते है कि[1] "वैदिक श्लोको और मन्त्रो से यह सिद्ध होता है कि जनता के प्रमुख बुद्धिशाली व्यक्तियो मे यह विश्वास जम गया था कि विश्व के अधिपतियो के शाश्वत नियम उतने ही सत्य हे जितने कि सत्य के पहले आचार एव नैतिक ऋषियो मे उतने ही सत्य जितने प्रकृति के नियम–उनको किसी प्रकार से भग नही किया जा सकता। प्रत्येक अनैतिक कर्म के लिए चाहे वह अनजाने में ही हुआ हो, दण्ड अवश्यभावी है एव कुछ दण्ड के बिना पाप का शमन नही हो सकता।" अत यह विश्वास करना ठीक ही है कि आर्यों की सस्कृति उस समय अत्यन्त उच्च अवस्था तक पहुँच गयी थी लेकिन इस उच्चतम सस्कृति का सबसे अधिक प्रकाश उनके कर्म मे पाया जाता है जो थोड़े से श्लोको को छोडकर लगभग सभी श्लोकों की मुख्य विषय वस्तु है। कायगी के मतानुसार–[2]"ऋग्वेद का अधिकतम महत्व इस अर्थ मे है कि वह आर्य धर्म का व्यापक इतिहास है जो प्राचीनतम आदिकाल से लेकर चले आ रहे धार्मिक विश्वासो के जो आदिकालीन धार्मिक चेतनाओं मे लेकर पुरुष और परमात्मा सम्बन्धी

---

[1] कायगी रचित ऋग्वेद १८८६ सस्करण, पृ० स० १३।

[2] कायगी रचित ऋग्वेद १८८६ सस्करण, पृ० सं० १८।

गहनतम श्रद्धा एव विश्वासों के रूप में विकसित हुए, क्रमबद्ध विकास का परिचय देता है।[1]

वैदिक देवता

ऋग्वेद के सभी मत्र देवताओं की स्तुति निमित्त लिखे गए हैं। अन्य सामाजिक विषय अत्यत गौण है, क्योंकि ये भी यदा-कदा देवताओं की भक्ति एवं स्तुति के प्रसंग में प्रयुक्त किए गए है। ये देवता प्रकृति के अनेक स्वरूप और शक्तियों के अधिपति के रूप मे वर्णित है अथवा उन शक्तियो को आत्मसात् करने वाले महान् शक्ति-प्रतीक है। अत· ग्रीक देवताओ के समान उनका कोई निश्चित स्वरूप अथवा चरित्र नहीं है जैसाकि परवर्ती, भारतीय पौराणिक काल के ग्रन्थो मे पाया जाता है। प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ जैसे वर्षा, आँधी एव मेघ गर्जन आदि आपस मे निकट रूप से संबद्ध हैं और उनके देवता भी समान रूप वाले है। विभिन्न देवताओ के लिए एक ही प्रकार के विशेषणों का प्रयोग किया गया है और केवल कुछ विशिष्ट गुणो मे ही वे एक दूसरे से भिन्न पाए जाते है। उत्तरकालीन पौराणिक गाथाओ मे देवताओ की इन उद्‌भावित प्राकृतिक शक्तियो के प्रतीकत्व का लोप हो जाता है और एक विशेष व्यक्तित्व एव मानवीय चरित्र का जन्म होता है जो साधारण मानवो के समान दुःख और सुख की कथाओ के नायक है। वैदिक देवता उनसे इस बात से भिन्न है कि उनका कोई विशेष व्यक्तित्व नही है वे केवल प्रकृति की शक्तियो के परिचायक है।

उदाहरण के तौर पर कायगी महोदय के कथनानुसार अग्नि के सम्बन्ध मे ऐसा वर्णन आता है–"अग्नि कोमल काष्ठ मे ऐसे सुषुप्त रहती है जैसे किसी प्रकोष्ठ मे कोई व्यक्ति। जब तक कि प्रात काल काष्ठ खडो के संघर्षों से उसका आह्वान नही किया जाता तब तक वह सहसा अपने तेजोमय स्वरूप मे जागृत नही होती तब यज्ञकर्ता उसे लेकर समिधा मे अग्न्याधान करता है। जब पुरोहित घृताहुति देते है तब वह अश्व के समान हिनहिनाती हुई तीव्र गति से आकाश की ओर अग्रसर हो उठती है–इसको ऊँचा उठता हुआ देखकर मनुष्य ऐसे ही प्रसन्न हो उठते है जैसे अपनी समृद्धि को देखकर प्रसन्न हो उठते है।" वे उसको देखकर आश्चर्यान्वित हो उठते है जब वह विविधवर्णा एव सुसज्जित होकर चारो दिशाओ को अपने सुन्दर स्वरूप से अतिरजित कर देती है। ऋग्वेद के मत्र का अर्थ इस प्रकार है–

अग्नि की तेजोमय प्रकाशयुक्त किरणें सर्वभेदी है। उसका सुन्दर मुख और नेत्र सारे सुखो और नेत्रो का मनोरम है। जिस प्रकार जल पर प्रतिबिम्ब रूप मे अतिरजित

---

[1] कायगी रचित ऋग्वेद १८८६ संस्करण, पृ० सं० २६।

होते हुए प्रकाशपुंज तैरते है उसी के समान अग्नि की किरणें तेजोमय प्रतीत होती हैं और वे शाश्वत रूप मे प्रकाशित होती रहती हैं।[1]

—ऋग्वेद १, १४३, ३।

वे वायुवात का वर्णन करते हुए उसकी स्तुति मे कहते है—यह कहाँ उत्पन्न हुआ, कहाँ से इसका आगमन हुआ ? यह परमात्माओ का जीवन प्राण है। वसुधा का महान् पुत्र है, ये वायु देव स्वेच्छा से जहाँ चाहते हैं विचरण करते है। इधर उधर विचरण करते हुए उनकी पगध्वनि हमको सुनाई देती है परन्तु उनका कैसा स्वरूप है वह कोई नही जानता।[2]

—ऋग्वेद १६८, ३, ४।

वैदिक कवियो की कल्पना और निष्ठा पृथ्वी एव आकाश अथवा आकाश से परे स्वर्ग मे प्रकृति की अनेक शक्तियो और उसके स्वरूपो को देखकर जागृत हो चुकी थी। इस प्रकार कुछ निराकार देवताओ को छोड़कर जिनका हम आगे चलकर वर्णन करेंगे, हम इन देवताओ को ३ श्रेणियों मे बाट सकते है—जैसे पृथ्वी मे स्थित देवता, स्वर्ग के देवता एव अतरिक्ष के देवता।

बहुदेववाद, एकैकाधिदेववाद एवं एकेश्वरवाद

वैदिक देवताओ के अनेक स्वरूप एव वर्णनों को देखकर साधारण जिज्ञासुओ की यह धारणा हो सकती है कि वैदिक काल के व्यक्ति बहुदेववादी थे परन्तु मेधावी पाठक सरलता से इस बात को समझ सकेगा कि इस काल मे न एकेश्वरवाद था न बहुदेववाद वरन् श्रद्धा और विश्वास का एक ऐसा स्वरूप था जिससे इन दोनो की उद्भूति हुई होगी। बहुदेववाद मे जिस प्रकार प्रत्येक देवता की अपनी पृथक् निष्ठा निर्धारित होती है वह स्थिति वहाँ नही है। भावनाओ एव श्रद्धा के प्रवाह के कारण कभी जिस देवता की स्तुति प्रारम्भ होने लगती है वह देवता अन्य सभी पर व्याप्त हो जाता है और अन्य सभी पृष्ठभूमि मे चले जाते है और नगण्य हो उठते है। वैदिक कवि प्रकृति का सच्चा पुत्र था। प्रत्येक रूप उसके लिए अद्भुत था जिससे उनकी श्रद्धा और प्रेम जागृत हो उठता था। कवि आश्चर्यचकित हो उठता है जब वह देखता है कि "साधारण अरुण कपिल धेनु श्वेत मधुर दुग्ध देती है।" सूर्य का उदय एवं अस्त वैदिक ऋषि के उद्गारो को झकझोर देता है। उसका मन सूर्य के अस्त को देखकर आनन्द मग्न हो उठता है और आश्चर्यचकित होकर वह यह वर्णन करता है :

---

[1] कायगी द्वारा रचित, 'ऋग्वेद' पृ० ३५।

[2] वही पृ० ३८।

"बिना किसी बंधन के नीचे जाकर भी; अधोमुख होते हुए भी कैसे आश्चर्य की बात है कि सूर्य नीचे नही गिरता, उसके उदीयमान मार्ग के दिग्दर्शक को किसने देखा है।" –ऋग्वेद, ४, १३, ५।

ऋषियो को महान् आश्चर्य होता है और वे कहते है—"अनन्त काल से नदियों का प्रकाश से खेलता हुआ जल समुद्र मे प्रवाहित हो रहा है फिर भी आश्चर्य की बात है कि समुद्र कभी नही भरा। वैदिक काल के व्यक्तियों का मन और बुद्धि दोनों निश्च्छल, सरल एव कोमल थी। यह काल इतना परिपक्व नही था कि वे इन सब देवताओ का एक सुनिश्चित स्वरूप स्थापित करते अथवा इन सब देवताओ के स्वरूपो को एकात्मक करते हुए एकेश्वरवाद की स्थापना करते। प्रकृति की जो भी शक्ति, अपने वरदान एव सौन्दर्य से उनके हृदय को अभिभूत कर देती थी एव जिसके प्रति वे कृतज्ञता से भर उठते थे उसके प्रति ही अन्तर्मन से उनके हृदय मे श्रद्धा एव स्तुति जागृत हो उठती थी और उसे वह देवत्व प्रदान कर देती थी। एक विशेष काल मे जो देवता उनके मन और हृदय को भक्ति एव श्रद्धा से आन्दोलित करता था वही उस समय सबसे उच्चतम देवता के रूप मे पूजित हो उठता था। वैदिक मत्रो की इस विशिष्टता को मैक्समूलर ने एकैकाधिदेववाद (हेनोथिजम) या केथेनोथिजम के नाम से वर्णित किया है। जिसका अर्थ है 'एकाकी देवता मे मे विश्वास जिसमे प्रत्येक समय-समय पर उच्चतम स्थान रखता है और इस प्रकार क्योकि प्रत्येक देवता अपने विशिष्ट क्षेत्र का अधिष्ठाता है वैदिक पाठकर्ता अथवा कवि मनोकामना पूर्ति के हेतु उन देवताओ का आह्वान करते हैं जिससे उन्हे वरदान मिलने की आशा होती है अथवा यह कहा जा सकता है कि जिनके विभाग मे उनकी इच्छापूर्ति होने की सम्भावना है। भक्त उस काल मे उस एक ही देवता के प्रति श्रद्धावनत होता है और अन्य सब देवता उस समय उसके अन्तर्मन से दूर हो जाते है परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि वह अन्य देवताओ की अवहेलना अथवा तिरस्कार कर रहा है। सभी देवता उसके लिए समान रूप से मान्य है परन्तु उसकी भक्ति का विषय उसकी आस्था और मनोकामना के अनुसार एक विशिष्ट देवता मात्र है।"[1] मेकडनल ने अपनी पुस्तक "वैदिक माइथौलोजी"[2] मे इस सिद्धान्त के विपरीत यह धारणा व्यक्त की है जो उचित प्रतीत होती है, किसी भी धर्म मे देवताओ के पारस्परिक अन्त. सम्बन्ध का वर्णन इतना किया गया है जितना वैदिक देवताओ मे। वैदिक देवता अलग थलग या स्वतत्र नही है। वेदो के परम शक्तिशाली देवता भी अन्य देवताओ पर निर्भर है अथवा उनके अधीन है। जैसे वरुण और सूर्य इन्द्र के वशवर्ती बनाए गए हैं (१-१०१)। वरुण एव अश्विनो विष्णु की शक्ति मे

---

[1] कायगी द्वारा रचित ऋग्वेद, पृ० स० २७।

[2] वही, पृ० ३३। (हेनोथिजम के बारे मे एरोस्मीथ की टिप्पणी देखिए)।

प्रेरित होते है (१-१५६)। किसी भी देवता की स्तुति जब सर्वोपरि अथवा एकमात्र शक्तिशाली देव के रूप में की जाती है जैसाकि स्तुतियो मे स्वाभाविक भी है तो ऐसे वर्णनों मे निहित क्षणिक एकेश्वरवाद उसी मत्र मे रूपान्तरित हो जाता है अथवा प्रसंगानुसार दूसरे मत्रो मे अन्य देवताओ की मान्यता की पृष्ठभूमि पर आकर सतुलित हो जाता है।[1] मेक्डनल महोदय कहते है, हेनोथीइज्म एक काल्पनिक स्वरूप मात्र है, उसमे कोई वास्तविकता नही है। यह आभास अनिश्चित एव अविकसित मानवत्वारोपो के कारण है। ग्रीक देवताओ की भाँति वैदिक देवताओ में कोई भी अन्य समस्त देवताओ के सम्मुख मुख्य अधिष्ठाता के रूप मे प्रमुख स्थान धारण नही कर पाता जिस प्रकार ग्रीक जीयुस करता है। इसलिए वैदिक पुरोहितो एव स्तुति कर्ताओं की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है कि वे एक विशेष देवता की असाधारण भक्ति एव प्रशसापूर्ण स्तुति करते है उसके माहात्म्य के समुख वे उस समय किसी भी दूसरे देवताओ का कोई ध्यान नही रखते। उनका यह विश्वास भी है कि उनके मन मे अन्ततोगत्वा सभी देवता एक है (देखिए ३ ३५ सूक्त का आवर्ती वाक्य) और उनमे से प्रत्येक विशिष्ट देवताओं के एकीभूत प्रतीक के रूप मे माना जा सकता है।[2] लेकिन चाहे हम इससे हेनोथीइज्म के नाम से पुकारे अथवा देवता-विशेष की शक्तियो की क्षणिक अतिशयोक्तिमय स्तुति समझे, यह स्पष्ट है कि इस स्थिति को न हम बहुदेववाद के नाम से पुकार सकते है और न एकेश्वरवाद के नाम से। यह एक ऐसी स्थिति है कि जिसमे दोनो की ओर झुकाव पाया जाता है लेकिन कोई भी स्थिति इतनी सुस्पष्ट नही हो पाई है कि हम उसको कोई भी सज्ञा दे सके। अतिशयोक्ति के कारण प्रत्येक देवता की स्तुति में बीज रूप से एकेश्वरवाद के प्रति प्रवृत्ति मानी जा सकती है और दूसरी ओर प्रत्येक देवता की स्वतत्र स्थिति के होते हुए भी उन सबकी साथ-साथ रहने की अवस्था को हम बहुदेववाद का बीज सूत्र भी मान सकते है।

एकेश्वरवाद की प्रवत्ति—प्रजापति विश्वकर्मा

किसी भी देवता की विशेष प्रशसा, स्तुति एव उच्चतम महत्व दर्शित करने की ओर झुकाव के कारण धीरे-धीरे इस भावना का जन्म हुआ कि विश्व के सारे प्राणियो का एक प्रभु है जिसको कि प्रजापति के नाम से पुकारा जाने लगा। यह मस्तिष्क के विकास के क्रम की एक विशेष उच्च अवस्था का सूचक था जिसमे एक ऐसे देवता के प्रति निष्ठा प्रकट की गई थी जो सारी नैतिक व भौतिक शक्तियो का स्रोत एव अधिष्ठाता था, यद्यपि उसका साक्षात् स्वरूप देखना (दिग्दर्शन) सम्भव नही था।

---

[1] मेक्डुनल, 'वैदिक माइथौलोजी', पृ० १६, १७।

[2] वही पृ० १७।

इस प्रकार प्रजापति अर्थात् सारे प्राणियों का स्वामी जो एक विशेषण था, एक नए देवता के रूप में उद्भूत हुआ यद्यपि यह विशेषण अन्य देवताओं के लिए भी प्रयुक्त हो चुका था। वह अब एक ऐसे देवता के लिए प्रयोग में आने लगा जो सर्वोपरि देव या देवाधिदेव है। ऋग्वेद के १०वें मडल के १२१वें सूक्त में ऐसा कहा है।[1]

'मृष्टि के प्रारम्भ मे हिरण्यगर्भ प्रभु का जन्म हुआ जो सभी मृष्टि का स्वामी है जिसने इस पृथ्वी को अवस्थित किया और स्वर्ग की स्थापना की। हम किस देवता की हवि (बलि या नैवेद्य) द्वारा स्तुति करें? ऐसा कौन है जो हमें प्राण देता है, शक्ति देता है और सभी जीव जिसकी आज्ञा का पालन करते है। प्रकाशमय देवता भी जिसकी आज्ञा का पालन करते है, जिसकी छाया से ही मृत्यु होती है और जिसकी जीवनमय छाया अमरत्व देने वाली है ऐसे किस देवता की हविष्य द्वारा स्तुति करे जो अपनी शक्ति से सारी मृष्टि का प्रजापति है ? उन सबका प्राण धारण करता है जो सोते और जागते है। मनुष्य और पशुओ का जो अनन्य स्वामी है ऐसे किस देवता के प्रति हम बलि (नैवेद्य) समर्पित करें ? अपनी श्रद्धा को अर्पित करें। जिसकी महान् शक्ति और गौरव को हिमाच्छादित शृ ग वाले भूधर, उदधि एवं दूर-दूर सुविस्तृत जल प्रवाह से युक्त नदियाँ तथा नद प्रदर्शित करते है। दिशाएँ जिसकी सुदीर्घ भुजाएं है ऐसे किस देवता के प्रति हम हविष्य द्वारा श्रद्धाजलि दे। जिसने अंतरिक्ष को दीप्तिमान किया, पृथ्वी को धारण करने योग्य बनाया जिसने आकाश और स्वर्ग की रचना की, जिसने आकाश मे वायु की रचना की ऐसे किस देवता को हम भक्ति और स्नेह से हविष्य (बलि) द्वारा श्रद्धाजलि दें ?"

ऐसे ही गुणो द्वारा विश्वकर्मा (सबको उत्पन्न करने वाला)[2] देवता को भी संबोधित किया गया है। वह सारी मृष्टि का जनन (उत्पत्ति) कर्ता कहा गया है। यद्यपि वह स्वय अजन्मा है। उसने आदि मृष्टि मे जल की रचना की, उसके सम्बन्ध मे ऋषि कहते है—

"वह हमारा पिता है हम सबको उत्पन्न करने वाला है और हमारा मृजन करता है। वह प्रत्येक स्थान पर निवास करता है एव अन्तर्यामी है, प्राणि मात्र को जानने वाला है। इसके द्वारा देवता लोग अपनी सज्ञा प्राप्त करते है और ससार के प्राणि मात्र वरदान के लिए उसकी पूजा करते है।"[3]

—ऋग्वेद ८२ ३।

---

[1] कायगी द्वारा रचित, ऋग्वेद पृ० ८८, ६८।

[2] वही पृ० ८६, और म्योर रचित सस्कृत टेक्स्ट्स भाग ४, पृ० ५-११।

[3] कायगी कृत अनुवाद।

ब्रह्म

वेदान्त दर्शन के उत्तरकाल में ब्रह्म के जिस महान् स्वरूप की कल्पना की गई है उसका ऋग्वेद मे याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रभाव एवं सम्पर्क के कारण पूर्णतः सूत्रपात नहीं हो पाया था। वेदो के श्रेष्ठ भाष्यकार सायणाचार्य ने ब्रह्म शब्द के निम्नलिखित अर्थ किए है जिनको हेग महोदय ने इस प्रकार सकलित किया है–(अ) बलि या अन्नाहुति (आ) साम गान (इ) तन्त्र और तन्त्र विद्या (ई) सफल याज्ञिक अनुष्ठान (उ) मत्रोच्चार एव आहुतियाँ (ऊ) होता द्वारा मत्र पाठ (ऋ) महान्। रोथ महोदय के अनुसार इस शब्द का अर्थ यह भी है—ब्रह्मानद की प्राप्ति हेतु आत्मिक प्रेरणा एवं निष्ठायुक्त आत्मानन्द। परन्तु केवल शत पथ ब्राह्मण मे ब्रह्म की कल्पना ने वह महत्व-पूर्ण स्थान ग्रहण किया है जिस पर 'ब्रह्म' की अवधारणा प्रतिष्ठित है। वह एक महान् शक्ति के रूप मे बतलाया गया है जो सारे देवताओ की प्रेरक शक्ति है। शत पथ के अनुसार "आदिकाल मे यह सारा विश्व (प्रकृति) ब्रह्म के रूप मे था।" इस ब्रह्म ने देवताओ का सृजन किया और तत्पश्चात् उनको विश्व मे आरूढ किया, अग्नि को पृथ्वी पर स्थापित किया, वायु को वातावरण मे, और सूर्य को अन्तरिक्ष मे स्थान दिया तब स्वय ब्रह्म दूसरे लोक मे गया। परलोक मे स्थापित होकर ब्रह्म ने विचार किया कि मैं ब्रह्माड मे किस प्रकार पुन प्रवेश कर सकता हू? तब फिर उसने इस विश्व मे इन दो स्वरूपो मे प्रवेश किया—नाम व रूप। जिस किसीवस्तु की सज्ञा है वह नाम है और जो सज्ञाहीन है वह रूप। इन नामो और रूपो मे ही यह सारा ससार अवस्थित है और जो ब्रह्म की इन दो शक्तियो को पहचानता है वह स्वय महाशक्तिमान् अथवा ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।[1] दूसरे स्थान पर ब्रह्म को विश्व मे अद्वितीय चरम शक्ति के रूप मे माना गया है और उसको प्रजापति, पुरुष एव प्राण कहकर सम्बोधित किया गया है। एक अन्य स्थान पर ब्रह्मा को स्वयम्भू कहा गया है अर्थात् जो स्वय उत्पन्न होता है, जो तपस्वी है एव जो सारे प्राणियो मे स्थित है और इस प्रकार वह सारे प्राणियो का आधार उनका स्वामी है तथा उन पर शासन करता है। ऋग्वेद मे जिस पुरुष (महापुरुष) की कल्पना की गई है वह इस विश्व मे केवल अपने चतुर्थांश से स्थित है। उसके तीन अश अन्य लोको मे व्याप्त है। वह भूत, भविष्य एव वर्तमान तीनो है।

यज्ञ–कर्मवाद की प्रारंभिक स्थापना

यह कल्पना करना उचित नही होगा कि एकेश्वरवाद की ये धाराएँ बहुदेववादी यज्ञानुष्ठानो का स्थान ग्रहण कर रही थी। यथार्थ मे यज्ञादि का कर्मकाण्ड एव विधि-

[1] इगलिंग महोदय कृत शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद देखिए, भाग १, पृ० २७-२८।

विधान विशेष रूप से विस्तृत एव जटिल होते जा रहे थे। इसका सीधा प्रभाव तो यह हुआ कि देवताओ का महत्व अपेक्षाकृत कम होने लगा। मनोकामना की पूर्ति के लिए यज्ञानुष्ठान का चमत्कारपूर्ण विधान एक विशेष परम्परा का स्थान ग्रहण कर रहा था। यज्ञो मे बलि और आहुति उस प्रकार की भक्ति और निष्ठा से प्रेरित नही होती थी जिस प्रकार की भक्ति वैष्णव और ईसाई धर्म मे पाई जाती है। हॉग के मतानुसार यज्ञ एक प्रकार का स्वत सम्पूर्ण तत्र था जिसका सम्पूर्ण विधान एक दूसरे से गहरा जुडा हुआ और सुसमन्वित था। इसके एक भाग मे थोडी सी त्रुटि के कारण भी जैसे ठीक प्रकार घृताहुति अग्न्याधान मे पात्रो का सम्थापन अथवा समिधा या दर्भ को सही स्थान पर रखना इनमे से किसी में भी थोडी त्रुटि रह जाने से समस्त यज्ञ के असफल एव भग होने की पूर्ण सम्भावना थी चाहे वो कितना ही भक्ति भाव से सम्पन्न किया गया हो। मंत्र के शब्दो के अशुद्धोच्चारण मात्र से अर्थ का अनर्थ होने का भय रहता था। जब त्वष्टा ने अपने शत्रु इन्द्र के विनाश करने वाले असुर की उत्पत्ति के लिए यज्ञ किया तब एक शब्द के अशुद्ध प्रयोग से उस दैत्य ने स्वय यज्ञ कर्ता त्वष्टा का सहार कर दिया। परन्तु यज्ञ के विधिपूर्वक शुद्धरूपेण सम्पन्न हो जाने पर कोई ऐसी शक्ति नही थी जो उसके फल और प्रभाव को नष्ट कर सके। इस प्रकार यज्ञ का साफल्य देवताओ की कृपा पर न होकर यज्ञ के विधिपूर्वक करने मे निहित था। इन अनुष्ठानो के चमत्कार से मनोवाछा की पूर्ति उसी प्रकार अवश्यभावी थी जैसे कि प्रकृति के नियम अटल एव अवश्यभावी होते है। वेदो के समान ही यज्ञ भी अत्यन्त प्राचीन एव अनादि कहे जाते है। इस सारी सृष्टि की उत्पत्ति ही ब्रह्मा के द्वारा किए हुए महान् यज्ञ का फल है। हॉग के अनुसार—"यह सृष्टि अमूर्त और अदृष्ट रूप से सदैव विद्यमान् है, जैसे विद्युत् सदैव विद्यमान् है, केवल उसका रूप किसी सयत्र के प्रचालन से प्रकाशित हो जाता है।" यज्ञ मे दी हुई बलि एवं आहुति केवल देवताओ को प्रसन्न करने के लिए अथवा उनसे विश्व का कल्याण अथवा स्वर्ग मे आनन्द प्राप्त करने के लिए नही दी जाती। यह सब तो यज्ञ करने मात्र से स्वयमेव सम्भव है, यदि यज्ञ संस्कार विधि-विहित नैष्ठिक क्रियाओ द्वारा सम्पन्न किया जाता है जो यज्ञ की सम्पूर्णता के लिए परमावश्यक है। प्रत्येक यज्ञ मे विशिष्ट देवताओ का आह्वान किया जाता है और यद्यपि उनको बलि दी जाती है तथापि ये देवता यज्ञ की धार्मिक क्रियाओ की पूर्ति मे साधन मात्र है। अत यज्ञ अपनी रहस्यमय शक्तियो के कारण देवताओ से भी विशिष्ट माना गया है और यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ के चमत्कार से मनुष्यों ने अनेक बार देवत्व प्राप्त किया। यज्ञ करना और कराना मनुष्य का एक मात्र कर्तव्य माना जाने लगा और इसको कर्म अथवा क्रिया के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा और ऐसा समझा जाने लगा कि इस कर्म का फल नियमानुसार श्रेय अथवा अश्रेय के रूप में निश्चित एव अटल रूप से फलित होगा। अश्रेय के लिए इसलिए कि कई बार अनेक अनुष्ठान शत्रुओ के विनाश करने के लिए और सासारिक शक्ति एव समृद्धि के लिए भी

किए जाते थे। प्रकृति के महान् नियमो अथवा ब्रह्मांड के स्थिति क्रम की कल्पना भी इस समय प्रारम्भ हुई जिसके अनुसार परमात्मा की सत्ता के अन्तर्गत प्रकृति अपना कार्य संपादन करती है। ये प्रकृति के नियम अटल एव अटूट है। इस महान् अनुशासन अथवा नियम को ऋत शब्द से सम्बोधित किया गया है जिसका अर्थ है जो कुछ हो रहा है वह इसी के कारण ब्रह्माण्ड को या प्रकृति का प्रवाह को धारण किए हुए है। जैसे मेक्डुनल महोदय कहते है–"यह सत्ता ईश्वरीय नैतिक जगत् मे सत्य और धार्मिक जगत् में विधान अथवा यज्ञ की अवधारणा के रूप मे समझी जा सकती है।"[1] प्रत्येक कर्म का फल तदनुसार प्राप्त होगा यह भी इस सत्ता का अटल नियम है। भारतीय विचार धारा पर आज तक जिस कर्मवाद का महान् प्रभाव है उस वाद का सूत्रपात इसी काल में हुआ। यह एक अत्यत रोचक विषय है। इस प्रकार हमे एक ओर सरल विश्वास और श्रद्धा द्योतित करने वाली वैदिक धारणाओ की अपेक्षा यज्ञ के जटिल कर्मकाण्ड के महत्त्व के प्रख्यापन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, दूसरी ओर परमात्मा को सार्वभौम सत्ता के रूप मे स्वीकार करने की दार्शनिक एकेश्वरवादी विचारधारा से भी सम्पर्क होता है।

सृष्टि रचना पौराणिक एवं दार्शनिक आधार पर

ऋग्वेद मे वर्णित सृष्टि रचना पर दो दृष्टिकोणो से विचार किया जा सकता है– पौराणिक आधार पर, (२) दार्शनिकता के आधार पर। पौराणिक आधार की दो मुख्य धाराएं है। जैसाकि प्रो० मेक्डुनल कहते है–'एक विचारधारा विश्व को एक यान्त्रिक रचना के रूप मे देखती है जो किसी काष्ठ कर्मी अथवा शिल्पी की प्रतिभा के फल के समान है और दूसरी धारा इसको एक स्वाभाविक प्राकृतिक विकास[2] के रूप मे देखती है।" ऋग्वेद मे कवि एक स्थान पर कहता है–"कौन से वृक्ष और कौन से काष्ठ के द्वारा स्वर्ग और पृथ्वी की रचना की गई।"[3] तैत्तिरिय ब्राह्मण मे इसका उत्तर है– "ब्रह्म ही वह काष्ठ है और ब्रह्म ही वह वृक्ष है[4] जिसमे इस पृथ्वी और स्वर्ग का निर्माण हुआ।" स्वर्ग और पृथ्वी को कही-कही ऐसा प्रदर्शित किया है जैसे वह स्तम्भो पर आधारित हो।[5] कही-कही इन दोनों को विश्व के जनक और जननी के रूप मे वर्णित

---

[1] मेक्डुनल, वैदिक माइथौलोजी, पृ० ११।

[2] वही पृ० ११।

[3] ऋग्वेद, १०, ८१, ४।

[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २, ८, ६, ६।

[5] मेक्डुनल, वैदिक माइथौलोजी, पृ० ११। ऋग्वेद ११, १५, ४, ५६।

किया गया है और कही अदिति एव दक्ष को जगत् के माता व जगत् के पिता के रूप में वर्णित किया गया है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से कुछ-कुछ बहुदेवात्मक पुरुष सूक्त[1] हमारे ध्यान को आकर्षित करता है। यह सारा विश्व आदि पुरुष के रूप मे देखा गया है। जो भी वर्तमान मे है और भविष्य मे होगा वह चर और अचर जगत् मे सर्वत्र व्याप्त है, वह अमर है एवं सारे प्राणियो की उत्पत्ति का कारण है। उसके चरणो से प्रकृति की रचना हुई, उनकी नाभि प्रदेश से वायुमडल का सृजन हुआ, उसके सिर से आकाश की रचना हुई और उसके श्रोत्र से चारो दिशाएँ उत्पन्न हुई। अन्य ऋचाओं मे सूर्य को समस्त चर और अचर जगत्[2] मे प्राण (आत्मा) के रूप में प्रदर्शित किया है। ऐसा भी उल्लेख है कि परमात्मा एक है यद्यपि उस एक ही सत्य को ऋषियो[3] द्वारा अनेक नामो द्वारा पुकारा जाता है। परमात्मा को कई स्थानों पर विश्व के महान् स्वामी के रूप मे पुकारा जाता है जिस विश्व को हिरण्यगर्भ[4] के नाम से सम्बोधित किया गया है। कही कही पर कहा गया है "ब्रह्मणस्पति ने विश्व मे, लौह-कर्मी द्वारा फूंक कर निकाले हुए लौह पदार्थों के समान, जीवन का सचार किया। देवताओ के प्रारम्भिक काल मे अमूर्त से मूर्त की उत्पत्ति हुई तत्पश्चात् लोको की रचना हुई और फिर उत्तानपाद[5] द्वारा विश्व रचा गया।" सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सुन्दर सूक्त जिसमे कि विश्व रचना के रहस्य की दार्शनिक दृष्टि से समीक्षा और विचारण की गई है, वह ऋग्वेद के १०वे मडल के १२६वें सूक्त के रूप मे पाया जाता है।

(१) इस जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व न असत् (Not Being) था और न सत् (Being) था। उस समय न लोग थे और न परम आकाश था जो आकाश से परे है वह भी न था। उस समय ऐसा कौनसा पदार्थ था जो सबको चारो ओर से व्याप्त किए हुए था ? और यदि था तो कहाँ था और किसके आश्रय मे था ? तो फिर कोई ऐसा गहन पदार्थ था जिसमे किसी वस्तु का प्रवेश न हो सके अथवा जिसका कोई आर पार न लग सके या जिसकी अगाधता का पता न लग सके। तब क्या कोई व्यापक भासमान 'अप्' तत्व विद्यमान था।

---

[1] ऋग्वेद १०, ९०।

[2] ऋग्वेद १.११५।

[3] ऋग्वेद १.१६४.४६।

[4] ऋग्वेद १०.१२१.६।

[5] ऋग्वेद का म्योर द्वारा अनुवाद १०, ७२ म्योर की सस्कृत टेक्स्ट्स, भाग ५ पृ० ४८।

(२) उस समय न मृत्यु थी और न उस समय अमृत था अर्थात् जीवन की सत्ता और जीवन के लोप नहीं थे। रात्रि और दिन का उस समय विभेद अथवा कोई ज्ञान नहीं था। जो तत्त्व विद्यमान था प्राण शक्ति के रूप में था परन्तु वह वात अर्थात् स्थूल वायु वाला न था वह अपनी ही शक्ति से सारे ससार को धारण करने वाली शक्ति से व्याप्त था परन्तु उस अत्यन्त सूक्ष्म व्याप्त शक्ति से परे और कुछ भी न था।

(३) सृष्टि के होने से पूर्व तमस अर्थात् अन्धकार था जो स्वय गहन अन्धकार से आवृत था। वह ऐसा था जो ज्ञान से परे था वह व्यापक, गतिमान, प्रवाहमान तत्त्व (सलिल) से व्याप्त था, जो कुछ था वह सूक्ष्म रूप से एक विशाल शून्य मे लिया हुआ था। वह ताप की महान् सामर्थ्य से प्रकट हुआ।

(४) सृष्टि के पूर्व में सर्व प्रथम मन से उत्पन्न होने वाली एक कामना का उदय हुआ जो इस जगत् की प्रारम्भिक बीज थी। ऋषि, तत्त्वज्ञानी पुरुष, हृदय मे पुन पुन विचार कर असत् मे से सत् शक्ति को, अस्तित्व को बाधने वाले चेतन स्वरूप के रूप मे देखते है।

× × × ×

(६) इस सत्य को कौन ठीक-ठीक जान सकता है, इस विषय मे कौन उत्तम रूप से प्रवचन कर सकता है, यह सृष्टि कहाँ से प्रकट हुई और इसका मूल कारण क्या है ? क्या समस्त देवता प्रकाशमान, तेजमान सूर्य, चन्द्र आदि लोक इस जगत् को रचने वाले मूल कारण के पश्चात् ही उत्पन्न हुए ? तो फिर कौन इस तत्त्व को जानता है जिससे यह जगत् चारो ओर प्रकट हुआ ?

(७) यह सृष्टि जिस मूल तत्त्व से प्रकट हुई है अथवा जो इस ससार का सृजन कर रहा है अथवा जो विसृजन कर रहा है, वह इसका अन्तर्यामी प्रभु, परमलोक मे अर्थात् उच्चतम लोक मे विद्यमान है। केवल वह इस सब तत्त्व को जानता है यद्यपि और कोई चाहे न जाने।[1]

इसका प्राचीनतम भाष्य शतपथ ब्राह्मण के एक सदर्भ मे मिलता है (१०.५.३.१) जिसमे उल्लेख है—"आदि काल मे यह विश्व न सत् था न असत्, प्रारम्भ मे यह विश्व अस्थिति मे होते हुए भी नही था एव नही होते हुए भी स्थित था। उस समय केवल एक अव्यक्त चेतन था। अत ऋषियो ने यह वर्णन किया है न 'सत्' था न 'असत्' केवल एक अव्याप्त व्याप्त चेतन शक्ति थी। इस चेतन की उत्पत्ति के पश्चात् जब इसने प्रकट होने की इच्छा की तो अधिक स्थूल और निश्छल रूप से प्रकट होना चाहा,

---

[1] कायगी पृ० ६०। ऋग्वेद, १०, १२६।

शरीर धारण किया और फिर तपस्या मे लीन होकर सत्[1] के रूप मे प्रकट हुआ।" अथर्ववेद में भी ऐसा उल्लेख है कि स्कम्भ देवता मे विश्व के सारे रूप निहित हैं अथवा स्कम्भ देवता से विश्व के सभी अगो की उत्पत्ति हुई।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल मे एक प्रकार की दार्शनिक जिज्ञासा की उत्पत्ति हुई, कम से कम ऐसे अनेक व्यक्तियो के मन मे यह प्रश्न उठता है कि वास्तव में इस विश्व की उत्पत्ति हुई अथवा नही। तब वे इस सृष्टि के उद्भव के सम्बन्ध मे ऐसी कल्पना करने लगे कि विश्व मे सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य सत् और असत् के अन्तर में छिपा हुआ है, अर्थात् सृष्टि से पहले कुछ था या नही इस सम्बन्ध मे कल्पना की जाने लगी। इस जिज्ञासा के परिणामस्वरूप यह कल्पना जागृत हुई कि आदिकाल मे एक अनादि चेतन था जिसके चेतन की अभिव्यक्ति सृष्टि की उत्पत्ति करने की आन्तरिक इच्छा के कारण हुई और जिससे कालान्तर मे शनै. शनै· विश्व के समस्त भौतिक स्वरूप का प्रादुर्भाव हुआ। ब्राह्मणों मे सृष्टि रचना के सम्बन्ध मे एक दूसरे प्रकार का उल्लेख आता है जिसमे सृष्टि कर्ता की अनिवार्य रूप से उपस्थिति की कल्पना की गई है यद्यपि सदैव वह सृष्टि के आदिकारण के रूप मे नही माना जाता। सृष्टि के स्वत विकास और सृष्टि के किसी कर्ता द्वारा उत्पन्न किए जाने के मतो को एक साथ मिला दिया गया है जिसके कारण कई स्थलो पर प्रजापति को सृष्टि कर्ता की सज्ञा दी गई है और अन्य स्थानो पर सृष्टि कर्ता को आदि जल मे प्रवाहमान एक अण्डे के रूप मे अथवा बीज शक्ति के रूप मे तैरते हुए बतलाया है।

परलोकविद्या : आत्मा का सिद्धान्त

वेदो मे इस प्रकार का विश्वास प्रकट किया जाता है कि अचेतन अवस्था मे आत्मा शरीर से अलग हो सकती है और मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अलग अस्तित्व होता है। लेकिन हमको इस सिद्धान्त का कोई विकसित स्वरूप प्राप्त नही होता कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर मे प्रवेश कर जाती है। शतपथ ब्राह्मण मे इस प्रकार का उल्लेख आता है कि जो सम्यक् ज्ञान के साथ उचित कर्म नही करते है वे मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म लेते है और पुन मृत्यु को प्राप्त होते है। ऋग्वेद के एक सूक्त (१०-५८) के मत्र के अनुसार "मनुष्य की आत्मा का अथवा मन का जो संभवत अचेतन है, पुनः आह्वान सूर्य, आकाश एवं वनस्पतियो से किया गया है। अनेक सूक्तो मे अन्य लोको की कल्पना भी की गई है जिनके सम्बन्ध मे यह विश्वास किया गया है कि जो मनुष्य यज्ञादि कर्मकाण्ड भक्ति पूर्वक करते है उन लोगों को सारे भौतिक

---

[1] एगलिंग का अनुवाद, शतपथ ब्राह्मण, भाग ४३, पृ० ३७४-३७५।

[2] अथर्ववेद १०.७.१०।

एवं प्रात्मिक सुख प्राप्त होते है और अन्धकारमय नरक की कल्पना भी की गई है जहाँ पापियों को उनके पापो का दण्ड प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो मृत्यु को प्राप्त हो गए है उनको दो अग्नियों को बीच से पार करना पड़ता है, जो पापियों को जला देती है और पुण्यात्मा को किसी प्रकार का कष्ट नही देती है।"[1] ऐसा भी उल्लेख है कि मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को फिर जन्म धारण करना पड़ता है और उसके पूर्व जन्म के कृत्यो की मीमासा की जाती है अथवा उनको तोला जाता है और तदनुसार उसके शुभ व अशुभ कर्मों के लिए यथाविधि दण्ड अथवा पुरस्कार दिया जाता है। इस प्रकार यह अध्ययन करना सरल है कि इन बिखरे हुए विचारो में शुभ अशुभ कर्मों के फलाफल के उस दर्शन का प्रारम्भिक सूत्रपात इस काल से होता है जिसको हम पुनर्जन्मवाद के नाम से पुकारते है। यह कल्पना कि मनुष्य अनेक कर्मों के अनुसार दूसरे ससार अथवा इसी ससार मे पुनर्जन्म के द्वारा सुख अथवा दुःख प्राप्त करता है, नैतिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त के रूप मे प्रथम बार सामने आती है। यद्यपि ब्राह्मणो के युग मे 'शुभ कर्म का तात्पर्य मुख्यतः यज्ञादि क्रियाओं के करने के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होता था तथा अन्य श्रेयस्कर कर्म अथवा भलाई के कार्य करने की अवधारणा उस समय विकसित नही थी। मनुष्य के मानवीय सुख और दुःख के अशुभ कर्मों के साथ सभावित सम्बन्ध की कल्पना और विश्व का सचालन करने वाला अटल नियम और व्यवस्था ऋत नाम की महान् शक्ति की अवधारणा के साथ उद्भूत होती गई, इन दोनो भावनाओं से कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विकास इस काल में हुआ। ऋग्वेद मे 'आत्मा' के तात्पर्य मे मनस्, आत्मा एव असु शब्दो का प्रयोग हुआ है। आगे चलकर भारतीय विचारधारा मे 'आत्मा' शब्द सुप्रचलित हो गया। इसका अर्थ वेदो मे जीवन देने वाली प्राण शक्ति से है। मन भावनाओं और विचारो का उद्गम स्थान है और सभवत. जैसा मेक्डनल महोदय कहते हैं–इसका स्थान हृदय माना गया है।[2] यह समझना कठिन है कि आत्मा अर्थात् प्राण वायु जो एक अलग होने वाले अग के समान मृतक के शरीर को छोड देती है, मनुष्य और विश्व मे एक मात्र व्याप्त महान् शक्ति के रूप मे किस प्रकार मानी जाने लगी। ऋग्वेद मे एक स्थल है जहाँ कवि ने अन्तरतम रहस्य मे प्रवेश करते हुए क्रमश. गहराई मे जाकर पहले 'असु' फिर रक्त तक पहुँचना बताया, तदनन्तर 'आत्मा' को सबसे सूक्ष्म, गहनतम तत्त्व बताया। उसे विश्व की अन्तरतम चेतन शक्ति के रूप में देखा। "सर्वप्रथम जन्म प्राप्त करने वाला अस्थि सहित शरीर किस प्रकार अस्थिरहित से जन्मा, यह किसने देखा और अनुभव किया (अर्थात् स्वरूपरहित प्रकृति मे से सशरीर पदार्थों को जन्म लेते हुए

---

[1] देखे, शतपथ ब्राह्मण १, ६, ३ तथा मेक्डनल कृत 'वैदिक माइथोलोजी'; पृ० १६६-१६७।

[2] मेक्डनल, 'वैदिक माइथोलोजी,' पृ० १६६, और ऋग्वेद ८, ८६।

किसने देखा?) प्राण, रक्तमय शरीर और आत्मा कहाँ थी और कहाँ से उत्पन्न हुई? इस विषय को जानने के लिए कौन उस विद्वान् के पास जाएगा जो इसको जानता है।"[1] यद्यपि तैत्तिरीय आरण्यक मे प्रथम अध्याय के २३वे मन्त्र मे ऐसा कथन है कि प्रजापति ने पहले अपने आप मे से विश्व को प्रकृति के रूप में जन्म दिया और फिर उसकी आत्मा के रूप मे स्वय उसमें प्रवेश किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने आत्मा को सर्व व्यापक माना है और यह कहा है "जो इस आत्मा को जानता है वह पाप मे लिप्त नही होता।" इन शब्दो से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रागुपनिषदिक वैदिक साहित्य मे आत्मा को मनुष्य के प्राण वायु के रूप मे, फिर विश्व की चेतन शक्ति के रूप मे, तत्पश्चात् मनुष्य की चेतन शक्ति के रूप मे माना गया है। इस अन्तिम स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य की आत्मा को ही क्रमश. विश्व मे सर्व व्यापक महान् शक्ति के रूप मे देखा गया है जिसके ज्ञान से मनुष्य पाप रहित एव निर्मल हो जाता है।

उपसंहार

ऋग्वेद दर्शन के क्रमिक उद् विकास की विवेचना से ऐसा प्रतीत होता है कि सर्व-प्रथम विचारो का एक ऐसा क्रम विकसित हुआ जिसमे सारे ब्रह्माड को विभिन्न अगो के समन्वय के रूप मे अथवा विभिन्न अगो से बनी हुई एक कृति के रूप में देखा गया। किन्तु इसका सृजन एक ऐसी शक्ति के द्वारा हुआ माना गया जो विश्व में ओत प्रोत है फिर भी इस विश्व के ऊपर है, उससे महान् है और उससे परे है। जिज्ञासा और शकालुता की भावना जो दर्शनशास्त्र की जननी है कभी-कभी इतनी प्रबल हो उठती है कि सृष्टि के आधारभूत विषय पर भी प्रश्न करना प्रारम्भ कर देती है—"यह कौन जानता है कि इस विश्व की कभी रचना भी की गई अथवा नही?" दूसरी ओर यज्ञादि के कर्मकाण्ड के विकास के साथ साथ एक अटल और विशिष्ट नियम की धारणा भी स्थापित हुई। वह यह थी कि यज्ञादि कर्म का प्रभाव और फल निश्चित रूप से मिलेगा। इस कारण देवताओ के इस विश्व के अनन्य स्वामी होने की धारणा और उनका महत्व कम होने लगा और इस प्रकार क्रमश. एकैकाधिदेवत्ववादी भावनाओ से होकर अद्वैतवादी धाराओ का प्रचलन होने लगा। तीसरी ओर एक सिद्धान्त और जन्मा जो आत्मा सम्बन्धी था। मनुष्य की आत्मा को ऐसी शक्ति के रूप मे माना गया जो अपने मानवीय शरीर से अलग है और जो दूसरे लोक मे भी अपने अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार सुख और दुःख प्राप्त करती है। यह सिद्धात कि मनुष्य की आत्मा वृक्षादि एव मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियो मे भी प्रवेश कर सकती है अनेक

---

[1] ऋग्वेद, १, १६४, ४ड यूसन का लेख 'आत्मा' पर, (एनसाइक्लोपिडिया आव रिलीजन एण्ड इथिक्स)।

स्थलों पर सकेतित मिलता है। इस प्रकार उत्तरकालीन पुनर्जन्म के सिद्धान्त का सूत्र-पात इस काल मे हो जाता है। आत्मा को एक स्थान पर विश्व की चेतन शक्ति के रूप मे बताया गया है और जब हम इस कल्पना को ब्राह्मणों मे और आरण्यकों तक आकर देखते हैं तो प्रकट होता है कि वहाँ आते-आते आत्मा की धारणा विश्व और मनुष्य दोनों मे व्याप्त महान् चेतन शक्ति के रूप मे विकसित हो गई। इस प्रकार उपनिषदो मे महान् आत्मा का जो सिद्धात है उसका प्रारभिक स्वरूप इस काल मे ही परिलक्षित हो जाता है।

—∞—

अध्याय २

प्रारम्भिक उपनिषदें[1]
(७०० ई० पू० से ६०० वर्ष ई० पू०)

वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान

साधारणतया ऐसा माना जाता है कि उपनिषद् आरण्यकों के परिशिष्ट के रूप मे है और आरण्यक ब्राह्मणो के उपग्रन्थ है। लेकिन यह कहना कठिन है कि ब्राह्मणो, आरण्यको और उपनिषदो को सदैव मूलत: भिन्न शास्त्रो के रूप मे ही माना गया। कई स्थानो मे जिस विषय के सम्बन्ध मे हम यह आशा करते है कि वह ब्राह्मणो मे वर्णित होना चाहिए वह आरण्यको मे उपलब्ध होता है और आरण्यको की सामग्री को उपनिषदो की शिक्षाओ मे समाविष्ट कर दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये तीनो साहित्य एक ही विकास शृंखला की कडिया है और एक ही साहित्य के रूप में इनको स्वीकार किया गया है। यद्यपि उनके वर्ण्य विषय विभिन्न है। ड्यूमन के अनुसार-"इनके विभाजन का सिद्धात इस प्रकार है। ब्राह्मण ग्रन्थ गृहस्थियो के लिए ही लिखे गए। आरण्यक वानप्रस्थो के वृद्धावस्था मे गार्हस्थ्य जीवन के उपरान्त प्रयोग हेतु बनाए गए और उपनिषद विश्वबधन का परित्याग करने वाले मुमुक्षु सन्यासियो के

---

[1] **टिप्पणी :**

उपनिषदो की सख्या ११२ बतायी जाती है। जिन उपनिषदो को निर्णय सागर प्रेस ने १६१७ मे प्रकाशित किया है वे उपनिषद् इस प्रकार है—
(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुडक (६) माडूक्य (७) तैत्तिरीय (८) एतरेय (६) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक (११) श्वेताश्वतर (१२) कौषीतकि (१३) मैत्रेयी (१४) कैवल्य (१५) जाबाल (१६) ब्रह्म बिन्दु (१७) हस (१८) आरूणिके (१६) गर्भ (२०) नारायण (२१) नारायण (२२) परम हस (२३) ब्रह्म (२४) अमृतनाद (२५) अथर्वशिरस (२६) अथर्वशिखा (२७) मैत्रायणी (२८) बृहज्जाबाल (२६) नृसिह पूर्वतापिनी (३०) नृसिहोत्तरतापिनी (३१) कालाग्नि रुद्र (३२) सुबाल (३३) क्षुरिका (३४) यन्त्रिका (३५) सर्वसार (३६) निरालम्ब (३७) शुकरहस्य

लिए निर्दिष्ट किए गए हैं। इस साहित्यिक वर्गीकरण की बात को छोड़ दिया जाए तो यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों को प्राचीन भारतीय दार्शनिको ने वैदिक साहित्य से विभिन्न प्रकार के साहित्य के रूप में स्वीकार किया जिसमे ज्ञान मार्ग की चर्चा है

---

(३८) वज्र सूचिका (३९) तेजो बिन्दु (४०) नाद बिन्दु (४१) ध्यान बिन्दु (४२) ब्रह्म विद्या (४३) योग तत्त्व (४४) आत्म बोध (४५) नारद परिव्राजक (४६) त्रिशिखि ब्राह्मण (४७) सीता (४८) योग कुमुदिनी (४९) निर्वाण (५०) मडल ब्राह्मण (५१) दक्षिण मूर्ति (५२) शरभ (५३) स्कन्द (५४) त्रिपाद् विभूति महानारायण (५५) अद्वय तारक (५६) राम रहस्य (५७) राम पूर्व तापिनी (५८) रामोत्तर तापिनी (५९) वसुदेव (६०) मुद्गल (६१) शाण्डिल्य (६२) पिंगल (६३) भिक्षुक (६४) महा (६५) शारीरक (६६) योग शिखा (६७) तुरीयातीत (६८) संन्यास (६९) परम हंस परिव्राजक (७०) अक्षमाला (७१) अव्यक्त (७२) एकाक्षर (७३) अन्न पूर्णा (७४) सूर्य (७५) अक्षि (७६) अध्यात्म (७७) कुडिक (७८) सावित्री (७९) आत्मा (८०) पाशुपत ब्रह्म (८१) पर ब्रह्म (८२) अवधूत (८३) त्रिपुर-तापिनी (८४) देवी (८५) त्रिपुरा (८६) कठरुद्र (८७) भावना (८८) रुद्र हृदय (८९) योग कुडली (९०) भस्म जाबाल (९१) रूद्राक्ष जाबाल (९२) गणपति (९३) जाबाल दर्शन (९४) तार सार (९५) महावाक्य (९६) पञ्च ब्रह्म (९७) प्राणाग्नि होत्र (९८) गोपाल पूर्व तापिनी (९९) गोपालोत्तर तापिनी (१००) कृष्ण (१०१) याज्ञवल्क्य (१०२) वाराह (१०३) शाठ्या-यनीय (१०४) हयग्रीव (१०५) दत्तात्रेय (१०६) गरुड (१०७) कलिसनरण (१०८) जाबालि (१०९) सौभाग्यलक्ष्मी (११०) सरस्वती रहस्य (१११) बह्वृच (११२) मुक्तिक।

औरंगजेब के भाई दाराशिकोह द्वारा अनूदित उपनिषदो के सग्रह मे ५० उपनिषद् है। मुक्तिक उपनिषद् मे १०८ उपनिषदो की सूची दी हुई है। प्रथम १३ उपनिषदों को छोड़कर बाकी सभी उपनिषद् उत्तरकालीन है। इस अध्याय में जिन उपनिषदो का वर्णन है वे सब प्रारम्भिक उपनिषद् है। उत्तरकालीन उप-निषदो मे कुछ ऐसी है जो इन प्रारभिक उपनिषदो की विषय वस्तु को ही दोहराते या उद्धृत करते है और कुछ ऐसे है जो शैव तत्र योग और वैष्णव सिद्धान्तो का निरूपण करते है। इन उपनिषदो का संदर्भ-निरूपण उन सिद्धान्तो के विवेचन के साथ इस ग्रन्थ के भाग दो मे किया जाएगा। वे उत्तरकालीन उपनिषद् जो उन उपनिषदों की विषय-वस्तु की पुनरावृत्ति करती है जिनका कि इस अध्याय मे वर्णन किया गया है, उनका पुनः विस्तृत उल्लेख आवश्यक नही समझा गया है। उत्तरकालीन उप-निषदों में से कुछ ऐसी भी हैं जो १४वी अथवा १५वी शताब्दी मे लिखी गयी हैं।

जबकि वेदो का विषय कर्मकाण्ड है। पौराणिक हिन्दू मतानुसार वेद शास्त्रो में जो कुछ लिखा गया है वह धार्मिक कर्तव्यो के विधि के रूप मे अर्थात् उन कर्तव्यो के विधान के रूप में हैं जिनको करना चाहिए, और उन कार्यों के निषेध के रूप में हैं जिनको निषिद्ध कर्म की सज्ञा दी गई है। कथा अथवा दृष्टातो के रूप मे जो कुछ कहा गया है वह भी इस हेतु से है कि उनसे मनुष्य धार्मिक कर्तव्यो का ज्ञान प्राप्त करे और जो नही किये जाने वाले निषिद्ध कर्म है उनके द्वारा मिलने वाले कष्ट के फल को दृष्टि मे रखते हुए शिक्षा प्राप्त करे। किसी व्यक्ति को वैदिक निर्देशो के ऊपर शका करने का अधिकार नही है क्योकि वेद तर्को से परे है और क्योकि बुद्धि वैदिक विधि विधान और ज्ञान को समझने मे समर्थ नही है, अत वेद ईश्वरीय आदेश और निषेध के रूप मे प्रकट किये गये हैं जिससे कि मनुष्य मात्र आनन्द का सत्य मार्ग धारण कर सके। अत वैदिक शिक्षा कर्म मार्ग की ओर अग्रसर करती है और वैदिक यज्ञ कर्म-काण्ड आदि के करने की प्रेरणा देती है। दूसरी ओर उपनिषद किसी कर्मकाण्ड का विधान नही करती वरन् शाश्वत सत्य एव यथार्थ का निरूपण करती है जिसके ज्ञान से मनुष्य बन्धनो से मुक्त हो जाता है। हिन्दू दर्शन के ज्ञाता इस बात से भलीभाँति अवगत है कि वेदो के अनुयायी और वेदान्ती अर्थात् उपनिषद् मतावलबी व्यक्तियो मे सदैव से तीव्र विवाद रहता आया है। वैदिक शास्त्री अनेक स्थलो के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है कि उपनिषद वेदो से भिन्न कोई वस्तु नही है और उनका मत यह नहीं है कि कर्मकाण्ड नही करना चाहिए। इनके अनुसार उपनिपदो मे कर्मकाण्ड के अनेक महत्वो को वर्णित किया गया है जबकि वेदान्तियो का मत है कि उपनिषद् वेद शास्त्रो से परे है और कर्मकाण्ड को स्थान न देते हुए सुपात्र जिज्ञासुओं को ज्ञान के मार्ग के द्वारा शाश्वत सत्य की अनुभूति का आनन्द प्रदान करती है। उपनिपदो के महान् भाष्यकार श्री शकराचार्य कहते है कि उपनिषद् उन ज्ञानियो के लिए है जो सासारिक एव भौतिक सुखो से उपरत हो गए है और जिनके लिए वैदिक कर्मकाण्ड का कोई विशेष प्रयोजन नही रहा है। ऐसे सुपात्र व्यक्ति कही भी हो, चाहे वे विद्यार्थी हो, गृहस्थ हो अथवा सन्यासी, उनके अन्तिम मोक्ष के लिए उपनिषद् सत्य ज्ञान का प्रकाश देती है। जो वैदिक कर्मकाण्ड अनुष्ठानादि करते है वे निम्न स्तर पर है। परन्तु जिनके हृदय मे कोई अभिलाषा और कामना नही रह गयी है और जो निष्काम भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहते है उपनिषद् का अध्ययन करने के लिए वे ही सुयोग्य पात्र है।[1]

---

[1] अधिकार भेद के सम्बन्ध मे ऐसा कहा गया है कि जो अनुष्ठान आदि करते हैं वे उपनिषदो को सुनने के योग्य पात्र नही होते हैं और जो उपनिषदो का श्रवण एवं मनन करते है उनको यज्ञादि करने की आवश्यकता नही।

उपनिषदों के नाम : ब्राह्मणोत्तर प्रभाव

उपनिषदों को वेदान्त के नाम से पुकारा जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे वेद के अन्तिम भाग हैं। अतः उपनिषदों का दर्शन वेदान्त दर्शन के नाम से प्रचलित है। उपनिषदों की भाषा शास्त्रीय संस्कृत है और उनके उद्देश्यों से भी ज्ञात होता है कि उस युग के महानतम बौद्धिक दर्शन के सत्य प्रतीक उपनिषद ही है। क्योंकि ये वेदों के उपसंहार के रूप में लिखे गए थे अत वेद की जिस शाखा के अन्तर्गत किसी दर्शन विशेष का अध्ययन किया गया था उस शाखा के वैदिक शब्दों व नामावली का प्रयोग भी उस दर्शन विशेष में पाया जाता है।[1] इस प्रकार जो उपनिषद् ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों से सम्बद्ध हैं उन्हें ऐतरेय और कौषीतकि उपनिषद् के नाम से पुकारा जाता है। सामवेद के तलवकार एवं ताण्डिन भागों से सम्बन्धित उपनिषद् तलवकार (केन) एवं छान्दोग्योपनिषद नामों से जाने जाते हैं। यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से तैत्तिरीय और महानारायण उपनिषद्, कठ शाखा से काठक उपनिषद् और मैत्रायणी शाखा से मैत्रायणी उपनिषद् का प्रादुर्भाव माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण की वाजसनेयी शाखा से बृहदारण्यक उपनिषद की उत्पत्ति मानी जाती है। ईशोपनिषद् भी शत पथ ब्राह्मण से सबद्ध मानी जाती है। लेकिन श्वेताश्वतर उपनिषद् किस शाखा से सम्बन्धित है यह नहीं जाना जा सका है। हो सकता है वह शाखा लुप्त हो गई हो। इन उपनिषदों के बारे में ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये शाखा विशेष के दार्शनिक चिन्तन का प्रतिनिधित्व करती हैं। उत्तरकालीन उपनिषदों में से अधिकांश अथर्ववेद से अपनी ज्ञान धाराओं का प्रकाश प्राप्त करती है और इनमें से अधिकतर वैदिक शाखा के नाम की संज्ञा ग्रहण न कर किसी विशेष विषय का अध्ययन करती है। उन्हीं के अनुसार उनके नाम रखे गए है।[2]

---

[1] संहिताओं के पाठ निश्चित हो जाने के पश्चात देश के विभिन्न भागों में इन्हें कठस्थ कर लिया गया और शिष्यों ने अपने गुरुओं से इस ज्ञान को प्राप्त किया। इसके साथ ही गुरुओं द्वारा यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि के सम्बन्ध में विशेष विवरणों को गद्य में लिखा गया जिनको ब्राह्मण नाम से पुकारा जाने लगा। इस ब्राह्मणीय गद्य साहित्य में स्थान-स्थान पर विभिन्न वेदपाठियों के आवश्यकतानुसार अनेक परिवर्तन होते रहे जिसके कारण उन ब्राह्मण ग्रन्थों के पाठों में भी अनेक प्रकार के विभेद पाए जाते है जो एक ही वेद शाखा से सम्बन्धित है। ये विभिन्न मत उन विशेष शाखाओं के नाम से पुकारे जाते थे जैसे ऐतरेय अथवा कौषीतकि जिनसे इन ब्राह्मण ग्रन्थों का संबंध था। इसी प्रकार ब्राह्मणों की विभिन्न शाखाओं के मतानुसार उपनिषदों के आकार में भी अन्तर पाया जाता है।

[2] गर्भोपनिषद्, आत्मोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि इसके उदाहरण है। इसके कुछ अपवाद भी है - जैसे माण्डूक्य, जाबाल, पैंगल, शौनक आदि।

यहाँ यह उल्लेख अप्रासगिक नही होगा कि उपनिषदो में स्थान-स्थान पर ऐसे स्थल आए है, जिनके अनुसार कई बार ब्राह्मण क्षत्रियो से उच्चत्तम दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गए और पाली ग्रथों मे ऐसे प्रसंग भी मिलते हैं जिनसे जनसाधारण की दार्शनिक जिज्ञासा का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रियो मे उस समय दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट जिज्ञासा थी और ऐसा भी लगता है कि उपनिषदो के निर्माण मे जिज्ञासा और उत्कठा ने अच्छा प्रभाव डाला है। साधारणतया उपनिषदों की शिक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों की शिक्षा से एक दम अलग नही मानी जाती तथापि इस अनुमान मे कुछ सत्यता का अश हो सकता है कि यद्यपि उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थो की परम्परा के अनुसार है फिर भी उनके विकास मे ब्राह्मणेतर चिन्तन का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है और सम्भवत या तो उपनिषद के सिद्धान्तो का सूत्रपात इस विचारधारा के कारण ही हुआ हो, अथवा उनकी ज्ञान परम्परा के परिपक्व होने मे उसने पर्याप्त योगदान दिया हो। वैसे इन्हे अन्तिमतः सुललित ज्ञानमय रूप ब्राह्मणो के हाथो ही मिला।

ब्राह्मण और प्रारंभिक उपनिषद्

दर्शन साहित्य के इतिहास मे भारतीय चेतना का ब्राह्मणो के युग से उपनिषद् युग मे प्रवेश करना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। हम यह जानते हैं कि वैदिक सूक्तो मे एकेश्वरवाद की अत्यन्त सुन्दर भावना का विकास पाया जाता है परन्तु इनका स्वरूप उपनिषद के कट्टर अद्वैतवाद से उसी प्रकार भिन्न है जैसे टालमीय सिद्धान्त एव कोपरनिकस की ज्योतिष प्रणालियाँ अलग-अलग है। विश्वकर्मा और हिरण्यगर्भ की उपनिषद् के आत्मा और ब्रह्मा मे समानता अथवा तुलना करना कठिन प्रतीत होता है परन्तु मैं यह मानने के लिए तैयार हू कि आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त के विकास के होने के पश्चात् उसका वैदिक सिद्धान्तो के इन देवताओ के स्थान पर एक मात्र तत्त्व की अवधारणा के रूप मे छा जाना सम्भव है। किसी भी प्रारभिक उपनिषद मे विश्वकर्मा हिरण्यगर्भ या ब्रह्मणस्पति का कोई उल्लेख नही पाया जाता न ऐसा कोई प्रसग पाया जाता है कि उन्हे उपनिषदों की अवधारणाओ के साथ जोडा जा सकता हो।[1] उपनिषद् मे पुरुष शब्द का प्रयोग अनेक स्थलो में आता है परन्तु उसका अर्थ और व्याख्या ऋग्वद के पुरुष-सूक्त मे प्रयुक्त पुरुष शब्द के अर्थ से एक दम भिन्न है।

---

[1] विश्वकर्मा का नाम श्वेताश्वतर ४,१७ मे पाया जाता है। इसी ग्रन्थ मे (३.४ और ४.१२ हिरण्यगर्भ का प्रयोग सर्व प्रथम जिसको रचा गया हो ऐसे अर्थ मे आता है। सर्वाहमानी हिरण्यगर्भ शब्द जिसका उल्लेख डियूसन महोदय करते है-नृसिंह उपनिषद् ६ मे पाया जाता है। ब्रह्मणस्पति शब्द उपनिषदो मे किसी भी स्थान पर नही पाया जाता।

ऋग्वेद मे विश्वकर्मा का वर्णन ऐसे सृष्टिकर्ता के रूप मे आता है जो चल अचल जगत् की घटनाओं का कारण है और जिसकी उपासना भौतिक सुखो को प्राप्त करने के लिए की जाती है। 'सब कुछ जानने वाले अन्तर्यामी विश्वकर्मा ने अपनी महान् शक्ति से किस स्थिति, किस कारण और किस सिद्धान्त से इस पृथ्वी और आकाश को जन्म दिया। उस एक देव ने जिसके अनेक मुख हैं और प्रत्येक दिशा मे जिसकी भुजाएँ और जिसके चरण स्थित है, उसने इस आकाश और पृथ्वी को उत्पन्न करते समय अपने बाहुओ तथा पैरो से विशेष स्वरूप दिया। हे विश्वकर्मन् आप अपने आराधकों को अपने वे उत्तम लोक दीजिए जो सर्वोच्च है अथवा जो आकाश और पृथ्वी पर स्थित है, आप हमे उदार चेता पुत्र दीजिए।"[1] ऋग्वेद के १०वे मण्डल के ८२वे सूक्त मे पुनः उल्लेख आता है-"विश्वकर्मा ज्ञानमय, शक्तिमय, सृष्टिकर्ता, विधाता और इन्द्रियातीत है, वह हमारा पिता, कर्ता एव भाग्यविधाता है जो सारे लोकों को और उनमे बसने वाले सारे प्राणियो को जानता है जो प्रकाशमान देवो को उनकी सज्ञा देता है, उस परमात्मा का ज्ञान के लिए सभी प्राणी अवलम्ब ग्रहण करते है।"[2] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १२९वे सूक्त मे हिरण्यगर्भ के सम्बन्ध मे ऐसा प्रसंग आया है "आदि काल मे हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई। वह स्वय ही सभी सत् पदार्थों का स्वामी था। उसने पृथ्वी और आकाश की स्थापना की। हम किस देवता को बलि या हविष्य दे। वह हमारी रक्षा करे जो इस पृथ्वी की उत्पत्ति करता है और जिसने निश्चित सिद्धातो के अनुसार राज्य करते हुए स्वर्ग और दीप्तिमान जल को उत्पन्न किया। हम ऐसे किस देवता को हविष्य अर्पित करे। हे प्रजापति इस ससार के चर अचर जगत् के आप स्वामी है। हम उन वाछित वस्तुओ को प्राप्त करे जिनके लिए हम आपका आह्वान करते है। हम समृद्धि को प्राप्त करे।"[3] पुरुष के सम्बन्ध में ऋग्वेद ऐसा उल्लेख करता है-"पुरुष के इन सहस्त्रो सिर, नेत्र एव सहस्त्रों चरण इस पृथ्वी के चारो ओर परिव्याप्त है और वह दश अगुलि के आकार से ऊपर को भी उठा। उसने आकाशगामी पक्षियो की एव पालतू पशुओ की भी सृष्टि की" आदि आदि।[4] इसके अन्तिम भाग मे कहा गया है, इस सृष्टि का निर्माण किस मूल तत्त्व और कारण से हुआ अथवा यह सृष्टि उत्पन्न हुई अथवा नही हुई, इस तत्त्व को केवल इस सृष्टि का अध्यक्ष जो परमलोक मे विद्यमान है वही जानता है अन्य कोई नही।

---

[1] म्योर महोदय की सस्कृत टेक्स्ट भाग ४ पृ० ६,७।

[2] वही पृ० ६,७।

[3] वही, पृ० १६-१७।

[4] म्योर का सस्कृत टेक्स्ट भाग ५ पृ० ३६८,३६९। ऋग्वेद (१०/१२९)का वह प्रसिद्ध सूक्त भी उल्लेखनीय है जो इस प्रकार प्रारंभ होता है-"सृष्टि के आदि मे न सत् था न असत् न आकाश था और न पृथ्वी।"

उपनिषद् की स्थिति इस सम्बन्ध मे भिन्न है और इनमे जिज्ञासा का केन्द्र सृष्टि-कर्ता न होकर आत्मा है। वेदो के एकेश्वरवाद का विकास स्वाभाविक रूप से आस्तिकवाद का कोई स्वरूप होना चाहिए न कि यह सिद्धान्त कि आत्मा ही एक मात्र यथार्थ है और यह सर्वोपरि है। यहाँ न तो किसी आराध्य देवता एव आराधक का प्रसग है, न कोई स्तुतियाँ उसकी की गई है। केवल महान् सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है और विश्व मे सबसे बडे यथार्थ के रूप मे मनुष्य मे स्थित आत्मा का उल्लेख किया गया है। दार्शनिक स्थापना मे यह परिवर्तन बडा रोचक एव महत्वपूर्ण है। वस्तुवादी चेतना का आत्मवादी चेतना मे किस प्रकार परिवर्तन हुआ उसके सम्बन्ध मे कोई वाद-विवाद, युक्ति, तर्क आदि उपनिषदो मे नही पाए जाते। मस्तिष्क का अथवा तत् सम्बन्धी बुद्धि का विश्लेपण और अन्वेषण भी प्राप्त नही होता है। इस चेतना को एक स्पष्ट अन्तर्ज्ञान के रूप मे देखा गया है और जिस गहन विश्वास के साथ इस सत्य को आका गया है उससे पाठक प्रभावित हुए बिना नही रह सकते। ब्राह्मणो की अर्थहीन कल्पनाओ और अनुमानो से यह सिद्धान्त प्रकट हुआ होगा इस बात पर साधारणतया विश्वास नही होता।

बालाकि गार्ग्य एव अजातशत्रु (बृहदा० २,१) श्वेतकेतु एव प्रवाहण जैबलि (छान्दोग्य ५,३ एव बृहदा० ६, २) और आरुणि एव अश्वपति कैकेय (छा० ५/११), इन छन्दो के आधार पर गार्बे महोदय का विचार है कि "इस बात को सिद्ध किया जा सकता है कि ब्राह्मणो के ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँचाने वाला 'एक ब्रह्म' का सिद्धान्त जिसका प्रभाव आधुनिक जीवन धारा तक मे पाया जाता है, केवल ब्राह्मणो के समाज द्वारा प्रतिपादित नही किया गया।"[1] सम्भवत "इस सिद्धान्त की उत्पत्ति क्षत्रिय समाज मे हुई।"[2] यदि यह कथन सत्य है तो फिर ऐसा मानना पडेगा कि उपनिषद्, वेद, ब्राह्मण और आरण्यको से परे विकास को प्राप्त हुई। लेकिन तथ्यो के आधार पर यह बात कहाँ तक सत्य है इसका अन्वेषण करना पडेगा। गार्बे महोदय ने जिन उक्तियो और प्रमाणो को प्रस्तुत किया है उनकी छानबीन करना आवश्यक है। बालाकि गार्ग्य एक आत्म-प्रशसा करने वाला अभिमानी व्यक्ति है जो क्षत्रिय अजातशत्रु को वास्तविक ब्राह्मण ग्रन्थो का ज्ञान कराना चाहता है लेकिन इस विषय मे असफल रहता है तो वह उससे शिक्षा लेना चाहता है। इस पर अजातशत्रु उत्तर देता है जो स्वय गार्बे महोदय के अनुसार निम्न प्रकार है—"यह साधारण परम्परा की विधि है कि एक ब्राह्मण क्षत्रिय से शिक्षा प्राप्त करे और क्षत्रिय उसको ब्रह्म विद्या की दीक्षा दे।"[3] इससे यह स्पष्ट है कि स्वाभाविक परम्परा के अनुसार ब्राह्मण ग्रथो की दीक्षा ब्राह्मणो

---

[1] गार्बे का लेख "हिन्दू मोनिज्म" पृ० ६८।

[2] वही, पृ० ७८।

[3] वही, पृ० ७५।

द्वारा क्षत्रियों को दी जाती थी और किसी ब्राह्मण का किसी क्षत्रिय के पास शिक्षा ग्रहण करने जाना असाधारण था। वार्तालाप के प्रारम्भ मे अजातशत्रु ने बालाकि को एक सहस्त्र स्वर्ण मुद्रा देने का सकल्प किया था यदि वह उसे ब्रह्म ज्ञान की दीक्षा दे सके क्योंकि साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्म विद्या[1] के सम्बन्ध मे वार्तालाप करने के लिए जनक के पास जाया करता था। दूसरे आख्यान श्वेत केतु एव प्रवाहण जैवलि से ऐसा स्पष्ट होता है कि आत्मा के पुनर्जन्मवाद के देवयान एव पितृयान सिद्धान्तों का क्षत्रियो मे उद्गम रहा होगा। परन्तु उस उच्च ज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नही है जिसके अन्तर्गत अन्तरात्मा को ब्रह्म के शाश्वत के रूप में जाना गया है।

आरुणि एव अश्वपति कैकेय (तीसरा अध्याय छान्दोग्य ५) भी अधिक विश्वसनीय नही है। पाँच ब्राह्मण आत्मा एव ब्रह्म की जिज्ञासा को लेकर उद्दालक आरुणि के पास जाते है। पर उसको पूर्ण ज्ञान न होने के कारण वह इन लोगो को लेकर क्षत्रिय नरेश, अश्वपति कैकेय के पास जाता है जो इस विषय का अध्ययन कर रहा था। लेकिन अश्वपति उनको वैश्वानराग्नि के सम्बन्ध मे थोडी बहुत शिक्षा देता है और इसको किए हुए यज्ञो के महत्व को बताता है। "यह ब्रह्म ही सत्यात्मा है" इस सबध मे वह कुछ नही कहता। हमको इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि बहुत थोडे से ऐसे प्रसग आते है जहां क्षत्रिय राजा ब्राह्मणो को शिक्षा देते है परन्तु अधिकाश प्रसगो मे यही पाया जाता है कि ब्राह्मण ही आत्म ज्ञान के सम्बन्ध मे वार्ता एव उपदेश दिया करते थे। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि "गार्बे महोदय ब्राह्मणो के प्रति कटुता के कारण पूर्ण मनन किए बिना जल्द-बाजी मे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ब्रह्म-विद्या क्षत्रिय प्रणीत थी। विटरनीज भी कुछ अश तक गार्बे महोदय से सहमत है और उन्होंने भी उपनिषद् के इन्ही दृष्टान्तो का प्रयोग किया है।[2] परन्तु सत्य यह है कि कुछ क्षत्रियो ने और कुछ स्त्रियो ने उपनिषदो मे वर्णित धर्म और दर्शन की सत्य सबधी जिज्ञासा म रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। ये जिज्ञासु इतने उत्सुक थे कि ब्राह्मणो से शिक्षा ग्रहण करने मे अथवा जो शिक्षा उन्होंने प्राप्त की है उस शिक्षा को दूसरो को देने मे उन्होंने जाति, लिंग भेद आदि की चिन्ता नही की।[3] इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता कि उपनिषदो का दर्शन क्षत्रिय समाज मे उत्पन्न हुआ अथवा इन उपनिषदो का विकास आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थो मे नही पाया जाता जिनको ब्राह्मणो ने लिखा था

---

[1] बृहदा० ४/३ पुन. देखिए याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को ब्रह्म ज्ञान का उपदेश।

[2] विटरनीज गेशिष्टे डर इनडीसेन लिटरेचर १, पृ० १९७।

[3] याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की कथा (ब्राह्मण २,४) और जाबाला के पुत्र सत्यकाम और उसके गुरु की कथा (अध्याय ४/४)।

ब्राह्मण विचारधारा का आरण्यक विचारधारा मे परिवर्तन होना मूल्यों के परिवर्तन का एक दूसरा चरण है। विभिन्न भौतिक सुखो की प्राप्ति के लिए तपस्याचरण एव यज्ञानुष्ठान की बजाय उसके प्रतीक स्वरूप ध्यानोपासनादि पर अधिक बल दिया जाना इस परिवर्तन का स्वरूप है। बृहदारण्यक उपनिषद् (१, १) मे हम देखते है कि अश्वमेध यज्ञ के स्थान पर इस सारे विश्व को अश्व के रूप मे मानकर उसका ध्यान योग द्वारा यज्ञ का निर्देश है। ऊषा अश्व का शिर है, सूर्य उसके नेत्र है, वायु उसका प्राण है, अग्नि उसका मुख और वर्ष उसकी आत्मा है और उसी प्रकार अन्य उपमाओ से एक विराट् रूप का वर्णन किया गया है। कहा है, क्षेत्रो मे चरने वाला अश्व कौन-सा है और उसकी बलि से क्या लाभ है? उत्तर है, यह प्रवहमान विश्व ही अश्व है जो बुद्धि को चमत्कृत करने वाला है और इस गतिमान प्रकृति का ध्यान ही वास्तविक अश्वमेध यज्ञ है। ध्यान के रूप मे विचारो की क्रिया ने यज्ञ के बाह्य स्वरूप और पूजन का स्थान ले लिया। विधि-विहित यज्ञानुष्ठान एव यज्ञ सामग्री आदि का महत्व इस युग मे समाप्त प्राय हो गया और उसका स्थान योग ध्यान आदि ने ग्रहण कर लिया। इसके साथ ही ब्राह्मण वर्ग के यज्ञ अनुष्ठान आदि के साथ साथ ही प्रतीकात्मक ध्यान योग प्रणाली का प्रचलन हो उठा था जिसको यज्ञ की पार्थिव क्रिया और कर्मकाण्ड से उच्च समझा जाने लगा था। ये प्रतीक केवल सूर्य, वायु आदि के रूप मे बाह्य विश्व से ही नही लिए गए थे अपितु मनुष्य के शरीर और शरीर के अन्य जीवन तत्त्वो को भी इनके प्रतीक के रूप मे देखा गया। इसके अतिरिक्त कुछ कुछ विशेष अक्षरो को भी प्रतीक रूप मे स्वीकार कर लिया गया और यह विश्वास किया जाने लगा कि इन अक्षर रूपी बीज मत्रो का भी ध्यान और विचार विशेष रूप से श्रेयस्कर है। इस प्रकार यज्ञानुष्ठानो का महत्व धीरे-धीरे कम हो रहा था और उनके स्थान पर अनेक रहस्यमय विभिन्न क्रियाएँ अर्थपूर्ण एव कल्याणकारी समझी जाने लगी थी।[1] ऋग्वेद मे उल्लिखित एक उक्थ को ऐतरेय आरण्यक ग्रथ मे प्राण के रूप मे देखा गया है।[2] सामवेद मे प्रयुक्त उद्गीथ को ओम्, प्राण, सूर्य और नेत्र का रूप माना गया है। छान्दोग्य के दूसरे अध्याय मे साम को ओम्, वर्षा, सलिल, ऋतु, प्राण आदि के रूप मे माना गया है। छान्दोग्य (३ अध्याय १६, १७) मे मनुष्य को एक यज्ञ के रूप मे वर्णित किया है। उसके जीवन मे भूख, प्यास और दुखो से इस यज्ञ का सस्कार प्रारम्भ होता है। उसकी जीवनचर्या मे हँसना, बोलना और भोजन ग्रहण करना यही मत्रो का उच्चारण है। सत्य, अहिसा, श्रद्धा, दानशीलता एव साधुवृत्ति इस यज्ञ की दक्षिणा है। सुसस्कृत, वैदिक भारतीय का मस्तिष्क उर्वर और सुसमृद्ध था और वे चाहते थे कि वह किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच जाए परन्तु

[1] छान्दोग्य ५/११।

[2] ऐतरेय आरण्यक ५/११।

विचारों में और चिन्तन में युक्ति सगत तार्किक प्रणाली का विकास नहीं हुआ था और उसके फलस्वरूप हमे आरण्यकों मे बड़े अद्भुत एवं काल्पनिक रूपक और संयोजन मिलते है जिनका वास्तव मे एक दूसरे से कोई सम्बन्ध दिखाई नही देता। किसी भी कार्य के लिए किसी भी प्रकार की कारणता प्रस्तुत करना निश्चित तादात्म्य के रूप में माना जाता था। ऐतरेय आरण्यक (२, १-३) मे एक एक सदर्भ मिलता है जिसमें कहा गया है "तत्पश्चात् भोज्य पदार्थों के उद्गम का विषय आता है।" देवताओं से प्रजापति की उत्पत्ति हुई। वर्षा मे देवता की उत्पत्ति हुई, वनस्पति से वर्षा उत्पन्न हुई। अन्न से वनस्पति बनी। अन्न का उत्पादक बीज है। और प्राणियो से अन्न की उत्पत्ति हुई। प्राणियो का मूल हृदय है। हृदय का मूल मन है। "मन का मूल वाक् है। वाक् का मूल कर्म है। कर्म का मूल मनुष्य है जो ब्रह्म का निवास है।"[1]

भाष्यकार सायण के अनुसार 'ब्रह्म' के इतने अर्थ है–मत्र, यज्ञ अथवा अनुष्ठान, होता, पुरोहित एव महान हिले ब्रात महोदय बताते है कि ऋग्वेद मे ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह अभूतपूर्व है एव पितरों द्वारा उत्पन्न माना गया है। इसका उद्गम ऋत से है, यज्ञ की ध्वनि के साथ यह उत्पन्न होता है। मत्रोच्चार के द्वारा सवन पर्व मनाने के अवसर पर सोम रस की उत्पत्ति के साथ ब्रह्म प्रकट होता है। देवताओं की महायता से अनेक युद्धो मे सोम द्वारा रक्षित एव स्थिर रहता है। इन मत्रों के आधार पर हिले ब्रात, हॉग महोदय के इस अनुमान की सत्यता पुष्ट करते है कि ब्रह्म एक रहस्यमय शक्ति है जिसका आह्वान अनेक प्रकार के अनुष्ठानो के द्वारा किया जा मकता है और उनकी परिभाषा के अनुमार ब्रह्म वह विचित्र शक्ति है जो विधिपूर्वक उच्चारित मत्र श्लोकादि एव यज्ञाहुतियो द्वारा आह्वान की जाती है अथवा उनसे प्रकट होती है।[2] मेरे विचार से यह अर्थ आरण्यक उपनिषदो मे आए हुए अनेक सदर्भो के अर्थ से साम्य रखता है। इन सदर्भो मे जो अर्थ आया है उसके अनुमार इसको रहस्यमय विचित्र शक्ति और महान् शक्ति के रूप मे देखा गया है। इन दोनों अर्थों मे परिवर्तन हो जाना कठिन नही है अर्थात् रहस्यमय शक्ति को महान् शक्ति के रूप मे माना जा सकता है। यज्ञो का महत्व कम होने के पश्चात् भी जिनका स्थान मनन और ध्यान ने ग्रहण कर लिया था, यज्ञ की शक्तियो के बारे मे विश्वास लुप्त नही हुआ था। इसके फलस्वरूप उपनिषदों मे अनेक स्थलो मे वर्णन आया है कि इस महान् शक्ति ब्रह्म का अनेक व्यक्ति ध्यान, चिन्तन और मनन करते है। इस ब्रह्म को अनेक प्रतीको के रूप मे देखा जाता है जिसमे मानवीय शरीर के कार्यकलाप एव प्राकृतिक वस्तुओं को सम्मिलित किया गया है।

---

[1] ऐतरेय आरण्यक का कीथ कृत अनुवाद।

[2] ब्रह्म पर हिले ब्रान्त का लेख (ई आर ई.)।

यज्ञ क्रियाओं से रुचि हटकर जब ध्यान और चिन्तन मे विशेष रूप से निहित होने लगी तब यज्ञों की विशिष्ट क्रियाओं को शारीरिक क्रियाओ के साथ नियोजित करते हुए ब्रह्म को इन क्रियाओ के द्वारा समझने का प्रयत्न किया जाने लगा। इन क्रियाओ के सम्यक् ज्ञान के बिना ब्रह्म को समझना और प्राप्त करना कठिन है। पञ्चाग्नि विद्या के अर्थो प्रयोगो एव शरीर क्रियाओ द्वारा किए जाने वाले यज्ञो के रूपक मे पुनः पुनः उल्लेख किए जाने से यह सिद्ध होता है कि बहुत से लोग ऐसा सोचने लगे थे कि ध्यान के बिना कोई यज्ञ अथवा अनुष्ठान सफल नही हो सकता। ऋषियों ने जब इस महान् सत्य का दर्शन किया कि वह मनुष्य ज्ञान-रहित है जो देवताओ के अस्तित्व को मनुष्य के अस्तित्व से भिन्न देखता है। जिस प्रकार मनुष्य अनेक पशुओ से पोषण प्राप्त करता है उसी प्रकार देवता भी मनुष्यो से पोषण प्राप्त करते है और जिस प्रकार यह मनुष्य को अरुचिकर होता है कि उसके पशुओ का हरण कर लिया जाए उसी प्रकार देवताओ को यह अरुचिकर है कि मनुष्य इस महान् सत्य को पहचाने।[1]

केन उपनिषद् मे यह बतलाया गया है कि देवताओ की सारी शक्ति ब्रह्म पर निर्भर है जैसे अग्नि की दाहक शक्ति, वायु की बहने की शक्ति। ब्रह्म के द्वारा ही सारे देवता और मनुष्य विभिन्न क्रियाकलापो मे सलग्न होते है। उपनिषदो का सारा विचारक्रम यह प्रकट करता है कि यज्ञ के द्वारा उत्पन्न रहस्यमय शक्ति जो ऋत के साथ सबधित है वह विश्व की सर्वोपरि शक्ति है। उपनिषदो मे अनेक कथाएं आती है जिनके द्वारा ब्रह्म नाम की महान् शक्ति की खोज मे अनेक लोगो ने इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। जिसको प्रारम्भ मे पूर्णरूपेण बहुत कम लोग ठीक रूप से समझ सके थे। इन लोगो ने ब्रह्म को एक आश्चर्यजनक प्रभावकारी शक्ति के रूप मे देखा। सूर्य, चन्द्र एव मनुष्य की चेतना शक्ति के रूप मे, अनेक प्रतीकों के रूप मे इस ब्रह्म शक्ति को उन लोगो ने समझने का प्रयत्न किया और सम्भवत कुछ समय तक उनको यह संतोष रहा कि उनका ज्ञान कुछ सीमा तक पर्याप्त है। परन्तु शनैः शनैः अनुभव करने लगे कि यह ज्ञान अपूर्ण है और अन्त मे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि ब्रह्म मनुष्य की अन्तरतम चेतना मे निवास करता है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ

उपनिषद् शब्द 'सद्' धातु से बना है जिसमे 'नि' प्रत्यय लगा हुआ है। मेक्समूलर के अनुसार इसका प्रारंभिक अर्थ गुरु के समीप उपदेश सुनने के लिए श्रद्धापूर्वक बैठना है। उपनिषद् की भूमिका मे उन्होने कहा है–सस्कृत भाषा के इतिहास और संस्कृति के

---

[1] बृहदा० १/४/१०।

अनुसार यह निश्चित ही है कि उपनिषद् का प्रारंभिक अर्थ एक ऐसी गोष्ठी से था जिसमें शिष्य गुरु के चारो ओर आदर और श्रद्धा के साथ एकत्रित होते थे।[1] ड्यूसन महोदय अपने ग्रन्थ उपनिषदो के दर्शन मे कहते है कि इस शब्द का रहस्य अथवा रहस्यमय उपदेश के रूप में था और यह अर्थ उपनिषदों के अनेक सदर्भों से सिद्ध होता है। मेक्समूलर महोदय भी ड्यूसन के अर्थ की पुष्टि करते हैं।[2] उपनिषदो में इस प्रकार का आदेश है कि ब्रह्म ज्ञान के रहस्य को प्रकट करना उचित नही, यह ज्ञान ऐसे पात्र को देना चाहिए जिसने यम, नियम और संयम के द्वारा अपने आपको योग्य पात्र के रूप मे सिद्ध किया हो। उपनिषदों के महान् भारतीय भाष्यकार शंकराचार्य ने उपनिषद् शब्द को 'सद्' धातु से लिया है जिसका अर्थ किया है—जो नष्ट करता है। उन्होने कहा है कि उपनिषद् भ्रम और अज्ञान को नष्ट करती हैं और सत्य ज्ञान के दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति मे सहायता करती है परन्तु यदि हम अपनी उपनिषदो मे आए हुए उपनिषद् शब्द का मनन करे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ड्यूसन महोदय का अर्थ ही उचित एव मान्य है।[3]

विभिन्न उपनिषदों का निर्माण एवं विकास

प्राचीनतम उपनिषद गद्य मे लिखी हुई है। इनके पश्चात् हमे वे उपनिषद् मिलती है जो लौकिक संस्कृत श्लोको से मिलते हुए श्लोको मे लिखी हुई है। जैसाकि स्पष्ट है जो उपनिषदे जितनी पुरानी है उतनी ही उनकी भाषा पुराने ढग की है। प्रारभिक उपनिषदो की भाषा बडी प्रभावशाली, रहस्यमयी तथा शक्तिशाली है और भारतीयों के हृदय का प्रभावित कर देती है। इनकी अभिव्यक्ति अत्यन्त सरल और हृदय को प्रभावित करने वाली है। अनेक बार पढने के पश्चात् भी इससे तृप्ति नही होती। इन पक्तियों का भी एक अपना रोचक सौन्दर्य है। उनका अर्थ तो गरिमामय है ही। जैसाकि हमने पूर्व पक्तियो मे विवेचन किया है उपनिषद् शब्द का प्रयोग रहस्यमय सिद्धान्त एव उद्देश्य के अर्थो मे किया जाता था। अत इनका उद्देश्य भी केवल ऐसे जिज्ञासुओ को इस ज्ञान का वितरण था जो मोक्ष की आकाक्षा से सयम और नियमो का पालन करते थे और जिनका चरित्र उच्च था और जिन्होने अपने आप को इस योग्य बना लिया था। उन्ही को गुरु द्वारा इस रहस्य की दीक्षा दी जाती थी। अत. धार्मिक जिज्ञासुओ के लिए उपनिषदो के शब्दो और काव्यात्मक अभिव्यक्ति शैली मे एक

---

[1] मेक्समूलर कृत "ट्रासलेशन ऑव दि उपनिषद्स" (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट) खंड १, पृ० ८१।

[2] से. बु. ऑ. ई. खड १, पृ० ८३।

[3] ड्यूसन कृत "फिलासफी आव दी उपनिषद्स" (पृ० १०-१५)।

अद्भुत चमत्कार दृष्टिगोचर होने लगा था। इसका फल यह हुआ कि यद्यपि संस्कृत भाषा मे गद्य और पद्य मे नवीन प्रचलित स्वरूप भी ग्रहण होने लगे, उपनिषदो की रचना के ढंग मे कोई अवसान या परिवर्तन नही आया। अत यद्यपि प्रारम्भिक उपनिषदे ईसा से ५०० वर्ष पूर्व लिखी गयी थी, नवीन उपनिषदे भी मुस्लिम काल के प्रारम्भ होने के पश्चात् भी उसी प्रकार लिखी जाती रही। इन उपनिषदो मे सबसे प्रमुख और प्रारम्भिक उपनिषदे वे है जिनकी टीका शकराचार्य ने की है। जैसे बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक एव माण्डूक्य।[1] ध्यान देने की बात यह है कि विभिन्न उपनिषदे अपनी विषय वस्तु एव व्याख्या मे एक दूसरे से भिन्न है। इस प्रकार उनमे से कुछ जहाँ आत्मा के एकतत्त्ववाद के ऊपर विशेष बल देती है वहाँ कुछ दूसरी उपनिषदे योग, तप, शैव एव वैष्णव दर्शन अथवा शरीर विज्ञान के ऊपर विशेष प्रकाश डालती है। इन उपनिषदो को इसी कारण योगोपनिषद्, शैवोपनिषद्, विष्णुपनिषद् एव शारीर उपनिषद् नाम दिए गए है। ये सारी उपनिषदें मिलाकर सख्या में लगभग १०८ है।

आधुनिक समय में उपनिषदों के अध्ययन की पुनर्जागृति

यूरोप मे उपनिषदो का परिचय किस प्रकार हुआ इसकी कहानी अत्यन्त रोचक है। १६४० मे शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह जब काशमीर मे ठहरा हुआ था तब उसने उपनिषदो के बारे मे कुछ वार्तालाप सुने। तत्पश्चात उसने बनारस से कितने ही पडितो को देहली बुलाया और उपनिषदो को फारसी भाषा मे अनुवाद करवाने का कार्य प्रारम्भ करवाया। शुजाउद्दौला के दरबार मे फैजाबाद मे फासिसी राजदूत श्री ली जैन्टील रहा करते थे। इनके एक मित्र थे जिनका नाम एकेतील डुपरो था जिन्होंने जेन्द अवेस्ता की खोज की थी। सन् १७७५ मे ली जेन्टील महोदय ने उन्हे उपनिषदो के इस फारसी अनुवाद की एक पाण्डुलिपि भेट की। एकेतील महोदय ने इनका लेटिन भाषा मे अनुवाद किया जो १८०१-१८०२ मे प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह अनुवाद

---

[1] ड्यूसन महोदय का मत है कि कौषीतकि उपनिषद भी प्रारम्भिक उपनिषदो मे से एक है। मेक्समूलर और श्रोदर का मत है कि मैत्रायणी उपनिषद भी प्रारम्भिक उपनिषदो मे से एक है परन्तु ड्यूसन महोदय के मतानुसार यह परवर्ती है। विटरनीज महोदय उपनिषदो को चार कालो मे विभक्त करते है। पहले काल मे उनके अनुसार बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि एव केन उपनिषदे आती है। दूसरे काल मे काठक, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायण आती है। तीसरे काल मे प्रश्न, मैत्रायणी एव माण्डूक्य उपनिषदे सम्मिलित की गयी है। शेष उपनिषद् चतुर्थ काल की है।

अत्यन्त क्लिष्ट एव दुरूह था तब भी शोपनेहॉर ने इसको बड़े उत्साह के साथ पढा। शोपनेहॉर यह स्वीकार करते हैं कि इनके दार्शनिक विचारो पर उनका बडा प्रभाव पड़ा। उन्होने एक पुस्तक लिखी थी जिसका नाम–"वैल्ट ग्रल्स विल एण्ड वास्टेलग" है। इसकी भूमिका मे लेखक ने लिखा है,[1] "इस नवीन शताब्दी में सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह हुआ है कि उपनिषदो के अनुवाद ने वेदों के अपरिमेय ज्ञान का मार्ग खोल दिया है। मेरा यह विश्वास है कि सस्कृत साहित्य का प्रभाव उतना ही गम्भीर और व्यापक होगा जितना कि १५वीं शताब्दी मे ग्रीक साहित्य का पुनरुत्थान काल मे हुआ था। मेरी यह मान्यता है कि यदि किसी व्यक्ति ने प्राचीन भारतीय पवित्र दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया है और उसको समझा है तो उसको जो कुछ मैं कहना चाहता हू वह और भी अधिक आसानी से स्पष्ट हो जाएगा। उपनिषदो मे वर्णित अनेक सूत्र जो अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते है एव अनेक संदर्भ जो क्लिष्ट है सम्भवत. मेरे वर्णन को सरलता एव सुबोधता के साथ समझ सकेगा परन्तु साथ ही यह सत्य नही है कि मेरा वर्णन उपनिषदो मे पाया जायगा।" दूसरे स्थान पर शोपनेहॉर महोदय फिर लिखते है–"उपनिषदो की प्रत्येक पक्ति का अर्थ कितना निश्चित, सुस्पष्ट एव मधुर है। प्रत्येक वाक्य गभीर (गहरा), मौलिक एव प्रौढ़ विचारो से युक्त, सारा ग्रन्थ पवित्र एवं उच्च विचारो मे आप्लावित है। यह सत्य की जिज्ञासा से ओत प्रोत है। सारे विश्व मे उपनिषदो के समान कल्याणकारी एव श्रेयस्कर कोई भी ग्रन्य विद्या नहीं है। यह मेरे जीवन मे एक विचित्र आत्मिक आनन्द देती रही है और मृत्यु पर्यन्त मेरे लिए शान्ति एव धैर्य का कारण होगी।"[2] शोपनेहॉर के माध्यम से जर्मनी मे उपनिषदो की ओर अनेक व्यक्तियो का ध्यान आकर्षित हुआ। सस्कृत के अध्ययन के प्रति रुचि बढने के साथ-साथ ये ग्रन्थ यूरोप के अन्य भागों मे भी प्रचलित हो गए। राजा राम मोहनराय के प्रयत्नो से बगाल मे उपनिषदो के अध्ययन को विशेष प्रोत्साहन मिला। इन्होंने उपनिषदो का हिन्दी, अग्रेजी व बगाली भाषा मे अनुवाद किया तथा अपने ही खर्चे से प्रकाशित किया। श्री राय ने साथ ही बगाल मे ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसके मुख्य सिद्धान्त उपनिषदो से लिए हुए है।

---

[1] हाल्डेन एव केम्प कृत अनुवाद, खड १ पृ० १२,१३।

[2] उपनिषदो की अपनी भूमिका मे मेक्समूलर ने कहा है (से बु. ग्रॉ ई. पृ० ६२, तथा देखे पृ० ६०-६१) कि शोपनेहॉर द्वारा उपनिषदो को "उच्चतम मनीषा की उपज" बतलाया जाना, तथा इसके साथ यह तथ्य कि उपनिषदो के बहुदेववाद को उसने ब्रूनो मेलब्राश, स्पिनोजा और स्काटस एरिजेना के बहुदेववाद से कही ऊँचा बतलाया है, इस महान् ज्ञान भाण्डागारो को उच्चतम स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है। मैं इनके पक्ष मे कुछ कहू उससे कहीं अधिक सबल ये प्रमाण है।

उपनिषद् और उनकी व्याख्या

प्राचीन भारतीय विद्वानो ने उपनिषदो के विभिन्न अर्थ किए है और अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की हैं। ये व्याख्याएँ एक दूसरे से इतनी भिन्न है कि जिसके कारण उपनिषदों के सम्बन्ध मे अनेक मतभेद हो गए है। इनके दर्शन के सम्बन्ध मे कोई भी विवेचन करने से पहले यह आवश्यक है कि इन मतभेदो की पृष्ठभूमि की जानकारी की जाय। उपनिषदो को वेदान्त के नाम से पुकारा गया है क्योकि वे वैदिक साहित्य के उपसहार के रूप मे लिखे गए थे। हिन्दुओ मे यह विश्वास रहा है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है एव उच्चतम सत्य तथा ज्ञान इन्ही के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। तर्क को इस धारा के अनुसार गौण स्थान दिया गया है। इसका प्रयोग केवल वेदो के द्वारा दिए हुए ज्ञान को सम्यक् रूप से निर्वचन करने मे ही किया जाना उचित समझा गया है। शाश्वत सत्य और यथार्थ का दर्शन केवल उपनिषदो मे ही हो सकता है ऐसी मान्यता रही है। तर्क केवल अनुभव के आलोक मे उसी शाश्वत सत्य और यथार्थ का उदघाटन मात्र कर सकता है। आधुनिक युग की यह मान्यता है कि तर्क और अनुभूति से प्रतिदिन नए तथ्यो की खोज होती है और पुराने तथ्य प्रतिदिन अपना स्वरूप बदलते रहते है। किसी भी सत्य सिद्धान्त के बारे मे यह नही कहा जा सकता कि यह अन्तिम सत्य है और इसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता है। अत हमे हमारी बुद्धि और अनुभव के अनुसार जिस सत्य की प्राप्ति होती है उसी से सतुष्ट होना पडता है। हिन्दू दर्शन के जिज्ञासुओ को यह बात विशेष रूप से ध्यान मे रखनी चाहिए कि जहाँ तक धार्मिक सत्यो का सम्बन्ध है उसके सम्बन्ध मे यह मान्यता थी कि वेद और उपनिषदो मे अवस्था सभी कालो के लिए जिस शाश्वत सत्य की स्थापना की है वह एक ऐसा सत्य है जिसमे कभी भी परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने सीमित दृष्टिकोण व अनुभव के द्वारा किसी नवीन सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का दु:साहस करता था तो चाहे वह कितना विद्वान् हो, दु:साहसी मात्र माना जाता था। उसके लिए यह आवश्यक था कि वह सिद्ध करे कि उसकी स्थापना और मन्तव्य वेद और उपनिषद के द्वारा मान्य है। अत हिन्दू दर्शन की सभी शाखाओ ने अपने मत की पुष्टि मे उपनिषदो की व्याख्या विभिन्न रूप से की। इन व्याख्याओ के द्वारा इन शाखाओं ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उनका मत ही वेद सम्मत है अन्य वाद भ्रान्तिमय है। अत जिस किसी व्यक्ति ने शाखा-विशेष का अनुसरण किया उसने साथ-साथ यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह वेदान्तवादी है और उसकी शाखा वेदान्त द्वारा मान्य है।

उपनिषदो मे अनेक प्रकार के विचार बीजरूपेण अनेक स्थलो पर पाए जाते है जो किसी एक विशेष विचारधारा के क्रम मे नही है अतः किसी भी एक व्याख्या को उपनिषद् की सही व्याख्या के रूप मे समझना और भी कठिन हो जाता है। अतः

प्रत्येक टीकाकार उपनिषदों के उन ग्रंथों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करता है जिनसे उनके मत की पुष्टि होती है। जो सूत्र अथवा स्थल उनके मत के अनुरूप नहीं होते उन्हें वह स्वभावतः छोड देता है। उपनिषदो की विभिन्न व्याख्याओं का अध्ययन करने से हम इस नतीजे पर पहुँचते है कि शकराचार्य ने जो उपनिषदों की व्याख्या की है वह अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है और प्राचीन उपनिषदों के मन्तव्य को सही रूप से प्रकट करती है। अत. प्राय शंकराचार्य के द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार ही वेदान्त दर्शन का निरूपण किया जाता है। इसीलिए शकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित दर्शन को ही मुख्य वेदान्त दर्शन कहकर पुकारा जाता है यद्यपि ऐसी बहुत सी दूसरी शाखाएँ भी हैं जो वेदान्ती सिद्धान्तो को अपने मतानुसार विभिन्न स्वरूप देती है परन्तु इन सबकी ओर विशेष ध्यान नही दिया जा सकता।

इस प्रकार हम उपनिषदो को केवल एक विशिष्ट विचारधारा मात्र का प्रतिनिधित्व करने वाले ग्रन्थ नही कह सकते। उनका दर्शन बडा समृद्ध एव विशाल है। यह कहा जा सकता है कि यह महान् दर्शन उनके आधार पर प्रचलित अनेक दर्शनो का उद्‌गम स्रोत रहा है। अनेक धाराएँ इनसे विभिन्न दिशाओ मे प्रवाहित हुई है परन्तु विशेष रूप से हम यह कह सकते है कि सभी प्राचीन उपनिषदो मे शकराचार्य के अद्वैतवाद की विचारधारा प्रमुख रूप से पायी जाती है। आधुनिक अध्येता के लिए यह आवश्यक है कि वह सारे उपनिषदो को एक ही प्रकार के परस्पर सम्बद्ध दर्शन की शृखला न मानकर प्रत्येक उपनिषद् के कथनो का पृथक्-पृथक् अध्ययन करे और उनके अर्थों का मनन करने का प्रयत्न करे। साथ ही यह भी जानने का प्रयत्न करे कि कौन से मत्र, कौन से श्लोक किस सदर्भ मे कहे गए है। इस प्रकार हम उपनिषदो में सारे भारतीय दर्शन के स्वरूपो को सूत्र रूप से देखने मे समर्थ हो सकेंगे और तब हम यह मालूम कर सकेंगे कि किस प्रकार विभिन्न धाराओ के आदि स्रोत है।

ब्रह्म जिज्ञासा-उसकी खोज के प्रयत्न एवं असफलताएँ

सभी प्रारंभिक उपनिषदो मे एक आधारभूत मूल सिद्धात पाया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व का बाह्य स्वरूप परिवर्तनशील है। परन्तु इस बाह्य प्रकृति के अन्तर मे जो चेतन शक्ति निहित है वह शाश्वत यथार्थ है। वह इस प्राकृतिक शरीर की आत्मा है। वही आत्मा मानवीय शरीर को चेतन शक्ति प्रदान करती है। यदि हम पेरिमिनीडीस अथवा प्लेटो के ग्रीक दर्शन का अध्ययन करें अथवा कान्ट के आधुनिक दर्शन को पढे तो दोनो मे हमे इसी प्रकार की भावना मिलती है जिसमे एक अवर्णनीय अस्तित्व को भव्य रूप देते हुए एक महान् यथार्थ के रूप मे मान्यता दी गई है। उपनिषदों के सम्बन्ध मे मै पहले यह लिख चुका हू कि ये किसी एक व्यक्ति के द्वारा लिखा गया कोई क्रमबद्ध दर्शन विशेष का प्रतिपादन नही है। इन ग्रन्थों मे अनेक विद्वानो के उपदेश,

वार्तालाप, आख्यान एवं दृष्टान्त दिए हुए है। स्थान-स्थान पर साधारण वाद-विवाद भी इनमे पाया जाता है। परन्तु इनमे कही भी पाण्डित्य अथवा तर्क की जटिल उलट फेर दिखाने का प्रयत्न नही किया गया। साधारण से साधारण पाठक भी इनकी सरलता और सौन्दर्य से अभिभूत हुए बिना नही रह सकता। ये ऋषियो के अदम्य उत्साह की परिचायक है। इनमे एक ही जिज्ञासा से प्रेरित होकर उसके शमन के लिए यत्र तत्र सर्वत्र एक ही खोज का उल्लेख है कि उसको ऐसा गुरु मिले जो उनको यह बता सके कि ब्रह्म क्या है, यह कहां पर स्थित है, उसका स्वरूप क्या है, उसकी प्रकृति किस प्रकार की है ?

संहिताओ के अन्तिम काल मे यह धारणा अनेकत्र बद्धमूल हो उठी थी कि इस जगत् का सृष्टिकर्ता एवं पालन कर्ता एक ही देवता है जिसको प्रजापति, विश्वकर्मा, पुरुष, ब्रह्मणस्पति, ब्रह्म आदि अनेक नामो से पुकारा जाता है लेकिन यह दैविक शक्ति इस समय तक केवल एक देवता के रूप मे ही देखी जाती थी। इसके सम्बन्ध मे कोई निश्चित धारणा नही बन पाई थी। इसके स्वरूप, इसकी प्रकृति और इसकी अवस्थिति के बारे मे उपनिषद् काल मे दार्शनिक जिज्ञासा का विशेष रूप से प्रारम्भ हुआ। प्रकृति के बहुत से दृश्यमान पदार्थ जैसे सूर्य, चन्द्र, वायु आदि के रूप मे इसे देखने का प्रयत्न किया गया, अनेक मानसिक क्रियाकलापो के साथ इस महान् शक्ति का साम्य करने का प्रयत्न किया गया किन्तु जिस भव्य रूप की कल्पना की गई थी उसके बारे मे इन पार्थिव पदार्थो के साथ तुलना करने पर किसी प्रकार का परितोष प्राप्त नही हो सका। उपनिषद् काल मे ऋषियो ने यह कल्पना की थी कि सृष्टि को नियत्रण करने वाला, मानवीय भाग्य एवं विश्व चक्र का विधायक एक महान् आत्मा है जिसको परमात्मा की सज्ञा दी जा सकती है लेकिन इसकी प्रकृति और रूप के बारे मे बडी जिज्ञासा थी। प्रश्न यह था कि प्रकृति के अन्य देवताओ के समान यह कोई शक्ति थी अथवा कोई नवीन देवता था अथवा इस प्रकार कोई देवता था ही नही। इस ब्रह्म जिज्ञासा के इतिहास और इसके फलस्वरूप जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसका विशद वर्णन उपनिषद् करती है।

लेकिन यदि हम केवल इस जिज्ञासा मात्र का विश्लेषण करें तो ऐसा लगता है कि आरण्यको की कल्पना से परे इसका कोई विशेष समाधान प्रकट नहीं हो पाया था। वही प्रतीकवाद भी दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य के जीवन मे प्राण शक्ति को विशेष महत्व दिया गया था। प्राण को नाक, कान, मुख आदि अन्य अवयवो से ऊपर महत्व दिया गया था। सारा शरीर का व्यापार प्राण के द्वारा ही सम्पादित होता है ऐसा माना गया था। प्राण के इस महत्व के कारण आत्मा को सर्वोच्च शक्ति मानकर आत्मा मे ध्यान को नियोजित कर ब्रह्म अथवा परमात्मा को प्राप्त करने की प्रेरणा की गई थी। आकाश को अनन्त एवं व्यापक मानकर इसमे भी ब्रह्म के स्वरूप को देखने का प्रयत्न किया गया था। मन तथा आदित्य (सूर्य) को भी ब्रह्म के रूप में ध्यान

करने योग्य माना गया था। जहाँ ब्रह्म को सूर्य, वायु, प्राण, आकाश आदि के साथ समन्वित करते हुए एक विशेष शक्ति के रूप मे देखा जाने लगा वहाँ यज्ञ और कर्मकाण्ड का स्थान, ध्यान और धारणा ने ले लिया, इससे यह स्पष्ट है। इस प्रकार ब्रह्म की खोज मे इस काल मे एक उत्कृष्ट जागृति उत्पन्न हो गई थी। इस समय एक विशेष विचारधारा ऐसी भी प्रचलित हो गई थी कि ऋषि लोग व्यर्थ ही यज्ञादि कर्मकाण्ड की भ्राति मे पडे हुए हैं। यज्ञादि का स्थान ध्यान ने लें लिया था किन्तु केवल ध्यान ही सर्वोच्च ब्रह्म को प्राप्त करने मे समर्थ नही है, यह धारणा भी पाई जाने लगी थी।

ध्यान द्वारा भी ब्रह्म की प्राप्ति न होने पर ऋषि मुनियो ने ब्रह्म को सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वरुण, वायु, वज्र आदि की शक्ति के साथ समन्वित करते हुए जानने का प्रयत्न किया लेकिन उनकी वह भव्य कल्पना इनसे भी सतोष प्राप्त नहीं कर सकी जो उन्होने ब्रह्म के सम्बन्ध मे निश्चित की थी। इन सारे उदाहरणो को दोहराने की आवश्यकता नही है क्योकि उनका दोहराना केवल यही उबा देने वाला लगेगा सो बात नही है, मूल उपनिषदो मे भी वह सारा वर्णन बडा थका देने वाला है। इससे केवल यही ज्ञात होता है कि ब्रह्म के स्वरूप को पहचानने के लिए पहले अनेक प्रयास किए गए। दार्शनिक मनन, चिन्तन, ध्यान इत्यादि करते हुए ऋषि मुनियो ने ब्रह्म की खोज में अपना बहुत सा समय बिताना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार अनुष्ठान यज्ञादि कर्मकाण्ड मे शनै शनै जो कमी हुई उसके पीछे भी लम्बा संघर्ष रहा। इस काल का उपनिषदीय इतिहास यह बताता है कि ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए ऋषियो को कितना सघर्ष करना पडा और इस मार्ग मे कितनी कठिनाइयाँ उठानी पडी।

ब्रह्म का अविदित रूप और उसके जानने का निषेधात्मक प्रकार

यह बात सत्य है कि प्रारम्भ मे कुछ समय तक ब्रह्म का पूजन प्रतीक के रूप में अर्थात् यज्ञादि के फल प्रदायक देवो के लगभग समान रूप मे होता रहा और ब्रह्म को जन साधारण देवता के रूप मे मानने लगा। वैदिक कवि बड़े लम्बे समय से ऐसे देवताओ की पूजा करते आए थे जिनकी बाह्य शक्तियो का चमत्कार अत्यत प्रभावशाली था। अतः ब्रह्म की कल्पना को भी वे उसी प्रकार के निश्चित स्वरूप एव निश्चित आकार प्रकार से अविशिष्ठत करना चाहते थे। इसके लिए उन्होने ब्रह्म का अनेक प्रकार के गुणो से और प्रकृति की दिव्य शक्तियो से तादात्म्य करने का प्रयत्न किया। लेकिन इससे उनको वास्तविक सतोष प्राप्त नहीं हुआ। उनकी आत्मा के अन्तरतम तल मे ब्रह्म के बारे मे एक अनिश्चित सी धारणा एव दिव्य भावना थी। परन्तु वे नहीं जानते थे कि इसका वास्तविक रूप क्या है। इस भव्य स्वप्निल कल्पना को वे मूर्त रूप देने मे असमर्थ थे लेकिन यह कल्पना उनको एक विशेष लक्ष्य की ओर प्रेरित कर

रही थी। अब वे महान् एव उच्चतम परमात्मा के स्वरूप के पास ही थे। किसी भी छोटी मोटी पार्थिव कल्पना से सतुष्ट होने वाले वे नही थे।

ब्रह्म को जिसे उन्होंने अन्तिम एव शाश्वत सत्य के रूप मे देखा था वे परिभाषित नही कर पा रहे थे, उसे कोई भी निश्चयात्मक आकार नही दे पा रहे थे। यद्यपि उन्होने इस दिशा मे अनेक प्रयत्न किए परन्तु उसके लिए कोई भी निश्चित परिभाषा असम्भव प्रतीत हुई। जब उनके लिए ब्रह्म की निश्चयात्मक परिभाषा करना कठिन हो गया तब उन्होंने अवर्णनीय तथ्य को प्रकट करने के लिए निषेधात्मक शब्दावली का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार यह कहा गया कि परमात्मा हमारे अनुभव मे आए हुए सभी वस्तुओ से भिन्न है। याज्ञवल्क्य ने कहा है "वह परमात्मा न यह है न वह है (नेति नेति)। वह कल्पनातीत है क्योकि उसके स्वरूप की कोई कल्पना नही की जा सकती। वह परिवर्तनशील नही है क्योकि उसमे कोई परिवर्तन नही होता है, उसको छुआ नही जा सकता, वह शस्त्र के विद्ध नही होता, वह अक्षत है अर्थात् उसे किसी प्रकार की क्षति नही हो सकती, उसे किसी प्रकार की चोट नही लग सकती।"[1] वह असत् है अर्थात् वह अस्तित्वहीन है क्योकि ब्रह्म का जो अस्तित्व है वह साधारण बुद्धि एव अनुभव से परे है। फिर भी उसका अस्तित्व है क्योकि विश्व मे केवल उसका ही यथार्थ अस्तित्व है, और यह विश्व उस महान् आत्मा के आधार पर स्थित है। हम सब स्वय ब्रह्म है परन्तु हम नही जानते कि ब्रह्म क्या है। हमारा अनुभव ज्ञान और अभिव्यक्ति सीमित है परन्तु वह असीम (सीमा रहित) और इस जगत् का आधार है। "वह परमात्मा शरीरहीन, निराकार है, अविनाशी है। वह गन्धहीन एव रगहीन है। वह अजर, अमर है, शाश्वत है और महान् से भी महान् है, वह स्थिर है जो इसे जानता है वह मृत्यु से छुटकारा पा जाता है।"[2] वह स्थान, काल और क्षणभगुरता के बन्धन मे बधा हुआ नही है क्योकि वह उनका आधार है और साथ ही उनसे परे है। वह अनन्त है, विशाल है और साथ ही लघु मे भी लघु है। छोटी से छोटी वस्तु से भी छोटा है। वह यहाँ भी है और वहाँ भी है। वहाँ इसी प्रकार स्थित है जैसे यहा पर है जैसे यत्र, तत्र, सर्वत्र है, उसका कोई निश्चित स्वरूप वर्णित करना असम्भव है। उसके बारे मे केवल यही कहा जा सकता है कि वह निर्गुण है, वर्णनातीत है। किसी भी प्रकार की परिभाषा अथवा सम्बन्ध से परे है। इस पार्थिव

---

[1] बृहदा० ४, ५, १५। ड्यूसिन, मेक्समूलर और रोअर ने इस सदर्भ का अर्थ ठीक रूप मे नही किया। असितो शब्द का निर्वचन विशेषण के रूप मे किया गया है यद्यपि इस बात का कोई भी प्रमाण प्राप्त नही होता। यह असि शब्द का रूप है जिसका अर्थ है तलवार।

[2] कठ, ३-१५।

विश्व के जितने भी भौतिक उपादान हैं जो कार्य कारण के नियम से सचालित हैं उन सब नियमों से वह स्वतत्र है। स्थान, काल और कारणो के बन्धन से मुक्त है। वाष्कलि ने एक बार बाह्व से ब्रह्म के स्वरूप मे जिज्ञासा प्रकट की। तब उस प्रश्न के उत्तर मे बाह्व मौन धारण कर शान्त हो गए। "महर्षे, मुझे ब्रह्म के ज्ञान का उपदेश दो," वाष्कलि ने कहा किन्तु बाह्व फिर भी मौन रहे। परन्तु जब वाष्कलि ने दो तीन बार यह प्रश्न पूछा तब बाह्व ने उत्तर दिया कि, "मैं ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की ही तो शिक्षा दे रहा हू। परन्तु तुम समझ नही पा रहे हो। उसकी सर्वोत्तम परिभाषा मौन है क्योकि शब्दो से उसका बोध नही हो सकता। उसके वर्णन का एक ही मार्ग है। नेति नेति (नही नही) के द्वारा ही हम उसके बारे मे कह सकते है। क्योकि कोई भी परिभाषा हमारी कल्पना और विचारधारा से सीमित होती है अत उस असीम की कोई परिभाषा नही की जा सकती।

आत्म सिद्धान्त

उपनिषदों की सारी शिक्षाओ का सार इसको सिद्ध करने मे निहित है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। हम यह देख चुके हैं कि ऋग्वेद मे आत्मा को कभी विश्व की आधारभूत चेतन शक्ति के रूप मे और कभी मनुष्य के प्राण रूप मे देखा गया है। फिर उपनिषदो मे ऐसा वर्णन आता है कि विश्व मे व्याप्त चेतन शक्ति ब्रह्म है और मनुष्य मे जो चेतन शक्ति व्याप्त है वह आत्मा है। उपनिषद् इस बात पर पुन. पुन बल देते है कि ये दोनो चेतन शक्तियाँ एक ही हैं। इस स्थान पर प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य का आधार तत्त्व क्या है? मनुष्य के आत्म तत्त्व के बारे मे एक अनिश्चयात्मक भावना है अर्थात् इसका स्वरूप अस्पष्ट सा है। अन्न से निर्मित मनुष्य के भौतिक शरीर को अन्नमय कोष कहा गया है लेकिन इस अन्नमय कोष के अन्दर जो मनुष्य की प्राणदायिनी शक्ति है उसको प्राणमय आत्मा के रूप मे वर्णित किया है अथवा प्राणमय कोष कहा गया है। इस प्राणमय कोष से भी सूक्ष्म मनन शक्ति को मनोमय आत्मा के रूप मे पुकारा गया है। मन से सूक्ष्म मनोमय कोष के अन्तर्गत जो चेतन तत्त्व है उसे विज्ञानमय आत्मा अथवा विज्ञान कोष के रूप मे वर्णित किया है। इस विज्ञानमय कोष के अन्तर मे निहित सूक्ष्मात्म कोष आनन्दमय आत्मा अथवा आनन्दमय कोष है जो आत्म तत्त्व का अन्तिम आधार है और जो दिव्य विशुद्धानन्द का स्थान है। शास्त्रो में कहा गया है, "वह आनन्दमय हो जाता है जिसको इस आनन्द की प्राप्ति होती है। वह दिव्यामृत का पान करता है। यदि वह आकाश आनन्दमय नहीं होता तो कौन इस विश्व में जीवित रह सकता और कौन प्राण धारण कर सकता? जो आनन्द का व्यवहार करता है वह आनन्दस्वरूप हो जाता है। जिस किसी को उस वर्णनातीत, अदृश्य, अवर्ण्य, अनाधार, विश्वातीत की प्राप्ति हो जाती है वह निर्भय हो जाता है,

परन्तु जहाँ आत्मा और परमात्मा मे भेद की अनुभूति है वहाँ ससार के सारे भय उनको सताते है।"[1]

एक दूसरे स्थान पर प्रजापति ने कहा है, "जो आत्मा पाप से मुक्त है, अजर और अमर है, भूख प्यास आदि के बंधो से परे है जो सद्विचार सदिच्छाओ से युक्त है ऐसी आत्मा की खोज आवश्यक है। ऐसे आत्म तत्त्व का चिन्तन और मनन करने से और इस आत्मा के स्वरूप को सम्यक् रूप से जानने पर सारी जिज्ञासाओं की तृप्ति और पूर्ति हो जाती है।"[2] देवता और दैत्यो ने प्रजापति से ऐसा सुनकर इन्द्र और विरोचन को अपने अपने प्रतिनिधि के रूप मे प्रजापति से आत्म तत्त्व के बारे मे ज्ञान ग्रहण करने के लिए भेजा। प्रजापति ने उनको शिक्षा देना स्वीकार कर लिया। एक पात्र मे जल भरकर उन्होने दोनों शिष्यो को आज्ञा दी कि वे उसमे अपना स्वरूप देखें और बतावें कि वे उसमे अपने आपको कितना देख पाते हैं। इस पर उन दोनों ने उत्तर दिया कि 'हम पूर्णरूपेण अपने आप को इसमे देख सकते है यहाँ तक कि हमारे नख और बाल भी उसमे दिखाई दे रहे है।' तब प्रजापति ने कहा 'जो तुम देखते हो वही आत्मा है वह भय से रहित, मृत्यु से मुक्त, आत्म तत्त्व है, वही ब्रह्म है।' इस पर वे दोनो प्रसन्न होकर चले गए लेकिन प्रजापति ने सोचा कि ये दोनों आत्म तत्त्व का अनुभव किए बिना ही, उसको बिना समझे ही, चले जा रहे है। विरोचन इस विश्वास को लेकर वापिस लौट आया और कहा कि यह शरीर ही आत्मा है। परन्तु इन्द्र देवताओ के पास न जाकर वापिस प्रजापति के पास लौट आए। उनके मन मे अनेक सशय और जिज्ञासाएँ थी। उन्होने प्रजापति से कहा कि यदि यह बाह्य स्वरूप ही आत्म तत्त्व है तो शरीर के सुन्दर वस्त्र धारण करने पर सुसज्जित और स्वच्छ होने पर यह भी स्वच्छ एव अलकृत हो जाएगा और उसी प्रकार शरीर के नेत्रहीन अथवा एकाक्ष होने पर यह आत्मा भी अन्धा अथवा काणा हो जाएगा। उसी प्रकार यदि यह शरीर क्षत-विक्षत होता है तो आत्मा भी पगु हो जाएगी और यह शरीर नष्ट होता है तो आत्मा भी नष्ट हो जाएगी। अतः आपके बताए इस सिद्धान्त से मुझे सन्तोष नही होता। यह सिद्धान्त सुन्दर प्रतीत नही होता। प्रजापति ने तत्पश्चात् उसे पुन. उपदेश दिया कि जो स्वप्न को देखता है वह आत्मा है। वह मृत्यु और भय से परे है अतः वह ब्रह्म है। इन्द्र ऐसा सुनकर चल दिए लेकिन फिर उन्हे सशय हुआ और उन्होंने फिर वापिस आकर कहा कि यद्यपि यह सत्य है कि जो (मनस्तत्त्व) कल्पना और स्वप्न को देखता है वह शरीर के नष्ट होने पर नष्ट नही होता, शरीर के साथ अन्धा अथवा काणा नही होता, क्षत-विक्षत भी नही होता परन्तु यह कष्टो से और दुःखों से व्याप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह इनसे प्रभावित होता रहता है, रोता रहता है।

---

[1] तैत्तिरीय २, ७।

[2] छान्दोग्य ८, ७, १।

अतः यह सिद्धान्त भी मुझे मान्य नहीं है। प्रजापति ने तब उसको और अधिक उच्च स्तर की शिक्षा दी और कहा "जब कोई मनुष्य पूर्ण तुष्टि के साथ प्रगाढ़ निद्रा में सोया रहता है और जब उसको कोई स्वप्न दिखाई नहीं देता तब मृत्यु और भय से रहित जो चेतना है वही आत्मा है, वही ब्रह्म है।" इन्द्र देव पुनः विदा लेकर चल दिए परन्तु थोड़ी देर पश्चात् उनके मन में फिर से अनेक शंकाएँ उत्पन्न होने लगीं और वे वापिस लौट आए। उन्होंने प्रजापति से कहा निद्रा अवस्था में आत्मा अपने आप को नहीं जानती न उसको किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान रहता है। एक प्रकार से वह आत्मा उस काल में लुप्त और विनष्ट हो जाती है। मुझे इस सिद्धान्त में भी औचित्य नहीं दिखाई देता। जब प्रजापति ने यह देखा कि इन्द्र को क्रमिक रूप से जो उच्च स्तर की शिक्षा दी उससे संतोष नहीं हुआ और वह प्रत्येक बार अपनी योग्यता के कारण दी हुई शिक्षाओं के अधिकाधिक गहनतल तक पहुंचकर सत्य को खोजने में समर्थ रहा तब उन्होंने अन्तिम और उच्चतम शिक्षा दी और आत्मा के सम्बन्ध में सत्य का निर्देश किया। "यह शरीर अमर एवं अपार्थिव आत्मा का आधार है। शरीर धारण करने के पश्चात् आत्मा को आनन्द, सुख व दुःख होता है। जब तक आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है तब तक सुख और दुःख से आत्मा मुक्त नहीं हो सकती परन्तु शरीर के बंधन से मुक्त होने पर आत्मा को सुख और दुःख प्रभावित नहीं कर सकते।"[1]

जैसा इस दृष्टान्त से विदित है कि उस समय के दार्शनिक मनीषी ऐसे अपरिवर्तनशील और ऐसे तत्व की खोज में थे जो किसी प्रकार के परिवर्तन की सीमाओं से परे था। इस आन्तरिक सत्य को कभी कभी एक ऐसी चेतना के रूप में वर्णित किया गया है जो भौतिक पार्थिव जगत् के परे है जो वास्तविक यथार्थ है अर्थात् जो सत्य है जो आनन्दमय शिव है। यह दृश्यमान जगत् को देखने वाला है, श्रव्य जगत् का सुनने वाला है एवं जो कुछ ज्ञातव्य है उसको जानने वाला है। यह सब कुछ देखते हुए दिखाई नहीं देता। सब कुछ सुनता है परन्तु स्वयं सुनाई नहीं देता। यह सब कुछ जानता है लेकिन स्वयं अज्ञेय है। यह सब दीप्तिमान वस्तुओं की दीप्ति है। यह एक लवण खंड के समान है जिसका आभ्यन्तर और बाह्य भिन्न नहीं है परन्तु जो सारा का सारा लावण्यमय है। इसी प्रकार इस आत्मा का न कोई आभ्यन्तर है न कोई बाह्य है। लेकिन यह सारा आत्मा ज्ञानमय है। आनन्द इसका गुण नहीं है परन्तु यह आनन्दमय है। ब्रह्म की स्थिति की तुरीयावस्था (स्वप्नहीन निद्रा, ज्ञानमय निद्रा) से तुलना की गई है। जो इस आनन्द को प्राप्त कर लेता है उसको किसी प्रकार का भय नहीं रहता। तब यह आत्मा पुत्र, भ्राता, पति-पत्नी, धन और समृद्धि इन सबसे अधिक प्रिय लगता है। इसके द्वारा और इसके कारण ये समस्त वस्तुएँ उनको प्रिय एवं

[1] छान्दोग्य, अध्याय ८, ७, १२।

महत्वपूर्ण लगती है। यह अन्तरतम मे निहित आत्मा समस्त वस्तुओं से भी अधिक प्रिय है। जितने सासारिक बंधन है वे दुःख के कारण हैं। अनन्त असीम ब्रह्म ही उच्चतम आनन्द का द्योतक है। जब मनुष्य को इस महान् आनन्द की प्राप्ति होती है तब वह ब्रह्मानद मे लीन हो जाता है क्योंकि यदि यह आकाश इस आनदमय अमृत तत्त्व से आच्छन्दित नहीं होता तो ऐसा कौन मनुष्य है जो एक क्षण के लिए भी श्वास ले सकता अथवा जीवित रह सकता ? वह ब्रह्म ही आनन्दमय है। जब मनुष्य को शान्ति प्राप्त होती है जब उसे अवर्णनीय इन्द्रियातीत तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी उसे वास्तविक शान्ति प्राप्त होती है।

उपनिषदों में ब्रह्म का स्थान

मनुष्य के शरीर मे ही केवल आत्मा नही है अपितु विश्व के सभी पदार्थों में जैसे सूर्य, चन्द्र एवं पार्थिव जगत् मे भी एक चेतन तत्त्व व्याप्त है, इस विश्व मे व्याप्त वही चेतन आत्मा ब्रह्म है। इस आत्मा से परे और कुछ भी नही है अत. इसके परे और कोई तत्त्व विद्यमान नही है। जिस प्रकार मिट्टी के खड को जानने के पश्चात् जो कुछ उससे बना हुआ है उसको आसानी से जाना जा सकता है, जैसे काले लोहे के खड को जान लेने के पश्चात् जो कुछ उस धातु से बना हुआ है उसको पहिचाना जा सकता है, इसी प्रकार इस आत्मा रूपी ब्रह्म को जानने के पश्चात् सब कुछ जान लिया जाता है। मनुष्य मे और विश्व मे जो चेतन तत्त्व है वह एक ही ब्रह्म का रूप है।

अब प्रश्न यह उठता है कि रग, रूप, गन्ध, ध्वनि एव रस युक्त जो यह विश्व है और जो विश्व के भौतिक व्यापार है उनको किस रूप मे जाना जाए। लेकिन हमे यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि उपनिषदो मे दर्शन की किसी तर्कयुक्त प्रणाली अथवा मत वाद का शास्त्रीय सविधान नही किया गया है, उपनिषद् तो उन दृष्टाओ और मनीषी ऋषियो के स्वप्नो को वाणी देती है जो इस ब्रह्म की प्रेरणा मे ओतप्रोत थे। वे ब्रह्म की एक रूपता और प्रकृति की अनेक रूपता के विरोधाभास को नही देखती। अनेक रूपी प्रकृति की वास्तविकता को देखकर वे इसे स्वीकार करती है फिर भी साथ ही यह घोषित करती है कि ये सब ब्रह्म ही है। यह सब प्रकृति ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है और ब्रह्म मे ही लीन हो जाएगी। इस ब्रह्म ने उस प्रकृति को अपने आप से ही प्रकट किया है फिर वह स्वय अन्तर्यामी के रूप मे इस प्रकृति के कण कण मे व्याप्त है। इस प्रकार यहाँ एक प्रकृति और ब्रह्म के द्वैतवादी रूप का सकेत स्पष्ट ही मिलता है जिसमे ब्रह्म प्रकृति को नियंत्रित करता है। यद्यपि दूसरे स्थानो पर बडे विश्वस्त रूप से ऐसा कहा गया है कि ये केवल नामो और रूपो मात्र का ही भेद है। जब ब्रह्म को जान लिया तो और सब कुछ जान लिया। इन दोनो सिद्धान्तो का समन्वय करने

का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है जैसाकि वेदान्त के महान् आचार्य शंकर ने इन दो अर्थ वाले संदर्भों को समझाने का प्रयत्न किया है। इस विश्व को सत्य के रूप में माना गया है परन्तु इसमें जो कुछ यथार्थ है वह केवल ब्रह्म है। ब्रह्म के कारण ही अग्नि जलती है और वायु प्रवाहित होता है। इस सकल विश्व में ब्रह्म ही सक्रिय तत्त्व है और फिर भी वह सबसे अधिक शात व अचल है। यह विश्व ही उसका शरीर है और वह स्वयं इसके अन्तर में निवास करने वाली आत्मा है। "वह सृष्टि कर्ता है। उसकी इच्छा के अनुसार ही सारे कार्य सम्पन्न होते है। वह रस और गन्ध का स्वामी है, सर्व व्यापक है, शात है और शाश्वत है जो किसी वस्तु से प्रभावित नहीं होता।"[1] वह ऊपर नीचे, पीछे और सामने, दक्षिण व उत्तर सभी दिशाओं में अवस्थित है। वह यह सब है।[2] "पूर्व व पश्चिम से प्रवाहित होने वाली जिन नदियो का समुद्र से ही उद्गम है वे पुनः समुद्र में विलीन होकर समुद्र बन जाती हैं यद्यपि वे इसको नहीं जानतीं। इसी प्रकार प्राणी मात्र उस महान् आत्मा से उत्पन्न होकर उसी मे विलीन हो जाते हैं और ये नही जानते कि वे उस महान् चेतन तत्त्व के ही अंश है। विश्व मे जो सूक्ष्मतम तत्त्व है वह आत्मा है और वह सब यथार्थ सत्य है। हे श्वेतकेतु तुम वही आत्मा हो।"[3] जैसे ड्यूसन महोदय कहते है–ब्रह्म काल के पूर्व कारण रूप में विद्यमान् था और यह प्रकृति इस महान् कारण से कार्य रूप मे उत्पन्न हुई। यह विश्व आन्तरिक रूप से ब्रह्म के ऊपर निर्भर है। वास्तव मे ब्रह्म का ही स्वरूप है। इसके सम्बन्ध मे कहा गया है कि ब्रह्म ने इस प्रकृति को स्वयमेव उत्पन्न किया है। इसी प्रकार मुडक उपनिषद् के पहले अध्याय १, ७ श्लोक मे भी कहा है–

"जिस प्रकार मकडी अपने जाल के तन्तुओं को स्वयं मे से उत्पन्न करती है और फिर समेट लेती है, जिस प्रकार पृथ्वी मे से वृक्षादि उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार मनुष्य के सिर पर और जीवित शरीर पर केश उत्पन्न होते है उसी प्रकार उस अविनाशी ब्रह्म से प्रकृति उत्पन्न होती है। जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से उसी के प्रतिरूप सहस्त्रो की सख्या मे स्फुलिंग उत्पन्न होते है इसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से अनेक जीवधारी प्राणी उत्पन्न होकर पुन उसी में समा जाते है।"[4]

यह विश्व-सिद्धात सबसे अधिक प्रिय है और उपनिषद् की उच्चतम शिक्षा है। "वह तुम ही हो (तत्त्वमसि)।"

---

[1] छान्दोग्य, अध्याय ३। १४, ४।

[2] वही, ७। २५ १, तथा मुण्डक, २-२-११।

[3] छान्दोग्य, अध्याय ६, १०।

[4] ड्यूसन द्वारा रचित, फिलासफी ऑव द उपनिषद्स, पृ० १६४।

इस सिद्धात के विकास के साथ कि ब्रह्म इस विश्व को सचालित करता है, वही अन्तर्यामी है और प्रकृति की सभी शक्ति में और कण कण मे वह विद्यमान है, प्राणी मात्र की आत्मा, ससार के सारे कार्य उसकी इच्छा से सम्पादित होते है और उसकी आज्ञा का कोई उल्लघन नही कर सकता, इन सबसे एक अन्य आस्तिकवादी विचारधारा का जन्म हुआ जिसमें ब्रह्म एक ऐसे परमात्मा के रूप में माना जाने लगा जो सबसे अलग और साथ ही सारे विश्व को सचालित करने वाली अतिमानुष शक्ति के रूप में देखा जाने लगा। ऐसा कहा गया है कि सूर्य और चन्द्र पृथ्वी और आकाश परमात्मा की इच्छा के अनुसार अपने अपने स्थान पर स्थित हैं।[१] श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रसिद्ध श्लोक मे आत्मा और परमात्मा का भेद बतलाते हुए कहा है–

"दो दिव्य पखो वाले अभिन्न हृदय मित्र एक ही वृक्ष के चारों ओर उड़ रहे है। उनमे से एक उस वृक्ष के मीठे फलो का रसास्वादन करता है और दूसरा बिना कुछ खाए केवल नीचे देखता रहता है।"[२]

लेकिन इस आस्तिकवादी धारा के होते हुए भी और अनेक स्थानो पर ईश अथवा ईशान शब्द के प्रयोग के बावजूद भी इसमे कोई सदेह नही दिखाई देता कि आस्तिकवाद इसके वास्तविक अर्थ मे कभी भी प्रमुख नही रहा। विश्व के महान् स्वामी के रूप मे उसे मानने की अवधारणा भी इस कारण है कि आत्मा का एक महान् सक्रिय तत्त्व के रूप मे इस विश्व मे कौपीतकि उपनिषद् मे तृतीय अध्याय के ६वे श्लोक मे कहा है– "वह शुभ कर्मों से न महान् होता है और न दुष्ट कर्मों से उसके गौरव मे किसी प्रकार की कमी आती है परन्तु जिसे वह उत्थान की ओर ले जाना चाहता है उसे वह पुन शुभ कर्मों की प्रेरणा देता है और जिस पर उसकी कृपा नही होती है वह अशुभ कर्मों के करने के लिए उद्यत हो जाता है। वह विश्व का सरक्षक है, विश्व का अधिष्टाता एव स्वामी है, वही मेरी आत्मा है।" इस प्रकार परमात्मा अपनी महानता के बावजूद आत्मा के रूप मे देखा गया है। दूसरे अन्य सदर्भों मे कई स्थानो पर ब्रह्म को विश्व-व्यापी एव सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्म को एक शाश्वत सत्तावान् वृक्ष कहा गया है। वह एक ऐसा अमर वृक्ष है जिसकी जड़े ऊपर उत्पन्न होती है और जिसकी शाखाएं नीचे होती है। सारी सृष्टियाँ उस पर आधारित है और कोई उसके परे नही है। यह वह है–"जिसके भय से अग्नि जलती है, सूर्य चमकता है, जिसके भय से इन्द्र और वायु सचालित होते है तथा पाँचवा मृत्यु भी जिसके भय से ही सचालित है।"[३]

---

[१] बृहदा०, अध्याय ३,८,९।

[२] श्वेताश्वतर ४/६ तथा मुडक ३/१/१, साथ ही ड्यूसन कृत "फिलासफी आँव द उपनिषद्स, में इसका अनुवाद (पृ० १७७)।

[३] कठ २/६/१ और ३।

यदि हम उपनिषदों के छोटे-छोटे उप मतों की चिन्ता न करें और उनकी प्रमुख विचारधाराओं पर ही ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस दर्शन के अनुसार इस संसार मे ब्रह्म को ही यथार्थ सत्य के रूप मे माना गया है। ब्रह्म अथवा परमात्मा के अनन्तर और जो कुछ है वह सब असत्य है, अर्थहीन है। दूसरी प्रमुख विचारधारा जो अधिकाश उपनिषद् शास्त्रो मे पाई जाती है वह बहुदेववादी विचारधारा है जिसमें आत्मा अथवा ब्रह्म को व्यापक विश्व के रूप मे माना गया है अथवा जिसमे प्रकृति और परमात्मा में कोई भेद नही माना गया है। तीसरी विचारधारा वह ईश्वरवादी मत है जिसके अनुसार ब्रह्म को इस सकल विश्व का महान् सचालक एव अधिष्ठाता के रूप मे स्वीकार किया गया है। यह सारी विचारधारा अनिश्चित रूप में थी और किसी एक विशेष विचारधारा का क्रमबद्ध, ठोस विकास नहीं हुआ था। अतः उत्तरकाल मे वेदान्त के महान् आचार्य शंकर और रामानुज इनके विभिन्न अर्थों पर सदैव विवाद करते रहे क्योकि वे चाहते थे कि इस दर्शन में तर्कयुक्त क्रमबद्ध वेदान्तिक दर्शन प्रणाली को वे सिद्ध कर सकें। इस प्रकार माया का यह सिद्धान्त जिसका थोडा वर्णन बृहदा० मे मिलता है और ३ बार श्वेताश्वतर उपनिषद मे भी पाया जाता है, शकर के वेदान्त दर्शन का मुख्य आधार बन जाता है। इस दर्शन के अनुसार विश्व मे केवल ब्रह्म ही सत्य है, और दूसरी कोई वस्तु नही है, ब्रह्म के अतिरिक्त और सब माया है।[1]

विश्व या संसार

हम यह देख चुके है कि प्रकृति रूप समस्त विश्व ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म ही उसमे चेतन तत्त्व है। यह विश्व ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर ब्रह्म मे ही लीन हो जाता है। हम यह मानते हुए भी कि प्रकृति और ब्रह्म एक ही तत्त्व हैं उस ससार को नही नकार सकते जिसका हमे इन्द्रियो द्वारा अनुभव एव साक्षात् होता है। शकर के मतानुसार बाह्य प्रकृति को उपनिषदो मे जान बूझकर इसलिए मान्यता दी गई है कि ब्रह्म की वास्तविकता और सत्य को जान लेने के पश्चात् सृष्टि स्वयमेव असत्य दिखाई देने लगेगी और इस प्रकार प्रकृति को यथार्थ आपेक्षिक सत्य कहा जा सकेगा। परन्तु शकराचार्य के इस मत को हम इस यत्किंचित् रूपान्तरण के साथ स्वीकार कर सकते है कि उपनिषद्कार ऋषि मुनियो ने किसी उद्देश्य विशेष से दृढतापूर्वक इस बात की धारणा प्रतिपादित नही की है कि दृश्य जगत् एक आपेक्षिक सत्य है। वे यद्यपि ब्रह्म को परम तत्त्व के रूप मे मानते है तथा ब्रह्म के भीतर सभी वस्तुओं को असत्य मानते है तब भी वे इस पार्थिव प्रकृति की सत्ता को अस्वीकार नही कर सकते थे इसलिए उनके दर्शन मे इसकी सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक हो गया था। अत. इस पार्थिव प्रकृति की

---

[1] बृहदारण्यक २, ५, १९। श्वेताश्वतर १/१०, ४/६, १०।

भौतिक सत्ता के साथ ब्रह्म की अन्तिम एवं वास्तविक सत्य होने की स्थिति के विरोधाभास को मिटाने के लिए उन्होंने यह स्वीकार किया कि प्रकृति ब्रह्म से भिन्न नहीं है। प्रकृति ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है। यह उसी की सत्ता से सचालित है एवं उसी मे विलीन हो जाएगी।

इस प्रकृति के दो स्वरूप विशेष रूप से वर्णित किए गए है। (१) चेतन प्रकृति (२) अचेतन (जड़) प्रकृति। जो भी चेतन वस्तुएँ है अथवा जीवधारी पदार्थ हैं, वनस्पति, पशु अथवा मनुष्य सभी प्राणियो मे आत्मा है।[1] ब्रह्म ने अनेक रूपो में प्रकट होने की इच्छा की और अग्नि (तेजस्व), जल (अप) और पृथ्वी (क्षिति) को उत्पन्न किया। तब स्वयभू ब्रह्म ने इन तीनों मे प्रवेश किया और इनके विनियोग से ससार के अन्य सब पदार्थ उत्पन्न हुए।[2] इस प्रकार विश्व मे सब पदार्थ इन तीनो तत्त्वो के समिश्रण से उत्पन्न हुए। इन आदि तत्त्वो के त्रिगुणात्मक विभाजन मे साख्य दर्शन की उस विचार धारा का सूत्रपात होता है जिसमे शुद्ध सूक्ष्म तत्त्व (तन्मात्रा) और भौतिक तत्त्वों का विभेद किया गया है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक भौतिक अथवा मिश्रित तत्त्व आदि तत्त्वो के कणो से बना हुआ माना गया है। प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के ८वें श्लोक मे कहा गया है कि मिश्रित भौतिक तत्त्व उनके सूक्ष्म तत्त्व से भिन्न है जैसे पृथ्वी का सूक्ष्म तत्त्व और पृथ्वी मात्रा भिन्न है। तैत्तिरीय उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के प्रथम श्लोक मे आकाश तत्त्व को ब्रह्म से उत्पन्न माना है और अन्य तत्त्व वायु, अग्नि, जल एव पृथ्वी की उत्पत्ति के बारे मे कहा है कि इनमे से प्रत्येक की उत्पत्ति उस सूक्ष्म तत्त्व से हुई है, जो इनसे पूर्व इनके सूक्ष्म तत्त्वो के रूप मे विद्यमान थे।

विश्वात्मा

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर से उसकी आत्मा का सम्बन्ध है उसी प्रकार विश्व के भौतिक शरीर का एक चेतन आत्मा से सबध है। इसकी व्याख्या सर्वप्रथम ऋग्वेद के १०वे मण्डल के १२१वे सूक्त के प्रथम मत्र मे आती है। इसके अनुसार आदिम जल से सर्व प्रथम इस आत्मा की उत्पत्ति हुई। श्वेताश्वर उपनिषद् के तीसरे अध्याय, चतुर्थ श्लोक, चतुर्थ अध्याय के १२वे श्लोक मे दो बार ऐसा प्रसग आता है। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इसके पूर्व किसी उपनिषद् मे इस आत्मा का उल्लेख नही पाया जाता। दो सदर्भों मे जहाँ इस आत्मा का वर्णन आया है वहाँ इसका पौराणिक स्वरूप स्पष्ट है। इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति के क्रम मे यह तत्त्व सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ ऐसा माना जाता है परन्तु ब्रह्म अथवा आत्मा सबंधी दर्शन के विकास मेंइसका कोई स्थान

---

[1] छान्दोग्य, ६, २।

[2] छान्दोग्य, अ० ६। २, ३, ४।

अथवा महत्व नही है। उपनिषदो के प्रारंभिक विकास मे पुरुष, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ आदि का कोई मुख्य उल्लेख न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की ऐकेश्वरवादी विचारधाराओं से उपनिषदो का सीधा सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। श्वेताश्वतर में आए हुए इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के १२१वें सूक्त के १०वे मंडल में जो हिरण्यगर्भ को महत्व एव प्रमुख स्थान दिया गया है उसकी उपेक्षा उपनिषदों में कर दी गई है तथा उसको साधारणतया अन्य उत्पन्न वस्तुओं के समानान्तर रख दिया गया है। हिरण्यगर्भ सिद्धात के दार्शनिक महत्व को समझाते हुए ड्यूसन महोदय कहते है "सारी भौतिक प्रकृति का आधार ज्ञानमय सक्रिय चेतन तत्त्व है।" भौतिक प्रकृति का आधार यह सक्रिय चेतन तत्त्व प्रत्येक पदार्थ में पाया जाता है परन्तु यह उससे अभिन्न नही है। भौतिक पदार्थ काल गति से नष्ट हो जाते है परन्तु प्रकृति विनष्ट नही होती एव उन भौतिक पदार्थों के नष्ट हो जाने पर भी प्रकृति उसी प्रकार स्थित रहती है। अतः अनन्त सक्रिय चेतन तत्त्व इस प्रकृति का आधार है जिसे हिरण्यगर्भ कह सकते है। इस चेतन तत्त्व मे आकाश और काल निहित है और इसी से इनकी उत्पत्ति होती है अत यह स्वयं काल और आकाश से परे है और तदनुसार आनुभविक दृष्टिकोण से इसकी कोई 'स्थिति' नही है, यह अभूत है, यह यथार्थ सत्य न होकर दार्शनिक सत्य है।[1] मेरे मत के अनुसार यह तर्कसगत नही दिखाई देता क्योकि हिरण्यगर्भ के सिद्धात का उपनिषदो मे कोई दार्शनिक महत्व नही है।

कारण सिद्धान्त

कारण सिद्धात की उपनिषदों मे कोई तर्क संगत व्याख्या नही मिलती। वेदान्त दर्शन के अन्तिम आचार्य शकर ने सदैव इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उपनिषदो मे कारण सिद्धात को केवल परिवर्तन का आधार माना गया है क्योकि कारण प्रकृति मे स्वय कोई परिवर्तन नही होता, केवल परिवर्तन का आभास प्रतीत होता है। इसको शकराचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् (६ अध्याय, पहला श्लोक) से कई उदाहरण लेते हुए बताया है। भौतिक पदार्थों से निर्मित वस्तुएँ जैसे मिट्टी का जल पात्र, अपने आकार, जैसे घड़ा, में परिवर्तन होने के उपरात भी वास्तविक तत्त्व रूप मे मिट्टी का खड ही है, यद्यपि इसके स्वरूप मे अनेकरूपता एव विभिन्नता है परन्तु घड़ा, थाली, पात्र आदि केवल नाम मात्र से ही अलग-अलग दिखाई देते है। रूप अथवा नाम के बाह्य आवरण को छोडकर देखने पर सबके मूल तत्त्व मे मिट्टी ही छिपी हुई है। इसी प्रकार आदि कारण अपरिवर्तनशील ब्रह्म ही शाश्वत ध्रुव सत्य है। बाह्य रूप से प्रकृति का अनेक रूपो में परिवर्तन होते हुए यद्यपि हमे ऐसा आभास

---

[1] ड्यूसन कृत "फिलासफी ऑव द उपनिषद्स", पृ० २०१।

होता है कि यह भौतिक प्रकृति सत्य है परन्तु यह भौतिक जगत् आभास मात्र है; उसी ब्रह्म की माया है जो मृग मरीचिका की भांति सत्य दृष्टिगोचर होते हुए भी सत्य नहीं है। ब्रह्म ही इस विश्व में एक मात्र सत्य है। केवल उसी की स्थिति यथार्थ स्थिति है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह दृष्टिकोण उपनिषदों मे अत्यन्त साधारण एवं अपूर्ण ढंग से कही-कही पर प्रस्तुत किया गया है परन्तु इसके साथ ही एक दूसरा दृष्टिकोण भी दिया गया है। जिसमे प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति विभिन्न स्थितियों में अनेक शक्तियों की पारस्परिक क्रिया से कारण, विशेष द्वारा सम्पादित हुआ माना गया है। सरल शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि कारण के बिना किसी कार्य की स्थिति नहीं है। प्रकृति के प्रत्येक व्यापार के पीछे की पृष्ठभूमि में वास्तविक कारण निहित है। इस प्रकार जहाँ प्रकृति के विभिन्न पदार्थों के स्वरूप का वर्णन एक स्थान पर आया है वहाँ उनको त्रिभूत अग्नि, जल एव पृथ्वी के सयोग से उत्पन्न माना गया है जो उनके सयोग का वास्तविक विशिष्ट फल है। इस विचारधारा मे हम साख्य दर्शन के कारण सिद्धात के परिणामवाद का सूत्रपात देखते है जिसका स्पष्टीकरण बाद में हम करेंगे।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

वैदिक काल के मनुष्य शरीर का दाह सस्कार देखते थे, उनके मन मे यह धारणा रहती थी कि मनुष्य की दृष्टि सूर्य मे विलीन हो जाती है। उसके श्वास, वायु मे विलीन हो जाते है, उसकी वाणी अग्नि मे समा जाती है एव उसके विभिन्न अवयव विश्व के विभिन्न अवयवो मे मिल जाते है। उनका यही विश्वास था कि पुण्य कर्मों का एव अशुभ कर्मों का फल दूसरे लोक मे प्राप्त होता है और यद्यपि ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ मनुष्य की आत्मा के वृक्षादि मे प्रवेश का वर्णन है परन्तु पुनर्जन्म अथवा आत्मा का दूसरे शरीर मे प्रवेश करने के सिद्धात का प्रचलन इस समय नहीं हुआ था।

लेकिन उपनिषदो मे इस दिशा मे विशेष रूप से इस ओर प्रगति दो चरणों मे दृष्टिगोचर होती है। प्रथम चरण मे वैदिक कर्म फल के सिद्धात के साथ पुनर्जन्म के सिद्धात को जोडकर देखा जाता है और दूसरे चरण मे अन्य लोक मे कर्म फल प्राप्ति के सिद्धात को छोडकर केवल पुनर्जन्म के सिद्धात पर विशेष बल दिया गया है। ऐसा कहा गया है कि जो लोग पुण्य कर्म करते है एव लोक कल्याण की भावना से कुए आदि बनाने का शुभ कार्य करते हैं उनकी आत्माएँ मृत्यु के पश्चात् पितृयान अर्थात् पितरों के मार्ग का अनुसरण करती हुई चन्द्र लोक को प्राप्त करती है। मृत्यु के पश्चात् ये आत्माएँ पहले धूम मे प्रवेश करती है फिर रात्रि मे प्रवेश करती है, रात्रि से कृष्ण पक्ष मे और कृष्ण पक्ष से चन्द्र लोक में पहुँचती हैं। जब तक उस आत्मा के पुण्य कर्म समाप्त नही होते तब तक वे चन्द्र लोक मे आनन्द से समय व्यतीत करती हैं तत्पश्चात्

वे आकाश, वायु, धूम, धुन्ध, मेघ, वर्षा, वनस्पति, अन्न एवं बीज से होती हुई भोजन तत्त्व के द्वारा मनुष्य में प्रवेश पाकर माँ के गर्भ में प्रविष्ट होती हैं और तत्पश्चात् जन्म लेती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये आत्माएँ न केवल पुण्य कर्मों का फल प्राप्त करती हैं अपितु इस विश्व में पुनर्जन्म लेती हैं।[1]

दूसरा मार्ग देवयान है अर्थात् देवताओं का मार्ग है। यह उनको प्राप्त होता है जो श्रद्धा और तप की साधना करते हैं। ये आत्माएँ मृत्यु के उपरान्त अग्नि, दिवस, शुक्ल पक्ष, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् एवं वर्ष के शुक्लार्ध में होती हुई अन्त मे ब्रह्म में प्रविष्ट होती हैं जहाँ वे पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाती हैं। ड्यूसन महोदय कहते हैं कि इसका यह अर्थ है पुण्य आत्मा शुभ कर्म करने पर मृत्यु के उपरान्त शनैः शनैः प्रकाश की ओर बढ़ती है और इस प्रकार उस प्रकाशमय ब्रह्म को प्राप्त करती है जिसमें विश्व में जो कुछ प्रकाशमान् उज्ज्वल एव सुन्दर है वह निहित है और जो ज्योतिषाम् ज्योति है।

दूसरी विचारधारा दूसरे लोकों में जाने के मार्गों के अथवा पितृयान एवं देवयान के द्वारा कर्मवाद के फल प्राप्ति वाले सिद्धांत के साथ जोड़े बिना पुनर्जन्म के सिद्धात की व्याख्या करती है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, "जबकि आत्मा निर्बल हो जाती है (शरीर की निर्बलता के साथ बाह्य निर्बलता) और जब यह मूर्छित हो जाती है तब मनुष्य के इन्द्रिय तत्त्व इसकी ओर आकर्षित होते है और ये उनको अपने मे समेट लेती है। यह आत्मा इन प्रकाश के परमाणुओं को अपने में समेटकर हृदय में केन्द्रीभूत हो जाती है। इस प्रकार जब दृष्टि-पुरुष आत्मा में विलीन हो जाता है तब आत्मा रग रूप नही देख पाती। क्योंकि ये सभी इन्द्रियाँ आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेती है और तब जन साधारण उसके लिए कहते है कि वह देख नही सकता, क्योकि उसकी इन्द्रियाँ उस मनुष्य के साथ उस चेतन तत्त्व में विलीन हो जाती है, वह गन्ध नही ले सकता, क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। वह रसास्वादन नही कर सकता, समझ नही सकता, सुन नहीं सकता, स्पर्श नही कर सकता, क्योकि उसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती है। उसके हृदय का एक कोना दिव्य प्रकाश से भर जाता है और इस मार्ग से फिर आत्मा शरीर का त्याग कर देती है। जब कभी भी यह आत्मा नेत्र, सिर अथवा शरीर के किसी भाग से बाहर जाती है तब प्राण उसका अनुसरण करते है और अन्य सारी इन्द्रियाँ प्राणों का अनुसरण कर प्राणो का त्याग कर देती हैं तब वह मनुष्य एक सूक्ष्म निश्चित चेतना के रूप मे स्थिर हो बाहर आ जाता है। तत्पश्चात् ज्ञान अथवा प्रज्ञा, कर्म और पूर्व अनुभव के साथ बाहर आ जाते हैं। जिस प्रकार इल्ली पत्ते की नोक तक पहुँचकर अपने आप को पुनः सिकोड़ लेती है उसी प्रकार यह आत्मा शरीर

[1] छान्दोग्य, अध्याय ५, श्लोक १०वां।

को विनष्ट कर, अज्ञान का निवारण कर, एक विशेष गति से अपने आप को सिकोड़ लेती है। जिस प्रकार स्वर्णकार स्वर्ण खंड को लेकर उसको एक नया एवं सुन्दर स्वरूप प्रदान करता है उसी प्रकार आत्मा एक शरीर को नष्ट कर, अज्ञान को मिटाकर, नवीन एवं अधिक सुन्दर स्वरूप को धारण करती है जो पितृयोनि, गन्धर्भयोनि, देवयोनि, प्रजापति अथवा ब्रह्म अथवा और किसी दिव्ययोनि के अनुरूप होता है। जैसे वह कर्म और व्यवहार करती है वैसी ही वह पुण्य कर्मों से पुण्यात्मा अथवा दुष्ट कर्मों से दुष्टात्मा बन जाती है। सुन्दर कर्मों से पुण्यात्मा और पाप कर्मों से वह पापी कहलाती है। मनुष्य कामनाओ से परिपूर्ण है। वह कामनाओ के अनुसार सकल्प करता है। जैसा वह सकल्प करता है वैसा ही वह कार्य करता है और जैसा वह कर्म करता है वैसा ही कर्म क्रियान्वित होता है। कर्म फल के अनुसार पूर्ण भोग करने के पश्चात् वह वापस इस विश्व मे आता है और पुन. कर्म मे प्रवृत्त हो जाता है।[1] ऐसा उन लोगों के साथ होता है जिनके हृदय में अनेक कामनाएँ है। जो निष्काम है, जिनको कोई कामना नही है, जो सासारिक कामनाओं से मुक्त हो गए है, जो अपने आप मे सतुष्ट है उनकी बुद्धि विकृत नही होती, उनकी चेतना नष्ट नही होती। वे कर्म के स्वरूप को आत्मसात् कर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करते है। यह शास्त्रो का वचन है, हृदय की समस्त कामनाओ से मुक्त होकरमर्त्य अमर हो जाते है और फिर ब्रह्मत्व को प्राप्त होते है।[2]

इस सदर्भ की सूक्ष्म समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान जीवन की समाप्ति पर आत्मा स्वय शरीर को नष्ट कर अपने लिए एक नवीन एव अधिक सुन्दर ढाचे या आवास का निर्माण अपने ही क्रियाकलापो द्वारा करती है। मृत्यु के समय आत्मा सारी इन्द्रियो और मन को अन्तर्मुखी कर लेती है और मृत्यु के पश्चात् ज्ञान एव अनुभव आत्मसात् होकर सस्कार आत्मा मे निहित हो जाते है। मृत्यु के समय शरीर का विनाश, नवीन शरीर धारण करने के लिए ही होता है। आत्मा इस लोक मे अथवा अन्य लोको मे नवीन शरीर धारण करती है। यह आत्मा जो इस प्रकार पुनर्जन्म लेती है अनेक सस्कारो को जो इसके पूर्व जन्मों मे अर्जित होते है अपने में समाविष्ट रखती है। ऐसा कहा गया है कि "उसमे ज्ञान, जीवन, दृष्टि, श्रुति और पचभूतों के सूक्ष्मतम तत्त्व अन्तर्निहित रहते है। (जिनके द्वारा आवश्यकतानुसार पार्थिव शरीर का निर्माण हो सकता है)। इस आत्मा मे कामना, सयम, क्रोध, अक्रोध, धर्म, अधर्म और उन सब वस्तुओ के सस्कार जो प्रकट हैं अथवा जो अप्रकट है समाविष्ट रहते हैं।"[3] इस प्रकार

---

[1] ऐसा सम्भव है कि यहाँ पर स्पष्ट रूप से वह सिद्धांत संकेतित हो कि हमारे कर्मों का फल हमको दूसरे लोको मे मिलता है।

[2] बृहदारण्यक, चतुर्थ अध्याय, भाग ४, १, ७।

[3] बृहदारण्यक, अध्याय ४, ४, ५।

वह आत्मा जिसका पुनर्जन्म होता है न केवल मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक संस्कारों का समन्वय है वरन् वे सारे तत्त्व जिनसे यह भौतिक प्रकृति बनी है उसमें सूक्ष्म रूप से विद्यमान माने गए हैं। परिवर्तन का यह सारा क्रम उसके इस स्वभाव के कारण ही होता है क्योंकि जो कुछ वह कामना करता है उसी के अनुसार निश्चय करता है, तदनुसार कार्य करता है और उस कर्म के अनुसार उसे फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कर्म और कर्म फल की उत्पत्ति का कारण उसके आन्तरिक संस्कारो के रूप में उसी में निहित होते है क्योकि वह नैतिक एव मनोवैज्ञानिक स्वभाव तथा साथ ही प्रकृति के तत्त्वों का एक समन्वित रूप है।

वह आत्मा जिसका पुनर्जन्म होता है और जो अनेक प्रकार के प्राकृतिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक सस्कारो से आविष्ट है तथा भौतिक तत्त्वों से उसमे परिवर्तन का स्वरूप बीज रूप मे विद्यमान रहता है। इस सबका मूल आत्मा की कामना और उस कामना की पूर्ति के लिए किए हुए कर्म और उसके फल मे निहित हैं। जब मनुष्य की आत्मा कामना मे बँधकर कर्म करती है तब उसका उसे फल प्राप्त होता है, तब उस फल का भोग करने के लिए पुन ससार मे आती है और पुनः कर्म बन्धन मे लिप्त होती है। यह ससार कर्म क्षेत्र माना जाता है जहाँ पर मनुष्य इच्छानुसार कर्म करता है जबकि कर्म फलो के भोग के बारे मे यह समझा जाता है कि यह दूसरे लोकों में प्राप्त होता है जहाँ पर मनुष्य देवयोनि मे जन्म लेता है। परन्तु उपनिषदो मे इस सिद्धान्त के ऊपर विशेष बल नही दिया गया है। पितृयान सिद्धान्त का यहाँ एक दम परित्याग नही किया गया है परन्तु यह सिद्धान्त उस सिद्धान्त का एक भाग है जिसमें दूसरे लोको मे अथवा इस लोक मे पुनर्जन्म का सारा क्रम आत्मा पर निर्भर बतलाया गया है जो कामनाओ से बधी हुई अनेक प्रकार के कम करती है। परन्तु यदि यह कामनाओ का परित्याग कर देती है और निष्काम कर्म करती है तो पुनर्जन्म के बधन से मुक्त होकर अमर हो जाती है। इस मत का सबसे विशिष्ट लक्षण यह है कि यह कामनाओं को ही पुनर्जन्म का कारण मानता है, कर्म को नही। कर्म, कामनाओ एव पुनर्जन्म के बीच की एक कड़ी है क्योंकि ऐसा कहा गया है कि मनुष्य जैसी इच्छा करता है वैसा ही निश्चय करता है और जैसा निश्चय करता है वैसा ही कर्म करता है।

एक दूसरे स्थल पर ऐसा कहा गया है कि "मनुष्य जानबूझ कर जैसी इच्छा करता है, जैसी कामना करता है उसी के अनुरूप पुनर्जन्म लेकर उन इच्छाओ की पूर्ति के लिए उन स्थानों पर जाता है, जहाँ उनकी इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है। परन्तु जिनकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो गयी हैं, जिन्होने आत्मानुभव किया है उनकी सब कामनाएँ विलुप्त हो जाती हैं" (मुंडक, अध्याय ३, पृ० २, २)। आत्मा के पूर्ण ज्ञान से कामनाएँ नष्ट हो जाती है। "जो अपने आप को जानता है, अर्थात् जो यह पहचानता है कि आत्मा ही मैं हूं, मैं वह व्यक्ति हू, वह अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए शरीर

को क्यों कष्ट देना चाहेगा और यहाँ इस लोक में होते हुए भी यदि हम यह जानते हैं तो ठीक है। अन्यथा अज्ञान के कारण कितना विनाश होता है (बृहदारण्यक ४, ४, १२ और १४)।" प्राचीन काल मे बुद्धिमान् व्यक्ति पुत्रो की कामना नहीं करते थे। यह विचारकर कि हम पुत्रों को क्या करेंगे जबकि हमारी आत्मा ही ब्रह्मांड है। उपनिषदो में कर्म सिद्धान्त की वे बारीकियाँ नहीं पाई जातीं जो हिन्दू धर्म के उत्तर-कालीन कर्मवाद के दर्शन मे मिलती हैं। यह सम्पूर्ण प्रणाली काम के सिद्धान्त को लेकर स्थापित की है और कर्म, काम एवं उस काम के कारण मनुष्य द्वारा किए हुए कर्म के बीच की कडी है।

इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने की बात है कि उपनिषदों में बारम्बार काम द्वारा ही पुनर्जन्म होता है। इस मत के अनुरूप ही कुछ उपनिषदों मे यह मत मिलता है कि स्त्री के गर्भ मे कामना के कारण वीर्यपात को मनुष्य का प्रथम जन्म माना है। वास्तविक रूप मे पुत्र की उत्पत्ति को दूसरा जन्म और मृत्यु के पश्चात् किसी और लोक में जन्म को तीसरा जन्म माना है। इस प्रकार यह कहा गया है कि "मनुष्य में सर्व प्रथम जीवाणु का जन्म होता है जो वास्तव मे शरीर के सत्व वीर्य के रूप मे स्थित है जो स्वयं मे प्राविष्ट है और जब वह गर्भ मे प्रवेश करता है तब यह उसका प्रथम जन्म है। यह भ्रूण उस स्त्री के शरीर के साथ आत्मसात् हो जाता है तब यह उसको हानि नही पहुँचाता है। वह इस भ्रूण की रक्षा करती है और अपने गर्भ में उसका विकास करती है जिस प्रकार वह इस भ्रूण की रक्षा करती है उसी प्रकार उस (स्त्री) की रक्षा करना भी आवश्यक है। जन्म के पूर्व स्त्री गर्भ को धारण करती है परन्तु जन्म के पश्चात् पिता पुत्र की चिन्ता करता है और इस प्रकार वह अपनी ही रक्षा करता है, क्योंकि पुत्रों के द्वारा ही वंश-रक्षा होती है, यह उसका दूसरा जन्म है। मनुष्य अपनी आत्मा के इस स्वरूप को अपने प्रतिनिधि के रूप मे सारे शुभ कर्म करने के लिए निर्दिष्ट करता है। परन्तु उसका दूसरा स्वरूप अथवा आत्मा आत्म-सिद्धि प्राप्त कर स्वय पूर्णावस्था प्राप्त कर ससार का परित्याग करता है और इस प्रकार जाकर वह पुनर्जन्म लेता है और यह इसका तीसरा जन्म है। (ऐतरेय, अध्याय २, १,४०)।[1] उपनिषदों मे कामवासना अथवा पुत्र की कामना के ऊपर कोई विशेष बल नही दिया गया है। सभी प्रकार की इच्छाएँ काम शब्द से निर्दिष्ट की गई हैं। इस प्रकार पुत्र की इच्छा ऐसी ही है जैसी धन की इच्छा। धन की इच्छा इसी प्रकार की है जैसे अन्य कोई सासारिक काम (बृहदारण्यक, अध्याय ४, २२वां श्लोक)। इस प्रकार कामवासना उसी स्तर पर आंकी गई है जैसे अन्य कोई साधारण इच्छा।

---

[1] कौषीतकि भी देखें, २/१५।

मोक्ष या मुक्ति

दूसरा सिद्धान्त जो विशेष रूप से महत्वपूर्ण है वह मुक्ति का है। देवयान के सिद्धान्त में हम यह देख चुके हैं कि वे व्यक्ति जो श्रद्धा और भक्ति के साथ तप आदि धर्म कार्य में प्रवृत्त होते है, देवयोनि को प्राप्त होकर पुनर्जन्म के कष्ट से मुक्त हो जाते हैं। इसके विपरीत पितृयान अर्थात् पितरो के मार्ग का जो अनुसरण करते हैं वे दूसरे लोकों में कुछ समय तक अपने सुन्दर कर्मों का सुख भोग करते हुए पुण्यों के क्षीण होने के पश्चात् पुनः इस पृथ्वी पर जन्म लेते है। इस प्रकार जो श्रद्धा के मार्ग को अपना कर भक्ति करते हैं उनका गन्तव्य स्थान एवं लक्ष्य उनसे भिन्न है जो साधारण शुभ कर्मों में प्रवृत्त होते है, यह भेद मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्त के आधार पर पूर्ण रूपेण समझा जा सकता है। उपनिषदों के अनुसार मुक्ति मनुष्य की वह अपार्थिव अवस्था है जब वह अपनी आत्मा का शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म लोक को जाता है। पुनर्जन्म की शृंखला उन लोगो के लिए है जो ज्ञानी नही है। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वे सांसारिक कामनाओं से उपरत होकर निष्काम, शुद्ध ब्रह्म रूप प्राप्त करते हैं और कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

> "वे ज्ञानी पुरुष जो परमात्मा का उच्चतम एवं गहनतम या गूढ़तम ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं उनके हृदय के बन्धन खुल जाते है। वे निःसंशय होकर कर्मफल से मुक्त हो जाते हैं और इस प्रकार कर्म करते हुए भी कर्म में लिप्त नही होते।"[1]

आत्मा का पूर्ण ज्ञान होने पर यह अनुभव हो जाता है कि हृदय की सारी वासनाएँ और विकार, इन्द्रियजन्य ज्ञान की सीमाएँ, हृदय की क्षुद्रता, अनुदारता और जीवन की क्षणभंगुरता, ये सब मिथ्या है। हम यद्यपि जानते नही हैं, फिर भी हम हैं पूर्ण ज्ञान स्वरूप। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान की परिधि से ऊपर उठकर हम स्वय पूर्ण ज्ञानी हो जाते हैं। वह ज्ञान जो शुद्ध है, इन्द्रियातीत है, हमारा स्वरूप है। अनन्त एवं असीम होकर हम बन्धन से मुक्त हो जाते है। अमर होकर मृत्यु के त्रास से मुक्त हो जाते है। इस प्रकार मुक्ति किसी नयी अवस्था की प्राप्ति नही है किसी कर्म का फल अथवा प्रभाव से परे है। हमारी आन्तरिक प्रकृति का यह शाश्वत सत्य है, यह किसी वस्तु से उत्पन्न नहीं होती। स्वयं आत्मा मे स्थित है। हम सदैव मुक्त एवं स्वच्छन्द है। कठिनाई केवल यह है कि हम अपनी आत्मा के स्वरूप को नही पहचानते और इसीलिए पुनर्जन्म आदि अनेक कष्टो को भोगते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि आत्मा का सत्य ज्ञान मोक्ष को देने वाला नही है वरन् यह ज्ञान ही मोक्ष है। कष्ट एवं बन्धन तब तक ही सत्य प्रतीत होते है जब तक कि हम अपने सत्य स्वरूप को नहीं

---

[1] ड्यूसन, फिलॉसफी ऑव उपनिषद्स, पृ० ३५२।

पहचानते। मोक्ष ही मनुष्य का एक मात्र स्वाभाविक लक्ष्य है क्योंकि मनुष्य का सत्य स्वरूप इसी में निहित है। हम अपनी वास्तविक प्रकृति और स्वभाव का पूर्णरूपेण अनुभव करते है तो यह अनुभूति ही मुक्ति है क्योंकि वास्तविक रूप मे हम सभी मुक्त जीव है। हमें इसका ज्ञान आवश्यक है कि हम मुक्त हैं, इस ज्ञान के बिना अकारण ही बन्धन के चक्र मे ग्रसित रहते है। अत आत्म ज्ञान ही वह वस्तु है जिसके कारण हम मिथ्या ज्ञान एवं जन्म मरण की माया से मुक्त हो सकते हैं। कठोपनिषद् में ऐसी कथा आती है कि मृत्यु के देवता यम ने गौतम के पुत्र नचिकेता की इच्छानुसार तीन वर मांगने की उसे आज्ञा दी। नचिकेता ने यह जानकर कि उसके पिता गौतम उससे रुष्ट है, पहला वरदान मागा कि हे यम ! मुझसे मेरे पिता गौतम प्रसन्न हो जावें और मेरे प्रति उनका क्रोध समाप्त हो जाय। इस वर की प्राप्ति के पश्चात् नचिकेता ने दूसरा वर मागा कि स्वर्ग मे जो अग्नि स्थापित है जिससे स्वर्ग प्राप्त होता है, अर्थात् वैश्वानर नामक अग्नि उसका मुझे ज्ञान दें। यम ने इस वर की भी स्वीकारोक्ति दी। तब नचिकेता ने तीसरा वर मागा–"मैं आपसे यह ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूं कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा का क्या स्वरूप होता है ? कुछ लोग कहते है कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा नष्ट हो जाती है और कुछ लोग कहते है कि आत्मा जीवित रहती है। आप इस विषय में मुझे पूर्ण ज्ञान दीजिए। यह मेरा तीसरा वर है।" यम ने उसको कहा कि यह अत्यन्त प्राचीन जिज्ञासा है। देवता लोग भी इसको जानने मे प्रयत्नशील है। इसको समझना अत्यन्त कठिन है। तुम इसके स्थान पर कोई दूसरा वर मांगो। क्योकि यह प्रश्न अत्यन्त दुरुह है, मुझे इसका उत्तर देने के लिए बाध्य मत करो। नचिकेता ने तब उत्तर दिया कि हे यम ! तुम कहते थे कि देवता भी इस ज्ञान को प्राप्त करना चाहते है और यदि यह विषय अत्यन्त दुरुह है तब तो इसके उत्तर देने मे आपके अतिरिक्त और किसी की सामर्थ्य नही है, न इससे अच्छा और कोई आप वरदान दे सकते है, अत मैं आपसे पुन प्रार्थना करता हूं कि आप मुझे यही वरदान दे। यम ने फिर कहा– "शतायु वाले पुत्र पौत्रों का वर मांगो। हाथी, घोडे, स्वर्ण और पशुधन की आकाक्षा करो। इस विशाल पृथ्वी की आकाक्षा करो और जब तक इच्छा हो तब तक जीने का वर मागो और यदि कोई इससे भी अच्छा वरदान चाहते हो तो धन और दीर्घ जीवन के साथ उसकी माग करो। इस अखिल पृथ्वी के सम्राट् बनो, मैं तुम्हारी मनोकामना की पूर्ति का वर दूंगा। तुम उन सब दुर्लभ आकाक्षाओ की पूर्ति का वर मांगो जो मनुष्य लोक में प्राप्त नही होती है। तुम स्वर्ग की संगीतमय उन अप्सराओ का वर मागो जो मनुष्यो को अप्राप्य हैं। मै यह सब तुमको देने को तैयार हूं परन्तु मृत्यु के विषय मे यह जिज्ञासा मत करो। नचिकेता ने यह कहा कि यह जीवन क्षणिक है, मृत्यु के साथ ही सगीत और नृत्य समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य समृद्धि से और धन से सतुष्ट नही होता। यह सिद्धि तब तक ही है जब तक मृत्यु को प्राप्त नही होता। हम उतनी ही देर तक जीवित रहते है तब तक तुम इच्छा करते हो। जिस वर को

मैं चाहता था वह मैने निवेदन कर दिया। यम ने तब कहा, एक वस्तु श्रेयस्कर है और दूसरी आनन्दमय। वह मनुष्य धन्य है जो श्रेयस्कर वस्तु को चुनते है क्योंकि जो आनन्दमय वस्तुओं को चुनते है वे अपने निर्दिष्ट मार्ग से भ्रष्ट हो जाते है। परन्तु तुमने अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए लक्ष्य की असलियत समझ ली है और सांसारिक कामनाओं पर बिलकुल ध्यान नही दिया है। ये दोनों वस्तुएं अर्थात् अज्ञान जिससे क्षणिक आनन्द प्राप्त होता है और ज्ञान जिससे श्रेय की प्राप्ति होती है, एक दूसरे से भिन्न है और दोनों का लक्ष्य अलग-अलग है। जो यह विश्वास करते है कि यह ससार ही सत्य है और कोई दूसरे दुख नही है वे चेतना रहित युवक मेरे (मृत्यु) त्रास से चिन्तित रहते है। जो ज्ञान तुम चाहते हो वह तर्क से प्राप्त नही होता। मैं यह जानता हूं कि सांसारिक सुख क्षणभंगुर है क्योंकि जो स्वय अस्थिर और क्षणिक है उसके आधार पर स्थायी सुख को प्राप्त नही किया जा सकता। विद्वान् पुरुष आत्मज्ञान का मनन करते हुए और उसको जानते हुए जिसका दर्शन कठिन है, सुख और दुःख दोनों को त्याग देता है। हे नचिकेता तुम ऐसे गृह के समान हो जिसका द्वार ब्रह्म के लिए खुला है। ब्रह्म मृत्युहीन है, अमर है। जो उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती है। ज्ञानी पुरुष न जन्म लेते है न मृत्यु को प्राप्त होते है। उनकी उत्पत्ति कही नही होती। जिसका जन्म नही होता जो अनन्त एव अमर है उस आत्मा को कोई नही मार सकता, यद्यपि शरीर को नष्ट किया जा सकता है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, महान् से भी महान् है। दूर जाते हुए भी बैठा है और एक स्थान पर लेटा हुआ ही वह सभी स्थानो मे व्याप्त है। आत्मा को पार्थिव वस्तुओं मे व्याप्त अपार्थिव तत्त्व समझकर क्षणिक प्रकृति मे स्थायी समझकर ज्ञानी अपने कष्टों से मुक्त हो सकते है। इस आत्मा को प्रवचन से, मेधा से या बहुश्रुतता से नही जाना जा सकता। जिसको वह यह ज्ञान देना चाहती है उसी को वह अपने सत्य स्वरूप का दर्शन देती है। जब तक यह आत्मा काम से मुक्त नही होती तब तक इच्छा करती है। तब तक इच्छा और कर्म के चक्र मे फसकर इस जन्म से और अगले जन्म में कर्मफल का भोग करती रहती है। परन्तु जब यह अपने सम्बन्ध मे उच्चतम सत्य का ज्ञान प्राप्त करती है जब इसे यह ज्ञान होता है कि इस विश्व की उच्चतम चेतन तत्त्व और परम ब्रह्मानद, अमर एव असीम परम आत्मा का यह अश है तब सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती है और निष्काम बुद्धि से शाश्वत सत्य का दर्शन कर अपरिमित अमृत तत्त्व को प्राप्त होती है। मनुष्य इस विश्व की उच्चतम कृति है और सुन्दरतम तत्त्वो से विरचित है। शरीर के अन्नमय कोष, जीवन के प्राणमय कोष, इच्छा और कामनाओं के मनोमय कोष, विचार और ज्ञान के ज्ञानमय कोष से मनुष्य का स्वरूप निर्मित हुआ है। जब तक वह अपने आपको इन कोषों में सीमित रखता है वह अनेक वर्तमान जीवन एव भविष्य के अनेक जीवनो की अनेक अनुभूतियो को प्राप्त करता हुआ संचरण करता रहता है। ये अनुभव उनकी स्वयं की इच्छा के अनुसार होते है और इस प्रकार उसी

के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। वह सुख, दुःख, रोग और मृत्यु के दुःखों से संतापित होता रहता है। परन्तु यदि वह इन सबसे उपरत हो जाता है और अपनी अविनाशी आत्मा को पहचान लेता है तो वहां वह आनन्दात्मक अनुभव से एकाकार हो जाता है और ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जहां कोई परिवर्तन या विचलन नहीं होता। इस स्थिति के सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि यह साधारण अनुभूतियों से परे है और इन्द्रियों का विषय नही है। इसके बारे मे यही कहा जा सकता है कि न यह है, न वह है, (नेति, नेति)। इस अनन्त सत्य स्वरूप मे किसी प्रकार का द्वन्द, अन्तर, संघर्ष नही है। यह एक विशाल समुद्र की तरह है जिसमे भौतिक जीवन इसी प्रकार घुल जाएगा जैसे समुद्र के जल मे लवण। "हे मैत्रेयी, जिस प्रकार जल में डाली हुई नमक की डली घुलकर लुप्त हो जाती है और उसको अलग से प्राप्त नही किया जा सकता परन्तु जल के जिस भाग को भी पीया जाए वह खारा लगता है उसी प्रकार यह महान् अनन्त सर्वव्यापक सत्यपूर्ण ज्ञान के रूप मे इन सम्पूर्ण भौतिक प्राणियो में प्रकट होता है, उन्ही मे लुप्त हो जाता है और तब इसका ज्ञान इन्द्रियो द्वारा नही हो पाता।" (बृहदा० २/४/१२) वास्तविक सत्य भौतिक जीवन की सभी क्रियाओं में दृष्टिगत होता है परन्तु जब यह अपने आप मे निहित हो जाता है तब इस भौतिक जीवन की क्रियाओ मे इसको देखना असम्भव हो जाता है। पूर्ण ज्ञान की अनन्तावस्था, शुद्धतम स्वरूप एव ब्रह्मानन्द ही महानतम स्थिति है।

—∞—

अध्याय ४

भारतीय दर्शन प्रणाली का सामान्य विवेचन

भारतीय दर्शन का इतिहास किस अर्थ में संभव है ?

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास जिस ढंग से लिखा गया है उस ढग से भारतीय दर्शन का इतिहास लिखना कठिन हो गया है। यूरोप मे प्रारंभिक काल में विभिन्न दार्शनिक एक युग के पश्चात् दूसरे युग में उत्पन्न हुए और उन्होने दर्शन शास्त्र में अपनी स्वतत्र विवेचना प्रस्तुत की। आधुनिक इतिहासकार की भूमिका केवल इतनी सी रह जाती है कि इन सिद्धान्तो को क्रमानुसार व्यवस्थित कर इनके पारस्परिक प्रभाव एवं समय-समय पर मतो के परिवर्तनो की विवेचनात्मक व्याख्या कर दी जाय। परन्तु भारत मे मुख्य दार्शनिक प्रणालियो का प्रादुर्भाव ऐसे युग मे हुआ जिसका इतिहास साधारणतया उपलब्ध नही है अत. ठीक-ठीक प्रकार से यह कहना कठिन है कि वे किस युग में प्रारम्भ हुए। विभिन्न प्रणालियो का अर्थात् एक दर्शन पर दूसरी दर्शन प्रणाली का कब-कब और कैसे प्रभाव पडा उसका भी उचित रूप से निरूपण नही किया जा सकता। संभवतया ये सारी शाखाएँ प्रारंभिक उपनिषदो के थोड़े समय पश्चात् से ही उद्‌भूत होने लगी थी ऐसा प्रतीत होता है।

उस काल मे गुरु एव लघु सूत्रों के द्वारा अनेक दर्शनों पर उत्तम शास्त्रो की रचना की गई परन्तु इनमे विषय-विशेष की पूर्ण व्याख्या न होकर पाठकों के लिए सूत्ररूपेण उन व्याख्याओं को अंकित किया गया था जिनसे वह दर्शनकार परिचित था। यह ग्रन्थ स्मृति लाभ हेतु ही लिखे गए थे। जिन्होंने गुरु मुख से इन विषयों पर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर ली थी, उनके लाभ हेतु संकेत रूप मे ये शास्त्र लिखे गए थे। इन सूत्रो से दर्शन की किसी प्रणाली विशेष के पूर्ण महत्व की कल्पना करना कठिन है। साथ ही यह भी पता लगाना कठिन है कि वास्तव में जिन व्याख्याओं एवं वादविवादों को इन सूत्रों ने जन्म दिया वे कहाँ तक मूल दर्शन के सिद्धान्तों पर आधारित थे। सम्भव है कि उस दर्शन के आचार्य का मत मूलतः भिन्न रहा हो। वेदान्त दर्शन के सूत्रो का उदाहरण लीजिए। इन सूत्रों का शारीरिक सूत्र अथवा बादरायण के ब्रह्म सूत्र के नाम से जाना जाता है। इनका स्वरूप ऐसा दुरूह एवं अस्पष्ट है कि इन सूत्रों

के लगभग ५-६ भाष्य मिलते है और इनमें से प्रत्येक भाष्य के संबध में कहा जाता है कि यही वास्तव में वेदान्त दर्शन है। इन सूत्रों का स्थान और महत्व इतना उच्च था कि उत्तरकाल के प्रत्येक दर्शन शास्त्री ने प्रयत्न किया कि वह अपनी दर्शन प्रणाली को इन सूत्रों के आधार पर सिद्ध कर पाये। प्रत्येक ने अपने मत की पुष्टि मे यह घोषणा की कि उनका मत ही इन सूत्रो के आधार पर सत्य मत है। साथ ही इन दर्शन प्रणालियों का ऐसा महत्व था कि प्रत्येक दार्शनिक अपने आप को इन दर्शन-प्रणालियों मे से एक का अनुयायी अवश्य मानता था। उनके शिष्य भी स्वाभाविक रूप से अपने गुरुओ से किसी दर्शन शाखा विशेष का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त करते थे। अतः उनके लिए विचार स्वातन्त्र्य सम्भव नही था। वे जिस शाखा का अध्ययन करते थे उस शाखा की मत की पुष्टि करना ही उनका कर्त्तव्य एवं धर्म था। इस प्रकार भारत मे स्वच्छद विचारकों के लिए वातावरण अनुकूल नही था। प्रत्येक शाखा के शिष्यगण यह प्रयत्न करते थे कि उनकी विशिष्ट शाखा के परम्परागत मत को वे संरक्षण दे और उसकी ही पुष्टि करने मे अपने ज्ञान और समय का उपयोग करें। अपने विषय की स्थापना और उसका प्रतिपादन करते हुए ये लोग दूसरे मतो पर प्रहार करते थे और अपने मत की रक्षा करने का प्रयत्न करते रहते थे। उदाहरण के तौर पर दर्शन की न्याय शाखा के सूत्र गौतम द्वारा रचित माने जाते है जिनको अक्षपाद के नाम से भी पुकारा जाता है। इन सूत्रो के ऊपर प्रारभिक टीका वात्स्यायन ने लिखी थी जिसको वात्स्यायन-भाष्य के नाम से पुकारते थे। इस भाष्य की बौद्ध मुनि दिङ्नाग ने कड़ी आलोचना की। इस आलोचना का उत्तर देने के लिए उद्योतकर ने इस टीका पर एक और टीका लिखी है जिसका नाम है भाष्य वार्तिक। समय की गति के साथ इस ग्रन्थ का महत्व कम हो गया और इस शाखा के गौरव को अक्षुण्ण रखने मे यह समर्थ न हो सका। तब वाचस्पति मिश्र ने द्वितीय टीका के ऊपर एक और टीका लिखी जिसका नाम वार्तिक तात्पर्य टीका है जिसमे उसने न्याय दर्शन के ऊपर जितने भी अन्य शाखाओ के द्वारा, विशेषकर बौद्धो के द्वारा, आक्षेप किए गए थे उन सबका उत्तर देने का प्रयत्न किया है। इस टीका पर, जिसे न्याय तात्पर्य टीका के नाम से पुकारते है, एक और टीका लिखी गई जिसका नाम है "न्याय तात्पर्य टीका-परिशुद्धि" जिसको महान् विद्वान् उदयन ने लिखा था। इस टीका के ऊपर एक और दूसरी टीका मिलती है जिसको "न्याय निबन्ध प्रकाश" कहते है जो सुप्रथित गङ्गेश के पुत्र वर्धमान ने लिखा था। इस पर पुन. वर्धमानेन्दु नाम की पद्मनाभ मिश्र द्वारा एक और टीका लिखी गई और इस टीका पर श्री शकर मिश्र ने न्याय तात्पर्य मंडन नाम की टीका लिखी। वात्स्यायन, वाचस्पति और उदयन बड़े प्रसिद्ध एवं महान् व्यक्तियों मे से हैं परन्तु ये लोग भी अपनी शाखा विशेष की टीका लिखकर ही सतुष्ट हो गए और उन्होने किसी नए मत एव शाखा को प्रारम्भ करना उचित नही समझा। भारत में बुद्ध के पश्चात्

हुए सबसे महान् धर्माचार्य शंकर ने भी अपने जीवन को ब्रह्म सूत्र, उपनिषद् एव भगवद् गीता की व्याख्या करने मे ही व्यतीत कर दिया।

जैसे-जैसे समय बीतता गया और दर्शन की एक प्रणाली स्थापित होती गई वैसे-वैसे प्रत्येक दर्शन शाखा को बड़ी कड़ी आलोचना एव विरोधियों का सामना करना पड़ा। इन सब आलोचना-प्रत्यालोचनाओ के लिए ये शाखायें तैयार नही थीं अतः प्रत्येक शाखा के अनुयायियो को इस बात का विशेष रूप से प्रयत्न करना पड़ा कि इन विरोधी तत्त्वो के तर्कों का उचित रूप से उत्तर दिया जाए, अपने मत की पुष्टि की जाए एव दूसरे मत का खडन किया जाय। जिस समय एक मत-विशेष प्रारम्भ मे स्थापित किया गया था और सूत्रो द्वारा वर्णित किया गया था उस समय उस शाखा के लिए कोई विशेष कठिनाई नही थी परन्तु ज्यो-ज्यो समय बीतता गया त्यों-त्यो विरोधियो का उत्तर देने के लिए अनेक ऐसी समस्याओ का निदान करना पड़ा जो यद्यपि उस विषय से सबधित थी, फिर भी प्रारभिक शाखा के समय उनका कोई स्थान विशेष नही था और उन पर कोई ध्यान नही दिया गया था। इस प्रकार प्रत्येक शाखा एक के बाद एक आने वाले टीकाकारो के कहने से अधिक परिपुष्ट होती गई और सब प्रकार के तर्कों और विरोधो का सामना करने के योग्य हो गई। सूत्रो मे वर्णित दर्शन शाखा अस्पष्ट एव नवजात शिशु के समान दुर्बल थी परन्तु १७वी शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते पूर्ण विकसित मनुष्य की भाँति परिपुष्ट हो गई है। अत. भारतीय दर्शन के क्रमिक विकास के इतिहास को लिखना कठिन है परन्तु यह आवश्यक है कि प्रत्येक शाखा का स्वतत्र रूप मे विचार किया जाए और इसके विकास को समझने का प्रयत्न किया जाय।[1] भारतीय दर्शन के इतिहास मे ऐसा सम्भव नही है कि एक विशेष दर्शन प्रणाली का एक युग विशेष के साथ ही अध्ययन किया जाए जैसे पाश्चात्य दर्शन प्रणालियो मे है क्योकि जब तक वे जीवित रहीं तब तक ही उनको महत्वपूर्ण समझा गया उसके बाद वे आलोचना का विषय रह गईं। इसके विपरीत भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा इनके अनुयायियो द्वारा इतिहास के विभिन्न कालो में अधिकाधिक पुष्ट एव परिवर्तित की जाती रही और इस विकास का इतिहास उस मत के सघर्षों का ही इतिहास है। प्रत्येक दर्शन शास्त्र के भक्त, भाष्यकार, टीकाकार आदि शास्त्रियो के द्वारा अपने-अपने मत का मण्डन और प्रतिपादन ऐसे विद्वत्तापूर्ण ढग से किया जाता रहा है कि जब तक इन सब का अध्ययन न किया जाय तब तक किसी भी दर्शन प्रणाली के ग्रन्थो का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता।

---

[1] एक दो प्रणालियों के संबध मे प्रारभिक अवस्थाओं की व्याख्या करना आसान है परन्तु इन प्रणालियो को पूर्णरूपेण समझने के लिए यह आवश्यक है कि इन शाखाओ पर उत्तरकाल मे जो विशेष व्याख्याएँ की गईं उनसे उनको सही रूप से समझा जाए।

दार्शनिक वांग्मय का विकास

यह कहना कठिन है कि प्रारभिक काल मे दार्शनिक शाखाएँ किस प्रकार उत्पन्न हुई तथा किन प्रभावो के अन्तर्गत इनका विकास हुआ। प्रारम्भ में उपनिषद् काल में दार्शनिक जिज्ञासा की भावना का प्रारम्भ हो गया था यह हम पहले ही देख चुके हैं। इस जिज्ञासा का आधार यह था कि आत्मा ही वह सत्य है जिसकी खोज करना आवश्यक है और जब तक हम इसके वास्तविक स्वरूप को नही जान पाते तब तक इतने से ही सतोष करना पड़ेगा कि इसका स्वरूप ऐसा नही है जैसा हम किसी अन्य दृश्य वस्तु का पाते है अर्थात् उसे यों समझाना पड़ेगा कि वह यह नही है। उसी को नेति नेति के रूप मे समझाया गया है। लेकिन उपनिषदो के अलावा भी और दिशाओं मे दार्शनिक खोज हो रही थी। इस प्रकार उपनिषद् काल के तुरन्त पश्चात् ही बुद्ध ने ६२ प्रकार के पाखडो या अधर्मो की गणना की थी[1] जिसका वर्णन उपनिषदों में उपलब्ध नही है। इसी काल मे जैन जिज्ञासा का भी उदय हुआ परन्तु उपनिषदो मे इसका कही प्रसग नही आया है। इस प्रकार हम यह कल्पना कर सकते है कि उप-निषदो के प्रणेता ऋषियों के अतिरिक्त भी अन्य क्षेत्रो मे विभिन्न प्रकार की दार्शनिक जिज्ञासा का उदय हो चुका था। परन्तु इसके सम्बन्ध मे प्रामाणिक वृत्त प्राप्त नही है। यह सभव है कि हिन्दू दर्शन जिन ऋषियो के द्वारा प्रतिपादित किया गया वे यद्यपि उपनिषदीय विचारधारा को मानते थे तो भी विरोधी विचारधाराओ से एवं अन्य नास्तिक सिद्धान्तों से परिचित थे। इन ऋषियो एव उनके शिष्यो की सगोष्ठियों मे नास्तिक एवं विरोधी ,विचारधाराओं के ऊपर वाद विवाद हुआ करते थे और अनेक युक्तियो से इन विरोधी सिद्धान्तो का खडन करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। यह क्रम कुछ काल तक इसी प्रकार चलता रहा जब तक कि गौतम अथवा कणाद जैसे ऋषि मनीषियों ने इन सारे वाद विवादो को एक क्रम मे व्यवस्थित कर दार्शनिक शाखाओं को मूर्त रूप नही दे दिया और युक्तिसंगत ढंग से इन्हे व्यवस्थित कर उन पर अनेक सूत्रो की रचना नही की। इन सूत्रों से दर्शन शास्त्र की विभिन्न शाखाओ का ज्ञान होता है जिनके वर्गीकरण एव क्रमबद्ध व्यवस्था का श्रेय इन यशस्वी मुनियों को है। ये सूत्र उन लोगो के लिए लिखे गए थे जो अनेक मौखिक शास्त्रार्थों में भाग ले चुके थे और सकेत मात्र मे ही इनके पूर्ण प्रसग को समझने मे समर्थ थे। इस प्रकार विरोधी पक्षों के मतो का स्थान-स्थान पर इनमे उद्धरण प्राप्त होता है और साथ ही इनसे यह भी ज्ञान होता है किस प्रकार इन विरोधी पक्षो का खडन किया जा सकता है। इस प्रकार भाष्यकार गुरु-शिष्य की अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त वाद-विवादों के अर्थ समझने मे किसी कठिनाई का अनुभव नहीं करते थे और इस प्रकार विभिन्न विचार

---

[1] ब्रह्म जाल सूत्र, दीघा १, पृ० १२ से।

धाराओं से पूर्ण रूपेण परिचित रहते थे। परन्तु उनको इन परम्परागत व्याख्याओं के ऊपर अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण रूपेण स्वतंत्रता थी। अपनी इच्छानुसार वे इन युक्तियों को अपने तर्क के द्वारा और अधिक पुष्ट कर सकते थे एवं इच्छानुसार इनमें संशोधन अथवा परिवर्तन भी कर सकते थे। यदि उनको ऐसी कठिनाई प्रतीत होती कि एक व्याख्या विशेष को किसी कारणवश यों की यों स्वीकार नहीं किया जा सकता तो भी वे उसमे इच्छानुसार कुछ परिवर्तन भी कर दिया करते थे। विपक्षी शाखाओं के मेधावी पंडितों के विरोध के कारण उन्हे ऐसे नवीन तथ्यों के ऊपर विचार करना पड़ता था जिसका उन्होने पहले कोई विचार नहीं किया होता था और इस प्रकार संपूर्ण शाखा की एकरसता को अक्षुण्ण रखने के लिए नए संशोधनों की आवश्यकता प्रतीत होती रहती थी और इसमें वे बिल्कुल नही हिचकिचाते थे। इन संशोधनों अथवा व्याख्याओ के होते हुए भी परम्परागत शास्त्रीय प्रणाली में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। क्योकि नवीन भाष्यकारो ने कभी भी मूल सिद्धान्तों का विरोध नहीं किया वरन् वे उन्हे पुष्ट करने का ही प्रयत्न करते रहे। वे इन शास्त्रो की अपने मतानुसार सुरुचिपूर्ण व्याख्या किया करते थे अथवा जिन विषयो पर प्राचीन गुरुओ ने कुछ नही कहा है उन्हीं के सम्बन्ध में नवीन युक्तियाँ प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार किसी भी दार्शनिक शाखा के विकास का अध्ययन किसी भी भाष्यकार के व्यक्तिगत विचारो के अध्ययन से नहीं किया जा सकता क्योकि ऐसा करने पर अनावश्यक पुनरावृत्ति हो जाएगी। केवल उन्ही स्थलो पर जहाँ कही नवीन विचारधारा का विकास हुआ है यह आवश्यक होगा कि प्राचीन शास्त्र मे नई युक्तियो का भाष्यकारो या भाष्यकारों के नवीन विचारों के साथ मनन किया जाए जिससे उस शाखा के दर्शन का उचित रूप से निरूपण हो सके।

विपक्षी मतों के निरतर संघर्ष के कारण भारतीय दर्शन शास्त्रियों को ऐसा अभ्यास हो गया था कि वे अपने सभी ग्रन्थो को शास्त्रार्थ खडन-मडन या पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष के रूप मे ही लिखा करते थे। लेखक यह अनुमान करता था कि जो वह कुछ कहेगा उसके सबंध मे विपक्षी मतावलबी अवश्य कोई प्रश्न उठाएँगे। प्रत्येक चरण पर या प्रत्येक स्तर पर लेखक यह कल्पना करता है कि उसके विरोध में ये प्रश्न किए जाएँगे। इन प्रश्नो की पहले से ही कल्पना कर लेखक इनका युक्ति युक्त उत्तर प्रस्तुत करते है और यह सिद्ध करते हैं कि जो शंकाएँ इस संबध में की गई हैं वे निराधार है। इस प्रकार लेखक अनेक प्रकार की शंकाओं, विवादों आदि के मनन से अपना मार्ग निश्चित करता है और घुमावदार मार्ग से अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचता है। अनेक स्थानो पर विपक्षियो की शकाओ का इतना संक्षेप मे प्रसंग दिया जाता है कि वही व्यक्ति इसको समझ सकते हैं जो विपक्षियो के मत से अवगत हैं। इन कठिनाइयों के साथ-साथ ही साधारण संस्कृत की अपेक्षा अधिकांश टीकाओं की संस्कृत शैली इतनी

कठिन एवं संक्षिप्त है, साथ ही विभिन्न दर्शन शाखाओं के पारिभाषिक शब्दों से वह इतनी दुरूह हो गई है कि अच्छे गुरु की सहायता के बिना इनको समझना असभव सा हो जाता है। इस प्रकार जिन्होंने सारे दर्शन शाखाओं का भली भांति अध्ययन नही कर लिया है वे सरलता से शाखा विशेष के विचार क्रम को नही समझ सकते। विशेषतया कोई दार्शनिक मत दूसरे मतो के प्रसगो के बिना दिए हुए स्थापित नही किया जा सकता था। अपने-अपने युग मे प्रत्येक दर्शन की विरोधी विचारधाराओ के बीच ऐसा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया कि किसी भी शाखा की न तो उपेक्षा की जा सकती है और न दूसरी शाखा एव विरोधी मतो का गहन अध्ययन किए बिना उनको समझा जा सकता है। अत यह आवश्यक है कि इन सभी दर्शनों का, एक साथ, उनके पारस्परिक पक्ष विपक्षो का ध्यान रखते हुए एकरूपता के दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाए। इस कार्य के लिए यह प्रस्तुत ग्रन्थ भूमिका का कार्य करेगा।

इन सूत्रो और इनकी टीकाओ के अतिरिक्त प्रत्येक प्रणाली के छोटे-छोटे स्वतन्त्र ग्रन्थ भी उपलब्ध होते है जो श्लोको मे लिखे गए है। इन्हे 'कारिकाओ' के नाम से पुकारा जाता है। इन कारिकाओ मे महत्वपूर्ण विषयो को काव्य रूप मे संक्षिप्त ढग से वर्णित किया गया है। इस प्रकार के एक ग्रन्थ 'साख्यकारिका' का उदाहरण दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रणाली पर भाष्य, टीकाएँ और शास्त्रार्थ आदि उपलब्ध होते है जिन्हे पद्यो मे लिखा गया है और जिनको वार्तिक के नाम से पुकारा जाता है। कुमारिल का 'श्लोक-वार्तिक' अथवा सुरेश्वर का 'वार्तिक' इसके उदाहरण के रूप मे देखे जा सकते है। इन सब वार्तिको और कारिकाओ के ऊपर इनको स्पष्ट करने के लिए टीकाएँ उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त इन शाखाओ के ऊपर विशिष्ट शास्त्रीय ग्रन्थ भी मिलते है जिनको गद्य मे लिखा गया है जिनमे लेखक ने किसी विशेष सूत्र का अनुसरण किया है अथवा स्वतन्त्र रूप से अपने विचार प्रकट किए है। पहले प्रकार के उदाहरण के रूप मे जयन्त की 'न्याय मजरी' का उल्लेख किया जा सकता है और दूसरे प्रकार के उदाहरण मे प्रशस्तपाद भाष्य, मधुसूदन सरस्वती द्वारा रचित अद्वैत सिद्धि अथवा धर्मराजाध्वरीन्द्र द्वारा लिखित वेदान्त परिभाषा का उल्लेख किया जा सकता है। ऐसे शास्त्रों मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण वे ग्रन्थ है जिनमे लेखकों ने उस मत की स्थापना की जिसका वे अनुसरण करते हैं। इन शास्त्रार्थ ग्रन्थो मे लेखको ने अपनी उच्चतम मानसिक शक्तियो एव आकाट्य युक्तियो का परिचय दिया है। इन ग्रन्थो पर भी उनको सरल करने के लिए टीकाएँ उपलब्ध है। लेखक के मतानुसार भारतीय दार्शनिक साहित्य के विकास का प्रारभ ईसा से ५०० वर्ष पूर्व हो गया था जबकि बुद्ध मत का उदय हुआ और १७वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे यह युग समाप्त हो गया। यद्यपि आधुनिक युग मे भी कई छोटे-छोटे ग्रन्थ इन पर प्रकाशित होते रहते है।

भारतीय दर्शन शास्त्र की प्रणालियाँ

हिन्दू मतानुसार दर्शन की प्रणालियो को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जाता है अर्थात् नास्तिक दर्शन और आस्तिक दर्शन। नास्तिकवादी विचारधारा के अनुसार वेद, साधारण ग्रन्थ के रूप मे माने जाते हैं, स्वतः प्रमाण नही माने जाते और यह आवश्यक नही समझा जाता कि सिद्धान्तो की पुष्टि के लिए केवल वेदो को ही आधार माना जाय। ये नास्तिक दर्शन मुख्यतया ३ हैं—बौद्ध, जैन एव चार्वाक। आस्तिक दर्शन जो सनातन धारा के अनुयायी है षडंग के रूप में प्रचलित है एव ये निम्न ६ शाखाओ मे विभाजित है, साख्य, योग, वेदान्त, मीमासा, न्याय एवं वैशेषिक ये साधारण-तथा षड् दर्शन[1] के नाम से प्रचलित है।

साख्य के प्रणेता पुराण प्रसिद्ध कपिलमुनि माने जाते है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत इस विषय पर लिखे आदि ग्रन्थ विलुप्त हो गए है। पतंजलि ऋषि के द्वारा योग दर्शन लिखा गया है ऐसी मान्यता है और इस दर्शन के आदि सूत्रो को पातजल योग सूत्र के नाम से पुकारा जाता है। साधारणतया इन दोनो दर्शनो मे आत्मा प्रकृति सृष्टि रचना एवं अन्तिम लक्ष्य मोक्षादि के सबध मे एकसी विचारधाराएँ पाई जाती है। इन दोनो में केवल इतना अन्तर है कि यौगिक प्रणाली मे ईश्वर को

---

[1] 'दर्शन' शब्द सर्वप्रथम दार्शनिक पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे कणाद ऋषि द्वारा रचित वैशेषिक सूत्र मे पाया जाता है (देखिए अध्याय ६, द्वितीय खड १३वा सूत्र)। यह ग्रन्थ बौद्ध काल के पूर्व लिखा गया था बौद्ध पिटको ने (४०० ई० पू०) विरोधी विचारो को 'दिट्ठि' सज्ञा से पुकारा है (इसका सस्कृत दृष्टि है। दोनो मूल धातु (दृश्) है। इसी से दर्शन शब्द बना है)। हरिभद्र (५वी शताब्दी) दर्शन शब्द का प्रयोग दार्शनिक प्रणाली के अर्थ मे करते है। "सर्व-दर्शन वाच्योऽर्थ" (षड्दर्शन समुच्चय भाग १)। दसवी शताब्दी के अन्त मे रत्न कीर्ति ने भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। "यदि नाम दर्शने दर्शने नाना प्रकार सत्व लक्षणम् उत्कामस्ति" (क्षणभगसिद्धि "सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स" पृ० २०) माधव ने सन् १३३१ मे अपने दर्शन प्रणालियो के महान् समुच्चय ग्रन्थ का नाम "सर्व दर्शन सग्रह" रखा था। दूसरी प्रणालियो के विचारो का उद्धरण देते हुए 'मत' शब्द का भी अनेक बार प्रयोग किया गया है। परन्तु दार्शनिकों का बोध कराने के लिए किसी विशेष शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई देता। बौद्ध लोग अन्य मतावलबियो को "तैर्थिक" नाम से पुकारा करते थे। सिद्ध एवं ज्ञानी शब्द आधुनिक दार्शनिक शब्द के अर्थों मे प्रयुक्त नही होते थे। इनका अर्थ उस समय ऋषि एव परमहस (जिसने सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों) के अर्थ में लिया जाता था।

मान्यता दी जाती है (आत्मा के अलावा ईश्वर को भी मान्यता दी जाती है) और कुछ रहस्यमय क्रियाओ के ऊपर विशेष बल दिया जाता है जिन्हें यौगिक क्रियाओं के नाम से पुकारा जाता है। ऐसी मान्यता है कि योग द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है दूसरी ओर सांख्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को नही माना गया है। वहाँ ईश्वर के दर्शन को कोई महत्व नही दिया जाता। श्रद्धा पूर्वक सत्ता को ग्रहण करने एव उत्तम संस्कारो को जीवन मे अपनाने मात्र से वहाँ मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। ऐसा सभव है कि साख्य दर्शन जो कपिल द्वारा प्रणीत एवं योग दर्शन जो पतजलि द्वारा प्रणीत माना जाता है, दोनो प्रारम्भ मे एक ही रहे हो अर्थात् दोनो उस एक ही साख्य दर्शन की दो भिन्न-भिन्न धाराएँ हो, जिसका प्रसग हमे यत्र तत्र मिलता है। ये दोनो दर्शन यद्यपि साधारणतया अलग-अलग माने जाते है परन्तु वास्तविक रूप मे इन्हे साख्य प्रणाली की ही दो भिन्न-भिन्न धाराओ के रूप मे मानना चाहिए। हम इनमे से एक को कपिण साख्य और दूसरे को पतजलि साख्य के नाम से पुकार सकते है।

पूर्व मीमासा (मीमासा शब्द मन धातु से बना है जिसका अर्थ है विचार करना—अर्थात् तर्क संगत विचार) को हम वास्तविक अर्थों मे दार्शनिक प्रणाली के रूप मे मान्यता नही दे सकते। यह वेद शास्त्रो की यज्ञादि क्रियाओ को समझने के लिए कुछ सिद्धान्तो का केवल क्रमबद्ध रूप से सग्रह है जिससे वैदिक मत्रो का अर्थ सुलभ हो जाए। यज्ञादि क्रियाओ के लिए मत्रोचारण के सबध मे अनेक बार शब्दो के वास्तविक सबध और वाक्यों मे उनकी स्थिति अथवा महत्व के ऊपर यज्ञ कर्ताओ मे विवाद हो जाया करता था। वैदिक मत्रो के सबध मे अनेक बार वाक्य खडो के अर्थों के सबध मे अथवा उनके मत्र रूप के प्रयोग आदि की दृष्टि से भिन्न-भिन्न मत विवाद का कारण बन जाते थे। अत मीमासा ने कुछ ऐसे सिद्धान्तो की स्थापना की जिनके द्वारा इन सब कठिनाइयो का सम्यक् फल प्राप्त हो सके। इन सिद्धान्तो की रचनाओ के पूर्व इन मीमासाओं के अन्तर्गत आत्मा, प्रकृति, तर्क, ऐन्द्रिय ज्ञान एव वेद शास्त्रो की मान्यता आदि पर विचार विमर्श किया गया है क्योकि वेद शास्त्रों के अनुसार यज्ञादि कर्म करने के पहले यह आवश्यक है कि सृष्टि क्रम और उसमे मनुष्य के जीवन का महत्व, वैदिक शास्त्र का मनुष्य जीवन आदि से सम्बन्ध के बारे मे विशिष्ट मान्यताओ को भली भाँति समझ लिया जाए। यद्यपि मीमासा मे सृष्टि, जीवन आदि से संबद्ध ये विचार विमर्श गौण स्थान रखते हैं परन्तु मन्त्र शास्त्र और उनके मनुष्यों के लिए व्यावहारिक लाभ के महत्व को स्थापित करने की दृष्टि से सक्षेप मे तत् सम्बन्धी दर्शन का थोडा सा ज्ञान कराया गया है। अत. मीमासा को इस सक्षिप्त विचार-विमर्श की दृष्टि से दर्शन के रूप मे पुकारा जा सकता है। वैदिक शब्दों एवं वाक्य खडों के निर्वाचन के लिए मीमांसा के सिद्धातो की आज भी उतनी ही मान्यता है जितनी उस समय थी। मीमासा सूत्र जैमिनी ऋषि द्वारा लिखे हुए माने जाते है और शबर ने इस मीमासा सूत्र पर एक

भाष्य लिखा है। मीमासा साहित्य मे जैमिनी और शबर के पश्चात् कुमारिल भट्ट एवं उसके शिष्य प्रभाकर का नाम प्रसिद्ध है जिसने अपने गुरु के मत की ऐसी कठिन आलोचना की है कि कुमारिल भट्ट अपने शिष्य को व्यग्य में गुरु के नाम से पुकारा करते थे। आज भी प्रभाकर के मत को गुरु मत के रूप मे पुकारा जाता है और कुमारिल भट्ट के मत को भाट्ट मत के नाम से जाना जाता है।

वेदान्त सूत्र जिसे उत्तर मीमासा भी कहते हैं बादरायण द्वारा लिखा गया है। इसको ब्रह्म सूत्र के नाम से भी पुकारते है और यह वेदान्त के ऊपर उपलब्ध प्रथम अधिकृत ग्रन्थ है। वेदान्त शब्द का अर्थ है वेद का अन्त जिससे उपनिषद् और वेदान्त सूत्र अभिहित किए जाते है। इस प्रकार उपनिषदो के उपदेशो का सक्षिप्त वर्णन इसमे मिलता है। यह ग्रन्थ चार अध्यायो में विभाजित है और इन अध्यायो मे से प्रत्येक के चार पाद है। इन ग्रन्थो के प्रथम चार सूत्र चतु सूत्री के नाम से जाने जाते हैं—(१) ब्रह्म के सबध मे किस प्रकार जिज्ञासा की जाय (२) जन्म मृत्यु का स्रोत कौन है ? (३) वेद ईश्वरीय ज्ञान है और (४) उपनिषदो के सम्यक् प्रमाण से यह जाना जाता है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में वेदान्त मत की स्थापना है और विरोधी शाखाओ द्वारा किए गए आक्षेपो का उत्तर है। दूसरे पाद में अन्य शाखाओं के मतों का खडन है। इस पुस्तक के अन्य अध्यायों मे उपनिषद् शास्त्रों की विभिन्न सदर्भों की सुन्दर व्याख्या है, ऐसे स्थलो की जिनके सबध में सदिग्ध मत प्रकट किया जाता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का वास्तविक दर्शन सबंधी ज्ञान प्रथम चार सूत्र एव दूसरे अध्याय के प्रथम व द्वितीय पाद से ही प्राप्त होता है। दूसरे भागो मे केवल उपनिषदीय

---

[1] इस सम्बन्ध मे ऐसी कथा है कि एक बार कुमारिल एक सस्कृत वाक्य का अर्थ ठीक रूप से नही समझ सके। यह वाक्य है : "अत्र तुनोक्तम् तत्रापि नोक्तम् इति पौन सुक्तम्" (अत दो बार कहा गया)। तुनोक्तम् पद के दो संधि-विच्छेद हो सकते है न+उक्तम् (भी नही कहा गया) दूसरा सधि विच्छेद तुना+उक्तम् (यहाँ तु के द्वारा कहा गया) और दूसरे वाक्य खड 'तत्रापिनोक्तम्' के दो सधि विच्छेद हो सकते है। तत्र+अपि न+उक्तम् (वहाँ भी नहीं कहा गया) तत्र+अपिना+उक्तम् (वहाँ अपि के द्वारा ऐसा कहा गया है)। पहले संधि-विच्छेद के प्रसंग के प्रयोग से इस वाक्य का अर्थ होगा यहाँ भी नही कहा गया और वहाँ भी नही कहा गया। इसलिए दो बार कहा गया है। इस अर्थ में कुमारिल भट्ट कठिनाई मे पड गए तब प्रभाकर ने इससे सधि विच्छेद को लेकर उनको यह अर्थ समझाया कि यहाँ पर 'तु' शब्द से समझाया गया है और वहाँ पर 'अपि' शब्द से। अतः इसका दो बार सकेत आया है। कुमारिल इस घटना से अति प्रसन्न हुए और अपने शिष्य को गुरु की उपाधि से अलंकृत किया।

टीकाएँ एवं भाष्य हैं। यद्यपि इन मार्गों मे वेदान्त प्रणाली है किन्तु बहुत सी धार्मिक व्याख्याएँ और कल्पनाएँ भी मिलती हैं। ब्रह्म सूत्र की प्रथम टीका सम्भवतः बौधायन ने लिखी थी परन्तु अब यह उपलब्ध नही है। सबसे प्रथम अधिकृत टीका शंकराचार्य के द्वारा लिखी हुई उपलब्ध होती है। ब्रह्म सूत्र की व्याख्या, टीका एवं अन्य ग्रन्थ जो तत्पश्चात् शकराचार्य ने लिखे थे वही साधारणतया वेदान्त दर्शन के रूप मे माने जाते हैं। यद्यपि वास्तविक रूप से शकराचार्य के दर्शन को वेदान्त दर्शन की विशुद्धाद्वैत शाखा के रूप मे मानना चाहिए। क्योंकि यह वेदान्त दर्शन का वह अग है जो केवल एक ब्रह्म की सत्ता मे विश्वास करता है जो ब्रह्मेतर किसी को सत्य मानकर नहीं चलता। द्वैतवाद दार्शनिक मतों की विभिन्न धाराएँ जिनके प्रतिनिधि वैष्णव, शैव, रामायत इत्यादि थे वे भी ब्रह्म सूत्र के अनुसार अपने मत की पुष्टि करते है। परन्तु वे आदि सूत्रो से द्वैतवाद की उत्पत्ति मानते हुए अपने मत की स्थापना करते है। इस प्रकार द्वैतवादी विद्वान् जैसे रामानुज, वल्लभ, मध्व, श्रीकठ, बलदेव आदि अपने ढग से ब्रह्म सूत्र की स्वतत्र टीकाएँ लिखते हुए यह सिद्ध करते है कि उपनिषदों के दर्शन के हिसाब से जिसे ब्रह्म सूत्र मे सार रूप मे वर्णित किया गया है उनके मत की पुष्टि मिलती है। इन विद्वानो ने अपने मतानुसार ही ब्रह्म सूत्र की टीकाएँ और भाष्य लिखे है। ये टीकाएँ और भाष्य शंकर से कई स्थानो पर भिन्न मत रखते है और अनेक स्थल पर शकराचार्य की टीका की कडी आलोचना करते हुए उनके मत का खंडन करते है। इन विद्वानो के द्वारा प्रतिपादित मत भी वेदान्त दर्शन के रूप मे जाने जाते जाते है क्योकि इनका यह दावा रहता है कि इनके द्वारा लिखे गए भाष्य ही ब्रह्म सूत्र अथवा उपनिषदो के ज्ञान को सही रूप से प्रकट करते है। इन दर्शन प्रणालियो मे रामानुज द्वारा रचित दर्शन शाखा विशेष महत्व रखती है।

न्याय सूत्र गौतम ऋषि द्वारा रचित माना गया है जिनको अक्षपाद भी कहते है। कणाद ऋषि ने वैशेषिक सूत्र की रचना की थी। उनको उलूक नाम से भी सबोधित किया जाता है। इन दोनो सूत्रो मे वास्तव मे एक सा ही दर्शन पाया जाता है। आगे चल कर इन दोनो सूत्रो मे बहुत साधारण सा अन्तर दृष्टिगोचर होता है। जहाँ तक इन सूत्रो का संबध न्याय सूत्र से है, ये तर्क शास्त्र के नियमों पर विशेष बल देते है, जबकि वैशेपिक सूत्र अधिकाश रूप मे भौतिकवाद एव भौतिक शास्त्र की व्याख्या करते है। इन षड् दर्शनो के अतिरिक्त तत्रो के भी अपने दर्शन हुआ करते थे किन्तु उन्हें हम एक प्रकार से वेदान्त और साख्य दर्शनो की उपशाखाओ के रूप मे कह सकते है यद्यपि तत्र दर्शन का अपना स्वतत्र ज्ञान भी ध्यान देने योग्य है।

विभिन्न दर्शनों में समान धारणायें

(१) कर्मवाद :

इन सभी दर्शनों मे विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि चार्वाक के दर्शन को

छोड़कर ये सब आधारभूत सिद्धान्तों पर एक सा मत रखते हैं। भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि यह केवल मानसिक चमत्कार और उत्तेजन की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न नहीं हुआ। इस पद्धति से जो विचारधाराएँ उत्पन्न होती है वे अधिकांश अस्पष्ट कल्पनाओ के द्वारा अमूर्त भावनाओं को जन्म देती है जिनकी पृष्ठ भूमि का कोई आधार नही होता। परन्तु भारतीय दर्शन के मूल मे जीवन के धार्मिक लक्ष्य की प्राप्ति एव सत्य की खोज की उत्कट अभिलाषा सदैव से रही है। यह आश्चर्य की बात है कि विभिन्न मत और प्रणालियो मे एक सा ही लक्ष्य एव प्रतिपादन का ढग पाया जाता है। उनके मतो की विभिन्नता होने के पश्चात् भी जो जीवन का अन्तिम लक्ष्य था उस विषय मे सभी दर्शन प्रणालियाँ एक मत थीं। इस स्थान पर इनमें से कुछ विषयों पर विचार विमर्श रोचक सिद्ध होगा।

इनमे सबसे प्रथम कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ले सकते है। सभी भारतीय दर्शन इस बात पर एक मत है कि मनुष्य या व्यक्ति जो कर्म करता है उस कर्म का फल सुख अथवा दु:ख कर्म के क्रमश: शुभ एव अशुभ होने के फलस्वरूप मनुष्य को प्राप्त होता है। जब इन कर्मों का फल आधुनिक जीवन मे प्राप्त नही किया जा सकता अथवा मनुष्य योनि मे नही प्राप्त किया जा सकता तब उसे मनुष्य योनि मे अथवा और किसी योनि मे उस भोग को पूरा करने के लिए जन्म लेना पड़ता है।

यह वैदिक विश्वास कि सपूर्ण सस्कारों के साथ यज्ञ में शुद्ध उच्चारण से किए हुए मत्र पाठ मे जो वेद विहित ढग से किया जाता है और जिसमे किसी प्रकार की त्रुटि नही होती, तत्काल मनोवाछित फल की प्राप्ति होती है, संभवत. कर्मवाद का प्रारंभिक स्वरूप होना चाहिए। यह विश्वास अन्तर्मन की इस धारणा पर आधारित है कि कुछ रहस्यमय अथवा धार्मिक क्रियाएँ ऐसी है जो किसी निकट भविष्य मे ऐसा फल दे सकती है जो साधारण भौतिक कार्य-कारण सिद्धान्त की परिधि से परे है अर्थात् साधारण ज्ञान से यह सम्भव नही है कि इन धार्मिक कृतियो के द्वारा किए हुए कर्म फल को सरलता से जाना जा सके। यज्ञ को सम्पूर्ण करने के पश्चात् उस कर्म से ऐसे रहस्यमय गुण की प्राप्ति होती है जिसे अदृष्ट या अपूर्व कहते है, जिसके द्वारा मनोवाछित फल की रहस्यमय ढग से पूर्ति हो जाती है; यद्यपि इस अपूर्व अथवा अदृष्ट द्वारा फल साधन किस प्रकार होता है इसका जानना कठिन है। सहिताओं मे ऐसा विचार भी आता है कि जो इस लोक मे दुष्ट कर्म करते है वे दूसरे लोको मे अपने पाप का फल भोगते है और जो शुभ कर्म करते है वे पार्थिव व अपार्थिव आनन्द का सुख भोग करते है। यह भावना सम्भवत. 'ऋत' की कल्पना से नि.सृत है जिसका अर्थ है कि इस विश्व मे जो क्रम स्थापित है वह कभी भग नहीं होता। इस प्रकार सभवत: इन तत्वो से कर्म सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ जिसका वर्णन हम उपनिषदो में पूर्ण रूपेण पाते हैं परन्तु जिस पर वहाँ बहुत अधिक बल नही दिया गया है वहाँ यह भी कथन

पाया जाता है कि मनुष्य अपने शुभ अथवा अशुभ कर्मों के अनुसार अच्छी व बुरी योनियो मे उत्पन्न होते है ।

कर्म सिद्धान्त के कुछ अन्य मुख्य तत्व इस प्रकार है–आस्तिक दर्शन के अनुसार मर्मवाद में कर्म करने के कुछ समय पश्चात् अदृष्ट प्राप्त होता है। चाहे उस कर्म का सुख हो अथवा दुःख। ये कर्म फल एकत्रित होते जाते हैं और इस प्रकार कर्म करने वाले के अन्य जन्म मे सुख और दुःख भोग का विधान निश्चित करते है। केवल उन कर्मों के फल ही जो अत्यन्त पुण्यमय अथवा अत्यन्त दुष्टतापूर्ण होते है कभी-कभी इस जन्म मे प्राप्त होते है। दूसरे जन्म मे जो योनि प्राप्त होती है वह इस जीवन के शुभ अथवा अशुभ कर्मानुसार होती है जिसके एकत्रित फलानुसार उत्तम या निकृष्ट योनि प्राप्त होती है और उस योनि मे भी सुख व दुःख.पूर्व जन्म के कर्मानुसार मिलता है। यदि उसके कर्म ऐसे है जिसका भोग प्राप्त करने के लिए बकरे का जन्म लेना पडेगा तो मनुष्य मरने के पश्चात् बकरे की योनि मे जन्म लेगा। जिस प्रकार वह प्रकृति का प्रभाव अनादि है उसी प्रकार मनुष्य के जन्म और मरण का प्रभाव भी अनादि है और यह भी नही कहा जा सकता कि मनुष्य ने किस समय से कर्म प्रारभ किए। मनुष्य ने अनेक योनियो मे अनेक बार जन्म लिया है और उसमे प्रत्येक जीवन के सस्कार प्रसुप्ता मे विद्यमान है जब वह किसी भी योनि मे मनुष्य अथवा पशु की भाँति जन्म लेता है तब ये अन्यर्धाराएं वातावरण के अनुसार सस्कार के रूप मे स्थिर हो उठती हैं जिनको पारिभाषिक भाषा मे वासना कहा जा सकता है। इन वासनाओ के अनुसार मनुष्य कर्म करते हुए आनन्दमय अथवा दु.खमय अनुभूतियो के बीच मे जीवन व्यतीत करना है। जीवन की अवधि भी पूर्व जन्म मे किए हुए कार्यो के द्वारा और भोग के अनुरूप अवधि के अनुसार सुनिश्चित होती है जिसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता। किए हुए कर्म जब परिपक्व हो जाते है तो उनका फल एवं तत्सम्बन्धी अनुभूतियाँ भोगनी ही पडती है परन्तु यदि कर्म अपूर्ण है एव फल देने के लिए परिपक्व नही हुए, तब ऐसे कर्म सत्य ज्ञान से नष्ट हो जाते है और इनका फल भोगना नही पडता। परन्तु शुभ कर्म करने वाले मुक्त पुरुष भी सुख व दुःख के बन्धन से छुटकारा नही पा सकते जो उनके पूर्व जन्म मे अथवा अदृष्ट मे लिखे हुए रहते है। कर्म चार प्रकार के है। (१) श्वेत अथवा शुक्ल अर्थात् उत्तम कर्म (२) भ्रष्ट अथवा दुष्ट कर्म (३) शुक्ल-कृष्ण अर्थात् कुछ धार्मिक एव कुछ अधार्मिक कृत्य (४) अशुक्ल अकृष्ण ऐसे कर्म जिनमे फल की कोई कामना नही है, जहाँ सासारिक कामनाओ का परित्याग कर दिया गया है अर्थात् निष्काम कर्म। जब कोई मनुष्य संयम द्वारा अपने जीवन को ऐसा बना लेता है जिसमे किसी प्रकार की वासना अथवा कामना नही है तब वह निष्काम कर्म करता हुआ कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। उस स्थिति मे उसे केवल पूर्व जन्म के कर्मों का ही फल भोगना पड़ता है। अगर इस अवधि में वह सत्य ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तो इसके साथ ही पूर्व-कर्म-फल-भोग भी नष्ट हो जाता है अर्थात् पहले जन्म मे किए

हुए कर्मों का फल उसे इसलिए प्राप्त नहीं होता कि शुभ कर्मों के द्वारा वो इनके भोग बंधन से छुटकारा पा गया है। इस प्रकार, क्योंकि उसके नवीन कर्म और अशुक्ल और अकृष्ट कर्म हैं अतः उन कर्मों का कोई फल नहीं होता और शनैः शनैः वह पूर्व जन्म मे किए हुए कर्मों के फलों का भोग पूरा कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

जैन लोगों का मत है कि मनुष्य के मन, शरीर एवं वाणी के क्रियाकलापो से एक सूक्ष्म तत्व की उत्पत्ति होती है जिसको कर्म नाम से पुकारा जा सकता है। मनुष्य की वासनाएँ एक ऐसे चुम्बकीय तत्व के समान है जो इस कर्म द्रव्य को आकर्षित करती हैं और यह कर्मद्रव्य इस प्रकार आत्मा मे प्रवेश कर वहां चिपक जाता है, स्थापित हो जाता है। यह सूक्ष्म तत्व जो आत्मा को आच्छादित कर लेता है कर्म शरीर कहा जाता है। आत्मा को आविष्टित किए हुए यह कर्मद्रव्य परिपक्व होने लगता है और इसका ह्रास और परिवृद्धि मनुष्य के लिए नियत फलों के सुख अथवा दुःखमय भोग के अनुसार होती रहती है। जहां कर्मद्रव्य का व्यय होता रहता है वहां अन्य कर्मों के द्वारा सूक्ष्म तत्व पुन. एकत्रित भी होता जाता है। इस प्रकार यह कर्म तत्व मनुष्य को सुख व दु ख प्राप्ति की क्रिया में सदैव संलग्न रखता है। यह कर्मद्रव्य आत्मा के के साथ संलग्न होकर एक प्रकार के वर्ण की उत्पत्ति करता है जिसको लेश्या कहते हैं। लेश्या श्वेत या कृष्ण आदि वर्ण की हो सकती है। ये आत्मा के स्वरूप और चरित्र का निर्धारण करती है। यौगिक दर्शन के शुक्ल व कृष्ण कर्मों के वर्गीकरण का आधार सम्भवत. यह जैन दृष्टिकोण ही रहा होगा। जब मनुष्य वासनाओ से मुक्त हो जाता है और जब धर्मानुसार आचरण मे प्रवृत्त होता है तब उसके कर्मों से जिस कर्म की उत्पत्ति होती है वह क्षणिक होता है और तत्काल नष्ट हो जाता है। ऐसे मनुष्य जो कर्म पहले संचित कर चुके है उनके फलभोग की सीमाएँ पूर्व निर्धारित रहती है और उनका फल अवश्य मिलता है तत्पश्चात् अर्थात् फल भोग के पश्चात् ही वह कर्म नष्ट होता है। परन्तु जब ध्यान एवं (पाँच व्रतो) के कठिन पालन से नए कर्म की सृष्टि नहीं होती तब पूर्व कर्म का ह्रास होकर मनुष्य का भौतिक अस्तित्व बहुत शीघ्रता से समाप्त होने लगता है। तब ध्यान की अन्तिम अवस्था मे सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं, आत्मा शरीर को छोड देती है और ब्रह्माड के ऊपर एक उच्च लोक मे प्रवेश करती है जहाँ पर ऐसी आत्माएँ शाश्वत रूप मे निवास करती हैं।

बौद्ध-दर्शन मे कर्म-सिद्धान्त के कुछ नवीन तत्व पाए जाते है परन्तु वे उनके दर्शन से ही विशेष रूप से संबद्ध है अतः वे उस समय स्पष्ट किए जाएँगे जबकि बौद्ध दर्शन

(२) मुक्ति का सिद्धान्त :

भारतीय दर्शन प्रणालियां विभिन्न मनुष्यों के सुख व दुःख के भोग के अन्तर को स्वीकार करती हैं और साथ यह भी स्वीकार करती हैं कि जन्म और पुनर्जन्म का क्रम

आदि काल से मनुष्य के कर्म के आधार पर चला आ रहा है। सुख व दुःख का भोग जीवन मे कर्मानुसार मिलता है और इसी प्रकार जन्म और पुनर्जन्म की व्यवस्था मनुष्य के किए हुए कर्म के आधार पर अवस्थित है। परन्तु साथ ही जन्म, मृत्यु एवं पुनर्जन्म का यह क्रम यदि कभी प्रारम्भ हुआ तो इसका कही अन्त भी होना चाहिए। यह अन्त किसी सुदूर काल मे अथवा किसी सुदूर राज्य मे न होकर अपने ही भीतर कहीं होना आवश्यक है। कर्म के द्वारा हम इस अनन्त जन्म मरण के चक्र मे फँसते हैं और यदि हम सारे सन्तापो को विचारो और कामनाओ का परित्याग कर दे जिनके द्वारा कार्य की प्रेरणा होती है तो हमारी निष्काम आत्मा सुख व दुःख दोनों से मुक्त हो जाएगी। न यह कोई कर्म करेगी न पुनर्जन्म होगा। सासारिक जीवन के द्वन्द्वो मे फँसकर जब भारतीय लोग इससे ऊब गए तब उन्होने किसी शान्तिमय लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा की और इस शांति को उस शांति का मूल आधार उन्होने अपनी मूल आत्मा में देखा। मनुष्य का यह विश्वास है कि किसी स्तर पर ऐसा सम्भव हो सकता है कि आत्मा कर्म और बन्धन की इच्छा से मुक्त हो जाए। इस विचार ने इस भावना को जन्म दिया कि सासारिक द्वन्द्व काल्पनिक है बाह्य है एव माया के कारण है। आत्मा अपने वास्तविक रूप मे साधारण जीवन की अपवित्रता से प्रभावित नही होती लेकिन हम अपने अज्ञान और वासनाओ के कारण जो कि हमे पूर्व जन्मों के कर्म सस्कारो के फलस्वरूप मिली होती है आत्मा को इन सब तत्वों से अशुद्ध हुई मानने लगते है। अनन्त जन्म एव पुनर्जन्म का चक्र जो कर्म के द्वारा संचालित होता है उसका एक मात्र लक्ष्य यह है कि हम आत्मा के विशुद्ध परात्पर रूप को पहचाने। बौद्धो ने आत्मा के अस्तित्व को नही माना है परन्तु कर्म का अन्तिम लक्ष्य कर्म के बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करना है ऐसा स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध मे इस पुस्तक के अगले पृष्ठों पर विमर्श किया जाएगा।

(३) आत्मा का सिद्धान्त :

बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय शाखाएँ एक शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार करती है जिसको अपने अलग-अलग नामो से पुकारते है। आत्मा, पुरुष और जीव की सज्ञा देते है। इस आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे अवश्य अनेक मतभेद हैं। न्याय-दर्शन आत्मा को निर्गुण एव निराकार, वर्णनातीत एव अनिर्धारित स्वरूपवती स्वीकार करता है और साख्य दर्शन इस आत्मा को विशुद्ध चेतना के रूप मे मानता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार यह वह आधारभूत तत्व है जो पूर्ण है चेतना अर्थात् चित्पूर्णानन्द अर्थात् आनन्द एव पूर्ण सत्य है। वह इसे विशुद्ध अस्तित्व अर्थात् सत् शालिनी के रूप मे वर्णन करता है लेकिन इस बात पर सब एक मत हैं कि आत्मा विशुद्ध है और स्वयं मे अविकल्प है अर्थात् उसमे किसी प्रकार की विकृति नही होती। वासना अथवा कर्म की विकृतियाँ आत्मा के वास्तविक रूप से परे है। जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति

के लिए यह आवश्यक है कि जीवन की सारी विकृतियों और संस्कारो को दूर कर परम शुद्ध निर्मल आत्मा के रूप को हृदयगम किया जाए और बाह्य सासारिक माया से उपरत हो जाए।

संसार की ओर निराशावादी भाव और अन्त में आशावादी श्रद्धा

यद्यपि सभी दर्शन प्रणालियो मे प्रमुख रूप से ऐसा नही कहा गया है कि यह ससार दुःखमय है परन्तु अधिकाशत. ससार के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है। साख्य, योग एवं बौद्ध दर्शन मे सासारिक दुःखो पर विशेष रूप से बल दिया गया है। सुख व दुःखो का अनन्त बन्धन साधारणतया छूटने वाला नही है परन्तु वह हमे कर्म, पुनर्जन्म एव तत्स्वरूप दुःखो के चक्र मे फसाता है, ऐसी मान्यता थी। जो कुछ सुख के रूप मे हमारे सामने आता है वह सब दुःख का ही हेतु है। अर्थात् कोई भी सासारिक सुख स्थायी आनन्द नही दे सकता। सुख की प्राप्ति मे भी दुःख है और सुख के त्याग मे भी दुःख होता है क्योंकि इस आनन्द की कामना की पूर्ति के लिए मनुष्य को कष्ट उठाना पडता है और यह क्षणिक आनन्द अन्त मे मनुष्य को दुःख ही देता है अर्थात् सासारिक आनन्द क्षणिक एव दुःखदायी है। तब यह निश्चित है कि सुख भी दुःख के साथ इतने अधिक सलग्न होते है, अत सुख स्वय दुःख का ही कारण है। हम प्रमादवश इन क्षणिक सुखो को खोजते है और उसका अन्त दुःख मे होता है। ससार की हमारी जितनी अनुभूतियाँ है वे दुःखमय है और उनसे और अधिक दुःख उत्पन्न होता है। विश्व की सारी क्रियाएँ दुःखमय है। साधारण मनुष्यों को ही यह क्षणिक सुख आनन्द-मय प्रतीत होता है। विद्वान् योगी पुरुषो को उनके निर्मल दृष्टिकोणों के कारण वह कष्टमय दिखाई देता है। मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ ही सासारिक अनु-भूतियो के दुःखो का ज्ञान भी बढता जाता है। योगी लोग नेत्र की पुतली के समान है। जिस प्रकार नेत्र मे थोडी-सी भी किरकिराहट से अपार कष्ट होता है उसी प्रकार योगी लोग भी थोडे-से सासारिक बन्धन से भी दुःखी हो जाते है। सासारिक दुःखों का कोई निदान नही है क्योंकि एक दुःख के पश्चात् दूसरा दुःख चलता रहता है। यह आलस्य से अथवा आत्म हत्या से दूर नहीं हो सकता, क्योकि मनुष्य का स्वभाव इसको कर्म करने के लिए प्रेरित करता है और आत्म हत्या से मनुष्य के सुख-दुःख का चक्र समाप्त नही होता क्योकि आत्म हत्या के पश्चात् दुःख भोग पूर्ण करने के लिए पुन. जन्म लेना पडता है। इस बन्धन से मुक्त होने का एक ही मार्ग है और वह यह है कि सच्चे ज्ञान को प्राप्त कर परमहस पद प्राप्त किया जाए। हमारे अज्ञान के कारण ही हम सुख व दुःख की अनुभूति करते है। हमारे मन की विकृति से कामनाओ और वासनाओ को जन्म देते है जिससे हम ऐसे कर्म करते है जो हमे दुःख की ओर ले जाते है। जीवन मे उच्चतम नैतिक उत्थान कर मनुष्य सासारिक अनुभूतियों से ऊपर उठकर निष्काम

भावना से शरीर, मन और वाणी से सासारिक सम्बन्धों से मुक्त हो सकता है। जब मन शुद्ध हो जाता है तो आत्मा प्रकाशमय हो सकती है। तब इसका सत्य स्वरूप पहिचान लिया जाता है। फिर आत्मा कभी अज्ञान के चक्र मे नही फसती। इस स्तर पर चित्तवृत्ति निरोध द्वारा आत्मा मुक्त होकर सासारिक दुखो पर विजय प्राप्त करती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुक्ति ससार के कर्मों के प्रति उदासीनता धारण करने पर नही होती जैसा कि कभी-कभी एक निराश मनुष्य किया करता है। परन्तु यह इस बात के महत्व को समझने से होती है कि मुक्ति ही दिव्य आनन्दमय तत्व है। प्रत्येक दर्शन प्रणाली की निराशावादी धारा उस शाखा की तर्कसगत विचारधारा के अनुसार उत्पन्न हुई है। जीवन के कर्मों के प्रति उपेक्षा की भावना अथवा अपने कर्त्तव्यो के न करने की भावना को कभी स्वीकार नही किया गया है। परन्तु निर्मल बुद्धि से पुण्य कर्म करते हुए जीवन के इन छोटे द्वन्द्वो से ऊपर उठने की भावना ही मुख्य है। जब मनुष्य उच्चतम आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह यह समझ जाता है कि सारे सासारिक सुख व दुख, यहाँ तक कि स्वर्ग के सुख भी, आत्मानुभूति के सामने नगण्य है। यही नही वरन् वे सब दुखमय और घृणाजनक दिखाई देने लगते है। इस प्रकार जब मनुष्य का मस्तिष्क सारे साधारण सुखो की ओर से उदासीन हो जाता है तब वह अपने लक्ष्य, मुक्ति की ओर अग्रसर हो जाता है। वास्तव मे भारत मे एक बडी गहन धार्मिक अभिलाषा रही है कि मनुष्य परम मोक्ष को प्राप्त करे और आत्मानुभूति का आनन्द उठाए। इसी भावना से भारतीय दर्शन का जन्म हुआ है। हमारे लिए इस सासारिक दुखमय बधन का कोई भय नही होगा यदि हम यह स्मरण रखे कि हम मूलत विशुद्ध, आनन्दस्वरूप एव दुख से रहित हैं। निराशावादी दृष्टिकोण का सारा भय अन्त मे समाप्त हो जाता है क्योंकि भारतीय दर्शन के अनुसार मोक्ष का लक्ष्य सदैव सामने रहता है और उसके कारण उसके अन्तिम भविष्य और आनन्द के बारे मे आत्म विश्वास बना रहता है।

भारतीय साधनों की एकता
की एकवाक्यता (दार्शनिक, धार्मिक एवं नैतिक प्रयत्न)

भारतीय दर्शन प्रणाली मोक्ष की प्राप्ति के हेतु नैतिक आचरण के मूल सिद्धान्तो पर एकमत है। वासनाओ पर नियत्रण कर सयमपूर्ण जीवन, अहिंसा और सासारिक विषय भोगो की ओर से उदासीनता, यह सिद्धान्त सभी दर्शन स्वीकार करते है। मनुष्य के जीवन मे जब नैतिक आचरण के कारण सात्विक वृत्ति का उदय होता है तब वह चित्त शुद्धि एव एक धार्मिक ज्ञान की एकाग्रता के कारण से अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योग्य पात्र बन जाता है। सारी भारतीय दर्शन शाखाएँ इस पात्रता को प्राप्त करने के साधनो पर अथवा यम नियमों के पालन करने के सम्बन्ध में एक मत है।

नामादि की तफसील मे या अन्य विवरण में कही-कही अन्तर अवश्य दिखाई देता है परन्तु मूल रूप से सभी दर्शन योग दर्शन द्वारा प्रतिपादित विधि को आत्म सिद्धि के लिए मान्य समझते है। केवल उत्तरकाल में वैष्णव दर्शन के प्रभाव मे भक्ति को विशेष महत्व दिया जाने लगा। इस प्रकार यद्यपि विभिन्न शाखाओ मे अनेक प्रकार के मतमतान्तर विभिन्न रूप से मिलते हैं परन्तु जहाँ तक मोक्ष प्राप्ति एवं तत्संबंधी साधन, जीवन का लक्ष्य और ससार के प्रति जीवन मे व्यवहार आदि है, इन सब पर सभी दर्शन एक मत है। भारत के सभी भागो मे धर्म के लिए अपार श्रद्धा एव जिज्ञासा रही है और साधनो की एकता के कारण भारतीय विचार-दर्शन मे एक प्रकार की एकरसता पाई जाती है।

——∞——

अध्याय ५

बौद्ध दर्शन

अनेक विद्वानो का ऐसा मत है कि सांख्य और योग भारतीय दर्शन की प्रमुख प्रारंभिक धाराएँ हैं। यह भी कहा जाता है कि बौद्ध दर्शन मे सांख्य एव योग दर्शन से ही अधिकाश प्रेरणा प्राप्त हुई है। इस दृष्टिकोण मे काफी सत्य भी हो सकता है परन्तु यह भी सत्य है कि सांख्य एव योग दर्शन के जो क्रमबद्ध शास्त्र हमको मिलते है वे बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात् लिखे गये थे। हिन्दू दर्शन के जिज्ञासु यह भली भाँति जानते है कि बौद्ध धर्म के सघर्ष के कारण हिन्दू दर्शन के विभिन्न क्षेत्रो में दार्शनिक जिज्ञासा का जागरण अधिक तेजी से हुआ, अधिकाश दार्शनिक ग्रन्थ इस काल मे लिखे गये। अत विभिन्न हिन्दू दर्शनो के पूर्ण-रूपेण अध्ययन करने के लिए बौद्ध दर्शन का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है ताकि हम बौद्ध दर्शन के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन कर सकें। अत सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन से मैं इस विषय को प्रारम्भ करना उचित समझता हूं।

बुद्ध से पूर्व भारत में दर्शन की स्थिति

बौद्ध धर्म के उद्भव से पूर्व भारत मे जो दार्शनिक कल्पनाएँ प्रचलित थी उनका निश्चित स्वरूप वर्णन करना कठिन है। उपनिषदो के सिद्धान्त सर्वविदित है और उनका पहले भी वर्णन किया जा चुका है। परन्तु केवल यही सिद्धान्त प्रचलित नही था। इनके अतिरिक्त कई प्रकार के मत मतान्तर, धार्मिक विचार प्रचलित थे जिनका प्रसग उपनिषदो मे भी प्राप्त होता है, विशेषकर नास्तिक मतो का।[1] सृष्टि की उत्पत्ति और उनकी क्रियाओ मे अनेक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। कुछ लोगो का मत था कि काल ही केवल सृष्टि की उत्पत्ति और नाश का कारण है। दूसरा मत था कि प्रकृति किसी कारण विशेष से उत्पन्न न होकर स्वयमेव अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होती है। कुछ लोगो के मत से प्रकृति अथवा सृष्टि एक अटल प्रारब्ध से उत्पन्न होती है अथवा अनेक कारणो के सन्निपात से, सहसा, एक अतर्कित घटना-क्रम मे सृष्टि की उत्पत्ति हुई है

---

[1] श्वेताश्वतर १ अ० श्लोक २
"काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छाभूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।"

अथवा प्रकृति पंचभूतों के मेल से (समिश्रण से) उत्पन्न हुई है अर्थात् इसकी उत्पत्ति भौतिक तत्वो द्वारा हुई है। अनेक प्रकार के धर्म विरोधी सिद्धान्तों का वर्णन बौद्ध ग्रन्थो मे मिलता है लेकिन इन सिद्धान्तों पर विस्तृत विवरण नही मिलता। उपनिषदों में वर्णित वस्तुवाद के समान दर्शन के दो अग चार्वाक दर्शन मे पाये जाते हैं। इन्हें धूर्त एवं सुशिक्षित की संज्ञा दी गई है। इनका उल्लेख उत्तरकालीन साहित्य में प्राप्त होता है परन्तु ये मत ठीक-ठीक किस काल मे प्रचलित रहे इसका निश्चय करना कठिन है।

परन्तु ऐसा लगता है कि उपनिषदों मे जिस वस्तुवादी दर्शन का प्रसग आया है वह चार्वाक अथवा उसी प्रकार के अन्य दर्शनों की ओर सकेत करता है। चार्वाक वेदों को अथवा अन्य धार्मिक शास्त्रों को मान्य नही समझते थे। उनके अनुसार आत्मा का कोई अस्तित्व नही है जीवन एव चेतना के भौतिक तत्वो के आमिश्रण से उत्पन्न होते है जैसे श्वेत और पीत रग को मिलाने से लाल रग उत्पन्न होता है अथवा जैसे राब में नशे का तत्व मद्यसार (मदशक्ति) अपने आप पैदा हो जाता है। इस जीवन के पश्चात् और कोई दूसरा जीवन नहीं है और कर्मों का अच्छा या बुरा फल नहीं होता क्योंकि पाप और पुण्य इन दोनो का ही अस्तित्व नही है। जीवन आनन्द के लिए है। जब तक जीवन है तब तक किसी और वस्तु के बारे मे सोचना व्यर्थ है। मृत्यु के साथ जीवन और शरीर समाप्त हो जाता है क्योंकि मृत्यु के पश्चात् जब शरीर को जला दिया जाता है तब शरीर राख बन जाता है अत. मनुष्य के पुनर्जन्म का कोई प्रश्न ही नही उठता। अनुमान मे उनकी कोई आस्था नही है। जो प्रमाण प्रत्यक्ष है वह सत्य है क्योंकि किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए जिस हेतु को महत्व दिया जाता है वह फल उसका हेतु न होकर यह भी सम्भव है कि वह फल किसी और हेतु से हुआ हो और इससे वास्तविक हेतु का सभ्रम हो गया हो। अत. जिस हेतु के आधार पर जिस अनुमान को मान्य समझा गया है उसका आधार भ्रमपूर्ण होने से जिस नतीजे पर पहुँचते है वह स्वय अमान्य है। यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि कुछ अवस्थाओ मे घटनावश (सयोगवश)कोई अनुमान सत्य निकल आए तो भी यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि यह संयोगवश हुआ है अथवा किसी निश्चित कारण से हुआ है। इन लोगों को चार्वाक इसलिए कहा जाता था कि वे किसी प्रकार की धार्मिक व नैतिक जिम्मेवारी स्वीकार नही करते थे और खाने पीने मे विश्वास करते थे। इस शब्द की उत्पत्ति 'चर्व' धातु से है जिसका अर्थ है खाना, चर्वण करना। धूर्त चार्वाक के मतानुसार यह संसार चार तत्वों से अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि के द्वारा बना हुआ है और यह शरीर अणु के मेल से बना हुआ है। ससार मे न कोई आत्मा है, न कोई स्वीय तत्व है, और न पाप है, न पुण्य। सुशिक्षित चार्वाक यह मानते थे कि शरीर के अतिरिक्त आत्मा भी है परन्तु शरीर के विनाश के साथ-साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है। चार्वाकों का आदि ग्रन्थ सम्भवतः बृहस्पति ने सूत्र रूप मे

लिखा था। जयन्त एव गुणरत्न ने इस ग्रथ से दो सूत्रो का उद्धरण दिया है। इस मत का साधारण वर्णन जयन्त रचित न्यायमंजरी मे, माधव रचित सर्व दर्शन सग्रह और गुण रत्न रचित तर्क रहस्य दीपिका मे पाया जाता है। महाभारत मे एक आख्यान आता है जिसमे युधिष्ठर मे चार्वाक नाम का एक व्यक्ति मिलता है।

वस्तुवादी चार्वाक दर्शन के साथ-साथ ही हमे आजीवक का ध्यान भी आता है। मक्खलि गोशाल जो सम्भवतः जैन मुनि महावीर के शिष्यो मे से एक थे और जो बुद्ध और महावीर के समकालीन थे, इस मत के प्रमुख नेता थे। इस मत के अनुसार मनुष्य धर्म करने मे स्वतत्र नही है। उसके सारे कर्म पूर्व निश्चित क्रम के अनुसार अथवा एक निश्चित अटल प्रारब्ध के अनुसार होते है। इस प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्म करने मे न वह स्वतत्र है और न वह उन कर्मों के लिए उत्तरदायी है। मक्खलि के मत का मूल तत्व है कि "मनुष्य के पापी अथवा पुण्यात्मा होने के लिए तात्कालिक अथवा दूरस्थ कोई कारण नही है। बिना किसी कारण के वे अच्छे या बुरे हो सकते है। अपने स्वय के प्रयत्न पर कोई वस्तु निर्भर नही कर सकती न किसी दूसरे के प्रयत्न से अच्छा या बुरा कर्म हो सकता है। सक्षेप मे मनुष्य का प्रयत्न अर्थहीन है। मनुष्य शक्तिहीन है और वह स्वय कुछ नही कर सकता। मनुष्य की विभिन्न अवस्थाएँ एक अटल भाग्य के कारण है अथवा वातावरण और प्राकृतिक अवस्था के अनुसार है।"[1]

अजित केशकबली एक दूसरे मत के अधिष्ठाता थे। उनकी शिक्षा के अनुसार अच्छे अथवा बुरे कर्मों का कोई फल नहीं है। दूसरा कोई लोक नही है न यह लोक ही सत्य है। इस जीवन का माता पिता के या किसी और जीवन से सम्बन्ध नही है। हम कुछ भी करे जीवन के पश्चात् मृत्यु अवश्यभावी है और मृत्यु के पश्चात् सब कुछ समाप्त हो जाता है।[2]

इस प्रकार तीन विशिष्ट विचारधाराएँ प्रचलित थी। प्रथम यह कि आन्तरिक क्रियाओ द्वारा यज्ञादि कर्म से कोई भी मनुष्य मनोवाछित फल प्राप्त कर सकता था। दूसरी उपनिषद् की शिक्षा जिसके अनुसार ब्रह्म आत्मा अभिन्न है, वही वास्तविक सत्य है और उसी का वास्तविक अस्तित्व है। इसके अन्दर जो कुछ है वह केवल नाम और रूप मात्र है, अर्थात् जो माया है वह क्षणभगुर है और जो शाश्वत तत्व है वह ही सत्य एव यथार्थ है, वह आत्मा है। तीसरी शून्यवादी (निहिलिस्टिक) विचारधारा जिसके अनुसार न कोई नियम है न कोई शाश्वत सत्य है, जिसके अनुसार अनेक

---

[1] सामञ्ञफलसुत्त, दीघ, खड १, पक्ति २०।
हॉरनली द्वारा लिखित आजीवकों पर लेख (ई. आर. ई.)।

[2] सामञ्ञफलसुत्त ११, २, ३।

सवृत्तियों या घटनाओं के मेल से वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती है अथवा ये किसी ऐसे प्रारब्ध से होती है जिसके बारे मे मनुष्य द्वारा कुछ भी किया जाना संभव नही है। इन तीनो मतो से दर्शन के विचारमंथन की गति अवरुद्ध हो गई। इस देश में उस समय यौगिक क्रियाएँ भी प्रचलित थी जो परम्परा के अनुसार भी मान्य थीं एवं जिनका सम्मान इस कारण से भी था कि इन क्रियाओ को करने वाले व्यक्ति अद्भुत शारीरिक, बौद्धिक एव आत्मिक शक्तियाँ इन क्रियाओ द्वारा प्राप्त किया करते थे। परन्तु कोई युक्तिसंगत आधार इन क्रियाओं की पृष्ठभूमि मे नही था जिसके आधार पर वे इनका दार्शनिक विवेचन कर सकें। इसी समय कुछ अनिर्धारित दार्शनिक सिद्धान्तो पर आधृत साख्य दर्शन का प्रादुर्भाव हो रहा था। सम्भवत योग दर्शन उसी समय मे अपने आप को साख्य सिद्धान्तो के साथ नियोजित कर दार्शनिक रूप पाने का उपक्रम कर रहा था। ठीक इसी समय बुद्ध ने दर्शन के एक मौलिक एव नवीन, भव्य, स्वरूप को जन्म दिया जिसने आगे आने वाली पीढियो के लिए दर्शन का एक नया मार्ग प्रस्तुत किया। यदि उपनिषदों का ब्रह्म जो एकमात्र एव महान् तत्व माना गया है वही एकमात्र सत्य है तब अन्य किसी तत्व या सिद्धान्त पर दार्शनिक विमर्श करने की सम्भावना ही नही है क्योकि उस ब्रह्म के अनन्तर सब कुछ असत्य एवं अयथार्थ है। दूसरी ओर यदि वस्तुवादियो के अनुसार ससार मे होने वाले व्यापार केवल असाधारण घटनावश है जिनका कोई युक्ति सगत आधार नही है तब उस मत मे फिर दर्शन के लिए किसी युक्ति अथवा तर्क से किसी भी विचारधारा की सगति करना असभव है क्योकि तर्कहीन दर्शन की उत्पत्ति का प्रश्न ही नही पैदा होता। तीसरी ओर तान्त्रिक जादू टोने अथवा रहस्यमय शक्ति के सम्बन्ध मे भी किसी दर्शन के विकास का प्रश्न कठिन सा ही था। इस प्रकार यदि बुद्ध के पूर्व भारतीय दर्शन एव संस्कृति की दशा का विश्लेषण करे तब हम ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि बुद्ध की दार्शनिक देन कितनी महत्वपूर्ण है।

बुद्ध और उनका जीवन

गौतम बुद्ध नेपाल की घनी तराई मे स्थित कपिल-वस्तु के निकट लुम्बिनी कुज में ई० पू० ५६० में पैदा हुए थे। उनके पिता शुद्धोदन शाक्य वश के राजा थे, उनकी माँ का नाम रानी महामाया था। गाथाओ के अनुसार उनके सम्बन्ध मे ऐसी भविष्य-वाणी की गई थी कि जिस दिन बुद्ध एक अपाहिज रुग्ण मनुष्य या मरे हुए आदमी को देखेगे उस दिन संन्यास ग्रहण कर लेंगे। उनके पिता ने उनको इन सब दृश्यो से दूर रखने का प्रयत्न किया और उनको विलास की सामग्री से घेरकर उनका विवाह भी कर दिया। परन्तु जब वे महल से बाहर निकले तब एक-एक करके उन्हें बुढापा, मृत्यु, बीमारी आदि के दृश्य दिखाई दिये जिससे उनका हृदय दुःख और आश्चर्य से भर गया।

यह सब देखकर उनके हृदय ने अनुभव किया कि सभी सांसारिक वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं अतः उन्होंने गृह-त्याग का निश्चय किया और मनुष्य के दुखों को मिटाने हेतु अमरत्व की प्राप्ति के लिए उचित मार्ग खोजने का निश्चय किया। जब वे २९ वर्ष के थे तब उन्होंने अपने पितृगृह से महाभिनिष्क्रमण कर घर छोड़ दिया और राजगृह तक वे पैदल ही चलते गए और वहाँ से उरूवेला गए जहाँ वे अन्य पांच साधुओं के साथ आत्म संयम एव कठोर साधना मे लीन हो गए। कठिन तपस्या के कारण वे मृत प्रायः हो गए और एक दिन बेहोश होकर गिर पड़े और लोगो ने उन्हें मरा हुआ समझा। ६ वर्ष तक कठिन तपस्या करने के पश्चात् उन्होंने यह अनुभव किया कि केवल कठोर तपस्या से सत्य के दर्शन नही हो सकते और तत्पश्चात् साधारण ढग से साधना करते रहे। अन्त मे उन्होंने महान् सत्य के दर्शन किए और आत्म ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया। तत्पश्चात बुद्ध ४५ वर्ष तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे और अपने सिद्धान्तो का प्रचार करते रहे। जब वे ८० वर्ष के हो गए तब उन्होंने अनुभव किया कि अब जीवन त्याग करने का समय आ गया है। तब वे ध्यान मे बैठ गए और ध्यान योग की उच्चतम क्रियाओ को करते रहे और निर्वाण को प्राप्त हुए। इस महान् उपदेशक के दर्शन मे जिस प्रकार के विशद परिवर्तन एव विकास हुए है उनका इस देश मे अथवा अन्य देशो मे पूर्ण एव गहन अध्ययन अभी तक नही हो पाया है और सम्भवत अभी इसके अध्ययन सम्बन्धी समस्त सामग्री के एकत्रित होने मे अनेक वर्ष लगेंगे। परन्तु जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उससे यह प्रामाणिक ढग से सिद्ध किया जा सकता है कि यह मानवीय बुद्धि की महत्तम देनो मे से एक है, आश्चर्यजनक, सुन्दर एव रहस्यमय दर्शन है। भारतीय दर्शन, सस्कृति एव सभ्यता अनेक शताब्दियो तक निरन्तर होते रहने वाले इसके गहनतम प्रभाव के सदैव ऋणी है।

प्रारंभिक बौद्ध साहित्य

बौद्ध धर्म के पाली ग्रन्थो के तीन प्रकार के संग्रह मिलते है सुत्त (सिद्धान्त सबधी सूत्र), विनय (भिक्षुओ के परिचर्या एव अनुशासन सम्बन्धी लेख) अभिधम्म सूत्रो मे साधारण विषय वर्णित परन्तु उनकी विशद एव विद्वत्तापूर्ण धार्मिक व्याख्या) बौद्ध-धर्म के विद्वान् इन ग्रथो के निर्माण अथवा इन सूत्रो के सग्रह आदि का निश्चित मयस निर्धारित करने मे अभी तक सफल नही हो पाए है लेकिन सुत्त अभिधम्म से पहले लिखे गए है और ऐसा सम्भव है कि ये सारे धर्मादेश सम्बन्धी ग्रथ २४१ ईसा पू० तक पूरे लिख लिए गए होगे जबकि अशोक के राज्यकाल मे तीसरी महासभा की बैठक हुई थी। सुत्त मुख्यतया बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो का निरूपण करते है तथा विनय ग्रंथ भिक्षुओ के अनुशासन सम्बन्धी नियमो का। अभिधम्म का विषय यही है जो सुत्तों का विषय है अर्थात् धर्म की व्याख्या। बुद्धघोष लिखित अत्थसालिनी टीका धम्म-सगणि

की टीका है। उसकी भूमिका मे बुद्धघोष कहते है कि अभिधम्म नाम इन्हे इसलिए दिया गया क्योंकि ये सुत्तो मे वर्णित धम्म की विशेष रूप से व्याख्या (धर्मातिरेक) करते है जिसके लिए तप धर्मातिरेक एवं 'धम्मविशेषत्तेन' विवेचना की संज्ञा दे सकते हैं। अभिधम्म मे ऐसा कोई नया सिद्धान्त नही पाया जाता जो सुत्तो में न हो। वे सुत्तों मे वर्णित सिद्धान्तो की विस्तृत व्याख्या ही करते है। बुद्धघोष सुत्तो एवं अभिधम्म मे अन्तर बताते हुए लिखते है कि सुत्तो के मनन से ध्यान की एकाग्रता (समाधि) का लक्ष्य प्राप्त होता है जबकि अभिधम्म के अध्ययन से ज्ञान और बुद्धि प्राप्त होती है (पञ्ञासम्पादम्)। इस उक्ति के पीछे सम्भवत. यह तथ्य है कि सुत्तों के अध्ययन से मन और बुद्धि परिष्कृत होते है और उस परिष्कार से ध्यान और समाधि की ओर रुचि होती है जिससे दु खप्रद बन्धन से मुक्ति मिलती है। अभिधम्म के अध्ययन से युक्ति, तर्क एव प्रमाणो से धर्म सम्बन्धी विस्तृत व्याख्या की एव उसके प्रतिपादन की अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। सरल शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि सुत्त शुद्ध भक्ति, ध्यान, धारणा आदि की ओर मन को अग्रसर करते है और अभिधम्म, धर्म-सम्बन्धी तार्किक वाद विवाद एव बाह्य दार्शनिक विवेचन में गति प्रदान करते है। कथावत्थु नाम के अभिधम्म ग्रन्थ अन्य अभिधम्म ग्रन्थो से भिन्न है क्योंकि ये उन मतो को, जो धर्म सम्मत नही है, प्रश्नोत्तर की प्रणाली से, विपक्षियो के उत्तरों मे विरोधाभास बताते हुए, मूर्खतापूर्ण सिद्ध करते है।

सुत्त-ग्रन्थो के पाच सग्रह उपलब्ध है जिनको निकाय कहते है (१) दीघनिकाय—इसे सुत्तो की दीर्घता के कारण दीर्घनिकाय कहा जाता है (२) मज्झिम निकाय—इसका नाम सुत्तो का कलेवर मध्यम प्राय होने के कारण ऐसा रखा गया है। (३) सयुत्त निकाय—विशेष गोष्ठियो मे अथवा 'सयोगो मे' जो उपदेश दिया जाता था वह इसमे वर्णित है। इन सयोगो मे (गोष्ठियो मे) विशेष व्यक्तियो से मिलने का अवसर प्राप्त होता था और उस अवसर पर जो उपदेश हुआ करते थे वे सम्युत्त निकाय मे उपलब्ध है। (४) अगुत्तर निकाय-यह नाम इसलिए पडा कि इन ग्रन्थो के प्रत्येक अध्याय मे जिन विषयो पर शास्त्रार्थ किया गया है उनकी सख्या प्रत्येक अध्याय में एक अधिक हो जाती थी अर्थात् एक से बढ जाती थी।[1] (५) खुद्दक निकाय—इसमे निम्न विषय पाये जाते हैं—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्त-नियात, विमानवत्थु, प्रेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निदेश पतिसभिदामग्ग, अपादान, बुद्धवश एव चर्यापिटक।

अभिधम्म-ग्रन्थ निम्न है—पत्थान, धम्मसंगणि, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, विभग, यमक, एव कथावत्थु। इन ग्रन्थो के विभिन्न भागो पर टीका साहित्य भी मिलता है जिनको अत्थकथा के नाम से भी पुकारते हैं। मिलिन्दपन्ह, अर्थात् 'राजा मिलिन्द के प्रश्न' नाम का ग्रन्थ (तिथि अनिश्चित) बड़े दार्शनिक महत्व का है।

---

[1] बुद्ध घोष, अत्थसालिनी, पृ० २५।

जो सिद्धान्त और विचार इस साहित्य मे मिलता है उसे साधारणतया स्थविरवाद या 'थेरवाद' के नाम से जाना जाता है। थेरवाद नाम की उत्पत्ति के संबध मे दीपवश नामक पुस्तक में लिखा है कि प्रथम महासभा मे थेरगण अर्थात् वृद्धजन एकत्रित हुए और सारे सिद्धान्तो को उन्होने एक स्थान पर एकत्रित किया। अत. इन्हे थेरवाद कहते है।[1] ऐसा लगता है कि बौद्ध दर्शन जैसाकि वह पाली साहित्य मे वर्णित है बुद्ध घोष के समय (४०० ई०) के पश्चात् और अधिक विकसित नहीं हो पाया। बुद्ध घोष ने विशुद्धि मग्ग (थेरवाद सिद्धान्तो का संग्रह ग्रन्थ) लिखा और कई ग्रन्थो की टीका की जिसमे दीघनिकाय एव धम्मसगणि मुख्य है।

उत्तरकालीन हिन्दू दर्शन बौद्ध दर्शन की विभिन्न शाखाओ द्वारा बहुत प्रभावित हुआ दिखता है परन्तु ऐसा प्रतीत नही होता कि पाली भाषा मे लिखित बौद्ध दर्शन का हिन्दू दार्शनिक ग्रन्थो पर कोई प्रभाव पडा हो। मुझे किसी भी ऐसे तत्कालीन हिन्दू लेखक का पता नही लग पाया है जो साथ ही पाली का भी विद्वान् हो।

प्रारंभिक बौद्ध धर्म का कारण-सिद्धान्त[2]

बौद्ध शास्त्रो मे धम्म शब्द का चार अर्थो मे प्रयोग किया जाता है। (१) शास्त्र (२) गुण (३) कारण (हेतु) (४) सत्वरहित एव जीवरहित (निःसत्व एव निर्जीव)।[3] इन सबमे अन्तिम अर्थ बौद्ध दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रारंभिक बौद्ध दर्शन मे किसी एक ऐसे अस्तित्व को नही माना गया है जिसको यथार्थ अथवा वास्तविक सत्य के रूप मे समझा गया हो। बौद्ध दर्शन के अनुसार जो भी तत्व है वे केवल सत्वहीन घटनाएँ ही है जिनको उन्होने धम्म या धम्मो के नाम से संबोधित

---

[1] ओलडनबर्ग का दीपवश, पृ० स० ३१।

[2] इस बात पर मतभेद है कि कारणो के बारह समूहो का जो सिद्धान्त सम्म्युत्तनिकाय मे दिया हुआ है वह बौद्ध दृष्टिकोण से कारण सिद्धान्त का सर्वप्रथम मत है अथवा नही क्योंकि सम्म्युत्त निकाय बौद्ध सुत्तो का प्राचीनतम ग्रन्थ नही माना जाता, परन्तु क्योकि यह कारणो का सिद्धान्त बौद्ध धर्म का आधार माना जाता है अत: मैने इसके विशेष विवाद मे पडना उचित नही समझा कि यह सर्वादिक सिद्धान्त है या नही। इस संबध मे मेरा ध्यान ई० जे० टोमस ने आकर्षित किया था।

[3] अत्थसालिनी पृ० ३८। धम्म शब्द और भी अर्थो मे प्रयोग किया जाता है जैसे धम्मदेशना जहाँ इसका अर्थ है धार्मिक शिक्षा। लंकावतार ने धर्म की व्याख्या "गुण-द्रव्य पूर्वका धर्मा." के रूप मे की है अर्थात् धर्म वे है जो वस्तु के रूप गुण को स्पष्ट करते है।

किया है। प्रश्न यह उठता है कि यदि वास्तव मे कोई यथार्थ अथवा पार्थिव तत्व नही है तो कोई व्यापार अथवा घटनाएँ या सवृत्तियाँ कैसे हो सकती है ? परन्तु सांसारिक क्रम अर्थात् घटनाक्रम चलता रहता है। बुद्ध के लिए विशेष महत्वपूर्ण वस्तु यह जानकारी करना था कि 'जो कुछ यह हो रहा है उसके परे और क्या है' अथवा 'जो कुछ नहीं हो रहा है उसके परे और क्या नही है।' ये सारी घटनाएँ एक क्रम मे हो रही है और हम यह देखते हैं कि एक घटना अथवा कार्य दूसरे कार्य के लिए कारण रूप हो जाता है और उससे फिर अन्य कार्य की उत्पत्ति होती है। इसे पतिच्च समुप्पाद कहते है अर्थात् जहाँ कार्योत्पत्ति किसी कारण पर निर्भर है। लेकिन यह समझना और अधिक कठिन है कि इस निर्भरता का वास्तविक रूप क्या है। बुद्ध के हृदय मे ज्ञान प्राप्त करने के पहले इस सबध मे अनेक शकायें उठी जैसाकि सयुत्त निकाय मे दिया हुआ है। उन्होंने विचार किया कि मनुष्य ऐसी दु ख भरी स्थिति में क्यों है ? वे जन्म लेते हैं, बुरे होते है, मृत्यु को प्राप्त होते है, इस दुनियाँ मे चले जाते है और फिर जन्म लेते हैं। इस मृत्यु और दु ख से छुटकारा पाने के लिए उनको मार्ग दिखाई नही देता।

दु ख मृत्यु, और बुढापे से छुटकारा पाने के लिए मार्ग किस प्रकार ढूढा जाये ? फिर उन्होंने सोचा कि यदि मृत्यु और जरा है तो इसके होने का क्या कारण है ? इस विषय पर विशेष मनन करने के पश्चात् वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जरा और मृत्यु तभी हो सकती है जब कि जन्म हो। अत. जरा और मृत्यु जन्म (जाति) पर निर्भर करती है। उन्होंने पुन मनन किया कि यदि जन्म का अस्तित्व है तब यह जन्म अथवा जाति इस पर निर्भर करती है इसका हेतु क्या है। तब वह इस नतीजे पर पहुँचे कि जन्म तभी हो सकता है जबकि जन्म के पूर्व कोई अस्तित्व हो जिसे बौद्ध दर्शन के अनुसार (भाव[1]) नाम दिया है अर्थात् भाव जाति का हेतु है। फिर उन्होंने सोचा कि पूर्वस्थित भाव किस पर निर्भर है अथवा वह कौनसी वस्तु है जिसके होने से भाव की उत्पत्ति होती है अर्थात् जो भाव का हेतु है। उन्होने मनन किया कि अस्तित्व तब तक नही हो सकता जब तक कि उसका कोई आधार न हो जिसे उन्होंने उपादान[2] के नाम

---

[1] चन्द्रकीर्ति ने अपनी पुस्तक माध्यमिक वृत्ति मे पृ० ५६५ (लावेली पूसी संस्करण) भाव की व्याख्या करते हुए कहा है कि भाव वह कर्म है जिससे पुनर्जन्म होता है। (पुनर्भवजनक कर्म समुत्थापयति कायेन वाचा मनसा च)।

[2] अत्थसालिनी पृ० स० ३८५। उपादानन्तिदलहग्गहणम्। चन्द्रकीर्ति उपादान का अर्थ करते हुए कहते है कि मनुष्य जब किसी वस्तु की दृढ कामना करता है तब वह उस कामना की पूर्ति के लिए जो साधन है उनको विशेष मोह से पकडे रहता है। (यत्र वस्तुनि सतृष्णस्तस्य वस्तुनोर्जनाय विधापनाय उपादानमुपादत्ते तत्र प्रार्थयते) माध्यमिक वृत्ति पृ० ५६५।

से सबोधित किया है। फिर उन्होंने सोचा कि उपादान का हेतु क्या है। उपादान वासना (तन्हा[1] अथवा तृष्णा) पर निर्भर है। यदि तृष्णा नही है तो उपादान सभव नहीं है। परन्तु फिर यह इच्छा किस पर निर्भर है। वासना अथवा तृष्णा के लिए वेदना की आवश्यकता है, वेदना का क्या कारण है और यह किस पर निर्भर है ? वेदना की अनुभूति के लिए आवश्यक है ज्ञानेन्द्रिय का सम्पर्क अर्थात् इन्द्रियजन्य चेतना जिसे स्पर्श[2] नाम दिया है। यदि इन्द्रियजन्य चेतना न हो तो अनुभूति नही होती। यह स्पर्श किस पर निर्भर है ? सम्पर्क के छः क्षेत्र है जिनको आयतन[3] कहा गया है। इन छ आयतनो का क्या हेतु है ? तब वह इस नतीजे पर पहुँचे कि आयतनो के लिए बुद्धि और शरीर का होना आवश्यक है। शरीर अथवा बुद्धि (नाम रूप) ही छः आयतनो का आधार है। फिर ये नाम रूप किस पर निर्भर करते है ? फिर इनका क्या हेतु है ? चेतना के बिना नाम रूप नही हो सकते। चेतना (विज्जयान) ही नाम रूप का आधार[4] अथवा हेतु है। फिर विज्ञान का क्या अर्थ है ? बौद्ध

---

[1] चन्द्रकीर्ति तृष्णा की व्याख्या इस प्रकार करते है। आस्वादनाभिनदनाध्यवसानस्थानादात्मप्रियरूर्पैवियोगो मा भूत्, नित्यमपरित्यागो भवेदिति, येयम प्रार्थना— यह उत्कट इच्छा कि जिन भोगो से हमे परितृप्ति होती है उनसे हमारा कभी वियोग न हो, इस उत्कट कामना को तृष्णा कहते है। वही, पृ० ५६५।

[2] कई स्थानो पर फस्सायतन फस्सकाय शब्द प्रयोग मे आये है जैसे मध्यमनिकाय दूसरा खण्ड, पृ० २६१ तीसरा खण्ड पृ० २८० आदि। चन्द्रकीर्ति सस्कृत मे कहते हैं— षड्भिरायतनद्वारैः कृत्यप्रक्रिया., प्रवर्तन्ते, प्रज्ञायन्ते तन्नामरूपप्रत्ययन षडायतनन उच्च्यते षडभ्यचायत्नेभ्य षट् स्पर्शकाया प्रवर्तन्ते, वही, पृ० ५६५।

[3] आयतन से अर्थ छ ज्ञानेन्द्रियो एव उनके सम्पर्क मे आने वाली वस्तुओ से है। आयतन का शाब्दिक अर्थ कार्यक्षेत्र है। जैसे आँख देखती है और जिसने स्वरूप को देखा है वह उस दृष्टि का कार्यक्षेत्र है। षडायतन का अर्थ है, छ ज्ञान चेतना चन्द्रकीर्ति आयतनद्वारैः का प्रयोग करता है।

[4] मैने नामरूप शब्द को शरीर और शुद्धि के अर्थ मे अग (Aung) महोदय के अनुवाद से लिया है। कम्पेन्डियम (Compendium) पृ० २७१। यह अर्थ मुझे काफी सही लगता है। प्रत्येक जन्म मे चार स्कन्ध 'नाम' शब्द से पुकारे गये है। इनका रूप अथवा द्रव्य (Matter) के साथ 'नाम रूप' शब्द मे उल्लेख होता है। इनका विकास होने मे छ ज्ञानेन्द्रयों के द्वार से जगत् की प्रक्रियाओ के कारण ज्ञान की प्राप्ति होती है। मध्यमनिकाय पृ० ५६४। गोविन्दानन्द जिन्होने ब्रह्म सूत्र की शकर भाष्य पर टीका लिखी है नाम रूप की एक दूसरी व्याख्या करते है जो सभवत. विज्ञानवाद के दृष्टिकोण के अनुसार है परन्तु इसकी जाँच करने का हमारे पास कोई

शब्द (विञ्ञान) है। विञ्ञान का आधार संखार-सस्कार है।[1] फिर इस पर विचार किया कि सस्कार का क्या आधार है? फिर इसके आधार के लिए इस नतीजे पर पहुँचे कि संस्कार का आधार अविज्जा (अविद्या) है। अविज्जा के नाश से संखार

साधन नहीं है। वे कहते है—क्षणभंगुर वस्तुओं को स्थायी मानना अविद्या है। इस अविद्या के कारण मोह, वितृष्णा, क्रोध, ममता आदि के सस्कारों की उत्पत्ति होती है, इनसे विज्ञान अथवा उत्पत्ति के विचार की सृष्टि होती है, फिर उससे आलय विज्ञान और चार तत्वो की (जो नाम द्वारा बोध्य होते है इसलिए उनको 'नाम' कहते है) उत्पत्ति होती है उनसे श्वेत और कृष्ण की तथा रक्त और वीर्य की उत्पत्ति होती है जिसको रूप कहते है। वाचस्पति एव अमलानद गोविन्दानन्द से सहमत है कि नाम, वीर्य और रज के लिए प्रयुक्त हुआ है। रूप का अर्थ उस बौद्धिक शरीर से है जो इस बीच से उत्पन्न हुआ है। गर्भ मे विज्ञान ने प्रवेश किया और उसके कारण नाम रूप की पूर्व कर्मो के सघात से उत्पत्ति हुई। देखिये वेदान्त कल्पतरु पृ० २७४-७५। गर्भ मे विज्ञान के प्रवेश करने के सिद्धान्त को तुलनात्मक रूप से देखने के लिए पढिये दूसरा खण्ड, पृ० सख्या ६३।

[1] यह कहना कठिन है कि सखार का सही अर्थ क्या है। बुद्ध उन प्राथमिक विचारकों में थे जिन्होने दर्शनशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दो और मुहावरो का प्रयोग सुचारु ढग से प्रारम्भ किया था परन्तु उनको कई बार एक ही शब्द का कई अर्थो मे प्रयोग करना पडा। अन बहुत सी दार्शनिक परिभाषाएँ परवर्ती सस्कृत दर्शन की वैज्ञानिक परिभाषाओं की तुलना मे लचीले अर्थ वाली है। इस प्रकार सयुक्तनिकाय तीसरा खण्ड, पृ० ८७ मे कहा है "संकटम् अभिसकरन्ती" सखार का अर्थ इस प्रकार किया है—वह जो मानसिक विषमताओं मे समन्वय करता है। कम्पेडियम मे इसका अर्थ सकल्प और कर्म के रूप मे दिया है। श्रीग महोदय इसका अर्थ कर्म के रूप मे करते है। सखार खण्ड मे, जिस अर्थ मे इसका प्रयोग हुआ है उससे इसका अर्थ भिन्न है। सखार खण्ड में उसका अर्थ है मानसिक स्थितियाँ। धम्मसगति पृ० १८ मे सखार खण्ड को निर्मित करने वाली ५१ मानसिक स्थितियो का वर्णन किया गया है। धर्म सग्रह पृ० स० ६ पर दूसरी ४० मानसिक स्थितियो का वर्णन आया है। इन ४० के अलावा जिन्हे चित्तसम्प्रयुक्तसस्कार नाम दिया गया है। १३ अन्य मानसिक स्थितियो का वर्णन भी आया है जिन्हे चित्त-विप्रयुक्त-सस्कार नाम से वर्णित किया गया है। चन्द्रकीर्ति इनका अर्थ ममता, मोह और घृणा के रूप मे करते हैं। देखिये पृ० ५६३, गोविन्दानन्द शकर के ब्रह्म सूत्र की टीका मे (दूसरा खण्ड, दूसरा अध्याय पृ० १९) इस शब्द का प्रयोग प्रतीत्य सम्मुपाद के सिद्धान्त के सिलसिले में करते है और यहाँ इसका अर्थ ममता, विराग और मोह के रूप मे करते है।

नाम शब्द से तीन शब्द-समुच्चयों का बोध होता है जो इस प्रकार हैं। संवेदना, प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान और पूर्व वृत्ति अथवा अभिवृत्ति रूप शब्द से चार तत्व और चार (भूत) से उत्पन्न रूप समझे जाते है।[१] पुन कहते है कि नाम द्वारा भौतिक परिवर्तन नही हो सकते हैं जैसे खाना, पीना अथवा अन्य क्रियाएँ। इसी प्रकार रूप अपने आप से कोई इस प्रकार से परिवर्तन नही कर सकता लेकिन ये दोनो लंगडे व अन्धे मनुष्य की भाँति एक दूसरे के पूरक है[२] और मिलकर परिवर्तन करने मे समर्थ होते है। परन्तु नाम और रूप की उत्पत्ति के लिए किसी प्रकार की वस्तुओं के संग्रह को मानने की आवश्यकता नही है "ठीक उसी तरह जिस प्रकार बांसुरी बजाते समय जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसके लिए किसी वस्तु भण्डार की आवश्यकता नही होती न कही ध्वनि का कोइ भण्डार होता है जहा से ये स्वर आते है। जब वीणावादन बन्द हो जाता है तब भी कोई ऐसा स्थान नही होता जहाँ पर ध्वनि लौट जाती है। इसी प्रकार वे सारे तत्व जो रूप और नाम के तौर पर स्थित होते है वे यद्यपि पहले नही होते (उनकी कोई पूर्व स्थिति नही है) फिर भी वे अस्तित्व ग्रहण करते है और अस्तित्व ग्रहण करने के पश्चात् पुन लुप्त हो जाते है।"[३] नाम रूप को इस अर्थ के अनुसार हम बुद्धि और शरीर के रूप मे नही ले सकते। इस नयी व्याख्या के अनुसार नाम रूप का अर्थ होगा इन्द्रियजन्य चेतना के कार्य और शरीर का वह भाग जो चेतना के छ द्वारो के सम्पर्क से कार्य करता है (षडायतन)। यदि हम नाम रूप का यह अर्थ देते है तो हम देखेंगे कि विञ्ञान (विज्ञान) अर्थात् चेतना के ऊपर निर्भर है। मिलिन्दपन्ह ने सचेतनता की तुलना एक ऐसे चौकीदार से की है जो चौराहे[४] पर खडा हुआ किसी भी दिशा मे आने वाली सारी वस्तुओ को देख रहा है। बुद्ध घोष अपनी पुस्तक अत्थशालिनी मे कहते है कि चेतना मे अर्थ है किसी वस्तु विशेष के बारे मे सोचने वाली विचारधारा। इस अन्त चेतना के गुण धर्म की व्याख्या करने हेतु यह कहा जा सकता है कि यह वह है जो जानता है (विजानन्) अग्रगामी होता है अर्थात् पहले ही वस्तु-विशेष तक पहुँच जाता है। (पुबगम्) सबध स्थापित करता है (सन्धान) और इसकी स्थिति नाम रूप पर है (नामरूपपदट्ठानम्) जब इस अन्तश्चेतना को मार्ग मिलता है तब उस स्थान पर वह इन्द्रियजन्य ज्ञान से सलग्न वस्तु को समझता है (आरम्मन-विभावनट्ठाने) और यह पहिले वहाँ जाकर पूववर्ती हो जाता है। जब नेत्र किसी दृश्यमान वस्तु को देखता है तो उसको इस अन्तश्चेतना के द्वारा पहिचानता है और इसी प्रकार जब धम्म मन

---

१ वारेन द्वारा लिखित "बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन्स, पृ० स० १८४।

२ वही, पृ० स० १८५, विशुद्धिमार्ग, अध्याय १७ वा।

३ वही, पुस्तक, पृ० १८५-८६, विशुद्धि मार्ग १७ वा अध्याय।

४ वारेन का "बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन" पृ १८२, मिलिन्दपन्ह (६२)।

की वस्तु बन जाते है तब यह मन उनको भी अन्तश्चेतना से पहचानते हैं।"[1] ऊपर आये हुए मिलिन्दपन्ह से लिये हुए दृष्टान्त का भी उद्धरण बुद्धघोष अपनी पुस्तक मे देते है। वे पुन. कहते हैं कि चेतना के पश्चात् एक रूप से दूसरे रूप की स्थिति का क्रम निरन्तर चलते रहने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ये आपस मे सम्बन्धित है। जब पच स्कन्धों के समूह एकत्रित हो जाते है तब यह चेतना लुप्त हो जाती है परन्तु चार स्कन्धो के समूह मे नाम के ऊपर अब स्थित रहती है और इसलिये यह कहा जाता है कि ये नाम-रूप के ऊपर अब स्थित है। वह पुन पूछता है कि क्या यह चेतना वही है जो पूर्व काल या पूर्व जन्म मे थी अथवा उससे विभिन्न है? उनका उत्तर है कि यह वही है। जिस प्रकार सूर्य जब उदय होता है तो वह अनेक रगों तथा ताप आदि के साथ उदय होता है परन्तु वास्तव मे ये रग और ऊष्मा सूर्य से अलग नही है। इसी प्रकार चित्त अथवा बौद्धिक चेतना स्पर्श की क्रिया से सयुक्त है और उनको जानती है। अत यद्यपि यह एक ही है फिर भी इससे अलग है।[2]

बारह कारणो के प्रसग पर पुन: विचार करते हुए हम यह स्पष्ट पाते हैं कि जाति अथवा जन्म से जरा और मरण होते है। जाति, शरीर धारण करने को कहते है अथवा पाचो स्कन्धो से सम्मिलित प्रभाव को जाति नाम से पुकारते है। जाति का निश्चय भव द्वारा होता है अर्थात् भव पर जाति निर्भर है। भव को हम उन कर्मों के अर्थ मे समझा सकते है जिनके द्वारा पुनर्जन्म होता है।[3] उपादान उग्र तृष्णा का वह

---

[1] अत्थशालिनी, पृ० स० ११२।

[2] वही, पृ० स० ११३। यथा हि रूपादीनि उपादाय पञ्ञत्ता सूर्योदयो न अत्थन्तो रूपादीनिही अने होती तेन इव यशमिन समये सूर्योउदयति तश्मिन् समये तरस तेज सखातम् रूपम् पीति। एव बुच्चमाने पि न रूपादीनि अन सूर्यो नाम अत्थि। तथा चितम् फस्सादयो धम्मे उपादया पनञ्ञापियति। अत्थतो पन इत्थ तेहि अञ्ञम् इव। तेन यशमिन् समये चित्तम् उप्पन्नम् होति एकसेन इव तसमिन् समये फस्सादिही अत्थतो अञ्ञन् एव होती ति।

[3] शकर भाष्य पर लिखी अपनी टीका रत्न प्रवाह मे श्री गोविन्दानन्द (दूसरा खण्ड, दूसरा अध्याय, पृ० १६) कहते है कि भव वह वस्तु है जिससे कोई वस्तु होती है जैसे धर्मादि। 'विभग' (पृ० १३७) और वारिन महोदय के बुद्धितम इन ट्रान्स-लेशन्स (पृ० २०१) भी इस सम्बन्ध मे देखिये। औग महोदय "अभिधम्म अत्थ संग्रह" पृ० १८६ पर कहते हैं कि भवों के अर्थ में कम भवो (अस्तित्व का सक्रिय स्वरूप) और उपपत्ति भवों (निष्क्रिय स्वरूप) भी सम्मिलित है। व्याख्याकार ऐसा अर्थ करते है कि भव कर्म भव का संक्षिप्त रूप है जो कर्म के अर्थ में प्रयोग किया गया है जिससे उन सब क्रियाओ का बोध होता है जिससे मनुष्य कर्म बधन मे बधता है।

रूप है जिससे मोह[1] उत्पन्न होता है। उपादान तृष्णा से उत्पन्न होता है और तृष्णा वेदना (सुख व दुःख) से। परन्तु यह वेदना अविद्या के कारण उत्पन्न वेदना है क्योंकि अर्हत सन्तो को भी वेदना हो सकती है परन्तु अविद्या न होने के कारण उस वेदना से तृष्णा उत्पन्न नही होती। इस वेदना का विकास होने पर यह तत्काल उपादान का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार वेदना का अर्थ है, सुख-दुःख की अथवा औदासीन्य की भावना। एक ओर यह वेदना तृष्णा की ओर अग्रसर करती है और दूसरी ओर यह स्वय स्पर्श से उत्पन्न होती है। स्पर्श का यहा अर्थ है इन्द्रिजन्यि सम्पर्क। प्रो० डी० ला० वेली पूसिन कहते है कि श्रीलाभ (विद्वान) वेदना की उत्पत्ति मे तीन क्रियाओ का पृथक् विश्लेषण करते है। अर्थेति प्रथम इन्द्रिय चेतना विशेष का वस्तु के साथ सम्पर्क होता है फिर उस वस्तु का बोध होता है और फिर वेदना उत्पन्न होती अर्थात् इन्द्रिय चेतनात्मक सम्पर्क और बोध के पश्चात् सुख व दुःख की प्रतिक्रिया होती है। उसी प्रदान स्पर्श के साथ एकदम वेदना उत्पन्न हो जाती है। पूसिन महोदय मज्झिमनिकाय (तृतीय अध्याय, पृ० २४३) का आधार लेते हुए अपना मत व्यक्त करते है कि जिस प्रकार दो लकडियो का रगड़ने से ऊष्मा उत्पन्न होती है।[2]

उसी प्रकार स्पर्श की उत्पत्ति षडायतन से होता है और षडायतन की उत्पत्ति नाम रूप से। नाम-रूप विज्ञान से उत्पन्न होता है। विज्ञान मा के गर्भ मे स्थित होकर ५ स्कन्धों की उत्पत्ति करया है जिनको नाम रूप कहते है और इन स्कन्धो मे ६ इन्द्रियो की ज्ञान चेतना का निवास होता है।

सभवत. विज्ञान मा के गर्भ मे अन्तर्बोध अथवा चेतना का बीज रूप है जो नये शरीर के पच भूतो अथवा पच तत्त्वो को अवस्थित करता है। यह अन्तश्चेतना पूर्व कर्मो अथवा सस्कारो का फल है जो पिछले समय मे मृत्यु के समय तक पूर्ववर्ती जीवन में सकलित किये गये थे।

---

[1] प्रो० डी० ला० वेली पसिन अपनी पुस्तक थ्योरी दे डोज कौजेज (पृ० स० २६) में कहते है कि सालिस्तभ मूत्र उपादान शब्द की व्याख्या तृष्णा—वैपुल्य रूप मे करता है अर्थात् विपुल्य तृष्णा और चन्द्रकीर्ति महोदय भी इसको सही अर्थ देते हैं। मध्यम्मिकवृत्ति (पृ० स० २१०) देखिये। गोविन्दानन्द उपादान को तृष्णा के द्वारा उत्पन्न प्रवृत्ति के रूप मे समझाते है अर्थात् कामना की पूर्ति के लिए सक्रिय मनोवृति परन्तु यदि उपादान से अर्थ आधार से है तो ये पंच स्कन्धों को सूचित करेंगे। मध्यम्मिकावृत्ति मे कहा है कि उपादानम् पंचस्कन्धलक्षणम् पचोपादानस्कन्धाख्यम् उपादानम्। मध्यम्मिकवृत्ति २७:६।

[2] पूसिन की थ्योरी दे दौज कौजेज, पृ० २३।

बौद्ध लोगों का यह विश्वास था कि आदमी के मरते समय जो विचार होते हैं उसके अनुसार ही उसको अगले जन्म में योनि प्राप्त होती है।[1] गर्भ में विज्ञान की स्थिति पूर्व जन्म के पिछले विज्ञान के द्वारा निश्चित होती है। कुछ दार्शनिकों के मत से यह उस स्वरूप का प्रतिबिंब है जिस प्रकार गुरु से शिष्य को ज्ञान अवतरित होता है। जिस प्रकार एक दीपक के प्रकाश से दूसरा दीपक जलता है अथवा जिस प्रकार मोम या गरम चपडी पर मोहर का चिन्ह बनता है, जिस प्रकार सारे स्कन्ध जीवित तत्व के रूप में परिवर्तित होते रहते है। उसी प्रकार मृत्यु भी एक प्रकार का परिवर्तन है। उत्पत्ति और नाश का क्रम प्रवाह रूप से सदैव चलता रहता है। इस क्रम मे कही अवरोध नहीं होता। जिस प्रकार तुला के दो पलड़े बराबर ऊपर नीचे होते रहते हैं। उसी प्रकार नये स्कन्ध जन्म लेते है और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् पूर्व कर्म से जो विज्ञान उत्पन्न होता है वह उस मा के गर्भ में प्रवेश कर जाता है जिसमे नव स्कन्ध परिपक्व हो रहे हों। इस प्रकार यह विज्ञान नये जीवन का नया सिद्धान्त निश्चय करता है। इस विज्ञान में नाम व रूप सलग्न हो जाते हैं।

विज्ञान संस्कारों से उत्पन्न होता है। नये अस्तित्व (उत्पत्ति) मे किस योनि और किस स्वरूप को विज्ञान निश्चित करेगा (नामयति) यह भी सस्कारो[2] के द्वारा निश्चित होता है। वास्तव मे मृत्यु का होना (मरण भव) और नये जीवन के प्रारभ मे विज्ञान का गर्भ प्रवेश करना (उपपत्तिभव) एक साथ न होते हुए भी एक के पश्चात् एक के क्रम मे होते है। यह क्रम इस प्रकार चलता रहता है कि कभी-कभी यह कह दिया जाता है कि मृत्यु और जन्म एक साथ ही होते है। यदि विज्ञान गर्भ मे प्रवेश करता तो नाम रूप प्रकट नही हो सकता था।[3]

---

[1] वन वाटिका वृक्ष और पौधो की देवताओ ने गृह स्वामी चित्त को बीमार देखकर कहा कि आप सकल्प करें कि मैं अगले जन्म मे चक्रवर्ती राजा बनूंगा—सम्युत्त चतुर्थ खण्ड, पृ० ३०३।

[2] स चेदानन्द विज्ञान मातुः कुक्षि नेवक्रामेत् न तत् कलल कललत्वायसंन्निवर्तेत—मध्यमवृत्ति (५५२)। इससे तुलना कीजिये चरक, शरीर, (तीसरा अध्याय पृ० सं० ५-८) जहाँ पर उहपादक सत्व की बात कही गई है जो आत्मा को शरीर से जोड़ता है और जिसके अभाव मे गुण व चरित्र में परिवर्तन हो जाता है, इन्द्रियां मूढ हो जाती है और जीवन समाप्त हो जाता है। जब यह अपने विशुद्ध रूप मे होता है तो पूर्व जन्म की भी स्मृति हो आती है। चरित्र, चित्त, शुद्धि, विराग, स्मृति, भय, स्फूर्त्ति सभी मानसिक शक्तियां इससे ही उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार रथ बहुत से तत्वों के मेल से बनता है उसी प्रकार भ्रूण या गर्भ भी अनेक तत्वो से बनता है।

[3] माध्यमिकवृत्ति पृ० २०२-२०३। पूसिन "दीघ (दूसरा अध्याय, पृ० ६३) से उद्धरण देते है। यदि विज्ञान नही उतरता तो क्या नाम रूप हो सकते थे? गोविन्दा-

इन बारह कारणो की शृंखला तीन जन्मों तक चलती है। इस प्रकार पूर्व जन्म की अविद्या और सस्कार के द्वारा विज्ञान नाम रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव की इस जन्म मे उत्पत्ति होती है जिससे आगामी जन्म का निर्धारण होता है। यह भव जाति और जरा मरण दूसरे जन्म के लिए निर्धारित करता है[1]

इस शृंखला की ये बारह कड़िया जो तीन जन्मो मे तीन शाखाओ में फैली हुई है जो दुख भोगने का माध्यम है स्वाभाविक रूप से एक दूसरे का हेतु है। अभिधम्मात्थ सग्रह मे कहा गया है कि इन बारह कारणों में से प्रत्येक कारण एक निमित्त है। जन्म के फलस्वरूप दु:ख आदि कष्ट होते हैं। पुन: अज्ञान और चित्त की प्रवृत्ति की गणना कर लेने के पश्चात् यह सरलता से समझ मे आ जाता है कि इसके पश्चात् उत्कट कामना (तृष्णा) परिग्रह और लोक अर्थात् उपादान और कर्म के पश्चात् अज्ञान और चित्त-प्रवृत्ति का हिसाब आसानी से समझ मे आ जाता है। तत्पश्चात् पुनर्जन्म, जरा एव मरण का सिद्धान्त भी स्पष्ट हो जाता है। यहा तक कि इनसे मिलने वाले पुनर्जन्म एव अन्तश्चेतना और पाच प्रकार के कर्म फल भी आसानी से समझे जा सकते है।

पिछले जन्म मे पांच कारण अर्थात् पाच हेतु और उनसे उत्पन्न ५ प्रकार के फल अथवा भोग।

इस जीवन मे पाच हेतु और आने वाले जीवन मे पच फल अथवा पच भोग इनसे मिलकर २० प्रकार बनते है–तीन युग्म (१) सस्कार और विज्ञान (२) वेदना और तनहा (३) भव और जाति। फिर चतुर्थ समुच्चय (पूर्व जन्म मे एक कारण समुच्चय इस जन्म मे उसके फलस्वरूप एक समूह, इस जन्म मे पुन एक वर्ग, इस प्रकार इस

नन्द ब्रह्म सूत्र के शाकरभाष्य मे कहते है (पृ० १६ द्वितीय अध्याय, दूसरा खण्ड) कि भ्रूण मे पूर्व जन्म के सस्कार के द्वारा प्रथम अन्तर चेतना की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् चार तत्वो की जिनको वह नाम कहता है और उससे श्वेत और लाल रज और वीर्य और भ्रूण की प्रथम अवस्था (कलल-बुद्बुदअवस्था) की उत्पत्ति होती है।

[1] यह व्याख्या प्रारम्भिक पाली ग्रन्थो में नही पाई जाती। लेकिन बुद्ध घोष महानिदानसुत्तन्त पर लिखी अपनी व्याख्या समगलविलासिनी मे इसका वर्णन करते है। यह हमे अभिधम्मत्थ सगह आठवा अध्याय (पृ० ३) भी मिलता है। अविद्या और चित्त की क्रियाएँ पिछले जीवन की वस्तुएँ है। जाति जरा और मरण भविष्य के है। इसको अभिणम्म तृतीय अध्याय २०-२४ पृष्ठ पर त्रिकाण्डक नाम दिया है। दो भविष्य की शाखा मे और आठ मध्यम्म शाखा मे बताये है–सेप्रतित्य-सम्मुत्पादो द्वादशअगस्त्रिकाण्डक पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येष्टौ।

कारण कार्य समुच्चय का प्रत्येक समूह ५ प्रकारो से बनता है और इस तरह ये २१ तरह का वर्णित है।[1]

ये परस्परनिर्भर बारह कडियां (द्वादश अंश) पतिच्चसमुप्पाद प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का भाग है और यह माना जाता है कि ये बारहों कड़ियां अपनी एक श्रृंखला पर निर्भर है[2] जो स्वयम् दुःखात्मक है और दुःखो के इस चक्र के साधन है। पतिच्च सम्मुपाद अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या बौद्ध साहित्य में अनेक रूपों मे की[3] गई है। सम्मुत्पाद का अर्थ है प्रकट होना (प्रादुर्भाव) और प्रतीत्य प्रति ईय का अर्थ है प्राप्त होने के पश्चात्। इन दोनों शब्दो के मिला देने से अर्थ होता है "प्राप्त होने के पश्चात् प्रादुर्भाव।" वे तत्व जिनसे प्रादुर्भाव होता है उनको हेतु और पच्चय (भूमि अथवा आधार) कहते है। ये दोनो शब्द कई बार एक ही अर्थ में पर्याय की तरह प्रयुक्त किये जाते है। परन्तु पच्चय कभी-कभी विशेष अर्थ मे भी प्रयुक्त किया जाता है। इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि अविज्जा संस्कार का पच्चय है उससे यह अर्थ होता है कि अविज्जा सखारो के उत्पन्न होने की आधार भूमि (थिती) है। यह उनकी प्रक्रियाओ का भी आधार है–वह निमित्त है जिससे वे कायम रहती है (निमित्तात्थिती)। यही उनके आयुहन (समुच्चय), उनके एक दूसरे से सम्बन्ध, उनके बौद्ध, उनके एक साथ प्रकट होने, उनके हेतु रूप कार्य और जिन वस्तुओ के लिए वे स्वयम् हेतु है उन क्रियाओ के लिए भी यह आधार है। इस तरह अविज्जा इन सारे नौ प्रकारो के सखार का आधार है–अविज्जा इस तरह नौ प्रकारो से भूत व भविष्य दोनों मे सखार का आधार है, यद्यपि अविज्जा स्वयम् अन्य आधारो[4] पर निर्भर हैं। जब इस कारण शृंखला के हेतु तत्व का मनन करते है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक के पश्चात् एक वस्तु एक दूसरे का हेतु होने से यह क्रम निरन्तर चलता रहता है परन्तु जब हम पच्चय तत्व को देखते है तो हमको इस कारण के स्वरूप का आधार के

---

[1] औग और मिसेज राइज डेविड्ज कृत "अभिधम्मथसगह" का अनुवाद पृ० १८९-१९०।

[2] यह द्वादश अग अथवा १२ कड़िया बौद्ध दर्शन मे सदैव एक से ही नही पाये जाते हैं। "डाइलॉग्स ऑफ बुद्ध" नामक पुस्तक मे (द्वितीय अध्याय पृ० २३) अविज्जा और सखार का वर्णन नही है। इसमे अन्तः चेतना से इस चक्र का प्रारम्भ किया गया और यह कहा गया कि बोध-ज्ञान नाम और रूप से परे नही जाता।

[3] मा० वृ०, पृ० ५ से।

[4] देखिये–पतिसभिदासग्ग पहला खण्ड पृ० स० ५०। मज्झिमनिकाय, पहला अध्याय, पृ० सं० ६७, सखार अविज्जाविदाना अविज्जासमुदाया अविज्जाजातिका अविज्जा-पभवा।

पर स्पष्टीकरण हो जाता है। दृष्टान्त के तौर पर जब यह कहा जाता है कि अविद्या उपर्युक्त नौ प्रकारों से संस्कार का आधार है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि ये संस्कार अविद्या के ही रूप हैं।[1] परन्तु यह दृष्टिकोण बौद्ध दर्शन में विशेष रूप से विकसित नहीं हो पाया है अत. इसके आधार पर आगे बढना उचित नहीं होगा।

खन्धों (स्कन्धों) का वर्णन

यह शब्द खन्ध जिसका सस्कृत स्वरूप स्कन्ध है साधारणतया समूह अथवा समुच्चय के अर्थ मे प्रयुक्त होता है यद्यपि इसका शाब्दिक अर्थ वृक्ष का तना है। बुद्ध के अनुसार आत्मा की कोई स्थिति नही है। उनका मत है कि जब मनुष्य ये कहते है कि उन्होने बहु चर्चित आत्मा का पता पा लिया है तब वास्तव मे स्थिति यह होती है कि उन्हे पाच स्कन्धों का अथवा उनमे से किसी एक का पता लग पाता है। ये स्कन्ध *भौतिक और मनोवैज्ञानिक स्थितियो का समुच्चय हैं जो हमारी वर्तमान अवस्था का* कारण है और पच वर्गो मे विभाजित है–(१) रूप शरीर और इन्द्रिया और इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान आदि (इसके चार तत्व हैं), (२) वेदना (सुख दु ख अथवा सुख-दुख से परे होने की अनुभूति) (३) सज्ञा (सकल्पनात्मक ज्ञान) (४) सखार (सस्कार) [मनोदशा, ऐन्द्रिय ज्ञान, अनुभूतियो और कल्पना के द्वारा सामूहिक रूप से उत्पन्न सूक्ष्म ज्ञान से सबधित] और (५) विज्ञान (बोध चेतना)।

ये सारी स्थितियाँ एक दूसरे पर निर्भर है और एक के पश्चात् दूसरी उत्पन्न होती है (पतिच्चसमुप्पादों) और जब कोई एक व्यक्ति कहता है कि वह आत्मा को देखता है तो वह अपने आप को धोखा देता है क्योकि वह इन स्कन्धो में एक एक अथवा एक से अधिक को देखकर यह मान लेता है कि वही आत्मा है। रूप खण्ड में रूप शब्द तत्व और भौतिक गुणो के लिए प्रयुक्त किया गया है साथ ही इन्द्रिय चेतना और उससे प्राप्त जो सग्रहीत ज्ञान है उसके भी अर्थ मे प्रयोग में आया है। साथ ही रूह को *"खन्ध यमक" मे विशुद्ध मानसिक स्थिति के अर्थ मे भी प्रयुक्त किया गया है* (पहला अध्याय, पृ० १६) और सयुत्तनिकाय (तीसरा अध्याय, पृ० ८६) में भी इसी अर्थ में यह प्रयुक्त हुआ है। "धर्म-सग्रह" मे रूप स्कन्ध का अर्थ पाचों इन्द्रियों और चेतनाओं के समूह के रूप मे दिया है। साथ ही इन्द्रियों द्वारा ज्ञान-वहन की जो क्रियाएँ (विज्ञप्ति) हैं वे भी रूप-स्कन्ध मे सम्मिलित है।

---

[1] अस्मिता (अहंभाव), राग (ममता मोह), द्वेष, अभिनिवेश (स्वार्थ), इनकी व्युत्पत्ति योग शास्त्रो ने अविद्या से बताई गई है और यह कहा गया कि अविद्या के ही पाच क्रमिक चरण है (पचप्रवाह अविद्या)।

धम्मसंगणि में विशुद्ध व्याख्या करते हुए रूप के बारे मे कहा गया है। "चत्तारोच महाभूत चतुन्नांच महाभूतानाम् उपादाय रूपम्" (अर्थात् चार महाभूत अथवा तत्व और उन महाभूतो के ग्रहण से जो कुछ उत्पन्न होता है उसे रूप कहते हैं।[1] बुद्धघोष रूप की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि चार महाभूत और उन पर निर्भर (निस्साय) जो कुछ है उससे जो उत्पन्न तत्व है उसे रूप कहते है। रूप मे षडिन्द्रियां और उनसे उत्पन्न विकार सम्मिलित है। यह समझाते हुए कि चार तत्वों को महाभूत क्यों कहते हैं, बुद्ध घोष लिखते है कि "जिस प्रकार एक जादूगर (मायाकार) जल को कड़ा न होते हुए भी ठोस बना देता है, पत्थर सोना न होते हुए भी सोने के समान दिखाई देता है जादूगर स्वयम् प्रेत और पक्षी न होते हुए भी कभी राक्षस और पक्षी के रूप में दिखाई देता है इसी प्रकार ये तत्व यद्यपि नीले नही है फिर भी ये नीले दिखाई देते हैं (नीलम् उपादा रूपम्); यद्यपि ये पीले, लाल, श्वेत आदि नही है फिर भी पीत, लाल और श्वेत दिखाई देते हैं। (ओदात्यङ्पादारूपम्) अत: मायाकार के द्वारा प्रस्तुत दृश्यों के समान होने से इन तत्वाणि को महाभूत कहते है।[2]

सयुक्तनिकाय मे बुद्ध कहते है कि 'हे भिक्षुओ! इसको रूपम् इसलिये कहते है कि ये अपने आपको प्रकट करता है (रूपायति)। यह अपने आपको किस प्रकार प्रकट करता है? इसके उत्तर मे कहा गया है कि यह गर्मी सर्दी, भूख, प्यास आदि के रूप मे अपने आपको प्रकट करता है। मच्छर, कीट, वायु, सूर्य और सर्प आदि के स्पर्श के रूप मे इस रूप को हम प्रत्यक्ष देखता है और इसलिये इसको रूप कहते है।[3]

ऊपर दिये हुए स्थलो मे रूप के सम्बन्ध मे विरोधी एवं अस्पष्ट विचार धाराओं का यदि समन्वय किया जाय तो भिन्न २ तथ्य प्रकाश मे आते हैं। जहाँ तक मैं समझता हू कि जो कुछ इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई देता है और जिनके कारण चेतनाओं की प्रतिक्रिया होती है उन सब को रूप शब्द से सम्बोधित किया गया है। भौतिक जगत् में जो रग, रूप, गन्ध आदि पार्थिक इन्द्रियो पर प्रभाव डालने वाली वस्तुएँ हैं उनमे और जो उनके कारण मन अथवा चेतना मे प्रतिक्रिया होती है उन दोनो मे कोई अन्तर नही किया गया। इन दोनो मे केवल सख्यात्मक अन्तर ही है। चेतना मे प्रतिक्रिया उनकी अनेक वस्तुओ पर निर्भर है किन्तु इन्द्रियो पर प्रतिक्रिया करने वाली वस्तुएँ और प्रतिक्रिया दोनों को ही रूप माना है। कुछ अवस्थाओं मे पार्थिव वस्तुओं के वर्णन के साथ साथ ही उनसे उत्पन्न संवेदनाओं का वर्णन किया गया है। बौद्ध

---

[1] धम्मसंगणि, पृ० १२४ से १७६।

[2] अत्थशालिनी, पृ० सं० २६६।

[3] संयुत्तनिकाय, तीसरा अध्याय, पृ० सं० ८६।

दर्शन में संभवत पार्थिव तत्व और चेतना तत्व मे जो विभेद आज माना जाता है वह सभवत उस समय नही माना जाता था। यहा यह स्पष्ट कर देना उचित ही होगा कि इन दोनो तत्वो मे विभेद अथवा द्वैत न तो उपनिषद दर्शन में पाया जाता है और न साख्य दर्शन मे। जिसके सम्बन्ध मे यह धारणा है कि वह (सांख्य दर्शन) बौद्ध दर्शन से पूर्व उत्पन्न हुआ। चार महाभूत किसी न किसी स्वरूप में प्रकट होने के कारण रूप कहलाते थे। अनेक प्रकार की सवेदनाएँ भी रूप नाम से जानी जाती थी और इसी प्रकार बहुत सी मानसिक चेतनाएँ अथवा मनोस्थितिया रूप[1] के अन्तर्गत समझी जाती थी। आयतन अथवा इन्द्रिय चेतना भी रूप मानी जाती थी (इन्द्रिय विशेष, चेतना प्रतिक्रिया के क्षेत्र को आयतन नाम मे सबोधित किया गया है। जैसे नेत्र के देखन के क्षेत्र को अर्थात् जो कुछ दिखाई देता है उसको आयतन कहा गया है।) महाभूत अथवा चोर तत्व केवल परिवर्तनशील रूप है। इस प्रकार ये चोर तत्व और उनके साथ जो भी सम्बन्धित जगत् है वह सब रूप कहलाते थे। इन सबसे मिलकर रूप स्कन्ध का निर्माण होता है (ये सब पार्थिव वस्तुएँ हैं जिनके साथ इन्द्रियो का व्यापार संलग्न है। इन्द्रिय जन्य चेतनाएँ, और सवेदनाएँ ये सब रूप खण्ड के भाग है।[2]

संयुक्तनिकाय मे तीसरा अध्याय, पृ० स० १०१) कहा गया है, "चारो महाभूत रूप खण्डो के वहन के लिए हेतु और पच्चय है (रूक्खन्धस्य परञ्ञापनाय)। फस्म अथवा स्पर्श से वेदना का सचार होता है। समास्कन्ण की वेदना का हेतु भी स्पर्श है। यह स्पर्श सस्कार खण्ड की वेदना का भी हेतु व पच्चय है। परन्तु नाम रूप विपान खण्ड के संचारण का हेतु एवं पच्चय है।" इस प्रकार केवल स्पर्श से सवेदना की ही उत्पत्ति नहीं होती परन्तु सज्ञा का अर्थ है वह अवस्था जहाँ विवेक चेतना जागृत होती है। यह वह अवस्था है जब लाल अथवा पीले रग आदि का भेद समझ में आने लगता है।

श्रीमती राइज डेविज सज्ञा के बारे में लिखती है कि अभिधम्म पिटक का जब मै सम्पादन कर रही थी तब मुझे संज्ञा का एक विशेष वर्गीकरण देखने को मिला। पहले वर्गीकरण मे मज्ञा इन्द्रिय द्वारा किसी वस्तु की बोध-चेतना और दूसरे वर्गीकरण मे नामादि से किसी वस्तु की बोध चेतना का होना है। ये दोमों अलज २ पायी जाती है। पहले को अवरोधात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है। (पतिघसञ्ञा)। बुद्धघोष इनके सम्बन्ध मे लिखते है कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान देखने सुनने आदि से होता है जबकि बाह्य वस्तुओ का चेतना पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है अथवा यह कह सकते हैं कि उन बाह्य वस्तुओं का चेतना पर सघात होता है। दूसरा प्रत्यक्ष ज्ञान पर्यायवाची शब्द अथवा नाम आदि द्वारा होता है (अधिवचानामज्ञा)। यह सचारी चेतना (मन) द्वारा होता

---

[1] खन्घयमक।

[2] धम्मसगणि, पृ० १२४।

है जैसे यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के पास बैठा हुआ है, दूसरा व्यक्ति कुछ सोच रहा है। पहला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से पूछता है कि आप क्या सोच रहे हैं ? तब दूसरा व्यक्ति उसकी भाषा से दूसरे व्यक्ति के सबंध में उसे न देखते हुए भी जान लेता है। इस प्रकार संज्ञा ज्ञान की दो अवस्थाएँ हैं (१) इन्द्रियों के द्वारा जो चेतना उत्पन्न होती है उसकी प्रतिक्रिया। (२) वस्तु-विशेष को उसके नाम आदि से पहचानने की शक्ति।[1]

संखार के सम्बन्ध मे संयुक्तनिकाय मे (तीसरा अध्याय, पृ० सं० ८७) इस प्रकार व्याख्या की गई है, क्योंकि यह समन्वय करता है (अभिसंखरन्ति) अत इसे सखार कहते हैं। यह रूप सज्ञा एवं संखार और विञ्ञान को रूप सज्ञा, सस्कार और विज्ञान के रूप मे समन्वित करता है। यह संखार इसलिए कहलाता है कि यह इन सब समुच्चितो को मिलाकर एक कर देता है सखतम् अभिसखरन्ति) इस प्रकार यह ऐसी समन्वय धारणी प्रतिक्रिया है जिसके द्वारा निश्चेष्ट रूप सज्ञा, सस्कार, विज्ञान आदि तत्व मिलकर एक हो जाते है। बौद्ध दर्शन मे ५२ सस्कार बताए गए है और साथ ही यहाँ यह भी बताया गया है कि सस्कार तत्व-समूह को समुच्चित करता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संखार शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे किया गया है (१) मनः स्थिति के अर्थ में (२) ऐसी क्रिया के रूप में जो विभिन्न तत्वो मे समन्वय उत्पन्न करती है।

बुद्धघोष के अनुसार विज्ञान अथवा चित्त शब्द उन दोनो अवस्थाओ के लिए उपयोग मे आता है जो प्राथमिक बौद्धिक प्रतिक्रिया के आरभ की होती है और जो उससे हुए अन्तिम बोध (ज्ञान) की होती है।

बौद्ध मनोविज्ञान की व्याख्या करते हुए बुद्धघोष लिखते है कि "चित्त पहले वस्तु विशेष के सम्पर्क अथवा (फस्स अथवा स्पर्श) मे आता है (आरमण) फिर वेदना, प्रत्यय (सज्ञा) और चेतना की उत्पत्ति होती है। यह सम्पर्क एक विशाल भवन के स्तम्भो की तरह से है और शेष इन खम्भो पर बने हुए ढाचे के समान है ("दध-सभार सदिसा") परन्तु इससे यह नही सोचना चाहिए कि स्पर्श मानसिक प्रक्रिया का आरम्भ है क्योंकि एक सम्पूर्ण बोध चेतना की क्रिया में यह नही कहा जा सकता कि यह वस्तु पहले आती है या पीछे। इस प्रकार हम स्पर्श और वेदना को, सकल्पना और चेतना को एक ही क्रिया का अंग मान सकते हैं। यह स्वयं मे एक ऐसी स्थिति है जिसका विशेष महत्व अथवा अस्तित्व नही है परन्तु क्योंकि इसके द्वारा वस्तुओं का भान होता है, इसलिए इसको स्पर्श कहते हैं।" "स्पर्श से किसी वस्तु का भौतिक स्पर्श ही अभिप्रेत नही है, इसके द्वारा वस्तु का और मानसिक चेतना (चित्त) का सघात (सम्पर्क) होता

---

[1] बुद्धिस्ट साइकोलोजी, पृ० ४६-५०।

है जिससे सम्भव होता है देखना, कानो मे ध्वनि सुनना आदि। यहाँ ध्वनि का सघात श्रवण शक्ति पर होता है। इस प्रकार स्पर्श का विशिष्ट गुण वस्तुओं के साथ सपर्क में आना है अथवा वस्तु सघात स्पर्श का कार्य है। इस सघात अथवा सम्पर्क से बाह्य वस्तु का मानसिक स्वरूप मे परिवर्तन होता है। अर्थात् बुद्धि या चेतना स्पर्श के कारण ही बाह्य सामग्री के रूप को ग्रहण करती है।" टीका में इस प्रकार कहा गया है कि वस्तुओ के चतुर्द्वारीय चेतना मे स्पर्श की विशेषता बाह्य वस्तुओ के साथ सम्पर्क है। यह सम्पर्क पचेन्द्रियों द्वारा होता है जिनको बुद्धि के ५ द्वारो के रूप मे माना गया है। इस पचद्वारीय सम्पर्क के सम्बन्ध मे यह माना गया है कि इसकी विशेषता स्पर्श है और इसकी क्रिया संघात है, परन्तु बुद्धि के द्वार खोलने के प्रक्रिया स्पर्श से होती है न कि सघात से। फिर इस सूक्त का उद्धरण दिया गया है–"जैसे यदि दो मेढो मे लडाई हो और उनमे से एक नेत्र हो और दूसरा वह वस्तु जिसको नेत्र देखता है तो उनका भिड़ना सम्पर्क या स्पर्श होगा। यदि दो वस्तु एक दूसरे से टकराएँ अथवा दो हाथ ताली बजाते हुए एक दूसरे से मिले तो एक हाथ नेत्र का रूप होगा और दूसरा हाथ उस वस्तु का, जो देखी जाती है। इन दोनो का टकराना सम्पर्क का प्रतिनिधित्व करेगा। इस प्रकार स्पर्श का गुण छूना है और उसकी क्रिया सघात है।[१] स्पर्श इस प्रकार तीन वस्तुओ का मिलन है (वस्तु, चित्त और इन्द्रिय ज्ञान) और उसका फल वेदना और अनुभूति है। यद्यपि यह वेदना वस्तु के द्वारा प्रारम्भ होती है लेकिन इसका प्रभाव चित्त पर होता है और इसका मुख्य अग अनुभव है जिसके द्वारा वस्तु के रग रूप और रसादि का ज्ञान होता है। जहाँ तक वस्तु के रसास्वादन का सम्बन्ध है वहाँ पर अन्य वृत्तियाँ अत्यन्त सूक्ष्म रूप से ही रसास्वादन करती है। सम्पर्क की क्रिया केवल छूने से ही समाप्त हो जाती है। देखने की क्रिया केवल वस्तु विशेष का पहचानने मे अथवा देखने मे समाप्त हो जाती है। चेतना केवल समन्वय करती है और बोध चेतना केवल बोध कराती है परन्तु वेदना (अनुभूति) अपनी क्षमता, दक्षता और शक्ति से वस्तु विशेष के पूर्ण रस के आनन्द को प्राप्त करती है। वेदना राजा के समान है और सब प्रवृत्तियाँ रसोइयो के समान है। जिस प्रकार एक रसोइया अनेक रसो वाले स्वादिष्ट भोजन तैयार करता है उसे एक टोकरी मे रखकर बद कर राजा के पास ले जाता है फिर उस टोकरी का ढक्कन खोलकर उसमे से सर्वोत्तम शाकादि वस्तुओ को थाल मे सजाता है, फिर उन वस्तुओ मे से वह देखने के लिए एक पात्र मे लेकर चखता है कि उनमे कोई दोष तो नही है और तत्पश्चात् विभिन्न स्वादिष्ट रसों से युक्त भोजन राजा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। राजा स्वामी होने के कारण और साथ ही तेजस्वी और दक्ष होने के कारण इच्छानुसार उन वस्तुओ मे से जो कुछ पसन्द करता है अथवा जिस वस्तु की उसे इच्छा होती है उसको ग्रहण

---

[१] अत्थसालिनी पृ० स० १०८, अनुवाद पृ० स० १४३-४४।

करता है और रसास्वादन करता है, इसी प्रकार रसोइयों के द्वारा भोजन को चखने की क्रिया के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि अन्य प्रवृत्तियो के द्वारा थोड़ा रसास्वाद खड के रूप से इन वस्तुओ का किया जाता है जैसे रसोइया भोजन के थोडे से हिस्से को चखता है इसी प्रकार अन्य प्रवृत्तियाँ वस्तु विशेष के केवल थोडे से रस से स्वाद ग्रहण करती है। जिस प्रकार महाराजा सर्वाधिकारी महामहिम स्वामी एवं रस-ज्ञान मे दक्ष होने के कारण इच्छानुसार वस्तुओ को ग्रहण करता है उसी प्रकार वेदना (अनुभूति) सब प्रवृत्तियो की स्वामी होने के कारण (दक्ष होने के कारण) वस्तुओं का पूर्णरूपेण रसास्वाद करती है। अतः यह कहा जाता है कि रसास्वाद और अनुभूति वेदना की क्रिया है।"[1]

सज्ञा की विशेषता विशेष चिन्हो द्वारा वस्तु विशेष को पहचानना है जिसे बौद्ध दर्शन मे पच्चभिञ्ञा (प्रत्यभिज्ञा) का नाम दिया गया है और जिन चिन्हों मे पहचानते हैं उसे अभिज्ञान (अभिञ्ञानेन) कहा है। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार किसी वस्तु को पहचानने के लिए उसके सम्पूर्ण स्वरूपो को साथ-साथ पहचानना आवश्यक है। यह बोध "सब्बसगहिकवसेन" शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। चेतना का कार्य विभिन्न स्वरूपो मे समन्वय करना और उनका एक साथ बांधना (अभिसंदहन) है। चेतना विशेष रूप से पूर्ण शक्ति के साथ कार्य करने वाली है। इसका धर्म और प्रयत्न दोनो ही द्विगुणित होते है। इसलिए प्राचीन दार्शनिको ने कहा है "चेतना उस भू स्वामी किसान की तरह से है जो अपने खेतो को काटने के लिए ५५ शक्तिशाली आदमियों को इकट्ठा कर बडे उत्साह के साथ उनको कार्य मे लगा देता है और उनसे कहता है कि अपने-अपने हिस्से लेकर भाग मे आने वाली फसल को काट डालो। वह उनके खाने पीने आदि की व्यवस्था सुचारु रूप से करता है। उनको प्रसन्न रखते हुए और उत्साहित करते हुए उन सबसे उनकी शक्ति के अनुसार खूब काम लेता है। इसी प्रकार चेतना एक भू-स्वामी किसान के समान है। बोध ज्ञान की ५५ नैतिक प्रवृत्तियाँ ५५ शक्तिशाली श्रमिको के समान हैं। चेतना इन ५५ प्रवृत्तियों से कसकर दोहरा काम लेती है और ये प्रवृत्तियाँ चेतना के अकुश के नीचे नैतिक अथवा अनैतिक कार्यों को बडी तेजी से करती है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि सखार के सक्रिय तत्व को चेतना के नाम से पुकारा गया है।

"जब कोई व्यक्ति कहता है "मै" तब या तो वह सभी स्कन्धों को सम्पूर्ण रूप से अथवा इन स्कन्धो मे से किसी एक से अर्थ रखता है परन्तु अपने आपको धोखा देता हुआ छलना से "मैं" शब्द का उच्चारण करता है। जिससे कोई यह नही कह सकता कि कमल की सुगन्धि उसकी पखुडियो से रंग रूप से अथवा उसके पराग से है इसी

---

[1] अत्थसालिनी, पृ० सं० १०९-११०, अनुवाद पृ० सं० १४५-१४६।

[2] वही, पृ० सं० १११, अनुवाद पृ० सं० १४७-१४८।

प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि "मैं" का अर्थ रूप से है अथवा वेदना से है अथवा स्कन्धों से है। स्कन्धों की व्याख्या में यह कहीं नहीं पाया जाता कि वे क्या वस्तु हैं।"[1]

अविज्जा और आसव

अविज्जा (अविद्या) अर्थात् अज्ञान सर्वप्रथम किस प्रकार आरम्भ हुआ इस प्रश्न का कोई उत्तर नही दिया जा सकता। यह कहना कठिन है कि अज्ञान अर्थात् अस्तित्व की कामना का कब प्रारम्भ हुआ होगा। परन्तु इस अविज्जा अथवा अज्ञान का फल जीवन मरण के चक्र मे स्पष्ट रूप से देखा जाता है जिसके साथ दुःख व सुख सलग्न है, जो सुख व दु.ख, जीवन मरण के साथ उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है। यह नही कहा जा सकता है कि इस जीवन मरण के चक्र का प्रारम्भ कहाँ से होता है। इस जीवन मरण के चक्र से अविद्या की स्थिति पुनः पुनः होती है। इसके अतिरिक्त यद्यपि अविद्या जीवन के साथ संलग्न है परन्तु इसको उत्पन्न करने वाले अन्य भी कई तत्व है। उनमे से विशेष महत्वपूर्ण तत्व आसव है। आसव से तात्पर्य मन की विकृतियो से है। इन विकृतियों को नष्ट करने से अविद्या का नाश हो सकता है।[2] धम्मसगणि मे आसवों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—काम आसव,

---

[1] वारेन. "बुद्धिजम इन ट्रान्सलेशन" (विशुद्धि मार्ग १७वा अध्याय, पृ० १७१।

[2] मज्झिमनिकाय, पहला अध्याय, पृ० सं० ५४। चाइल्डर आसव का अनुवाद विकृतियो के रूप मे करते हैं। मिसेज राइस डेविडस इसका अर्थ मादक तत्वो के रूप मे करती है। सस्कृत मे आसव शब्द का अर्थ पुरानी शराब से है। बुद्धघोष के अनुसार यह शब्द सु धातु से उत्पन्न हुआ है और उनके अनुसार इसका अर्थ है सुरा की तरह जो बहुत दीर्घकाल से बन्द हो—(चिरपारिवासिकत्तेन) ये नेत्रो के माध्यम से मस्तिष्क पर प्रभाव डालते है और सारे प्राणियो को उत्पन्न करते है। जितनी भी मदिरायें है वे बहुत समय तक तलघरो मे बद होने के कारण आसव कहलाती है। सम्भवत इसका अर्थ यह है कि विकृतियाँ मन के अन्दर गुप्त रूप से बद रहने के कारण अधिक मादक हो जाती है और दुःखो का कारण होती है। बुद्ध घोष के अनुसार दूसरे अर्थ मे ससार के दु.खो के उत्पन्न करने के कारण ये विकृतियाँ आसव कहलाती है और इस प्रकार सु धातु से बने आसव शब्द को सार्थक करती है (अत्थसालिनी पृ० ४८)इस शब्द की तुलना (विभेद) जैन शब्द आस्रव से करनी चाहिए। जैन दर्शन मे आस्रव से अर्थ है कर्म तत्व का प्रवाह। बुद्धघोष द्वारा एक शब्द मे दिए गए अर्थ के अनुसार इस शब्द का अनुवाद करने मे बहुत कठिनाई होने से चाइल्डर महोदय के अनुवाद के अनुसार इस शब्द का अनुवाद मैंने नैतिक विकृतियो के रूप मे किया है।

भाव ग्रासव, दिट्ठा ग्रासव एवं ग्रविज्जासव। कामासव से ग्रर्थ है–वासना, मोह ग्रौर इन्द्रियजन्य विषयों की ग्रोर ग्राशक्ति; सांसारिक ग्रानन्दों की भूख। भावासव से ग्रर्थ है वासना एव ग्रस्तित्व तथा जीवन के लिए इच्छा ग्रौर मोह होना। दिट्ठासव का ग्रर्थ है धर्म विरोधी भावनाग्रों के मनन के प्रति ग्राशक्ति होना। जैसे विश्व क्षणभंगुर है ग्रथवा ग्रानन्द; कि संसार का नाश होगा ग्रथवा नहीं; कि शरीर ग्रौर ग्रात्मा विभिन्न वस्तुएँ है या एक ही वस्तु। ग्रविज्जा से ग्रर्थ है दु:ख के सम्बन्ध मे ग्रज्ञान, दु:खों के कारण को नही पहचानना ग्रौर इन दु:खो से निवृत्ति पाने के मार्ग को नहीं जानना। धम्मसगणि मे इनके ग्रलावा चार ग्रन्य ग्रासवों की व्याख्या है। (१) पूर्ववर्ती मानसिक स्कन्धो के बारे मे ग्रज्ञान (२) उत्तरवर्ती मानसिक स्कन्धो के बारे मे ग्रज्ञान (३) पिछले एव ग्रगले स्कन्धों का सम्मिलित ग्रज्ञान ग्रौर (४) उनके ग्रापस मे एक दूसरे पर निर्भर होने के सम्बन्ध का ग्रज्ञान।[1] बुद्धघोष के ग्रनुसार कामासव ग्रौर भावासव को एक ही मानना चाहिए क्योकि ये दोनो मोह प्रवृत्ति के द्वारा उत्पन्न विकृतियां है।[2]

दिट्ठासव मस्तिष्क को झूठे दार्शनिक तत्वो से ग्रधकार मे ले जाते हैं ग्रौर इस प्रकार बौद्ध सिद्धान्तो के सत्य मार्ग को ग्रहण करने मे कठिनाई उत्पन्न करते हैं। कामासव के कारण निर्वाण का मार्ग (ग्रनागामिमग्ग) ग्रहण करने मे ग्रवरोध पैदा होता हैं। भावासव ग्रौर ग्रविज्जासव के कारण ग्रर्हत्व ग्रथवा पूर्ण मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। मज्झिमनिकाय मे जहां यह विचार ग्राया है कि ग्रासवों के कारण ग्रविज्जा की उत्पत्ति होती है वहां निश्चित रूप से इस ग्रविज्जा को उन ग्रासवो से जो जीवन के मोह से सम्बन्धित है भिन्न माना गया है। ये ग्रासव दु:ख के सत्य ज्ञान को पहिचानने मे बाधा डालते है।[3]

क्लेशों में ग्रौर ग्रासवों मे कोई विशेष ग्रन्तर नही है। ये क्लेश वे विशेष वासनाएँ हैं जिनको हम साधारणतया जानते है जैसे लोभ, क्रोध, द्वेष, मोह, ग्रभिमान, दिट्ठि (विधर्म), संशय (विचिकिच्छा), ग्रालस्य (थीन), ग्रात्मप्रशंसा (उधच्च), निर्लज्जता (ग्रहिरिक), क्रूरता (ग्रनोत्तप)। ये क्लेश ग्रासवों के ही उत्पन्न होते हैं। इन ग्रनेक प्रकार के क्लेशो मे ३ मुख्य क्लेश माने जाते है (लोभ, द्वेष ग्रौर मोह)। ये क्लेश वेदना स्कन्ध, सज्ञास्कन्ध, सस्कारस्कध ग्रौर विज्ञानस्कन्ध से सम्बन्धित हैं। इनसे वाणी, शरीर ग्रौर मन तीन प्रकार के कर्म उत्पन्न होते है।

---

[1] देखिए–धम्मसंगणि पृ० सं० १९५।

[2] बुद्धघोष द्वारा रचित ग्रत्थालिनी, पृ० ३७१।

[3] धम्मसगणि, पृ० सं० १८०।

शील और समाधि

हम अन्तर और बाहर से तृष्णा के पाश से जकड़े हुए है (तन्हाजटा) और इससे छुटकारा पाने का उपाय केवल यह है कि हम जीवन में उचित (शील) के ध्यान, समाधि ज्ञान (प्रज्ञा) को स्थान दे। संक्षेप मे शील का अर्थ है पाप कर्मों से दूर रहना। अत सर्वप्रथम शील को धारण करना आवश्यक है। शील को धारण करने से दुर्वासनाग्रो से उत्पन्न दुष्कर्मों से दूर रहने के कारण भय और चिन्ता से मुक्ति होती है। इसमे क्लेश दूर होते है और इस प्रकार शील के सम्यक् रूप के धारण करने से साधुता की ओर प्रथम दो स्थितियो मे अग्रसर होते है। (१) सोतापन्नभाव (सात्विक प्रवाह का आरम्भ) और (२) सकदागामिभाव-(वह अवस्था जहाँ केवल एक ही जन्म लेने की आवश्यकता होती है। शील के पश्चात् समाधि की क्रिया प्रारम्भ होती है। समाधि के द्वारा पुराने क्लेश जडमूल से नष्ट हो जाते है। समाधि से तृष्णा और वासनाग्रो से मुक्ति मिलती है एव सत्त्वगुण की वृद्धि होती है। इसके द्वारा ज्ञान (प्रज्ञा)[1] की प्राप्ति होती है और ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है जिसको अर्हत् कहते है। दु ख दु ख के कारण, उस कारण के विनाश और विनाश के हेतु इन चार तत्वो को बौद्ध दर्शन मे आरिय सच्च (आर्यसत्य) के नाम से पुकारा गया है। इन चारो की सही जानकारी करने पर मनुष्य ज्ञानवान् होता है।

मनुष्य जब पाप न करता हुआ सात्विक मार्ग पर चलता है और शुभ कर्मों के करने के लिए मन, बुद्धि से तत्पर रहता है तब ऐसी (१) सात्विक अनुशासित चेतना को शील कहकर पुकारते है। इस प्रकार शील का अर्थ है (२) सदइच्छा (सत्चेतना) से उत्पन्न सद्बुद्धि (चेतगिका) (३) मन सयम (सम्वर) (४) प्रथम तीन शीलों द्वारा जिनको अवीतिक्कम कहते है। निर्धारित मार्ग को अपनाते हुए शरीर और वाणी से असयम न करना अथवा पूर्ण सयम रखना। सम्वर पाँच प्रकार का बताया जाता है। (१) पाहिमोक्खसम्वर (वह सयम जो उस मनुष्य की रक्षा करता है, जो इसको धारण करता है)। (२) सतिसम्वर (विवेक, सयम अथवा उचित मार्ग पर चलने का सदैव ध्यान रखना) (३) ज्ञान सम्वर (४) खान्ति (क्षन्ति) सम्वर (धैर्य का सयम) (५) विरिय सम्वर (सक्रिय आत्म सयम)। पतिमोख सम्वर का अर्थ साधारणतया यह है कि मनुष्य अपने आपको सयमित रखता हुआ कार्य करे। सतिसवर से अर्थ यह है कि विवेक द्वारा मनुष्य अच्छे व बुरे कर्मो की पहचान करता हुआ शुभ मार्ग को ग्रहण करे। सत् के विकसित होने से मनुष्य स्वय बुरी से बुरी वस्तुओ के अहितकारी स्वरूप का मनन करता है जो उसको स्वय सन्मार्ग की ओर ले जाने मे सहायक होते हैं। खान्ति सम्वर से मनुष्य को गर्मी और सर्दी नही सताती है। शील के धारण करने

---

[1] विसुद्धिमग्ग निदानादिकथा है।

से शरीर, मन और वाणी तीनों का नियमन होकर स्थिरता प्राप्त होती है (समाधानम् उपधारणम् पतिट्ठा) ।[1]

जो मुनि (श्रमण) इस मार्ग को ग्रहण करता है उसे वेश भूषा, खान-पान, आचरण-सम्बन्धी आश्रम के नियमो का पालन करना आवश्यक है जिनको धूताग कहा जाता है ।[2] ये नियम अनुशासन के अग है । शील और धूताग समाधि मे सहायता देते है । समाधि चित्त-वृत्तियो की एकाग्रता और सत् चिन्तन को कहते है (कुशलचित्त-एकाग्रता समाधि·) । समाधि मे एक विशेष सत्य तत्व पर ध्यान को केन्द्रित करना होता है जिससे मन चंचलता को छोडकर समभाव को प्राप्त कर सके । इसके लिए बौद्ध दर्शन मे (एकारमण और सम्मा च अविक्खिपमाना) शब्दो का प्रयोग किया गया है ।[3]

जो मनुष्य शील का अभ्यास करते है उनको पहले अपने मन को नियन्त्रित करने का अभ्यास करना आवश्यक है । मन की चचलता पर सयम पा लेने पर ज्ञान मे एकाग्रता की सिद्धि होती है । ध्यान के लिए बौद्ध दर्शन मे प्राकृत शब्द ज्ञान का प्रयोग किया गया है । इन प्रारम्भिक साधन क्रियाओं को जो मन:सयम के हेतु की जाती हैं, उपचार समाधि कहते है जिससे समाधि की प्राथमिक अवस्था का बोध होता है। यह ध्यान-समाधि का प्रथम स्तर है । ध्यान समाधि मे सम्पूर्ण एकाग्रता प्राप्त होने के पश्चात् की अवस्था को अप्पनासमाधि कहते है जिसका अर्थ सम्पूर्ण समाधि से है ।[4] इस साधना के प्रथम चरणो मे साधक को मन पर सयम करना होता है । यह संयम आहार आदि के सयम से प्राप्त होता है । दूषित आहार से शरीर मे दूषित विकृतियाँ होती है । इस पर ध्यान देते हुए साधक खाने पीने के प्रति, जो साधारण मनुष्य की आसक्ति है, विजय पा लेता है और केवल शरीर धारण करने हेतु जितने भोजन की आवश्यकता है उतना ही अल्पाहार करता है । इस प्रकार वह उस दिन की प्रतीक्षा करता है जब शारीरिक क्लेशों और सासारिक क्लेशो से छुटकारा पा जाएगा ।[5] पुन:

---

[1] विसुद्धिमग्ग, सीलनिद्देसो पृ० स० ७ और ८ ।

[2] वही, दूसरा अध्याय ।

[3] वही, पृ० स० ८४-८५ ।

[4] यहाँ पर विस्तृत विवरण देना सम्भव नही है अत मुख्य अंगो का विवरण किया गया । ज्यान (ज्ञान) जिसमे ध्यान और उसकी प्राथमिक अवस्थाएँ परिकम्म का परस्पर सम्बन्ध बताया गया है । (विसुद्धिमग्ग पृ० स० ८५) ।

[5] देखिए विसुद्धिमग्ग पृ० स० ३४१-३४७ । यहाँ जीवन के प्रति एक निराशामय दृष्टि-कोण लिया गया है । जो साधक स्वादिष्ट आहार से विरक्त हो जाता है वह रसना के बन्धन से मुक्त हो जाता है । वह इन सभी रसास्वादो से विरक्त होकर रसशक्ति से मुक्त हो जाता है । क्लेशो से छुटकारा पाने के लिए भोजन मे किसी भी प्रकार

वह एक दूसरी साधना करता है जिसके अनुसार वह यह हृदयंगम करता है कि यह शरीर क्षिति (मिट्टी), अप् (जल), तेजस् (अग्नि), वायु इन चार तत्वों से बना हुआ है।[1] यह शरीर ऐसा ही है जैसा कसाई के यहाँ पड़ा हुआ गाय का मृत शरीर। इसको बौद्ध दर्शन मे "चतुधातुववत्थानभावना" के नाम से पुकारा गया है जिसका अर्थ है इस प्रकार का ध्यान कि यह शरीर चतुर्भूतो से बना हुआ है। तीसरी अवस्था मे साधक को अपने मन को बौद्ध दर्शन के महान् तत्वों पर पुनः पुनः विचार करने के लिए नियोजित करना पडता है जिसे अनुस्सति कहते हैं। वह बुद्ध भगवान् की महानता, बौद्ध संघ (बुद्ध के अनुयायी भिक्षुगण), देवता और बुद्ध द्वारा बनाए धर्माचरण के नियम, शील के महत्व, दान (चागानुस्सति), मृत्यु के स्वरूप (मरणानुस्सति), प्रकृति और प्रलय (उपसमानुस्सति) इन तत्वों का मनन करता है।[2]

ध्यान की प्रारंभिक अवस्था अथवा उपचार समाधि से आगे बढ़ने पर ध्यान की एकाग्रता से अप्पना समाधि प्राप्त होती है जो सर्वोच्च समाधि है। इस अवस्था मे भी चित्त शुद्धि एव मन शक्ति की प्रक्रिया निरतर चलती रहती है और इस प्रकार यह अन्तिम लक्ष्य निब्बाण (निर्वाण) को प्राप्त होती है। इन अवस्थाओ के प्राथमिक अगो मे मनुष्य श्मशान आदि मे जाकर मनन करता है कि मनुष्य का शरीर कितना बीभत्स, कुरूप एव घृणास्पद है। फिर वह जीवित व्यक्तियो के बारे मे सोचता है और इस तथ्य पर मनन करता है कि ये शरीर उतने ही घृणित एवं अपवित्र है जैसेकि मृत शरीर।[3] इस क्रिया को असुभकम्मट्ठान कहते है। जिसका अर्थ है मनुष्य के शरीर की अपवित्रताओं पर विचार करना। उसे मनुष्य के अग प्रत्यग एव रक्त, मास मज्जा आदि से बने हुए अवयवो का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार शरीर से विरक्ति होने पर उसका मन ध्यान की प्राथमिक अवस्था की ओर अग्रसर होने लगेगा। इसे कायगतासति अर्थात् इस शरीर के बारे मे मनन करना है। एकाग्रता की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि साधक एक शान्त स्थान मे आसन ग्रहण कर श्वास की प्रक्रियाओ पर अपना ध्यान एकाग्र करे। श्वास की दो प्रक्रियाएँ है, श्वास को अन्दर लेना (पस्सास) और बाहर निकालना (आस्सास)। इनके द्वारा चित्त एकाग्र करते

की आसक्ति न रखते हुए, खाने पीने को अत्यन्त तुच्छ घृणास्पद मानते हुए केवल शरीर धारण के निमित्त थोडा सा बिरस भोजन करता है जैसे किसी घोर वन को पार करने के निमित्त कोई व्यक्ति अखाद्य पदार्थों का वितृष्णा के साथ सेवन करे।

[1] विसुद्धिमग्ग, पृ० स० ३४७-३७०।

[2] वही, पृ० सं० १९७-२९४।

[3] वही, छठा अध्याय।

हुए इस बात का अनुभव करे कि श्वास किस प्रकार चल रहा है। फिर वह श्वास की क्रिया को नियन्त्रित करे और इस बात का अभ्यास करे कि एक निश्चित समय में कितने श्वास ले रहा है। इस श्वास प्रक्रिया की साधना को आनपानसति कहते हैं। यह क्रिया ध्यान की एकाग्रता के हेतु की जाती है।[1]

श्वास नियंत्रण के पश्चात् दूसरी अवस्था ब्रह्म विहार की आती है। इस अवस्था मे चार प्रकार के तत्वो का मनन और ध्यान किया जाता है। (१) मेत्ता (विश्व बन्धुत्व अथवा सारे प्राणियो से मैत्री भाव) (२) करुणा (सारे विश्व के प्राणियों पर दया भाव) (३) मुदिता (सबकी समृद्धि एव प्रसन्नता मे आनन्द) (४) उपेखा (अपने स्वार्थ के प्रति उपेक्षा अथवा शत्रु, मित्र और अन्य प्राणियो मे समानभाव, औदासीन्य-भाव)। विश्व मैत्री के सम्बन्ध मे मनन करने के हेतु यह सोचना आवश्यक है कि वह स्वय किस प्रकार सारे दु खो से छुटकारा पाकर प्रसन्नता व आनन्द प्राप्त कर सकता है तथा किस प्रकार मृत्यु के ऊपर विजय पाकर सुख व शान्ति प्राप्त कर सकता है। तत्पश्चात् इस पर मनन करना चाहिए कि प्रत्येक अन्य प्राणी भी इसी प्रकार इन सब भौतिक दु खो से छुटकारा प्राप्त करना चाहते है और उनकी भी हित कामनाएँ उसी प्रकार है जिस प्रकार उसकी स्वय की। इस प्रकार उसे इस बात का ध्यान करना चाहिए कि अन्य सभी प्राणी किस प्रकार सुख को प्राप्त कर सकते है। ध्यान और चिन्तन करते हुए साधक को चाहिए कि वह ससार के सारे प्राणियों के साथ आत्मसात् हो जाए और सबको आत्मवत् देखने लगे। यहाँ तक कि अपने स्वयं के आनन्द मे और दूसरे के आनन्द मे कोई अन्तर न रह जाय। उसे क्रोध के ऊपर विजय प्राप्त करनी चाहिए और यह सोचना चाहिए कि यदि किसी व्यक्ति ने उसे किसी प्रकार की क्षति अथवा कष्ट पहुचाया है तो क्रोधित होकर उस दु ख को और अधिक बढाने से कोई लाभ नही है। जिस शील का वह अभ्यास कर रहा है वह इससे नष्ट हो जाता है यह ध्यान मे रखना चाहिए। यदि किसी ने उसको क्षति पहुचाकर नीच कर्म किया है तो क्या उसको भी क्रोध कर उसके समान स्तर पर उत्तर आना चाहिए ? यदि वह किसी अन्य व्यक्ति के क्रोध की निन्दा करता है तो क्या उसे स्वय क्रोधित होकर निन्दनीय कर्म करना चाहिए ? उसको यह ध्यान रखना चाहिए कि धम्म क्षणिक है (खणिकत्ता या क्षणिकत्व)। जिन स्कन्धो ने उसको चोट पहुचायी है वे स्कन्ध उसी समय नष्ट हो जाते है। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति को जब क्षति पहुचती है तो वह स्वय भी उस प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है क्योकि उसके स्वय के न पहुचने पर क्षति होना असम्भव था। इस क्रिया मे जो क्षति पहुचाने वाला है वह और जिसको क्षति पहुचती है वह, ये दोनो ही क्षति क्रिया के समान अंग होने से किसी व्यक्ति विशेष से

---

[1] विसुद्धिमग्ग पृ० २९६-२९२।

क्रुद्ध होने का कोई कारण नही है। अगर इतना सब सोचने के पश्चात् भी क्रोध का शमन नही होता है तो उसको यह सोचना चाहिए कि क्रोध करने से वह स्वय अपने को ही हानि पहुचा रहा है। जिस व्यक्ति ने क्रोध किया है वह स्वय उससे कष्ट पाता है। इस प्रकार चिन्तन करने से श्रमण क्रोध पर विजय प्राप्त करनें में समर्थ होगा और अपने चित्त से क्रोध को दूर कर सभी प्राणियो के लिए मैत्री भाव रखने मे समर्थ हो सकेगा। इसको मेत्ता भावना (मित्र भावना) कहते है। करुणा के व्यापक भाव की सिद्धि के लिए श्रमण को चाहिए कि वह मित्र शत्रु आदि सबके दुःखो में दुःख का अनुभव करे और उन सबके लिए सहानुभूति का भाव उत्पन्न करे। इस प्रकार मुनि दिव्य दृष्टि के कारण उन सब मानवों के लिए हृदय में करुणा उत्पन्न कर सकेगा जो यद्यपि ऊपर से सासारिक आनन्द का सुख भोग करते हुए दिखाई देते हैं परन्तु वास्तव मे दुःखो के बंधन मे फसते जा रहे है और निर्वाण के पथ से दूर चले जा रहे है। वे नही जानते कि उनको अनेक जन्मो मे दुःख भोग करना होगा।

इसके पश्चात् हम झान (ध्यान) की उस अवस्था मे आते है जब साधक को भौतिक वस्तुओं पर चित्त एकाग्र करने की साधना करनी पडती है जिन्हे "कसिणम्" कहते है। ध्यान एकाग्र करने के लिए कोई भी पदार्थ, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नीला, पीला, लाल अथवा श्वेत रग, प्रकाश अथवा सीमित आकाश (परिछिन्न आकाश) कोई भी हो सकता है। इस प्रकार साधक मृत्तिकापिण्ड लेकर उस पर आँखे खोलकर अथवा कभी-कभी नेत्र बद कर ध्यान एकाग्र करे। जब वह इस अवस्था पर पहुच जाय कि नेत्र बद करने के पश्चात् भी स्पष्ट रूप से देख सके तब उसको चाहिए कि भौतिक पदार्थ को छोडकर दूसरे स्थान पर जाकर उस वस्तु के स्वरूप पर ध्यान एकाग्र करने का अभ्यास करे।

ध्यान की प्राथमिक अवस्थाओ मे पथमम्झानम्—प्रथम ध्यान मे पहले किसी भौतिक वस्तु पर चित्त एकाग्र करते हुए इसके सम्पूर्ण रूप नाम एव उसकी उपादेयता के बारे मे चिन्तन करते है। इस प्रकार चिन्तन की एकाग्रता को वितक्क कहते है (अर्थात् वस्तु-विशेष के बारे मे तर्क वितर्क करते हुए ध्यान करना)। प्राथमिक ध्यान की दूसरी क्रिया मे चित्त उस भौतिक वस्तु के गुण का ध्यान न करते हुए सीधा वस्तु विशेष पर स्थिर किया जाता है और इस प्रकार चित्त स्थिर होकर वस्तु के अन्तस्तल मे प्रवेश करता है। इस प्रक्रिया को विचार (स्थिर गति) कहते है। विशुद्धिमार्ग मे बुद्धघोष ने वितक्क अवस्था के लिए कहा है कि जैसे चील आकाश मे पख चलाती हुई दिशा विशेष की ओर जाती है उस प्रकार वितक्क अवस्था होनी है परन्तु दूसरी अवस्था विचार के लिए उसने उस चील की उपमा दी है जो बिना पखों को हिलाये सीधी हवा मे उडते हुए अपने गन्तव्य की ओर जाती है। ये दोनो अवस्थाएँ चित्त की प्रफुल्लता को (पीति) और चित्त मे विशेष आन्तरिक आनन्द (सुख) से सम्बन्धित हैं। इस

प्रथम ध्यान के उदयहोने से अविज्जा, कामच्छन्दो (वासनाओ से ग्रसित होना) व्यापादो (द्वेष) थीनमिद्धम् (आलस्य और प्रमाद) उधच्चकुक्कुचम् (अशाति एव अविनाश), विचिकिच्चा (सशय) इन पंच तत्वो का नाश हो जाता है। ध्यान को निर्माण करने वाले पचतत्व वितक्क (वितर्क), विचार, पीति (प्रीति) सुखम, और एकागता (एकाग्रता) है। जब श्रमण ध्यान की प्राथमिक अवस्था मे सिद्धि प्राप्त कर लेता है तब वह इसकी अल्पता का ध्यान करते हुए ध्यान की दूसरी अवस्था मे प्रवेश करना चाहता है (द्वितीयम् ध्यानम्)। इस अवस्था मे मन की चचलता नष्ट होकर स्थिरता प्राप्त होती है जिसको 'एकोदिभावम्' के नाम से सम्बोधित किया है। इसमे चित्त एकाग्र, स्थिर, शात एव निर्विषय हो जाता है। (वितक्कविचारक्खोभाविरहेण अतिविया अचलता सुप्पसन्नता च)। परन्तु इस अवस्था मे प्रीति, सुख, एकाग्रता और साधना एक साथ सयुक्त होती है।

ध्यान की दूसरी अवस्था सम्पूर्ण होने पर साधक प्रीति अर्थात् सुख आदि की ओर से विरक्त हो जाता है। इस उपेक्षा भाव को "उपेखा को" कहा है। इस अवस्था तक आते-आते सन्त वस्तुओं को देखता है परन्तु न उनको देखकर प्रसन्न होता है और न अप्रसन्न। इस स्तर पर आते-आते ध्यान योगी के सारे आसव नष्ट हो जाते हैं। वह खीणासव (क्षीणासव) हो जाता है। लेकिन उसके हृदय मे आन्तरिक आनन्द का प्रवाह होता है जिसे बौद्ध दर्शन मे सुख शब्द से सम्बोधित किया है। साथ ही उसके लिए आवश्यक है कि यदि उसने चित्तवृत्तियो पर ठीक रूप से नियत्रण नही रखा तो वह पुन सुख भोग मे निम्न कोटि के प्रीति भोग की अवस्था मे पहुच जाएगा।[1] इस ध्यान के दो विशेष गुण है। वे है सुख तथा एकाग्रता। परन्तु यहां पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उच्चतम सुख की भावना ही इस अवस्था मे विद्यमान रहती है। साधक सामान्य सुख की ओर उपेक्षा की भावना रखता है (अतिमधुरसुखे सुखपारमिप्पत्तेपितत्तिध्याने उपेखको, न तत्त सुखाभिसघेन आकड्ढियति)।[2] ध्यान की इस अवस्था में भी चित्त एकाग्र करने के लिए मृत्तिका के पिण्ड का (पथवी) प्रयोग किया जाता है।

ध्यान (ध्यान) की चतुर्थ अवस्था मे सुख व दु.ख दोनो का लोप हो जाता है और साथ ही राग व द्वेष समूल नष्ट हो जाते है। यह अवस्था ऐसी अवस्था है जिसमे योगी जीवन के सभी तत्वो से उदासीन हो जाता है। ध्यान की प्राथमिक अवस्था मे जिस उपेक्षा का प्रारम्भ हुआ था वह उत्तरोत्तर विकास पाती है और अपनी अन्तिम अवस्था पर पहुचती है। इस अवस्था मे योगी जीवन के राग, विराग, द्वन्द्व आदि से उपरत

---

[1] जहां प्रीति है वहां सुख होता है परन्तु जहां सुख है वहां यह आवश्यक नही है कि प्रीति हो। —विसुद्धिमार्ग, पृ० सं० १४५।

[2] विसुद्धिमार्ग, पृ० सं० १६३।

होकर सुख दुःख आदि सभी के प्रति उपेक्षावृत्ति धारण कर लेता है। एकाग्रता तथा उपेक्षा इस चतुर्थ अवस्था के मुख्य गुण हैं। चित्त की सारी प्रवृत्तियों से उसे निवृत्ति प्राप्त होती है जिसे दार्शनिक भाषा मे चेतोविमुत्ति कहा है और इस प्रकार साधक अर्हत पद[1] प्राप्त कर लेता है। अर्हत पद प्राप्त कर लेने के पश्चात् स्कन्ध व पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाता है। सुख व दुःख से निवृत्ति प्राप्त होती है और निब्बाण (निर्वाण) को प्राप्त होता है।

कम्म (कर्म)

कठोपनिषद (दूसरा अध्याय छठा श्लोक) मे यम ने कहा है कि जो धन के मोह मे अन्धा हुआ भविष्य के जीवन मे विश्वास नही करता और यह सोचता है कि यही जीवन अन्तिम जीवन है वह पुन. पुन. मेरे पजे मे फसकर दु ख पाता है। दीघ निकाय मे 'पायासी' अपने विषय की स्थापना के लिए कई प्रकार के तर्क देता है। वह कहता है कि इस ससार को छोडकर अन्य कोई लोभ नही है। माता पिता से जन्म लेकर जो प्राणी इस ससार मे बसते है उनके अतिरिक्त और कोई अस्तित्व नही है। न कोई दुनियाँ मे अच्छे व बुरे कर्म है, न उनका फल मिलता है।[2] वह इस प्रकार तर्क देता है कि दूसरे लोको से न किसी पापात्मा ने और न किसी पुण्यात्मा ने इस लोक मे वापस आकर यह बताया है कि उन्हें सुख अथवा दु ख प्राप्त हो रहा है। यदि यह सत्य है कि पुण्यात्मा लोगो के लिए दूसरे लोक मे यहाँ से अच्छा जीवन है तो उन्हें तत्काल आत्म-हत्या कर लेनी चाहिए। मृत्यु के समय सब प्रकार से देखने पर भी यह पता नही चलता कि आत्मा नाम की वस्तु शरीर से बाहर निकलती है। यदि आत्मा कोई वस्तु होती तो उसके निकलने के पश्चात् शरीर का भार कुछ कम हो जाता लेकिन ऐसा नही होता। कस्सप उनके तर्कों का बडा सुन्दर उदाहरण देकर खडन करता है और दृष्टात देते हुए समझाता है कि मिथ्या तर्क सत्य नही है। पायासी के समान दो चार अनीश्वरवादी व्यक्तियो को छोडकर यह निश्चित है कि उपनिषदो मे वर्णित कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्तो को सभी बौद्ध दार्शनिको ने स्वीकार किया है। मिलिन्दपन्ह मे नागसेन कहते है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही सुख व दुःख का भोग करते है। कर्म के प्रतिफल से ही कुछ लोग दीर्घजीवी और कुछ अल्पजीवी होते है, कुछ स्वस्थ और कुछ अस्वस्थ रहने है कुछ सुन्दर तथा कुछ कुरूप होते हैं। शक्ति, सौन्दर्य, धन, उच्च बुद्धि कर्मफल से ही प्राप्त होती है। जो लोग बीमार व कमजोर है, मूर्खता व प्रमाद मे फसे हुए हैं, दीन हैं वे सब अपने कर्मों का ही फल प्राप्त कर

---

[1] मज्झिमनिकाय, पृ० स० १:२६६ और विशुद्धिमार्ग, पृ० सं० १६७-१६८।

[2] "डाइलोग्स आफ द बुद्धा" दूसरा खंड पृ० स० ३१७ और दीर्घनिकाय दूसरा अध्याय, पृ० स० ३१७ से।

रहे है।[१] हम पहले यह अध्ययन कर चुके हैं कि इसी प्रकार का मत उपनिषत्कालीन ऋषियों का है।

परन्तु कर्म का फल इस जीवन मे अथवा अन्य जीवन मे तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य राग, द्वेष और मोह के बन्धन मे फसा रहता है। परन्तु जब मनुष्य लोभ और मोह का परित्याग कर अपरिग्रह का मार्ग ग्रहण कर निष्काम रूप से कार्य करता है तब कर्म स्वयं जडमूल से नष्ट हो जाता है जैसे किसी ताड के वृक्ष को समूल उखाड दिया जाए। फिर उसके मूल के नष्ट हो जाने से कर्म की भविष्य में भी पुनः उत्पत्ति नही होती।[२] तृष्णा के अभाव मे कर्म स्वयं फलीभूत नहीं हो सकता। इस प्रकार महासतीपत्थानसुत्त मे कहा है–भोग व विलास की तृष्णा के कारण मनुष्य यहाँ वहाँ विषयो की ओर दौडता है और इनके सुख प्राप्त करने की प्रवल तृष्णा के कारण पुनर्जन्म के बन्धन मे फसता है। यह तृष्णा अथवा कामना कई प्रकार की है। विषय भोग की कामना, पुनर्जन्म की कामना अथवा पुनर्जन्म नही लेने की कामना ये सभी मनुष्य को सताती है।[३] जो वस्तुएँ इन्द्रियो को प्रिय लगती हैं, प्राणो को मधुर लगती हैं, रस, रूप, रग, स्वाद उनकी आसक्ति चित्त को चचल करती है। तृष्णा इस आसक्ति से उत्पन्न होती है और इस आसक्ति और वासना मे निवास करती है।[४] इस आसक्ति और भोग की तृष्णा के कारण दुःख की उत्पत्ति होती है यह आर्य सत्य है।

दु:ख से निवृत्ति तभी हो सकती है जब यह तृष्णा के प्रति मनुष्य विरक्त हो जाए, इसका परित्याग कर दे और इससे मुक्त हो जाए।[५]

तृष्णा अथवा वासना का नाश होने पर मनुष्य को अर्हत पद प्राप्त होता है और उसके पश्चात् उसके किए हुए कर्मों का फल प्राप्त नही होता; उसके कर्म नष्ट हो जाते है। अर्हत पद प्राप्त करने के बाद किसी प्रकार का कर्म फल नही मिलता। कामना के कारण ही कर्म का फल मिला करता है। वासना के नष्ट होते ही अज्ञान, राग, द्वेष और लोभ का नाश हो जाता है। अत: पुनर्जन्म का कोई हेतु नहीं रहता। पूर्व जन्म के कर्मो का फल अर्हत पद प्राप्त होने के पश्चात् भी मिल सकता है जैसा मोग्गलान को भोगना पडा। परन्तु पूर्वजन्म के कर्म शेष रहने पर भी अर्हत तृष्णा के नष्ट हो जाने से बन्धन मुक्त हो जाता है।[६]

---

[१] वारेन का 'बुद्धिजम इन ट्रान्सलेशन', पृ० स० २१५।
[२] वही, पृ० स० २१६-२१७।
[३] डायलोग्स आव द बुद्ध, २, पृ० ३४०।
[४] वही, पृ० ३४१।
[५] वही, पृ० ३४१।
[६] देखिए कथावस्तु और वारेन का बुद्धिजम इन ट्रान्सलेशन्स पृ० २२१।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं। मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक, याने वाणी के द्वारा किए हुए कर्म। इन्हे बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक व मानसिक शब्दो से पुकारा गया है।[1] इन कर्मों का मूल चेतना व चेतना के साथ सलग्न प्रवृत्तियाँ है।[2] यदि कोई व्यक्ति पशुओ की हिंसा करने की इच्छा से वन मे जाता है और इस प्रबल कामना से बन मे सारे दिन घूमता हुआ थक कर रात्रि को वापस घर आ जाता है और उसको कोई शिकार जगल मे नही मिलता तब यह निश्चित है कि उसने शरीर से कोई कर्म नही किया। परन्तु उसकी कामना मात्र से मानसिक कर्म और मानसिक हिंसा सम्पूर्ण हो जाती है। फिर यदि वह व्यक्ति किसी को पशुओ को मारने की आज्ञा देता है तो स्वय कर्म न करते हुए भी वाणी द्वारा (वाचिक) कर्म पूर्ण हो जाता है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मानसिक सकल्प के बिना शरीर अथवा वाणी से किसी प्रकार का कर्म नही हो सकता। किसी भी प्रकार के कर्म की उत्पत्ति के पहले मन मे तद्‌विषयक कामना होना आवश्यक है। अर्हत पद प्राप्त करते हुए व्यक्ति के मन मे कोई कामना न होने के कारण उसके शरीर अथवा वाणी के द्वारा किए हुए कर्म का कोई फल नही होता।

प्रभाव अथवा फल की दृष्टि से कर्मों को चार वर्गों मे विभाजित किया गया है, (१) ऐसे कर्म जो अशुभ है और जिनका फल भी अशुभ होता है, (२) वे जो शुभ है जिनका फल शुभ होता है। (३) ऐसे कर्म जो आशिक रूप से शुभ व आशिक रूप से अशुभ है और जिनका फल भी आशिक रूप से शुभ व अशुभ होता है। (४) ऐसे कर्म जो अच्छे है न बुरे जिनके करने से न पाप होता है न पुण्य परन्तु जिनसे अन्ततः कर्मो का विनाश हो जाता है।[3]

क्लेशो से अन्तिम मुक्ति (निब्बाण) कामनाओ के लोप होने के फलस्वरूप प्राप्त होती है। बौद्ध दर्शन के विद्वानो ने इस प्रक्रिया के विभिन्न अगो की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। प्रो० डी० ला० वेली पूसीन का मत है कि पाली ग्रन्थो मे निब्बाण को एक आनन्दमय स्थिति के रूप मे माना गया है। इस अस्तित्व मे पुनर्जन्म की सभावना नही है। यह स्थिति अपरिवर्तनीय है। इसमे समस्त कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है।[4]

---

[1] अत्थसालिनी, पृ० ८८।

[2] वही, पृ० ९०।

[3] अत्थसालिनी, पृ० स० ८९।

[4] निर्वाण पर निम्न ग्रन्थ देखिए–प्रो० डी० ला० वेली पूसीन का लेख, चुल्लवग्ग नवां खड, पहला अध्याय, चतुर्थ पृष्ठ। मिसेज राइस डेविड्स का "साम्स आव द अर्लि बुद्धिज्म," खंड १ और २, भूमिका पृ० सं० २७। दीघ० दूसरा अध्याय पृ० सं० १५। उदान० २८वा अध्याय, संयुक्त तीसरा खंड, पृ० सं० १०९।

पाली टेक्ट्स सोसाइटी जर्नल, १९०५, में निर्वाण की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि बुद्ध के मतानुसार मृत्यु के पश्चात् जो अनन्त आकाश में व्याप्त आत्मा और चेतन तत्व (विज्ञान) के साथ एकीभूत होना चाहते है, उनकी आत्मा व्याप्त एवं अनन्त रूप धारण करती है और साथ ही उनके व्यक्तित्व का भी लोप नही होता। यह निर्वाण की व्याख्या मुझे एकदम नवीन और बौद्ध शास्त्रों के मत के प्रतिकूल लगती है। मेरे मतानुसार सांसारिक अनुभूतियो के अर्थ मे निर्वाण की व्याख्या असम्भव है। इसकी व्याख्या केवल इतना कहकर की जा सकती है कि यह वह अवस्था है जब सारी वेदनाओ और क्लेशो की समाप्ति हो जाती है। उस अवस्था में जबकि संसार की सारी भावना और अनुभूतियो का लोप हो जाता है तो उसके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की निश्चित और निषेधात्मक व्याख्या नहीं की जा सकती। निर्वाण के पश्चात् हम अनन्त रूप में अस्तित्व में रहते हैं अथवा नहीं यह बौद्ध दर्शन के अनुसार संगत तर्क ही नही है। तथागत के सम्बन्ध मे यह सोचना कि उनका अस्तित्व शाश्वत है अथवा अशाश्वत महान् पाप है। यह सोचना भी पाप है कि इस समय उनका अस्तित्व है अथवा नही। निर्वाण एक शाश्वत और निश्चित स्थिति है अथवा एक ऐसी स्थिति है जिसका कोई अस्तित्व नही है यह बौद्ध दर्शन के अनुसार विचार करने योग्य नहीं है एव धर्म विरोधी भावना है। यह सत्य है कि हम आधुनिक युग में संतुष्ट नहीं हैं और यह भी जानना चाहते है कि इस सबका वास्तविक अर्थ क्या है परन्तु इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन है क्योकि बौद्ध दर्शन के अनुसार ऐसी शंका करना उचित नहीं है।

परवर्ती बौद्ध लेखक नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति ने इन प्रारंभिक बौद्ध धाराओ की प्रवृत्ति का लाभ उठाते हुए ऐसी व्याख्या की है कि ससार मे अस्तित्व मिथ्या है। किसी वस्तु का अस्तित्व नही है अत· इस पर तर्क अर्थहीन है कि किस वस्तु का अस्तित्व है और किस वस्तु का नही है। इस प्रकार सासारिक अवस्था और निब्बाण मे कोई भेद नही है; क्योकि यदि सारा दृश्यमान जगत् मिथ्या है और यदि उसका ससार में कोई अस्तित्व नही है तो इस अस्तित्व की समाप्ति का भी प्रश्न नही उठता अतः निब्बाण का भी प्रश्न नही उठता।

उपनिषद् एवं बौद्ध धर्म

उपनिषदो मे इस तथ्य का निरूपण किया गया है कि आत्मा आनन्दमय है।[1] हम ऐसा अनुमान लगा सकते है कि प्रारभिक बौद्ध-धर्म मे भी लगभग इसी प्रकार का विचार पाया जाता है। उनके मतानुसार यदि आत्मा नाम की कोई वस्तु है (अत्ता)

---

[1] तैत्ति० २/५।

तो वह आनन्दमय होनी चाहिए। उपनिषदो मे इस बात पर बल दिया गया है कि आत्मा अनन्त है और उसका विनाश नही होता। बौद्ध-धर्म मे अन्तर्निहित सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए हम यह कह सकते है कि इनके अनुसार यदि आत्मा है तो वह अनन्तमय होनी चाहिए क्योकि वह शाश्वत है।[1] यह कारण-सम्बन्ध उपनिषदो मे कहीं स्पष्ट रूप से नही बताया गया है परन्तु उपनिषदो को ध्यान से पढने पर ऐसा आभास होता है कि आत्मा को आनन्दमय इसलिए कहते है कि स्वय आत्मा का विनाश नही होता है। परन्तु इसके विपरीत ऐसा कही भी नही कहा गया है कि जो शाश्वत नही है तथा जो नाशवान् है वह सब दु खमय है। परन्तु बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार जो कुछ परिवर्तनशील है नाशवान् है वह सब दु खमय है और जो कुछ दु खमय है वह आत्मा नही है।[2] इस आत्मा की अनुभूतियो के सम्बन्ध मे बौद्ध मत उपनिषदो से भिन्न हो जाता है। उपनिषदो के अनुसार आत्मा पर प्रभाव डालने वाली अनेक अनुभूतियाँ है परन्तु ये अनुभूतियां स्थायी नही है। उपनिषदो मे यह विश्वास पाया जाता है कि इन अनुभूतियो का एक स्थायी भाव भी है और वह स्थायी भाव आनन्दमय है। यही स्थायी भाव सत्य है और अपरिवर्तनशील है। उनके मतानुसार यह शाश्वत आत्मा जो विशुद्धानन्द स्वरूप है अवर्णनीय है, इसकी कोई परिभाषा नही दी जा सकती। केवल यो कहा जा सकता है न तो यह है (नेति नेति) और न वह है।[3] परन्तु पाली शास्त्रो के अनुसार हमको ऐसे किसी भी शाश्वत तत्व का बोध नही होता। हमारी नित्य प्रति परिवर्तनशील अनुभूतियो के बीच किसी भी स्थायी आत्म-तत्व का पता नही चलता। जो कुछ दिखाई देता है वह एक परिवर्तनशील घटनाक्रम है अत मिथ्या एव दु खमय है। अत यह सब आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता और जो आत्मा से सम्बन्ध नही रखता वह मनुष्य से सम्बन्ध नही रखता। अतः आत्मा के रूप मे भी मेरा इससे कोई सम्बन्ध नही है।[4]

उपनिषदो के अनुसार आत्मा के सत्य स्वरूप का ज्ञान एक अलौकिक दिव्य अनुभूति है। क्योकि इसका वर्णन कभी भी सासारिक अनुभूति की भाषा मे नही दिया जा सकता। परिवर्तनशील मानसिक परिकल्पनाओ से परे अति दूर यह आनन्दमय आत्मा है केवल इतना ही कहा जा सकता है। भगवान् बुद्ध ने तार्किक दृष्टि से देखते हुए यह अनुभव किया कि ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं। परन्तु साथ ही इस तथ्य पर भी विचार किया कि इस आत्मा के सम्बन्ध मे (यह अनुभूति के द्वारा जाना जाता है) ऐसा

---

[1] बृहदा० ४/५/१४; कठ ५/१३।

[2] संयुक्त निकाय ३, पृ० ४४-४५ से।

[3] देखें, बृहदा० ४/४/छान्दोग्य ८-७/१२।

[4] सयुक्त निकाय ३,४५ पृ०।

जो बार बार कहा गया है इसका क्या कारण है ? बौद्धों के मतानुसार जब मनुष्य यह कहते हैं कि हमने उस आत्म तत्व की अनुभूति की, तब वे व्यक्तिगत मानसिक परिकल्पनाओ के अनुसार ऐसा कहते है। साधारण अज्ञानी मनुष्य महान् सत्यों को न तो जानते है न वे विद्वानों की भाँति प्रशिक्षित होते है। इस प्रकार अज्ञानवश वे ऐसा सोच लेते है कि उन्हे "रूप" प्राप्त हो गया है या वे इन रूपो को अपने स्वयं (आत्म) मे प्रतिभासित देखते हैं अथवा स्वय को इन रूपो मे देखने लगते है उन्हे तात्कालिक भावो के अनुसार जो अनुभूति होती है उसे वे आत्मदर्शन समझते है अथवा ऐसी अनुभूति करते हैं कि उन्हे इन भावो का अनुभव हो रहा है; और इस प्रकार वे भाव विशेष को आत्मा मे अथवा आत्मा को भाव विशेष मे देखते है। इस प्रकार के अनुभवो को वे आत्मा[1] के अनुभवो के रूप मे स्वीकार कर लेते है।

उपनिषदो ने किसी विशेष दार्शनिक धारा अथवा दर्शन के किसी विशिष्ट विषय को स्थापित करने का प्रयत्न नही किया है। उपनिषदों मे सदैव एक ऐसे अनुभव को प्रकाश मे लाने का प्रयत्न किया गया है जो मनुष्य की आत्मा के रूप मे शाश्वत, नाशहीन वास्तविक सत्य है और जो सारे परिवर्तनो के मध्य सदैव स्थिर रहने वाला महान् सत्य (परम-आत्मा) है। लेकिन बौद्ध मतानुसार मनुष्य का यह "नाशहीन आत्म-तत्व" असत् है, वह मिथ्या कल्पना और मिथ्या ज्ञान पर आधारित है। इस दर्शन का प्रथम सिद्धान्त है ससार क्षणभगुर है अतः दुखमय है। इस दुख के सम्बन्ध मे अज्ञान, इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अज्ञान, इस दुख को कैसे मिटाया जा सकता है इसका अज्ञान और इसको मिटाने के साधनो के बारे में अज्ञान यह चार प्रकार अविज्जा है।[2] पाली शब्द अविज्जा के अनुरूप ही अविद्या शब्द उपनिषदो मे पाया जाता है। उपनिषदो मे अविद्या का अर्थ आत्म तत्व के सम्बन्ध मे अज्ञान है और यह कई बार विद्या (अथवा आत्मा[3] के सम्बन्ध में सत्य ज्ञान) के विपरीत अर्थ मे प्रयोग मे लाया जाता है। उपनिषदो के अनुसार सर्वोत्तम, उच्चतम सत्य शाश्वत आत्मा का अस्तित्व है जो आनन्दमय है परन्तु बौद्ध मत के अनुसार संसार मे कोई भी स्थायी अथवा शाश्वत नहीं है। सभी कुछ क्षणभगुर एव परिवर्तनशील है, अतः दुःख का कारण है।[4] इस प्रकार यह बौद्ध दर्शन का मुख्य तत्व है, और इस दुःख के सम्बन्ध मे अज्ञान (चतुर्बद्ध अज्ञान) ही चार प्रकार की अविज्जा है। यह चार प्रकार की अविज्जा ही

---

[1] सयुत्त निकाय ३/४६।

[2] मज्झिमनिकाय, पहला अध्याय पृ० ५४।

[3] छान्दोग्य १-१-१०। बृहदा० ४-३-२०। कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहाँ विद्या और अविद्या भिन्न और अस्पष्ट अर्थों प्रयोग किए गए है—(ईशोपनिषद् ९-११)

[4] अगु० निकाय, ३-८५।

चार दृढ़ सत्यों के समझने में बाधक है। इन चार सत्यों को आर्य सच्च कहा गया है जो इस प्रकार वर्णित है–दु:ख, दु:ख की उत्पत्ति का कारण, दु:ख का मोचन और दु:ख को मिटाने का साधन।

ब्रह्म अथवा किसी महान् आत्मा का कोई अस्तित्व नही है, न कोई आत्मा है। अविद्या अथवा अज्ञान किसी आत्मा से अथवा आत्म चेतना मे निहित अथवा सम्बन्धित नही है जैसा साधारणतया विश्वास किया जाता है।

इस प्रकार बौद्धमतानुसार, विशुद्धिमार्ग मे कहा गया है अज्ञान स्थायित्व से परे है क्योंकि अज्ञान का अस्तित्व एक समय होता है और दूसरे क्षण नही भी होता है। अत: यह अज्ञान स्वय प्रेरित या स्वयभू अहम् चेतना से भी शून्य (परे) है क्योंकि यह स्वय किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर नही है। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि अविद्या या अज्ञान अहम् केन्द्रित नहीं है और इसी प्रकार कर्म आदि अन्य तत्वों के सबध मे कहा जा सकता है। अत इससे यह समझना चाहिए कि अस्तित्व का यह जीवन चक्र सारहीन है, खोखला है, मिथ्या एव निराधार है।[1] वह बारह तरह की शून्यताओ से घिरा है।

थेरवाद बौद्ध दर्शन की शाखाएँ

ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि बुद्ध द्वारा दिए हुए मौखिक उपदेशो का सकलन उनकी मृत्यु के पश्चात् कई शताब्दियो तक उचित रूप से नही किया जा सका होगा। उनके शिष्यों मे अथवा आगे आने वाली शिष्यों की कोटियो मे अनेक विवाद उनके सिद्धान्तो और आश्रमों के नियमादि के सम्बन्ध मे उठ खड़े हुए। इस प्रकार जब वैशाली में स्थित सघ ने वृजिन भिक्षुओं के विरोध मे निश्चय किए तब इन भिक्षुओ ने जिनको वज्जिमपुत्तक नाम से भी पुकारा जाता है, एक महासघ की विशाल सभा का आयोजन किया और आश्रम सम्बन्धी अपने नियम बनाए। इस प्रकार इन लोगों का नाम महासघिक पड़ा।[2] वसुमित्र के अनुसार जिसका अनुवाद वैसिलिक ने किया

---

[1] वारेन 'बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन्स (विसुद्धिमग्ग अध्याय १७) पृ० १७५।

[2] महावंश का मत द्वीपवश के मत से भिन्न है। इस मत के अनुसार वज्जिपुत्तक महासघिक के रूप मे परिवर्तित नही हुए वरन् पहले महासघिक भिक्षु अलग हुए और वज्जिपुत्तक स्वतत्र रूप से मुख्य शाखा से अलग हुए। 'महाबोधिवंश' जो प्रो० गिगर के अनुसार सन् ९७५ से १००० तक लिखा गया है महावश का अनुसरण करता है और इसका भी मत है कि महासंघिक मुख्य शाखा से अलग हुए और वज्जिपुत्तक बाद को स्वतत्र रूप से अलग हुए।

है महासंघिक भिक्षु ४०० ई० पू० में मुख्य संघ से अलग हो गए। अगले १०० वर्षों मे इन्होंने तीन नयी शाखाओ को जन्म दिया जो एक व्यावहारिक, लोकोत्तरवादी और कुक्कुलिक नाम से जानी जाती है। तत्पश्चात् एक और नवीन शाखा उत्पन्न हुई जिसको बहुश्रुतीय नाम से जाना जाता है। अगले १०० वर्षो मे इन्ही शाखाओं से अन्य प्रशाखाएँ उत्पन्न हुईं जैसे प्रज्ञप्तिवादी, चैत्तिक, अपरशैल और उत्तरशैल। थेरवाद अथवा स्थविरवाद शाखा से जिसने वैशाली सघ का आह्वान किया था। उसकी ईसा पूर्व की द्वितीय एव प्रथम शताब्दी मे अनेक शाखाएँ उत्पन्न हुई जिनमें हैमवत, धर्मगुप्तिक, महीशासक, काश्यपीय, सक्रान्तिक (जिनको सौत्रान्तिक रूप से अधिक जाना जाता है) और वात्सीपुत्रीय आती है। वात्सीपुत्रीय से निम्न प्रशाखाएँ उत्पन्न हुई : धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, सम्मितीय, छन्नागरिक। थेरवाद की मुख्य शाखा द्वितीय शताब्दी के पश्चात् हेतुवादी अथवा सर्वास्तिवादी नाम से प्रख्यात हुई।[1] महाबोधिवंश थेरवाद शाखा और विभज्जवादी शाखा को एक ही मानता है। कथावत्थु का भाष्यकार जो राइज डेविड्स के मतानुसार सम्भवत ५वी शताब्दी मे रहा होगा बौद्धो की अन्य दर्शन शाखाओ का विवरण देता है लेकिन इन सब बौद्ध शाखाओ केसम्बन्ध मे बहुत कम जानता है। वसुमित्र (प्रथम शताब्दी) के द्वारा दिए हुए विवरण अस्पष्ट है। उसने महासघिक, लोकोत्तरवादी, एक व्यावहारिक, कुक्कुलिक प्रज्ञप्तिवादी और सर्वास्तिवादी शाखाओ का बहुत अपूर्ण सा विवरण दिया है उसमे भी उसके द्वारा दिया हुआ दार्शनिक विवरण नगण्य सा ही है। उसने जिन विषयो का उल्लेख किया है उसमे से कुछ रोचक विषय ये है। (१) महासघिक दर्शन के अनुसार शरीर चित्त से ओत प्रोत रहता है और यह चित्त शरीर मे बैठा रहता है। (२) प्रज्ञप्तिवादी ऐसा मानते है कि मनुष्य शरीर मे अन्य कोई प्रेरक शक्ति नही है। असमय मृत्यु नहीं होती क्योंकि मृत्यु मनुष्य के पूर्व कर्मानुसार निश्चित समय पर ही होती है। (३) सर्वास्तिवादी यह विश्वास करते थे कि ससार मे सभी वस्तुओ का अपना अस्तित्व है। कथावत्थु में पाए जाने वाले वाद-विवाद से हमको यह मालूम होता है कि इन शाखाओ के अनेक मत दार्शनिक महत्व रखते है परन्तु इन शाखाओ के दर्शन का ज्ञान देने वाले विस्तृत विवरण कही नही मिलते। ऐसा सम्भव है कि बौद्ध मत की ये सब शाखाएँ एक दूसरे से केवल छोटे मोटे नियमो और सिद्धान्तो की ही विभिन्नता रखती थी। इन शाखाओ के मतावलम्बियो के अनुसार सभवत. इनका मत बहुत भारी सैद्धान्तिक महत्व

वसुमित्र भ्रमवश वैशाली सभा को पाटलिपुत्र में हुई तीसरी सभा के रूप में अनुमान करते हैं इस सम्बन्ध में श्रीमती राइज डेविड्स के द्वारा कथावत्थु के अनुवाद की भूमिका देखिए।

[1] इन शाखाओ के अलग होने के सम्बन्ध मे भी श्री ओंग और श्रीमती राइज डेविड्स के कथावत्थु के अनुवाद का अवलोकन करें पृ० ३६ से ४५।

का रहा हो परन्तु हम लोगों के लिए इनका पारस्परिक अन्तर विशेष महत्वपूर्ण नही है क्योकि हमको इन शाखाओ से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य उपलब्ध नही है। इसलिए इनके सम्बन्ध में केवल मोटे अनुमान लगाना उचित नही होगा। वैसे भी भारतीय दर्शन के इतिहास मे इन दर्शनो का विशेष महत्व नही है क्योकि भविष्य के भारतीय दर्शन में इनका प्रसंग कही प्राप्त नही होता। बौद्ध धर्म के निम्न मत ही भारतीय दर्शन के सम्पर्क मे आ पाए है—सर्वास्तिवादी, जिनके साथ सौत्रांतिक और वैभाषिक भी सम्मिलित है, योगाचार अथवा विज्ञानवादी और माध्यमिक अथवा शून्यवादी। यह कहना कठिन है कि इन चार विशाल शाखाओ मे अन्य किन शाखाओ के मतों का समन्वय अथवा मेल है। सौत्रातिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक मुख्य शाखाएँ मानी गई है। क्योंकि भारतीय दर्शन के विकास मे इन मतो का विशेष स्थान रहा है अत. यह आवश्यक है कि हम इन बौद्ध मतो के विषय मे जानकारी प्राप्त करे।

जब हिन्दू दार्शनिक बौद्ध सिद्धान्तो का वर्णन करते है और कहते है कि बौद्धो का मत ऐसा है तब वे सर्वास्तिवादी शाखा के सिद्धान्तों की ओर साधारणतया सकेत करते हैं। इस शाखा के सौत्रातिक और वैभाषिक उपमतो की ओर हिन्दू दर्शन विशेष ध्यान नही देता। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि हिन्दू दार्शनिक थेरवाद के सिद्धान्त से परिचित थे जो पाली ग्रन्थो मे मिलते है। वैभाषिक और सौत्रातिक मत एक दूसरे से मिलते है। वैभाषिक वसुबधु के द्वारा लिखे हुए ग्रन्थ अभिधम्मकोश शास्त्र की टीका सौत्रातिक वसुमित्र के द्वारा लिखी गई है। वैभाषिक और सौत्रातिक मतों के उस विशेष अन्तर का, जिसका हिन्दू लेखको ने वर्णन किया है, स्वरूप यह है कि वैभाषिक यह विश्वास करते है कि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई देते है जबकि सौत्रातिक लोगो की यह मान्यता है कि बाह्य वस्तुओ का आभास मनुष्य के विस्तृत ज्ञान के फलस्वरूप होता है।[1]

गुणरत्न (चौदहवी शताब्दी) "षड्दर्शन समुच्चय" की टीका 'तर्क रहस्य दीपिका' मे लिखते है कि वैभाषिक केवल आर्यसमितीय शाखा का ही दूसरा नाम है।

---

[1] माधवाचार्य द्वारा लिखित सर्वदर्शन-सग्रह, दूसरा अध्याय। "शास्त्रदीपिका-प्रत्यक्ष" पर दिया हुआ वाद विवाद। अमलानन्द का भामती पर भाष्य 'वेदान्त कल्पतरु', पृ० २८६। "वैभाषिकस्य बाह्योर्थं प्रत्यक्ष। सौत्रातिकस्य ज्ञानगताकार वैचित्र्ये अनुमेय·।" सौत्रातिक द्वारा दिए हुए मत का विवरण अमलानद (१२४७-१२६० सन्) ने इस प्रकार दिया है—"ये यस्मिन् सत्यपि कादाचित्का ते तदतिरिक्तापेक्षा।" जिन वस्तुओ का संज्ञान एक ही स्थिति मे होते हुए भी अनेक प्रकार का दिखाई देता है उनके लिए यह आवश्यक है कि उनका प्रकाश बाह्य वस्तुओं के अलावा अन्य पर निर्भर होना चाहिए। वेदान्तकल्पतरु, पृ० स० २८६।

गुणरत्न के अनुसार वैभाषिक शाखा मे वस्तुओ का अस्तित्व केवल चार क्षणों के लिए रहता है। ये चार क्षण है—उत्पत्ति का क्षण, अस्तित्व का क्षण, क्षणिता का क्षण और नष्ट होने का क्षण। वसुबन्धु के द्वारा लिखे हुए अभिधम्मकोष मे ऐसा उल्लेख मिलता है कि वैभाषिक इन क्षणो को चार प्रकार की शक्तियो के रूप मे देखते थे जो शाश्वत प्रकृति के सत्व के साथ मिलकर जीवन की क्षणभगुरता की उत्पत्ति करते है। (इस सम्बन्ध मे प्रो० श्चेरबात्सगी के द्वारा अनुवादित यशोमित्र की अभिधर्मकोशकारिका की टीका, पाचवाँ अध्याय, पृ० २५ देखना उचित होगा)। स्वीय तत्व (जीव) जिसको 'पुद्गल' नाम से पुकारा गया है उसमे भी यही गुण पाए जाते है। ज्ञान का कोई स्वरूप नही है। इसकी उत्पत्ति वस्तु विशेष के साथ उन्ही अवस्थाओ में होती है (अर्थसहभासी, एक सामग्रयधीन)। गुणरत्न के अनुसार सौत्रातिक मत यह मानता था कि आत्मा नाम की कोई वस्तु नही है। केवल पंच स्कध पाए जाते हैं। ये स्कन्ध शरीर परिवर्तन करते रहते है। भूत, भविष्य, विनाश, कारण, आधार, आकाश और पुद्गल केवल नाम मात्र है (संज्ञामात्रम्) बल देने के लिए केवल उक्तिमात्र है (प्रतिज्ञा-मात्रम्) पारिभाषिक शब्द मात्र है (सवृत्तमात्रम्) और घटना मात्र है (व्यवहार-मात्रम्)। पुद्गल के द्वारा वे उस तत्व का वर्णन करते थे जिसे अन्य लोग अनन्त व्यापक आत्मा के रूप मे मानते है। वाह्य वस्तुओ को प्रत्यक्ष रूप मे नही देखा जा सकता, केवल ज्ञान मे बहुविध रूप के अर्थ को सिद्ध करने के लिए परोक्ष अनुमान से जाना जाता है। मज्ञान विशेष (निश्चित सज्ञान) सत्य है परन्तु सस्कार क्षणिक हैं (क्षणिका सर्वसस्कारा) रग, रूप, स्पर्श, गध एव स्वाद इन सबके अणु प्रतिक्षण नष्ट होते रहते है। शब्दों का अर्थ, जिस अर्थ की विवेक्षा होती है उसके अतिरिक्त सभी शब्दो का निषेध भी करता है। अर्थात् प्रत्येक शब्द का अर्थ निषेधात्मक है (अन्यापोह: शब्दार्थ)। इसी प्रकार सत् ध्यान की प्रक्रिया से, "आत्मा का कोई अस्तित्व नही है" ऐसा सोचते हुए जब ससार के प्रति ज्ञान का अस्तित्व समाप्त हो जाता है अर्थात् बोध ज्ञान का विनाश हो जाता है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

विभाज्जवादी सौत्रातिक और वैभाषिक अथवा सर्वास्तिवादी दर्शनो मे काल के विषय मे विशेष विभेद पाया जाता है। काल अथवा समय की भावना बौद्ध दर्शन का एक विशेष रोचक अग है। अभिधम्मकोष (पाचवा अध्याय, पृ० २४) मे लिखा है कि सर्वास्तिवादी यह मानते हैं कि भूत, वर्तमान और भविष्य मे प्रकृति की सभी वस्तुओ का शाश्वत अस्तित्व है। विभज्जवादी मानते है कि भूत व वर्तमान के वे सब तत्व जो अपना कार्य समाप्त नहीं कर सके है अथवा जिनका पूर्ण निरूपण, विकास अथवा फलन नही हो पाया है वे सब विद्यमान है, परन्तु जिन तत्वो ने पूर्णता प्राप्त

---

[1] गुणरत्न द्वारा लिखी हुई तर्क रहस्यदीपिका, पृ० ४६-४७।

कर अपना कार्य समाप्त कर दिया है उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और भविष्य में उनकी कोई स्थिति नही रहती अर्थात् सरल शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि प्रकृति के तत्व उत्पन्न होते है, पूर्ण विकास को प्राप्त होते है और फिर समाप्त हो जाते हैं। इस दर्शन की चार प्रशाखाएँ है जिनके प्रतिनिधि धर्मत्रात, घोष, वसुमित्र और बुद्धदेव है। धर्मत्रात के अनुसार एक तत्व जब विभिन्न कालों मे प्रवेश करता है तो इसके अस्तित्व मे परिवर्तन हो जाता है परन्तु सत्य रूपेण वह स्थित रहता है जैसे दूध का जब दही बन जाता है अथवा स्वर्ण पात्र टूट जाता है तो इसका बाह्य रूप बदल जाता है परन्तु तत्व रूप वही रहता है। घोष के मतानुसार जब एक तत्व विभिन्न कालों मे प्रकट होता है तब भूतकाल का तत्व अपने पूर्व रूप मे स्थित रहता है और इसका भविष्य और वर्तमान से भी सम्बन्ध विच्छेद नही रहता। इसी प्रकार वर्तमान मे जो तत्व दिखाई देता है वह भूत व भविष्य दोनो मे अपनी स्थिति रखता है। अर्थात् प्रत्येक तत्व की स्थिति, भूत, वर्तमान और भविष्य मे विद्यमान रहती है। रूप मे परिवर्तन सम्भाव्य है। जैसे एक मनुष्य किसी स्त्री के साथ घनिष्ठ प्रेम होते हुए भी भविष्य मे किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करने की क्षमता को नही खो देना। वसुमित्र के अनुसार किसी वस्तु का वर्तमान, भूत और भविष्य, क्रमश क्षमता की उत्पत्ति, उसकी समाप्ति और क्षमता की उत्पत्ति उस समय न होकर भविष्य मे होने की अवस्था पर निर्भर करता है अर्थात् यदि क्षमता पूर्व काल मे उत्पन्न हो चुकी है वह उस वस्तु का भूतकाल है। यदि क्षमता की स्थिति विद्यमान है तो वह वर्तमान है और यदि वस्तु विशेष की क्षमता की उत्पत्ति अभी नही हुई परन्तु होने की सम्भावना है तो वह उसका भविष्य है। बुद्धदेव के अनुसार जिस प्रकार एक ही स्त्री माता, पुत्री और पत्नी कही जाती है उसी प्रकार एक ही वस्तु मे पूर्व क्षणो के अथवा आने वाले क्षणो के सम्बन्ध के अनुसार वर्तमान, भूत और भविष्य का बोध होता है।

ये सारी दर्शन शाखाएँ किसी न किसी अर्थ मे सर्वास्तिवादी हैं क्योकि ये सभी एक व्यापक अस्तित्व को मान्यता प्रदान करती है। परन्तु वैभाषिक वसुमित्र के मत के अतिरिक्त सभी मतो मे विकार मानते है। धर्मत्रात का दर्शन साख्य सिद्धान्त का ही अस्पष्ट रूप है। घोष का मत एक काल मे एक अस्तित्व के सभी रूपों की स्थिति एक साथ मानकर चलने से काल की इस भावना को एकदम अस्पष्ट कर देता है जिसके कारण इसको समझना कठिन हो जाता है। बुद्धदेव का मत भी एक ऐसी असम्भव कल्पना है जिसमे तीनो काल एक साथ एक ही समय एक ही वस्तु में समाविष्ट कर दिए गए है। वैभाषिक वसुमित्र के मत को स्वीकार करते है और ऐसा मानते हैं कि किसी भी काल का अन्तर किसी भी सत्ता के कार्यों के भेद पर निर्भर करता है। कोई भी सत्ता जब तक अपने कार्य का कार्य प्रारम्भ नही करती है तब तक वह भविष्य के गर्भ मे होती है जब वह अपना कार्य प्रारम्भ कर देती है तो इसका वर्तमान होता है

और कार्य की समाप्ति हो जाने पर इसका भूतकाल हो जाता है। इस प्रकार भूत व भविष्य का अस्तित्व उतना ही सत्य है जितना वर्तमान का। उनके अनुसार यदि भूत की स्थिति नहीं होती अथवा भूतकाल मे किसी कार्यक्षमता का प्रारम्भ नही होता तो यह ज्ञान की परिधि मे भी नही आता अर्थात् इसका ज्ञान ही नही होता और पुनः भूतकाल मे किए हुए किसी भी कार्य का फल वर्तमान मे प्राप्त नही होता। सौत्रातिकों के मतानुसार वैभाषिको का यह सिद्धान्त धर्म-विरोधी है क्योंकि यह शाश्वत अनन्त अस्तित्व को स्वीकार करता है। उनके मतानुसार वस्तु अपनी सत्ता को नही खोती केवल काल-परिवर्तन से रूपान्तर हो जाता है। उनके अनुसार सही दृष्टिकोण यह है कि किसी भी सत्ता की क्षमता, सत्ता तथा उस वस्तु के प्रकट होने का समय इन तीनों मे कोई अन्तर नही है। कोई भी वस्तु अथवा पदार्थ अनस्तित्व (स्थितिहीनता) से उत्पन्न होती है। कुछ समय के लिए उसका अस्तित्व रहता है और फिर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वैभाषिक शाखा के इस मत से वे सहमत नही हैं कि भूत के अस्तित्व को विशेष रूप से इसलिए माना जावे कि वह उस समय वर्तमान के लिए क्षमता की उत्पत्ति का प्रादुर्भाव करता है अर्थात् भूतकाल मे यदि किसी क्रिया का प्रारभ नही होता तो वर्तमान मे उसकी स्थिति सम्भव नही होती। परन्तु सौत्रातिकों के अनुसार यदि यही स्थिति सत्य है तो भूतकाल और वर्तमान मे कोई अन्तर नहीं रहेगा क्योंकि क्षमता की उत्पत्ति के लिए दोनो ही एक समान महत्व रखते है। यदि भूत, वर्तमान और भविष्य का अन्तर केवल किसी वस्तु की क्षमता के स्तर पर निर्भर करता है तो फिर हमको भूत, वर्तमान आदि की स्थिति को निरंतर अनन्त काल तक मानते रहना पडेगा और इस विचित्र शृंखला का कहीं अन्त नही होगा। हमको जिन वस्तुओ की सत्ता निरुद्ध हो गयी है और जिन वस्तुओ की सत्ता अवस्थित है इन दोनो का भान होता ही है। भूत के हमारे ज्ञान का अर्थ यह नही है कि भूत किसी प्रकार का प्रभाव क्षमता के हेतु इस समय डाल रहा है। यदि हम किसी पदार्थ की सत्ता और क्षमता के बीच अन्तर मान लें तब यह समझना कठिन हो जायगा कि किसी वस्तु विशेष की क्षमता का प्रारम्भ कब और क्यों हुआ और किस कारण किस समय समाप्त हो गया। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि किसी वस्तु व उसके गुण मे कोई अन्तर नही है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह पदार्थ, उस पदार्थ की क्षमता अथवा गुण और उसके अस्तित्व का गुण, ये तीनो एक ही है। (अर्थात् वस्तु की स्थिति ही उसका काल है और उसके गुण धर्म द्वारा ही उस वस्तु की सत्ता का अस्तित्व है)। जब हम किसी वस्तु की स्मृति करते है तब हम यह नही जानते कि यह किस भूतकालिक समय मे रही थी। हम इसको उसी अवस्था मे जानते है जिस समय उस अवस्था में यह विद्यमान थी। हम पूर्ववर्ती वासनाओ की ओर कोई ध्यान नही देते है जैसाकि वैभाषिक बताते है। लेकिन ये

वासनाएँ अपनी अस्पष्ट छाप छोड जाती है। इसके कारण वर्तमान मे नई वासनाओं का जन्म होता है।[1]

वसुबंधु ने अभिधर्मकोष मे आत्मा की स्थिति के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से हमें वत्सीपुत्रीय और सर्वास्तिवादी मतो की एक झलक मिल सकती है। वसुबन्धु के अनुसार यह सत्य है कि इन्द्रियो के द्वारा हमें प्रकृति का ज्ञान होता है परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि आत्मा की कोई स्थिति है। यदि आत्मा वास्तविक रूप मे विद्यमान है तो पचभूतो से अथवा व्यक्तिगत जीवन की सत्ता से इसका अलग अस्तित्व होना चाहिए। फिर यदि कोई अनन्त अपरिवर्तनशील और जिसकी उत्पत्ति का कोई कारण नही है ऐसी कोई वस्तु है भी, तो वह अर्थहीन है क्योकि उसकी कोई व्यावहारिक क्षमता नही हो सकती (अर्थ क्रियाकारित्व) जिसके कारण ही किसी वस्तु के अस्तित्व का पता हमे चलता है। अत आत्मा का अस्तित्व नाम मात्र के रूप मे है। यह केवल शाब्दिक प्रयोग है। आत्मा नाम की कोई वस्तु नही है। केवल व्यक्तिगत जीवन के कुछ तत्व अवश्य है। इसके विपरीत, वत्सीपुत्रियो के अनुसार अग्नि जब काष्ठ को जलाती है तब यह भेद करना कठिन है कि जलता हुआ काष्ठ अग्नि से भिन्न है परन्तु अग्नि का अपना स्वय एक अस्तित्व है जो काष्ठ से अलग है। इसी प्रकार आत्मा का भी स्वतत्र अस्तित्व है। इसका अलग व्यक्तित्व है। यद्यपि व्यक्तिगत जीवन के तत्वो से प्रभावित होने के कारण इसका अस्तित्व व्यक्तिगत तत्वो से किस प्रकार पूर्णत. अलग निकाल कर देखा जाए यह कठिन है इसीलिए यह जीवन तत्वो से भिन्न है या अभिन्न इसकी विशिष्ट परिभाषा करना कठिन है। लेकिन इसके अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता। किसी भी कार्य के लिए यह आवश्यक है कि उस कार्य को करने वाला कोई कर्ता होना चाहिए। उदाहरण के लिए "देवदत्त चलता है" इस वाक्य मे। इसी प्रकार किसी वस्तु का सज्ञान भी एक क्रिया है। उसके होने के लिए यह आवश्यक है कि सज्ञान का कर्ता भी कोई हो जिसको कि यह ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान और जिसको यह ज्ञान होता है ये दोनो पृथक् पृथक् है। इस तर्क का उत्तर वसुबधु इस प्रकार देते है। देवदत्त (व्यक्ति विशेष का नाम) का एक इकाई के रूप मे अस्तित्व नही है। यह क्षणिक शक्तियो के अनन्त प्रवाह का एक क्षण है (जो अस्तित्व के रूप मे प्रकट होता है) जिसको साधारण लोग (अज्ञानी) एकात्मक सत्ता के रूप मे मानते हुए देवदत्त नाम रख देते है। 'देवदत्त चलता है' उनका यह विश्वास अपने अनुभव के आधार पर अनुबन्धित व (कन्डीशन्ड) है। कृत्रिम साम्यानुमान के कारण है। परन्तु उनके स्वय के जीवन का प्रवाह एक स्थान से दूसरे

---

[1] उपर्युक्त सदर्भ में पेट्रोग्राड निवासी प्रो० श्चेरबात्स्की के द्वारा अनुवादित अभिधम्म-कोष के आधार पर विवरण दिया गया है जो अभी तक अप्रकाशित है। इसके प्रयोग के लिए मैं प्रोफेसर महोदय का आभारी हूं।

स्थान की ओर गतिशील है। यह गतिशीलता एक शाश्वत अस्तित्व के रूप मे समझी जाती है लेकिन वस्तुतः विभिन्न स्थानो मे हर बार हुई नवीन उत्पत्तियो की एक शृंखला या सातत्य मात्र है। इस प्रकार 'अग्नि जलती है' अथवा 'फैलती है' जैसे पदों से विभिन्न अस्तित्वो के एक प्रवाह का अर्थ होता है (नए स्थानो पर नई उत्पत्तियो का प्रवाह)। इसी प्रकार यह पद कि 'देवदत्त देखता है' केवल इस तथ्य का सूचक है कि यह सज्ञान वर्तमान के इस क्षण मे होता है जिसका एक कारण है जो पूर्ववर्ती क्षणों मे उत्पन्न होता है और इन पूर्वकालिक क्षणों के एक दूसरे के निकट प्रवाह के रूप मे आने के कारण उस सज्ञान के कारण को देवदत्त सज्ञा दी जाती है।

स्मृति की समस्या मे भी कोई कठिनाई नही होती। चेतना का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। जिस वस्तु का ध्यान किया जाता है उसके सम्बन्ध मे पूर्वज्ञान होने से उसकी स्मृति चेतना जागृत होती है। यह चेतना उस ओर ध्यान देने की अवस्था और चेतना को नष्ट करने वाले दूसरे तत्वो के न होने पर निर्भर है जैसे शरीर मे कष्ट, शूल आदि। स्मृति के व्यापार के लिए किसी अन्य कारक अथवा अभिकर्ता की आवश्यकता नही है। इस स्मृति के लिए केवल मस्तिष्क की उचित अवस्था की आवश्यकता है। जब भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन और जन्म के सम्बन्ध मे कथाएँ सुनाते हुए यह कहा कि अमुक जन्म मे वे अमुक रूप मे थे तब उनका तात्पर्य यह था कि विभिन्न जन्मो मे उनका अस्तित्व विभिन्न क्षणिक अस्तित्वों के एक ही प्रवाह का सातत्य था अर्थात् उनके वर्तमान और पहले हुए जन्मों की शृंखला एक थी। जब हम यह कहते है कि अग्नि जलते हुए इस वस्तु तक पहुँच गई है तभी हम यह जानते है कि अग्नि दो स्थानो पर एकसी नही है। अलग-अलग दो क्षणो मे इसका अस्तित्व अलग-अलग है परन्तु फिर भी वास्तविकता मे हम इस अन्तर की ओर ध्यान नही देते और हम यह मानते है कि इन दोनो मे कोई अन्तर नही है, यह वही अग्नि है और यही वास्तविक सत्य है। इसी प्रकार से हम जब किसी एक व्यक्ति के बारे मे कुछ कहते है तो उस व्यक्ति को हम उसके जीवन के विभिन्न क्रियाओ के प्रवाह से ही पहिचानते है। जैसे यह भद्र पुरुष, जिसका यह नाम है, जो अमुक जाति, अवस्था या परिवार का व्यक्ति है, ऐसे भाजन व ऐसे कार्यों मे रुचि लेता था जो इस अवस्था मे भर जाएगा।" केवल उसके नाम धाम आदि के वर्णन से हम व्यक्ति विशेष को जान सकते हैं लेकिन वास्तविक व्यक्ति से हमारा कोई प्रत्यक्ष परिचय नही होता। जो कुछ हम देखते है वे रूप, अनुभव आदि के क्षणिक तत्व होते है और ये तत्व आगे आने वाले तत्वो पर प्रभाव डालते है। इस प्रकार एक व्यष्टि या इकाई का अस्तित्व तो केवल नाम मात्र का अस्तित्व है, कल्पना की वस्तु है, जिससे वास्तविकता मे कोई परिचय नही है। इस व्यक्ति को इन्द्रियो से अथवा बुद्धि के व्यापार से नहीं माना जा सकता हम केबल बाह्य आवरण को पहचानते है। दूसरे क्षेत्रों से उदाहरण लेने से यह स्पष्ट हो जाता है।

जैसे हम दूध नाम की संज्ञा का प्रयोग करते है तब हम रूप रस आदि के गुणों के वर्णन द्वारा ही दूध को समझते है। वह वस्तु जिसका क्षणिक रूप से अस्तित्व है वह केवल रंग, रूप और रस है उन सबके समुदाय को दूध का नाम देना कल्पना मात्र ही है। "जिस प्रकार दूध व जल रूप, रस, गन्धादि के तत्वो के समुच्चय की केवल संज्ञा मात्र है इसी प्रकार व्यक्ति भी एक संज्ञा मात्र है जो विभिन्न तत्वो के समुच्चय मात्र का बोध कराती है।"

बुद्ध ने इसीलिए इस प्रश्न को कभी सुलझाने का प्रयत्न नही किया कि जो जीवन तत्व है वह शरीर से भिन्न है अथवा एक ही है क्योकि किसी जीवित सत्ता का व्यक्ति या अलग इकाई के रूप मे कोई अस्तित्व नही है जैसा कि सामान्यतः माना जाता है। किन्तु उसने यह भी नही कहा कि प्राणी का कोई अस्तित्व नही है क्योकि तब प्रश्नकर्ता यह समझता कि जीवन के तत्वो के सातत्य का भी कोई अस्तित्व नही माना जा रहा। वास्तविक सत्य यह है कि यह जीवित अस्तित्व नित्य परिवर्तन होते हुए कुछ तत्वो के योग का परम्परागत नाम ही है।[1]

सम्मितीय शाखा की पुस्तक सम्मितीय शास्त्र का अनुवाद चीनी भाषा मे सन् ३५० से ४३१ के बीच मे हुआ है। इस शाखा का और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है और सम्भवतः इस शाखा का मूल ग्रन्थ अब लुप्त हो गया है। दीप वंश के पाचवे अध्याय ४७वे पृष्ठ के आधार पर तकाकुसु महोदय ने बताया है कि वैभाषिक और सर्वास्तिवादी लगभग एक ही शाखा के नाम है। थेरवाद दर्शन की एक शाखा महीशासक की प्रशाखा के अन्तर्गत वैभाषिक अथवा सर्वास्तिवादी माने जाते है।[2]

---

[1] प्रो० श्चेरबात्सकी (बुलेटिन दे ल अकादमी दे साइंस दे रूसे, १९१९) ने अभिधर्मकोष के आठवे अध्याय के एक विशिष्ट परिशिष्ट का अनुवाद किया है। इस परिशिष्ट का नाम 'अष्टमकोशस्थाननिबद्ध पुद्गलविनिश्चय" है। उपर्युक्त वर्णन इस परिशिष्ट के आधार पर है।

[2] प्रो० डीला वेल्ली पूसी ने इस सिद्धान्त के ऊपर एक लेख सम्मितीय शाखा के ऊपर लिखा है (ई. आर ई)। उसमे उन्होंने बताया है कि 'अभिधम्मकोश व्याख्या' मे सम्मितीय और वात्सीपुत्रीय शाखाओ को एक ही माना गया है। वैभाषिको ने इनके दर्शन के बहुत से शास्त्रो को आगे चलकर अपना लिया था। उनके दर्शन के कुछ विचार इस प्रकार है (१) जिस अर्हत को निर्वाण प्राप्त हो गया है वह पदच्युत भी हो सकता है। (२) मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच मे एक अवस्था है जिसको अन्तराभव कहते है। (३) पुण्य केवल त्याग से ही प्राप्त नही होता (त्यागान्वय)। परन्तु प्राप्त हुई वस्तुओ के उपयोग तथा लाभ आदि से प्राप्त होता है (परिभोगान्वयपुण्य)। (४) अशुभ कर्मों के न करने से ही अथवा केवल

कथावथ्थु के आधार पर हमे पता चलता है . (१) सब्बात्थिवादी (सर्वास्तिवादी) यह विश्वास रखते थे कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है। अर्हत् तत्व का उदय एक क्षणिक आन्तरिक प्रकाश की चमक नही है वरन् इसकी प्राप्ति के लिए शनै: शनै. सतत प्रयत्न करना पड़ता है। (२) ज्ञान अथवा समाधि एक प्रवाह है। (३) यह सम्भव है कि अर्हत् अपने पद से पथभ्रष्ट हो जाए अथवा वह निम्न श्रेणी को प्राप्त हो जाए।[1] थेरवाद दर्शन के अभिधर्म साहित्य से सर्वास्तिवादियो के अभिधर्म साहित्य मे जो चीनी भाषा के अनुवादो मे मिलता है काफी भिन्नता है।[2] सर्वास्तिवादियो के लिए ये ग्रन्थ इस प्रकार है . (१) कात्यायनीपुत्र द्वारा लिखित ज्ञान प्रस्थान शास्त्र जिसका कालान्तर मे नाम महाविभाषा हुआ। जो सर्वास्तिवादी इस ग्रन्थ को मान्यता देते है वे वैभाषिक के रूप मे जाने जाते है।[3] इस ग्रन्थ को साहित्य का स्वरूप अश्व घोष ने दिया। (२) शारिपुत्र द्वारा लिखा हुआ धर्मस्कन्ध (३) पूर्ण लिखित धातुकाय (४) प्रज्ञप्तिशास्त्र (प्रज्ञप्तिशास्त्र) लेखक. मौदगल्यायन (५) विज्ञानकाय. लेखक

सयम से ही पुण्य प्राप्त नही होता परन्तु ऐसा करने की इच्छा मात्र से और उस निश्चय की घोषणा मात्र से भी पुण्य की प्राप्ति होती है। (५) उनके अनुसार पुद्गल (आत्मा) स्कन्धो से भिन्न एक वस्तु है। पुद्गल को अनित्य नही कहा जा सकता लेकिन स्कन्ध अनित्य है क्योकि ये अपने भार को एक स्थान पर छोडकर दूसरा भार ग्रहण करने के लिए पुनर्जन्म लेते रहते है। इनको नित्य इसलिए नही कहा जा सकता कि ये तत्व क्षणिक है। सम्मितीय शाखा के पुद्गल सिद्धान्त की जो व्याख्या की गई है वह गुणरत्न की शाखा से मेल नही खाती।

[1] मिसेज राइज डेविड्स के द्वारा किया हुआ कथावथ्थु का अनुवाद देखिए, पृ० स० १६ और उपखड १/६/७, दूसरा अध्याय ६ और ११वा अ० उपखड ६।

[2] सर्वास्तिवाद के लिए 'महाव्युत्पत्ति' ग्रन्थ दो नाम देता है-(१) मूल सर्वास्तिवाद (२) आर्य सर्वास्तिवाद। इत्सिग (सन् ६७१ से ६९५ ई०) आर्य मूल सर्वास्तिवाद और मूलसर्वास्तिवाद का उल्लेख करते है। उनके समय मे ये दर्शन, मगध, गुजरात सिंध, दक्षिण भारत और पूर्व भारत मे पाया जाता था। डा० तकाकुसु महोदय कहते है-(पी० टी० एस० १९०४ और १९०५) मे परमार्थ ने वसुबधु की जीवनी के सम्बन्ध मे लिखते हुए उल्लेख किया है कि वसुभद्र नामक बौद्ध भिक्षु ने काश्मीर मे अध्ययन किया और वहाँ से इसका प्रचार मध्य भारत तक हुआ।

[3] तकाकुसु (पी० टी० एस० १९०४-१९०५) कहते है कि कात्यायनी पुत्र का ग्रन्थ सम्भवत अन्य विभाषा ग्रन्थो का सकलन मात्र है। ये विभाषा ग्रन्थ चीनी अनुवाद और ३८३ सन् मे प्राप्त होने वाले विभाषा शास्त्रो से पूर्वतर होने चाहिए।

देवक्षेम (६) संगीति पर्याय. लेखक शारिपुत्र एवं प्रकरणपाद· लेखक वसुमित्र। वैभाषिक[1] दर्शन के ऊपर वसुबंधु (४२० से ५००) ने पद्यों में एक कारिका ग्रन्थ लिखा जिसका नाम अभिधर्मकोष है। इस ग्रन्थ के साथ उन्होंने एक टीका भी सम्मिलित की जिसको "अभिधर्मकोष-भाष्य" के नाम से जाना जाता है इसमें वैभाषिक शाखा और सौत्रातिक शाखा के मतों में कुछ विभेदों का उल्लेख किया गया है।[2] इस शास्त्र की व्याख्या वसुमित्र और गुणमति ने की और उसके पश्चात् यशोमित्र ने इसकी टीका लिखी जो स्वयं सौत्रातिक थे और उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'अभिधर्मकोष-व्याख्या' रखा। वसुबंधु के समकालीन संघभद्र ने 'समय प्रदीप' एवं 'न्यायानुसार' वैभाषिक दर्शन के सिद्धान्तों के अनुसार लिखे इनके अनुवाद चीनी भाषा में उपलब्ध है।

इनके अतिरिक्त अन्य वैभाषिक लेखकों का वर्णन मिलता है जैसे धर्मयात घोषक, वसुमित्र और भदन्त जिन्होंने 'सम्युक्त अभिधर्मशास्त्र' और 'महाविभाषा' ग्रन्थ लिखे है। दिङ्नाग (सन् ४८०) अपने युग के प्रसिद्ध तार्किक थे। ये वैभाषिक अथवा सौत्रातिक मत को मानने वाले थे और वसुबन्धु के ख्यातिप्राप्त शिष्यों में से एक थे। इन्होंने 'प्रमाण समुच्चय' नाम का ग्रन्थ लिखकर बौद्ध सिद्धान्तों की व्याख्या की और न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्सायन के मत का खंडन किया लेकिन खेद यह है कि इनमें से कोई भी ग्रन्थ संस्कृत में नहीं मिलता। इन ग्रन्थों का अनुवाद चीनी अथवा तिब्बती भाषा से किसी भी पाश्चात्य अथवा भारतीय भाषा में नहीं किया जा सका है।

प्रसिद्ध जापानी विद्वान् यामाकामी सोजिन ने जो कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे सर्वास्थिवादी सिद्धान्तों का वर्णन चीनी ग्रन्थों के आधार पर किया है। उन्होंने अभिधम्मकोष और महाविभाषा शास्त्र का चीनी भाषा में अध्ययन किया है।[3] इनके द्वारा प्रस्तुत वर्णन के आधार पर इन सिद्धान्तों की रूप रेखा संक्षेप में इस प्रकार से है।

सर्वास्थिवादी निम्न तत्वों का स्वीकार करते हैं पंचस्कन्ध, बारह आयतन, अठारह धातु, तीन असंस्कृत धर्म–प्रति संख्य-निरोध, अप्रतिसंख्य निरोध एवं आकाश, और संस्कृत धर्म (वे तत्व जो एक दूसरे पर निर्भर या यौगिक हैं) जैसे रूप, प्रकृति तत्व, चित्त, चैत्त (चित्त सम्बन्धी) और चित्त-विप्रयुक्त (जो चित्त से सम्बन्ध नहीं रखते)।[4] सारी घटनाएं अनेक कारणों के योग (संस्कृत) से घटित होती है। पांच

---

[1] ताकाकुसु का लेख रोयल एशीयाटिक सोसायटी के १९०५ के जरनल में देखिए।

[2] वैभाषिक अभिधर्म्म ग्रन्थों को सौत्रातिक मान्य नहीं समझते थे। वे सुत्तपिटक में दिए हुए सुत्तत (सूत्रान्त) सिद्धान्तों के ऊपर बल देते थे।

[3] सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट· कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित।

[4] शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२) में सर्वास्तिवादियों के सिद्धान्त का संकेत करते हुए, सोजिन द्वारा सूचित कुछ तत्वों का उल्लेख किया है।

स्कन्ध–रूप, चित्त आदि संस्कृत धर्म कहे जाते है क्योंकि इनका एक दूसरे से मूल सम्बन्ध है (संभूयकारी)। रूप, धर्म, सख्या मे ग्यारह है। चित्त धर्म एक है। चैत्त धर्म छियालीस और चित्त-विप्रयुक्त संस्कार धर्म (चित्त से सम्बन्ध न रखने वाली यौगिक वस्तुएँ) चौदह है। इनमे तीन असंस्कृत धर्म जोडने से ७५ धर्म जाने जाते है। रूप वह है जिन पर इन्द्रिय चेतनाओं का संघात होता है। रग, गध, स्पर्श एवं रस इन चार तत्वों से मिलकर बनी हुई अगीय सरचना, रूप, अथवा प्रकृति (द्रव्य उपादान) के रूप मे मानी गई है। सरल शब्दो मे रूप वह जड उपादान है जो रूप, रग, रस, गध, स्पर्श आदि के सयोग से बना हुआ है। इन चारो वस्तुओ के योग से बनी हुई इकाई के परमाणु को विभाजित नही किया जा सकता न इसको अलग किया जा सकता है न इसको फेका जा सकता है। यह अविभाज्य है, इसका विश्लेषण नही हो सकता। इसको देखा या सुना नही जा सकता। यह स्वादहीन है एव अमूर्त है। लेकिन यह फिर भी स्थायी नही है। एक क्षणिक चमक के समान इसका अस्तित्व क्षणिक है। साधारण अग द्रव्य परमाणु कहलाते है और यौगिक सघात परमाणु कहलाते है। प्रो० श्चेरबात्स्की के अनुसार "द्रव्य के व्यापक तत्व उनकी क्रियाओ मे अथवा कार्यो मे स्पष्ट होते है अत इनको द्रव्य के स्थान पर ऊर्जा कहना अधिक उचित होगा।" चेतना की इन्द्रियाँ भी अणु तत्व के आधार पर बनी हुई मानी गई है। सात परमाणु से मिलकर एक अणु बनता है और इन परमाणुओ के मिलने पर जो अणु बनता है केवल उसे ही देखा जा सकता है। यह योग ऐसे समूह के रूप मे बनता है जिसमे एक अणु केन्द्र मे एव अन्य अणु उसके चारो ओर होते है। इन द्रव्य उपादानो के सम्बन्ध मे यह बात याद रखने की है कि महाभूतों के सारे गुण परमाणुओ मे निहित है। प्रत्येक तत्व मे सभी महाभूतो के गुण जैसे तरलता, उष्णता, प्रवाह और ठोस जडता विद्यमान रहती है जो क्रमश जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी की विशेषता है। विभिन्न तत्वो मे केवल इतना ही अन्तर है कि उनमे से प्रत्येक मे कोई एक गुण विशिष्ट होता है और अन्य गुण अज्ञात रूप मे विद्यमान रहते है। सभी द्रव्यो का एक दूसरे से प्रतिरोध इसलिए रहता है, क्योंकि सभी तत्वो मे पृथ्वी तत्वो का ठोसपन विद्यमान है। एक दूसरे मे पारस्परिक आकर्षण का कारण जल तत्व की तरलता है आदि आदि। इन चार भूतो को तीन दृष्टियो से देखना चाहिए। (१) वस्तु विशेष, (२) उनके गुण अथवा प्रकृति जैसे तरलता आदि। (३) उनकी क्रिया जैसे धृति अथवा आकर्षण सग्रह, मेल, पक्ति रासायनिक ऊष्मा और व्यूहन (समूह मे एकत्रित होना)। ये अन्य अवस्थाओ अथवा कारणो के कारण स्वाभाविक रूप से एकत्रित होते है। वैभाषिक सर्वास्तिवादियो मे और बौद्ध दर्शन के अन्य मतो मे विशेष अन्तर यह है कि सर्वास्तिवादी पच स्कन्ध और द्रव्यो को शाश्वत और स्थायी मानते है। वे क्षणिक केवल इस दृष्टि से माने जाते हैं कि वे अपने स्वरूप का निरन्तर परिवर्तन करते रहते है क्योंकि इनके विभिन्न सयोग बनते रहते है। अविद्या

प्रतीत्यसमुत्पाद की कारण-शृंखला की एक कड़ी के रूप मे नही मानी जाती है। यहाँ यह अज्ञान व्यक्ति विशेष का नही माना जाता वरन् यह अज्ञान मोह का ही अंग माना जाता है जिसके अन्तर्गत यह मोह प्रकृति की एक अन्तिम दशा के रूप मे माना गया है। यह अविद्या जो व्यक्ति विशेष मे सस्कारो के माध्यम से नाम रूप की उत्पत्ति करती है उसके वर्तमान अस्तित्व मे उत्पन्न अविद्या नही परन्तु पूर्ववर्ती अस्तित्व की अविद्या है जिसका फल वर्तमान मे मिलता है।

"कारण तत्व का कभी नाश नही होता। केवल इसके नाम मे (संज्ञा) में परिवर्तन हो जाता है जब यह कारण से अपनी स्थिति को बदल कर क्रिया बन जाता है।" उदाहरण के लिए मिट्टी मे घडा बन जाता है और इस दशा के परिवर्तन-स्वरूप मिट्टी नाम का लोप होकर घडा (घट) नाम की उत्पत्ति हो जाती है।[१] कारण और कार्य के एक साथ करने की स्थिति को सर्वास्तिवादी केवल उन वस्तुओं के लिए मानते थे जो समयौगिक वस्तुएँ है (सम्प्रयुक्त हेतु) और उन अवस्थाओ मे मानते थे जिसमे चेतन और पार्थिव पदार्थो की एक दूसरे पर प्रतिक्रिया होती है। चेतना (विज्ञान) का मूल आभ्यन्तर तत्व स्थायी वस्तु माना जाता था और पचेन्द्रियो की सामूहिक चेतना के रूप मे समझा जाता था जो सभी वस्तुओ का संज्ञान प्राप्त करता है। यह स्मृति मे रखने योग्य है कि इन्द्रियाँ पार्थिव होने के कारण उनका एक स्थायी मूल आन्तरिक स्तर अलग से माना जाता था और उनके द्वारा उद्भूत चेतनाओ के समूह का स्तर भी भिन्न था।

दृष्टि-चेतना, चार मुख्य रग एव उनके मिश्रणो को ग्रहण करती है। ये चार रग नीला, पीला, लाल और श्वेत है। इसके अतिरिक्त बाह्य दृष्टि से पहिचाने जाने वाले पार्थिव रूप को भी ग्रहण करती है जिसे सस्थान की सज्ञा दी है। यह बाह्य रूप लम्बा, छोटा, गोल, चौकोर, ऊँचा, नीचा, सीधा, टेढा आदि पार्थिव रूप है। स्पर्श चेतना (कायेन्द्रिय) भी चार तत्वो (भूतो) से बने पदार्थों के सम्पर्क मे आती है। यह हलका, भारी, नरम, कडा, साफ, खुरदरा, भूख व प्यास की चेतना को ग्रहण करती है। यह गुण, इन्द्रिय सवेदना वाले व्यक्तियो मे भूख प्यास आदि के द्वारा उत्पन्न अनुभूतियों को प्रकट करती है। जब वायु का अन्य शक्तियो के ऊपर प्राधान्य होता है तब शरीर मे हुई उत्तेजना के फलस्वरूप भूख की अनुभूति होती है और जब अग्नि अथवा तेज का प्राधान्य होता है तब प्यास की अनुभूति होती है। इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों की चेतना को ग्रहण करने के पश्चात् विज्ञान की उत्पत्ति करती है। पचेन्द्रियो के माध्यम के बिना पच विज्ञान बाह्य वस्तुओ को देखने मे असमर्थ रहते है। इन्द्रियो

---

[१] यह उद्धरण माध्यमिक शास्त्र अध्याय २० कारिका ९ की टीका जो आर्यदेव ने लिखी है उसके चीनी अनुवाद से सोजिन महोदय द्वारा उद्धृत है।

का तत्व पार्थिव है। प्रत्येक इन्द्रिय के दो उप भाग हैं जिनको मुख्य चेतना एव गौण चेतना के रूप मे कह सकते है। मुख्य चेतना परमाणुओं के योग के आधार पर स्थित है। ये परमाणु शुद्ध एव सूक्ष्म रूप मे रहते है। गौण चेतना का आधार स्थूल शरीर एवं अन्य पदार्थ हैं। ये पंच चेतनाएँ एक दूसरे से आणविक योग से बने हुए पदार्थों के स्वरूप, गुण धर्मादि के आधार पर विभिन्न क्षेत्रो मे कार्य करती हैं। चेतना का जितना व्यापार है उसमे जैसे ही एक क्रिया सम्पूर्ण होती है उस चेतना की सूक्ष्मतम छाप हमारे व्यक्तित्व पर अंकित हो जाती है जिसे हम अविज्ञप्ति रूप कहते है। इसको रूप इसलिए कहते है कि यह रूप सम्पर्क का फल है (रूप विशेष से ससर्ग मे आने का फल है)। इसको अविज्ञप्ति इसलिए कहते है, क्योकि यह गुप्त और (निगूढ) अचेतन रूप से स्थित है। यह गुप्त शक्ति आगे पीछे चलकर कर्म फल के रूप मे अपने आपको प्रकट करती है और इस प्रकार यह कर्म के कारण और क्रिया को मिलाने वाली सधि है। इस दर्शन के अनुसार कर्म दो प्रकार का माना जाता है–कर्म का मानसिक विचार (चेतन कर्म) और तदनुकूल वास्तविक क्रिया (चैतसिक कर्म)। यह चैतसिक कर्म पुन दो प्रकार का होता है–(१) जो स्थूल शरीर की क्रिया के द्वारा सम्पादित होता है (कायिक कर्म) और (२) जो वचन द्वारा किया जाता है (वाचिक कर्म)। ये दोनों कर्म गुप्त और प्रकट दोनो प्रकार से हो सकते है जिन्हे विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति सज्ञा दी गई है। पहले को कायिक विज्ञप्ति कर्म और कायिम अविज्ञप्ति कर्म तथा दूसरे को वाचिक विज्ञप्ति कर्म और वाचिक अविज्ञप्ति कर्म कहते है। अविज्ञप्ति रूप और अविज्ञप्ति कर्म को हम आधुनिक भाषा मे अर्ध चेतन (अवचेतन) विचार, अनुभूति एव क्रिया कहते है। प्रत्येक चेतन अनुभूति, वेदना, विचार अथवा क्रिया के साथ-साथ ही उसी प्रकार की अवचेतन स्थिति है जो भविष्य के विचारो और क्रिया के रूप मे प्रकट होती है। क्योकि ये अवचेतन संस्कार गुप्त रहते है इसलिए इनको अविज्ञप्ति कहते है यद्यपि ये सस्कार उसी से मिलते जुलते होते है जिनको हम जानते है।

वसुबन्धु महोदय कहते है इसे चित्त की सज्ञा इसलिए दी गई है कि यह कर्म करने का सकल्प करता है (चेतति)। मानस सज्ञा इसलिए दी है कि वह करता है–(मन्वते) और विञ्ज्ञान इसलिए कि यह वस्तुओ के अन्तर को बताता है (निर्दिशति)। यह निर्देश अथवा विभेद इसलिए हो सकता है (१) स्वभाव निर्देश (स्वाभाविक रूप से वस्तुओं को देखकर उनके अन्तर को जानना)। (२) प्रयोग निर्देश (वर्तमान, भूत और भविष्य के सम्बन्ध मे वास्तविक जानकार प्रयोग द्वारा रूप मे विभेद करना विवेक करना)। (३) अनुस्मृति निर्देश (भूत के सम्बन्ध मे स्मृति के आधार पर विवेक करना)। इन्द्रियो द्वारा केवल स्वभाव निर्देश सम्भव है। अन्य दो निर्देश मनोविज्ञान के क्षेत्र मे आते है। प्रत्येक विज्ञान अपनी विशेष चेतना के द्वारा वस्तु विशेष के सम्बन्ध मे विवेक करता है और उसके सामान्य गुण कर्म को पहिचानता है। इन ६

विज्ञानों के योग से विज्ञान-स्कन्ध बनता है जो मन का स्वामी है। चैत्त संस्कृत धर्म ४६ है। ३ असंस्कृत धर्मों में आकाश, बन्धन से मुक्ति को देने वाला तत्व है और यह स्थायी, सर्वत्र व्याप्त और अपार्थिव तत्व है। (निरुपाख्य, अरूप)। दूसरे असंस्कृत धर्म अप्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ है कि प्रत्ययों (गुण अथवा अवस्था) की अनुपस्थिति में दूसरे कर्मों का ज्ञान नहीं होना। जैसे यदि किसी एक वस्तु पर एकाग्रतापूर्वक ध्यान देने से अन्य वस्तुएँ दिखाई नहीं देतीं तो इसका कारण यह नहीं है कि वे विद्यमान नहीं हैं परन्तु कारण यह है कि उन स्थितियों का लोप हो जाता है जिनके कारण वह दिखाई देती है। तीसरा असंस्कृत धर्म प्रतिसंख्या-निरोध है जिसका अर्थ है बन्धन से अन्तिम मुक्ति। इसका मुख्य गुण स्थायित्व है। यह शाश्वत अवस्था है। इन धर्मों को असंस्कृत इसलिए कहते हैं क्योंकि इनका रूप निषेधात्मक है। ये सस्थिति रहित होते हैं अतः इनकी उत्पत्ति एवं विलीनता का पता नहीं चलता। इस स्थिति के लिए निम्न ८ गुण आवश्यक हैं। सम्यक् विचार, सम्यक् अभिलाषा, सम्यक् भाषा, सम्यक् आचरण, सम्यक् जीवन, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् चित्त और सम्यक् आनन्द।[1]

महायान शाखा

यह कहना कठिन है कि महायान शाखा का प्रारम्भ कब हुआ लेकिन यह अनुमान किया जाता है कि थेरवाद शाखा से जब महासंघिक शाखा अलग हुई उस समय ये शाखाएँ ८ विभिन्न दर्शन शाखाओं में बट गई। सम्भवतः इसी युग में महायान दर्शन का सूत्रपात हुआ। महायान दर्शन के अनेक ग्रन्थ पहली शताब्दी में लिखे हुए मिलते हैं। इससे पूर्व ईसा पूर्व तीसरी चौथी शताब्दी में लिखे हुए ग्रन्थ मिलते हैं। ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व थेरवाद और महासंघिक शाखाएँ अलग हुई थी। ये ग्रन्थ जो महायान सूत्र और वैपुल्य सूत्र नामों से जाने जाते हैं। बुद्ध द्वारा दिए हुए उपदेशों में मिलते हैं। इन सूत्रों के संकलनकर्ता अथवा लेखकों का कोई पता नहीं चलता है। ये ग्रन्थ सभी संस्कृत में लिखे हुए हैं और संभवतः उन विद्वानों ने लिखे होंगे जो थेरवाद शाखा से अलग हुए।[2]

---

[1] सोजिन महोदय एक बौद्ध हीनयान विचारक का उल्लेख करते हैं जिनका नाम हरिवर्मा है जो सन् २५० के आस-पास हुए हैं। इन्होंने सत्य सिद्धि शाखा की स्थापना की और उन्हीं सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनका उपदेश नागार्जुन ने किया था। इनके कोई भी ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं है परन्तु संस्कृत लेखकों ने उनके नाम का उद्धरण यत्र तत्र किया है।

[2] इन सूत्रों के उद्धरण नागार्जुन द्वारा लिखी हुई माध्यमिक कारिका की चन्द्रकीर्ति द्वारा लिखी हुई टीकाओं में मिलते हैं। जिनमें से मुख्य ये हैं—(१) अष्टसाहस्रिका

थेरवाद दर्शन की शाखाएँ हीनयान के नाम से सम्बोधित की गई हैं। इस प्रकार हीनयान महायान से विपरीत है। इन शब्दों का साधारण अर्थ छोटा वाहन है—हीन=छोटा, यान=गाड़ी और बड़े वाहन के रूप मे महा=बड़ा, यान=गाड़ी। लेकिन इन शब्दों से महायान और हीनयान शब्दों की व्याख्या नहीं होती।[1] असग सन् (४८०) अपने ग्रन्थ महायान सूत्रालंकार में महायान एवं हीनयान संज्ञाओं के सम्बन्ध में निर्देश करता है। उसके अनुसार उपदेश, प्रयत्न, निर्वाण और काल के दृष्टिकोण से हीनयान का स्थान महायान से निम्न है इसलिए इसको हीनयान कहा गया है। हीनयान दर्शन के अनुसार हीनयानवादियों का दृष्टिकोण केवल स्वय निर्वाण प्राप्त करना है। महायानवादी सारे प्राणियो के निर्वाण का लक्ष्य रखते है। इस प्रकार हीनयान का लक्ष्य निम्न कोटि का है एव उसके उपदेश आदि भी। हीनयानवादी मनुष्य का कार्य संकुचित है और इसलिए यह केवल तीन जन्मो मे समाप्त किया जा सकता है इसके विपरीत महायानवादी श्रावको का कार्य महान् और विशाल है और अनेक, अनन्त

प्रज्ञापारमिता (चीनी भाषा मे अनुवाद सन् १६४, १६७ ई० में हुआ)। (२) शतसाहस्रिका प्रज्यापरिमिता, गगनगजा, समाधि सूत्र, तथागत गुह्य सूत्र, दृढाध्याशमसचोदना सूत्र, ध्यायितमुष्टि सूत्र, पितापुत्रसमागम सूत्र, महायान सूत्र, मारदमन सूत्र, रत्नकूट सूत्र, रत्नचूड़ापरिपृच्छा सूत्र, रत्नमेघ सूत्र, रत्नराशि सूत्र, रत्नाकर सूत्र, राष्ट्रपालपरिपृच्छा सूत्र, लकावतार सूत्र, ललितविस्तर सूत्र, वज्रछेदिका सूत्र, विमलकीर्ति निर्देश सूत्र, शालिस्तम्भ सूत्र, समाधिराज सूत्र, सुखावमीव्यूह सवर्णप्रभास सूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक (चीनी भाषा मे सन् २५५ मे अनुवादित) अमितायुर्ध्यान सूत्र, हस्तिकाख्य सूत्र आदि।

[1] यान शब्द का अनुवाद साधारण रूप से वाहन के रूप मे किया गया है परन्तु इस सम्बन्ध मे अनेक प्रसगो और सदर्भों को देखने से पता चलता है कि इसका अर्थ मार्ग अथवा वृत्तात है (देखिए ललितविस्तर, पृ० २५, ३८, प्रज्या परिमिता, पृ० २४, ३१६, समाधिराजसूत्र पृ० १, करूणापुडरीक, पृ० सं० ६७, लकावतारसूत्र, पृ० ६८, १०८,१३२) यह शब्द यान उपनिषदो मे भी पाया जाता है, जहाँ देवयान, पितृयान शब्दो को पाते है। फिर उससे विभिन्न अर्थ मे यहाँ यान शब्द को क्यो लिया जाए इसका कोई प्रमाण नही है। लकावतार मे श्रावकयान (श्रावक वृत्तात) प्रत्येक बुद्धयान (बुद्ध के जन्म के पूर्व सतो की कथा), बुद्धयान (बुद्धो का वृत्तांत) एकयान (एक वृत्तात) देवयान (देवताओं का आख्यान) ब्रह्मयान (ब्रह्मा का वृत्तांत) तथागतयान (तथागत का वृत्त) शब्दों मे वृत्तात ही इसका अर्थ है। एक स्थान पर लकावतार मे कहा है कि साधारणतया तीन वृत्तातों मे एक वृत्तांत मे और कोई वृत्तात न होने मे भेद किया गया है लेकिन यहाँ यान शब्द का अर्थ जीवन-वृत्त से लिया है।

काल तक जन्म लेकर सारे प्राणियों के निर्वाण के लिए वे प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार थोड़े से समय के लिए जिनका कार्य क्षेत्र है उनको हीनयानवादी कहा गया है।

इसके अतिरिक्त भी महायान और हीनयान के मतो में एक दार्शनिक अन्तर पाया जाता है। महायान दर्शन के अनुसार संसार के सारे पदार्थ निस्सार, मायामय एवं थोथे है जबकि हीनयानवादी यह विश्वास करते थे कि संसार की सभी वस्तुएँ क्षणिक-मात्र है लेकिन इसके आगे उन्होने कोई व्याख्या नहीं की।

कभी-कभी भ्रमवश ऐसा सोचा जाता है कि शून्यवाद सिद्धान्त का प्रचार सबसे पहले नागार्जुन ने किया। शून्यवाद से अर्थ सत्वहीनता और सासारिक वस्तुओं की निस्सारता से है। परन्तु वास्तव मे महायान दर्शन के सारे ही सूत्र शून्यवाद का समर्थन करते है अथवा उसका स्थान-स्थान पर उद्धरण देते है। इस प्रकार जिन सूत्रों को नागार्जुन ने आकाट्य तर्कों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह महायान मत में एक सत्य के रूप मे बिना किसी तर्क के मान लिया गया है। एक स्थान पर सुभूति बुद्ध से कहते है कि वेदना (अनुभूति), सज्ञा (किसी वस्तु से सम्बन्धित विचार अथवा कल्पना) और सस्कार सभी माया है।[1] सारे स्कंध धातु (भूत अथवा तत्व) और आयतन थोथे और अस्तित्वहीन है। ये सब तत्वो की शून्यता से प्रतिबद्ध है। सासारिक महाशून्य मे इसका उच्चतम ज्ञान स्कध-धातु-आयतन सम्बन्धी ज्ञान से भिन्न नही है क्योकि इन सब धर्मों का लोप हो जाने पर ही महान् ज्ञान की प्राप्ति होती है जिसको प्रज्ञापारमिता कहते है।[2] क्योकि प्रत्येक वस्तु का कोई अस्तित्व नही है, सभी कुछ थोथी व शून्यमय हैं अत ससार की न कोई वास्तविक प्रक्रिया है और न उसकी समाप्ति होती है। सत्य न शाश्वत है और न अशाश्वत। यह केवल एक शून्य मात्र है। अर्थात् जिसकी कोई स्थिति नही है वह न शाश्वत हो सकता है और न अशाश्वत हो सकता है। अत भिक्षु का यह प्रयत्न होना चाहिए कि ससार की इस शून्यता को पहचानकर तथाभूत कर्म करे और इस (तथता) का साम्य स्थापित कर सारे ससार को शून्य समझे। अत भिक्षु (बोधिसत्व) के लिए सारे गुणो का (पारमिता) धारण करना आवश्यक है, दानशीलता (दानपरमिता), शील-परमिता, सयम (शान्तिपारमिता) शक्ति (वीर्य-पारमिता) और ध्यान (ध्यान पारमिता)। बोधिसत्व का यह दृढ निश्चय होता है कि वह अनन्त आत्मा की निर्वाण प्राप्ति मे सहायक हो। वास्तव मे न कोई प्राणी है न कोई बन्धन है, न कोई निर्वाण है। बोधिसत्व इस बात को भली भाति जानते है। बौद्ध इस तथ्य से आतंकित न होते

[1] अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० १६।
[2] वही, पृ० १७७।

हुए शान्तिपूर्वक इन सब मायामय प्राणियों के लिए मायामय बन्धन से छुटकारा दिलाकर मायामय निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते है। बोधिसत्व इसी भावना से प्रेरित होकर अपनी पारमिताओ के बल पर अपने कार्य में अग्रसर होता है—वैसे वास्तव में निर्वाण प्राप्त करने वाला भी वस्तुसत्ता में नही है, उसे निर्वाण की प्राप्ति में सहायता करने वाला भी वस्तुसत्ता में नही है। सच्ची प्रज्ञापारमिता समस्त प्रतिभासो की पूर्ण समाप्ति ही है। (न अनुपलम्भः सर्वधर्माणां स प्रज्ञापारमिता इत्युच्यते)।

महायान-वाद दो प्रणालियो मे विकसित हुआ है, एक तो शून्यवाद या माध्यमिक-सिद्धान्त, दूसरा विज्ञानवाद। शून्यवाद तथा विज्ञानवाद (जो यह मानता है कि ये समस्त दृश्य चैतन्य के ही प्रतिभास है) मे कोई तात्विक भेद नही है, केवल प्रणालीगत भेद है। दोनो इस बात पर विश्वास करते है कि कोई भी वस्तु सत्य नही है, यह सब परिवर्तनशील दृश्य प्रपच स्वप्न या इन्द्रजाल की भाति है, किन्तु शून्यवादियों ने अपना ध्यान दृश्य जगत् के कार्यकलापों की अपरिभाष्यता की ओर अधिक दिया जबकि विज्ञानवादियो ने शून्यवादियो द्वारा की गई सत्य की विवेचना को मानते हुए चैतन्य के प्रतिभासो की व्याख्या अनादि मायामय मूल प्रत्ययों अथवा वासनाओ के रूप में करते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

विज्ञानवाद के इस नए स्वरूप का जिसे तथता-दर्शन का नाम दिया जा सकता है, अश्वघोष (१०० ई०) सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण विचारक था। सुजुकी की इस स्थापना को सत्य मानते हुए कि अश्वघोष के श्रद्धोत्पादशास्त्र मे दिया गया एक उद्धरण लकावतार-सूत्र का है, हम लकावतारसूत्र को विज्ञानवाद की प्राचीनतम कृतियो मे मान सकते है।[1] विज्ञानवाद का सबसे बडा परवर्ती विचार असग (४०० ई०) था जिसकी कृतियाँ सप्तदश भूमिसूत्र, महायानसूत्र, उपदेश, महायानसंपरिग्रहशास्त्र, योगाचारभूमि-शास्त्र तथा महायानसूत्रालकार बताई जाती है। इनमे से अन्तिम ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य समस्त ग्रन्थ सस्कृत में अनुपलब्ध है, सम्भवत. मूल ग्रन्थ नष्ट हो चुके है—चीनी और तिब्बती हस्तलेखो तक जिनकी पहुँच नही है, उनके लिए ये नितान्त अलभ्य ही हो गए है। हिन्दू लेखको मे विज्ञानवाद को एक अन्य नाम 'योगाचार' से भी पुकारा जाता है और यह अनुमान शायद गलत न हो कि इस नए नाम का मूल कारण असग का "योगाचारभूमि शास्त्र" शीर्षक ही है। जैसाकि परमार्थ (४९९-५६९) का कहना है, असंग का छोटा भाई वसुबन्धु पहले एक उदार सर्वास्तिवादी था, पर बाद मे असग ने उसे विज्ञानवादी बना दिया। इस प्रकार वसुबन्धु ने जिसने अपने जीवन के प्रारंभिक भाग मे सर्वास्तिवादियो के महान् ग्रन्थ 'अभिधर्मकोष' की रचना की थी, अपना परवर्ती

---

[1] डा० एस० सी० विद्याभूषण का विचार है कि लंकावतार का समय ३०० ई० है।

जीवन विज्ञानवाद को समर्पित कर दिया।[1] कहा जाता है कि उसने 'अवतंसक', 'निर्वाण', 'सद्धर्मपुण्डरीक', 'प्रज्ञापारमिता', 'विमल कीर्ति' तथा 'श्री माला सिंहनाद' आदि महायानसूत्रो की टीकाएँ लिखी तथा कुछ महायान सूत्रों की रचना की जिनमें विज्ञानमात्रासिद्धि, की परम्परा चली किन्तु उसके बाद के किसी लेखक की इस वाद की रचना का हमे पता नही चला है।

हमने पहले बतलाया है कि महायान की विविध प्रणालियों में शून्यवाद एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप मे निहित है। इस सिद्धान्त का एक अत्यन्त शक्तिशाली विवेचक नागार्जुन (१०० ई०) था जिसके सिद्धान्तों की सक्षिप्त व्याख्या हम अन्यत्र करेगे। नागार्जुन की कारिकाओ (श्लोको) की टीका आर्यदेव ने की, जो कुमारजीव (३८३ ई०) बुद्धपालित एव चन्द्रकीर्ति (५५० ई०) का शिष्य था। इस टीका के अलावा आर्यदेव ने कम से कम तीन अन्य ग्रन्थ लिखे-चतुःशतक, हस्तबालप्रकरणवृत्ति तथा चित्तविशुद्धिप्रकरण।[2] हस्तबालप्रकरणवृत्ति मे, जो एक लघु ग्रन्थ है, आर्यदेव की स्थापना है कि जो कोई भी वस्तु अपने अस्तित्व के लिए अन्य किसी पर निर्भर होती है उसे भ्रमात्मक कहा जाता है। दृश्य जगत् के सभी पदार्थों के बारे मे हमारा सारा ज्ञान दिशा के प्रत्यक्षो पर तथा समग्र और भाग की धारणाओं पर निर्भर होता है अतः वे सब केवल प्रतिभास मात्र माने जाने चाहिए। अत. यह जानते हुए कि जिसकी सत्ता अन्य पर निर्भर होती है वह भ्रमात्मक ही होता है, इन सब जगत् के आभासों के प्रति ज्ञानी व्यक्ति को न तो कोई लगाव होना चाहिए न वितृष्णा। अपने ग्रन्थ चित्त-विशुद्धिप्रकरण मे उसने बतलाया है कि जिस प्रकार किसी रगीन पदार्थ के प्रतिबिम्ब पडने के कारण स्फटिक रगीन दिखता है उसी प्रकार चित्त जो निर्विकल्प है विकल्पो के रगो मे रगकर विभिन्न रग धारण किए हुए प्रतीत होता है। वस्तुत किसी भी कल्पना के स्पर्श से रहित चित्त ही शुद्ध सत्य है।

लगता है चन्द्रकीर्ति के बाद शून्यवादियो मे कोई बड़ा लेखक नही हुआ। विभिन्न सन्दर्भो से यह प्रतीत होता है कि आठवी शताब्दी में हुए महान् मीमासक कुमारिल भट्ट के समय तक यह एक विख्यात एव जीवत दर्शन के रूप मे पनपता रहा। किन्तु उसके बाद शून्यवादियो का स्थान महत्वपूर्ण एव सक्रिय दार्शनिकों के लिहाज से नगण्य सा ही हो गया।

---

[1] देखें, तकाकुसु "ए स्टडी आव द परमार्थज लाइफ आव वसुबन्धु" (जे० आर० ए० एस० १९०५)।

[2] आर्यदेव की 'हस्तबालप्रकरणवृत्ति' का डा० एफ० डब्लू० थामस ने पुनरुद्धार किया। उसके चित्तविशुद्धिप्रकरण के कुछ खडित अश महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल के जर्नल में (१८९८) प्रकाशित किए गए थे।

अश्वघोष (८० ई०) का तथता दर्शन[1]

अश्वघोष संदगुह्य नामक एक ब्राह्मण का पुत्र था जिसने अपना आरम्भिक जीवन भारत के विभिन्न स्थानो मे यात्रा करने तथा शास्त्रार्थों मे बौद्धों को को हराने में लगाया। सम्भवत. उसे पार्श्व ने बौद्ध धर्म मे दीक्षित किया। यह पार्श्व तृतीय बौद्ध संगति का एक महत्वपूर्ण सदस्य था। यह सगीति किन्ही विद्वानों के मत मे काश्मीर नरेश ने बुलाई थी और कुछ के मत मे पुण्ययशा ने।[2]

उसका सिद्धान्त था कि आत्मा के दो लक्षण प्रमुख हैं, भूततथता (तथात्व) एवं जन्म मरण का चक्र (ससार)। भूततथता लक्षण का अर्थ है समस्त पदार्थों के तथात्व की समानता (धर्मधातु)। इसका धर्म अकृत तथा बाह्य है। व्यक्तियो के विभिन्न रूपो मे पूर्व जन्मो की स्मृतियों की अन्तर्निहित और अचेतन वासनाओ के अनादि संस्कारो के कारण भिन्नता भासित होती है।[3] यदि इस स्मृति पर विजय पाई जा सके तो व्यक्तियो के लक्षण अन्तर्हित हो जाएँगे तथा पदार्थ जगत् का कोई चिन्ह बाकी न बचेगा। समस्त पदार्थ प्रकृत्या अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय है। किसी भी भाषा में उनका पूर्णत वर्णन नही किया जा सकता। उन सबमे पूर्ण समानता होती है। वे न

---

[1] यह विवेचन अश्वघोष के 'श्रद्धोत्पादशास्त्र' के चीनी अनुवाद के सुजुकी द्वारा कृत अनुवाद "अन अवेकनिग आव फेथ" पर आधारित है। मूल सस्कृत ग्रन्थ नष्ट प्रतीत होता है। सुजुकी ने अश्वघोष को कनिष्क के समकालीन सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण दिए है।

[2] तारानाथ के अनुसार उसे नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव ने बौद्ध बनाया था ('गैशिशे-देस बुद्धिस्मस:' श्नोकर द्वारा जर्मन अनुवाद (पृ० ८४-८५) देखें सुजुकी : "अवेक-निग आव फेथ" (पृ० २४-३२)। अश्वघोष ने सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'बुद्धचरित' भी लिखा और महालकारशास्त्र भी। वह सगीतकार भी था, उसने रास्तवर नामक एक वाद्य की रचना भी की थी जिससे वह नागरिकों को धर्मोपदेश करना चाहता था।" इसका सगीत शास्त्रीय, गम्भीर, दर्दभरा और सुरीला था जिससे जीवन की दु खमयता, अनात्मता और शून्यता पर विचार करने की प्रेरणा होती थी" (सुजुकी, पृ० ३५)।

[3] मैंने स्मृति को सुजुकी के "भ्रमात्मक विषयिनिष्ठता" (कन्फ्यूज्ड् एब्जेक्टिविटी) की बजाय वासना के रूप में अनूदित करने का उपक्रम इसलिए किया कि लकावतार जैसे बौद्ध ग्रन्थो के अध्येताओ के लिए स्मृति की वासना के रूप मे धारणा अपरि-चित नही होगी। वैसे भी विषयिनिष्ठता (सब्जेक्टिविटी) इतनी योरपीय लगने वाली सज्ञा है कि उसका बौद्ध दर्शन के संदर्भ में प्रयोग सगत नही लगता।

तो परिवर्तन और न विनाश के विषय है। वे सभी एक ही आत्मा के अंश हैं। यही भूततथता है। इस तथात्व का कोई लक्षण नही है, शब्दो में इसे तथात्व के रूप मे ही समझा जा सकता है। इस ज्ञान के साथ ही कि सत्ता का समग्र रूप बतलाते समय न तो कोई वक्ता है न कोई वाच्य है, न कोई विचारक है न विचार्य है, तथता की स्थिति शुरू होती है। यह भूत-तथता न तो सत्ता है न असत्ता है, न एक साथ सत्ता और असत्ता का समवाय है। न सत्ता और असत्ता का असमवाय है, यह न तो बहुत्व है न एकत्व और न बहुत्व और एकत्व का समवाय, न एकत्व और बहुत्व का असमवाय। यह इस दृष्टि से निषेधात्मक है कि यह सब स्थितियों से परे है और इस दृष्टि से स्वीकारात्मक है कि यह सबको समाहित कर लेती है। किसी भी लक्षण अथवा विशेषीकरण द्वारा यह बोधगम्य नही है। इन्द्रियगम्य वस्तुओ के ज्ञान की सीमा से बद्ध ज्ञेय पदार्थों की परिधि से ऊपर उठकर ही इसका अवभास किया जा सकता है। सब जीवों की विशेषीभूत चेतना द्वारा इसका बोध नही हो सकता अत हम इसे नकारात्मक या 'शून्यता' का नाम दे सकते है। सत्य वह है जो विषयिनिष्ठ रूप से अपने आप मे स्वतत्र अस्तित्व नही रखता, शून्यता भी अपने भाव मे शून्य ही है, वह जो निषेध करता है तथा वह जिसका निषेध किया जाता है दोनो में से कोई भी स्वतंत्र सत्ता नही रखते। विशुद्ध आत्मा ही अनादि, अनन्त, अभेद्य, अपरिवर्ती एव सर्वव्यापक है। इस दृष्टि से उसे स्वीकारात्मक (विध्यात्मक) कहा जा सकता है। फिर भी उसमे विधि (स्वीकार) का कोई चिन्ह नही है क्योकि वह प्रत्ययात्मक चिन्तन की सर्जनात्मक, सहज स्मृति द्वारा गम्य नही है। उस सत्य के बोध का एकमात्र उपाय है समस्त बोधात्मक सृष्टि की सीमा से ऊपर उठकर तथता का आभास।

ससार के रूप मे आत्मा, तथागत गर्भ जो परम सत्य है से आती है। मर्त्य और अमर्त्य परस्पर समानुपाती हो जाते है। यद्यपि वे अभिन्न नही है तथापि उनमे भेद भी नहीं है। जब परम आत्मा स्व-प्रकटीकरण द्वारा सापेक्ष रूप धारण कर लेती है तब इसे सर्वधारक आत्मा कहा जाता है (आलयविज्ञान)। इसमे दो सिद्धान्त निहित है–(१) सबोध (२) असबोध। सबोध या ज्ञान की प्राप्ति तब होती है जब सृष्टि-जन्य सहज स्मृति के दोषों से मुक्त होकर बुद्धि पूर्णता को प्राप्त कर लेती है। यह सर्वान्तर्गामी है एव सबका एकत्व है (धर्मधातु) अर्थात् सृष्टि के चरम आधार के रूप में यह सब तथागतो का सामान्य धर्मकाय है।

"जब यह कहा जाता है कि समस्त चैतन्य इसी आधारभूत सत्य से आरम्भ होता है तो इसका अर्थ यह नही समझा जाना चाहिए कि चैतन्य का कोई वास्तविक उत्स है। यह तो केवल आभासात्मक अस्तित्व है, भ्रमात्मक स्मृति के वशीभूत होकर द्रष्टा द्वारा की गई एक कल्पना मात्र है। 'बहुजन' बोधहीन होते है क्योकि जगत् में अज्ञान (अविद्या) अनादि काल से है क्योकि निरन्तर चली आ रही 'स्मृति' (भूत की सदोष

स्मृति जो सहज रूप से सबमें रहती है) के बन्धन से वे मुक्त नहीं हो पाते। किन्तु जब इस स्मृति से वे मुक्त हो जाते है तो उन्हे मालूम हो जाता है कि उनके बोध की कोई भी स्थिति, जैसे इनका आभास, इनकी सत्ता, परिवर्तन और विलय, सत्य नहीं है। आत्मा के साथ उनका काल या दिक् मे कोई भी सम्बन्ध नही है—क्योंकि वे स्वतः सत्तात्मक है ही नहीं।

इस परम सबोध का अपूर्ण रूप कभी-कभी हमे हमारे सदोष जागतिक अनुभवों में भी दिखलाई देता है जैसे प्रज्ञा (बुद्धि) कर्म (अपरिज्ञेय जीवन क्रिया) के रूप में। पूर्ण प्रज्ञा से हमारा तात्पर्य है कि जब हम धर्म की सौरभमयी पावनी शक्ति से, धर्म-विहित विधि से हम यथार्थतः अपने आपको अनुशासित कर लेते है तथा सम्यक् कर्म करते है तो बुद्धि (आलयविज्ञान) जो जीवन और मृत्यु के बन्धन में रहती है, विलीन हो जाती है, सृष्ट्यात्मक चैतन्य की वृत्तियाँ निरस्त हो जाती है और धर्मकाय की शुद्ध और सत्य प्रज्ञा प्रकट हो जाती है। यद्यपि मन और चैतन्य की समस्त वृत्तियाँ अज्ञान के ही उद्गम है, अज्ञान भी अन्ततोगत्वा ज्ञान से भिन्न और अभिन्न दोनो ही है। इस प्रकार एक दृष्टि से अज्ञान नश्वर है, और एक दृष्टि से अनश्वर। इसे समुद्र में उठती हुई तरगो के दृष्टान्त से समझाया जा सकता है। तरंगों और जल का भेद है या अभेद ? एक दृष्टि से तरग जल से भिन्न है, एक दृष्टि से अभिन्न। जल ही वायु की क्रिया द्वारा तरगों के रूप मे (भिन्न रूप मे) प्रकट होता है। जब वायु का व्यापार शान्त हो जाता है तो तरग अदृश्य हो जाती है किन्तु जल वही रहता है। इसी प्रकार जब प्राणियो का मन जो अपने आप मे शुद्ध और स्वच्छ होता है अविद्या की वायु द्वारा आलोडित होता है तो वृत्तियाँ (विज्ञान) रूपी तरगे उठती है। इन तीनों (मन, अज्ञान और वृत्तियो) का अपने आप में कोई अस्तित्व नही है। इनमे न तो एकत्व है, न बहुत्व। जब अज्ञान का नाश हो जाता है तो जागृत मनोवृत्तियाँ शान्त हो जाती है, ज्ञान का तत्व अक्षुण्ण रहता है।" सत्य अथवा सम्बोध किन्ही भी सापेक्ष वृत्तियों अथवा ज्ञान के किसी बाह्य साधन से अप्राप्य है। दृश्य जगत् की सभी घटनाएँ ज्ञान मे इस प्रकार भासित होती है कि व न तो उसके बाहर जाती है न उसके अन्दर, वे न तो विलीन होती है, न नष्ट।" मानस और बौद्धिक दोनो प्रकार के विघ्नो—क्लेशवरण और ज्ञेयवरण—से तथा जन्म और मृत्यु के विषय आलय विज्ञान से वे सदा के लिए विमुक्त हो जाती है क्योंकि अपने वास्तविक स्वरूप मे ज्ञान शुद्ध, स्वच्छ, अनादि, शान्त, अविनाशी है। सत्य भी इसी प्रकार का है, वह अपने परिवर्तमान स्वरूप मे उचित अवसर पर तथागत के रूप मे या अन्य स्वरूपो मे प्रकट होता है जिससे कि अन्य जीवो को भी यह प्रेरणा मिल सके कि वे अपने गुणो की चरमपरिपति द्वारा उस ऊँचाई तक उठ सके।

अनुभव निरपेक्ष ज्ञान से असबद्ध एव पृथग्भूत रूप मे अज्ञान का कोई अस्तित्व नही है किन्तु प्रागनुभव ज्ञान का वर्णन भी सदा ही 'अज्ञान से विभिन्न' के रूप मे ही

किया गया है और चूँकि अज्ञान की स्वत· सत्ता नहीं है अतः ज्ञान का भी पृथक् महत्व नहीं रहता। उनकी पहिचान परस्पर विभिन्न पदार्थों–ज्ञान और अज्ञान के रूप में ही की गयी है। अज्ञान का प्रकटीकरण तीन प्रकार से होता बतलाया गया है–(१) मन के विक्षोभ के रूप में (आलय-विज्ञान) अविद्याकर्म (अज्ञानात्मक कर्म) द्वारा, दु खजनक स्थिति (२) अह की सृष्टि अथवा द्रष्टा के द्वारा (३) बाह्य जगत् की सृष्टि द्वारा जिसका द्रष्टा से परे, अपने आप मे, कोई अस्तित्व नही है। असत् बाह्य जगत् के कारण छ प्रकार की स्थितियाँ एक-एक करके पैदा होती हैं–पहली है बुद्धि (संवेद), बाह्य जगत् के प्रभाव से बुद्धि में अनुकूल और प्रतिकूल का भेद ज्ञात होने लगता है। दूसरी है–अनुक्रम, बुद्धि की अनुगामिनी होकर स्मृति अनुकूल और प्रतिकूल सवेदनाओ को विषयिगत स्थितियो के एक अनुक्रम में धारण करती है। तीसरी है–सश्लेषण। अनुकूल और प्रतिकूल संवेदनाओ के धारण और अनुक्रम द्वारा संश्लेषण (चिपकने) की इच्छा उद्भूत होती है। चौथी है–अभिधानों और संज्ञाओ से सम्बद्ध होना। संश्लेषण द्वारा मन विभिन्न संज्ञाओं का वस्तूकरण या पदार्थीकरण करता है और शब्दों को परिभाषाओ से जोडता है। पाँचवीं है–कर्मो का आचरण। सज्ञाओं से सम्बद्ध होने के कारण विभिन्न प्रकार के कर्मो का उद्भव होता है जिनसे व्यक्तिता का उद्गम होता है। "छठी है–कर्मों के बन्धन के कारण वेदना। कर्मों से ही वेदना उत्पन्न होती है जिसके कारण मन अपने आपको बन्धन मे पाता है और उसकी स्वतन्त्रता जकड़ जाती है।" इस प्रकार ये सभी स्थितियाँ अविद्या से जन्मी हैं।

इस सत्य और अविद्या में पारस्परिक सम्बन्ध एक दृष्टि से हमे समता की ओर ही ले जाता है जिसे हम इस निदर्शन से स्पष्ट कर सकते हैं कि मिट्टी के विभिन्न पात्र देखने मे भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक ही मिट्टी के बने हुए होने के नाते एक ही है।[1] इसी प्रकार अनास्रव और अविद्या तथा उनके विविध नाशवान् स्वरूप एक ही सत्ता के उद्गम हैं। इसीलिए बुद्ध का उपदेश है कि समस्त जीव अनादिकाल से निर्वाण मे ही स्थित रहते है।

अविद्या के सम्पर्क से ही एकमात्र सत्य सत्ता सृष्टि के विविध दृश्य-प्रपच के स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

आलयविज्ञान मे अविद्या प्रकट होती है, इसी अज्ञान के कलेवर मे द्रष्टा, उसका अभिधान, वस्तुगत जगत् का प्रत्यक्ष (भ्रम) करने वाला तथा निरन्तर विशेषीकरण करने वाला ज्ञानाभास जन्म लेता है। इसे ही 'मनस्' का नाम दिया गया है–इसके पाँच नामो का विवरण है–(पाँच प्रकार के इसके कार्यों के आधार पर)। पहला नाम है–कर्म विज्ञान जिससे अप्रकाशित बुद्धि मे संचलन अथवा जागृति उत्पन्न होती है,

---

[1] देखें छान्दोग्यो० ४/१/४।

(अविद्या के द्वारा)। दूसरा नाम है-प्रवृत्तिविज्ञान जिससे जागृत बुद्धि में बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष करने वाला-द्रष्टा उद्गत होता है। तीसरा नाम है प्रतिभास का विज्ञान जिससे मन मे बाह्य जगत् का प्रतिबिंब प्रतिफलित होता है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण मे समस्त दृश्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब दिखलाई देते है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के गम्य पदार्थों के अभिमुखीकरण के अनन्तर इसमे उस ज्ञानेन्द्रिय का प्रत्यक्षीकरणीय पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाता है, स्वत और अनायास। चौथा है विशेषीकरण-विज्ञान जिसके द्वारा विविध पदार्थों मे भेद, परिभाषा सम्भव होती है चाहे वे शुद्ध हो अथवा अशुद्ध। पाँचवा नाम है आनुपूर्वी का विज्ञान जिसका अर्थ है मनस्कार (अवधान की चेतना) जागृत होने पर उसके द्वारा मन प्रेरित होता है और तभी यह सभी कर्मानुभवो को क्रमिक रूप से धारण करता है। किसी भी पूर्व मे आचरित कर्म का प्रभाव नष्ट नही होता चाहे वह अच्छा हो या बुरा, उसका अच्छा या बुरा परिपाक होता ही है—इस क्रिया द्वारा यह क्रम बना रहता है—चाहे कर्म वर्तमान मे हो या भविष्य मे। पूर्व मे आचरित कर्मों को स्मृति के रूप मे यह धारण करता है और भविष्य मे होने वाले कर्मों का सस्कार भी इसमे बीज रूप मे निहित रहता है। अत· तीनो लोक जिन्हे काम लोक (अनुभवो का लोक) रूपलोक (पदार्थों) का लोक) और अरूपलोक (अमूर्तता का लोक) का नाम दिया गया है मन के ही स्वत प्रकटीकृत स्वरूप है—यही आलयविज्ञान है और यही भूततथता है। चूंकि सभी पदार्थ बुद्धि मे ही अवस्थित होने के सिद्धान्त के अनुसार स्मृति के ही जन्य है अत. सभी विशेषीकरण बुद्धि के स्व-विशेषीकरण ही है। बुद्धि अथवा आत्मा स्वय मे सभी विशेषीकरणो और गुणो से परे है अत: उसे विशेषीकृत नही किया जा सकता। इस सबसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि दृश्य जगत् के सभी पदार्थ और सभी स्थितियाँ अविद्या के कारण ही स्मृति मे पदार्थीकृत एव अवस्थित होती है अत. उनका अस्तित्व नही है ठीक उसी प्रकार जैसे दर्पण मे प्रतिफलित प्रतिबिम्बो का कोई अस्तित्व नही है। विशेषीकरण करने वाली बुद्धि के ही प्रत्यय है। जब बुद्धि विचलित होती है तो पदार्थों का वैविध्य प्रकट हो जाता है किन्तु जब बुद्धि शान्त होती है तो वह वैविध्य विलीन हो जाता है। मनोविज्ञान से तात्पय यही है कि बुद्धि अज्ञानवश 'अहम्' और 'अनहम्' के विचार से सश्लिष्ट हो जाती है और इन्द्रियो के छ. विषयो का मिथ्या ज्ञान करने लगती है। मनोविज्ञान को विभेद का विज्ञान भी कहा जा सकता है क्योंकि बुद्धि और भावना के विविध आस्रवो के गन्ध से लिप्त होने के कारण ही इसमे भेद बोध प्रकट होता है। तब स्मृति द्वारा उत्पादित बाह्य जगत् पर विश्वास करते हुए बुद्धि उस समता के सिद्धात को भूल जाती है जिसके अनुसार समस्त पदार्थ एक ही है, सम ही हैं, पूर्ण शान्त एव अविकारी है और उनमे सत्ता का चिह्न नही है।

ससार का अस्तित्व और आधार केवल अविद्या मे है। इसके विनाश के साथ

स्थितियों-बाह्य जगत्–का भी विनाश हो जाता है क्योंकि उसी के साथ परस्पर सम्बद्ध बुद्धि का भी विनाश हो जाता है। इस विनाश का अर्थ बुद्धि का विनाश नहीं है, बुद्धि की वृत्तियों का विनाश ही है। वह वृत्तियों के विनाश के बाद उसी प्रकार शान्त हो जाती है जिस प्रकार तरगो का विचलन पैदा करने वाली वायु के विनाश के बाद समुद्र शान्त और अविचल हो जाता है।

अविद्या (अज्ञान), कर्मविज्ञान (कर्म की चेतना अथवा विषयीमन), विषय (बाह्य जगत्, इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकृत) एव तथता के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करते हुए अश्वघोष का कहना है कि इन तत्वो मे परस्पर सस्कार होता है। इस सम्बन्ध मे उनका कथन इस प्रकार है 'सस्कार से हमारा तात्पर्य है कि वस्त्र जिन्हे (हम पहनते है) अपने आप मे कोई गध लेकर पैदा नही होते, कपडे मे अपने आप कोई सुगन्ध या दुर्गन्ध नही होती किन्तु जिस पदार्थ के साथ रखकर उन्हे गध-सस्कारित किया जाता है उसी सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को वे ग्रहण कर लेते है। उसी प्रकार तथता पवित्र धर्म है जिसमे अविद्या के सस्कारो का कोई दोष लिप्त नही है जबकि अविद्या का शुद्धता से कोई सम्बन्ध नही है। तथापि उसे भी हम कई बार शुद्धता का कार्य करते हुए बता देते हैं क्योंकि तथता के सस्कार से उसमे शुद्धता का गध आ जाता है। तथता द्वारा निर्धारित अविद्या ही समस्त प्रकार के दोषो का कारण है। यही अविद्या तथता को गध देती है और स्मृति को जन्म देती है। स्मृति का सस्कार अविद्या मे आ जाता है। इस पारस्परिक सस्कार के कारण ही सत्य का भ्रमात्मक, प्रतिभास होता है। इस भ्रमात्मक ज्ञान के कारण विषय के बाह्य जगत् की प्रतीति होती है। इसके अलवा स्मृति के सस्कार के कारण विषयो के स्वरूपो और वृत्तियो का जन्म होता है। उन वृत्तियो के सम्पर्क से कर्मों का उद्भव होता है और उनसे मानसिक और कायिक क्लेश परिणमित होते है। जब तथता से अविद्या सस्कारित होती है तो विषयी व्यक्ति को जन्म मरण के क्लेश से घृणा होती है और निर्वाण की प्राप्ति की प्रेरणा होती है। विषयिगत मन मे ऐसी प्रेरणा और निर्वेद तो जन्म के कारण तथता सस्कारित हो जाती है। तथता के इस सस्कार के कारण ही हमे यह विश्वास होने लगता है कि हमारे अन्दर तथता है जिसकी प्रकृति शुद्ध एव अविकारी है, तभी हमे ज्ञान होता है कि यह जगत् आलयविज्ञान का ही भ्रमात्मक प्रतिफलन है और वस्तुत: इसकी कोई सत्ता नही है। जब इस प्रकार हम सत्य का सही ज्ञान कर लेते है तब हम मुक्ति के उपाय कर सकते है धर्मविहित कार्यों का आचरण कर सकते हैं। हमे न तो विशेषीकरण करना चाहिए न विषयो की इच्छा से सम्पर्क रखना चाहिए। इस प्रकार के अनुशासन और असख्येय कल्पो (अनेक युगो का निरवधि काल) तक निरन्तर अभ्यास से इस अविद्या का नाश हो सकता है। जब इस प्रकार अविद्या का नाश हो जाता है तो आलयविज्ञान (बुद्धि) का विचलन नही होता जिससे कि उसमे

विषयभेद पैदा हो। जब बुद्धि अविचलित होती है तो बाह्य जगत् का विशेषीकरण समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जब दोप अनेक विषय, उनकी स्थितियाँ और बुद्धि के विकार नष्ट हो जाते है तब निर्वाण प्राप्त होता है और विविध क्रियाकलापो के सहज प्रकार इस तरह पूर्ण हो जाते है। तथतादर्शन मे निर्वाण का तात्पर्य शून्य से नही है किन्तु तथता (तथात्व) को अपने शुद्ध रूप मे ही देखा गया है जिसमे कि अनुभव के विविध प्रकारो के दूषणो का कोई सम्पर्क नही है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जब समस्त प्राणी एक समान तथता रखते है और इससे समान रूप से सस्कारित होते है तो फिर ऐसा क्यो है कि कुछ उस पर विश्वास नही करते, कुछ करते है। अश्वघोप इसका उत्तर यो देता है कि—यद्यपि सारे प्राणी समान रूप से तथता रखते है फिर भी अज्ञान और व्यक्ति विभाजन का सिद्धान्त, जो अनादि है, इतने वैविध्य पैदा कर देता है कि गगा के तीर की मिट्टी मे जितने कण है उनकी सख्या भी उनसे कम ही पडती है। इसीलिए ऐसा भेद होता है स्वय की सत्ता मे यह सस्कारक तत्व इस प्रकार निहित होता है कि जब उसमे बुद्ध और बोधिसत्व की मैत्री और करुणा सपृक्त हो जाती है तो जन्म-मरण के कष्टों से घृणा हो जाती है, निर्वाण मे विश्वास होता है, कुशलमूल की प्राप्ति की कामना होती है तथा उसका अभ्यास और परिपाक होता है। इसके फलस्वरूप सब बुद्धो और बोधिसत्वो का दर्शन करने की शक्ति पैदा होती है, उनके उपदेश प्राप्त कर वह उनसे लाभ, प्रसाद प्राप्त करता है शुभ कार्य करता है और अन्त मे बुद्धत्व प्राप्त कर निर्वाण का लाभ करता है। इससे यह अनुमान होता है कि सब प्राणियो मे ऐसे सस्कार होते है कि वे सम्यक् मार्ग पर ले जाने हेतु बुद्धो और बोधिसत्वो के आशीर्वाद से प्रभावित हो सके। तभी तो बोधिसत्वो का दर्शन कर, कभी उनमे श्रवण कर, "प्राणियो को हितता की प्राप्ति होती है" और "वे शुद्ध समाधि मे प्रविष्ट होकर समस्त विघ्नो पर विजय प्राप्त कर पाते है, उनमे सर्वलोकसमता का ज्ञान करने की अन्तर्दृष्टि पैदा हो जाती है तथा वे अनेक बुद्धो और बोधिसत्वो का दर्शन कर पाते है।"

जो सस्कार तथता से तादात्म्य नही रखते वे भिन्न होते है जैसा कि श्रावकों (थेरवादी भिक्षुओ), प्रत्येक बुद्धो तथा अपक्व बोधिसत्वो के साथ होता है जो धर्माचरण तो करते रहते है किन्तु तथता के तत्व से सम्पृक्त अविशेषीकरण की स्थिति तक नही पहुँचते। किन्तु जो बोधिसत्व तथता से सस्कारित होते है वे अविशेषीकरण की स्थिति पा लेते है और उन पर केवल धर्म की शक्ति का ही प्रभाव होता है। दूषित धर्म द्वारा (अनादि अज्ञान द्वारा) हो रहा गन्ध-संस्कार निरन्तर कार्य करता रहता है किन्तु जब बुद्धत्व प्राप्त हो जाता है तो उसकी समाप्ति हो जाती है। शुद्ध धर्म (तथता) का सस्कार अनन्त काल तक कार्य करता रहता है। यह तथता महान् बुद्धि

का फल है, धर्म-धातु का विश्वजनीन प्रकाश है, यह सत्य और सम्यक् ज्ञान है, शुद्ध सहज मति है अनादि, अनन्त, दैवी, शुद्ध, स्वयम्भू, शान्त, अनुपम और स्वतंत्र है, इसी को तथागत-गर्भ अथवा धर्मकाय कहते है। यहाँ यह आपत्ति उठ सकती है कि तथता लक्षण-रहित और निर्गुण बताई गई है फिर इसके इतने गुण बताना स्वविरोधी है पर इसका उत्तर यह है कि ये गुण होते हुए भी यह अपने आप मे समस्त भेदों से रहित है क्योकि विश्व की सभी वस्तुएँ एक ही स्वाद की है, एक ही सत्ता के अंग होने के कारण उनमे विभेद विशेषीकरण और द्वन्द्व नही होता। "यद्यपि वस्तु-सत्ता मे समस्त वस्तुएँ आत्मा से ही उद्गत हैं और विशेषीकरण से परे है फिर भी अज्ञानवश आलयविज्ञान का उद्भव हो जाता है जिससे बाह्य जगत् की प्रतीति होती है।" इसे अज्ञान या अविद्या कहते है। तथापि बुद्धि का शुद्ध तत्व पूर्ण एव शुद्ध है और उसमे अज्ञान का स्पर्श नही है। इसीलिए तथता मे महत् बुद्धि के फल का गुण बतलाया गया है। इसीलिए इसे स्वय प्रकाश कहा गया है क्योकि इसके अलावा और कोई वस्तु प्रकाश्य है ही नही। इस तरह तथता का सस्कार शाश्वत रहता है जब कि अविद्या के सस्कार की स्थिति निर्वाण प्राप्त कर बुद्ध बन जाने पर समाप्त हो जाती है। बुद्धो को धर्मानुशासन की स्थिति मे सभी प्राणियो के लिए महाकरुणा का अनुभव होता है, वे पारमिताओ का आचरण करते है, अन्य सम्यक् कर्म करते है, सबको अपने समान देखते है और सदा के लिए प्राणीमात्र को सर्व-कल्याण और मुक्ति का मार्ग दिखाना चाहते है, अनेक कल्पों तक ऐसा वे करते है। प्राणियो मे समता का सम्यक् ज्ञान वे करते है तथा प्राणी की विशिष्ट जीवसत्ता से सम्पृक्त नही होते। तथता के क्रिया-कलाप का यही अर्थ है। जब तक अविद्या का पर्दा अथवा सस्कार रहता है तब तक जगदाभास रहता है, किन्तु अविद्या मे भी जब शुद्ध तथता का सस्कार होता है तो शुभ के लिए प्रयत्न की प्रेरणा होती है। अविद्या की स्थिति समाप्त होने पर शुद्ध तथता का प्रकाश चमकने लगता है क्योकि वही चरम सत्ता है जो केवल जगत् मे अनेक रूपो मे भ्रमात्मक रूप से आभासित होती है।

यह सिद्धान्त लकावतार के शून्यवादी प्रत्यय-वाद सिद्धान्त की बजाय चरम, अपरिवर्तनीय सत्ता को ही परम सत्य मानने वाले सिद्धान्त के अधिक निकट लगता है। चूंकि अश्वघोष प्रारम्भिक जीवन मे एक विद्वान् ब्राह्मण था, यह स्पष्टत: अनुमानित किया जा सकता है कि उसके द्वारा किए गए बौद्ध दर्शन के निर्वचन मे शकर द्वारा विवेचित वेदान्त से साम्य और उपनिषदो का प्रभाव मिलना ही चाहिए। लकावतार ने केवल तैर्थिकों को सतुष्ट करने के लिए (जो अपरिवर्तनीय आत्मा के सिद्धान्त मे बहुत विश्वास और पूर्वाग्रह रखते थे) चरम सत्ता का सिद्धान्त ऊपर से मान लिया था। किन्तु अश्वघोष ने एक अनिर्वचनीय सत्ता को ही स्पष्टत: परम सत्य माना है। नागार्जुन के माध्यमिक सिद्धान्त जिन्होने अश्वघोष के गहरे दर्शन को दबा लिया,

पारस्परिक दर्शन के तथा लकावतार मे वर्णित बौद्ध विज्ञान-वाद के अधिक निकट और अनुरूप लगते है।*

माध्यमिक सिद्धान्त अथवा शून्यवाद

नागार्जुन की माध्यमिक कारिकाओ का टीकाकार चन्द्रकीर्ति नागार्जुन वर्णित प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या करते हुए इस शब्द के दो निर्वचनो से विवेचन प्रारम्भ करता है–एक तो यह है कि प्रत्ययो के द्वारा अभाव की उत्पत्ति, हेतु प्रत्ययो पर ही प्रतीति निर्भर है, उससे अभाव का समुत्पाद होता है। दूसरा यह कि प्रतीत्य से तात्पर्य है प्रत्येक विनाशी पदार्थ अथवा व्यक्ति और प्रतीत्य-समुत्पाद से तात्पर्य है प्रत्येक विनाशी पदार्थ की उत्पत्ति। परन्तु इन दोनों निर्वचनो का वह खण्डन कर देता है। दूसरा निर्वचन पाली-ग्रन्थो के प्रतीत्य समुत्पाद के विवेचन से मेल नही खाता। (जैसे चक्षु प्रतीत्यरूपाणि च उत्पद्यन्ते चक्षुर्विज्ञानम्) वहाँ प्रत्येक विनाशी पदार्थ की उत्पत्ति से तात्पर्य नही है किन्तु विशिष्ट व्यक्तिगत सवृतियों (जैसे–चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा आँख के व्यापार से पदार्थ की प्रतीति) की उत्पत्ति से है जो विशिष्ट स्थितियो पर निर्भर होती है।

प्रथम निर्वचन भी उतना ही अयुक्त है। उदाहरणार्थ यदि हम किसी समुत्पाद को ले, जैसे किसी चाक्षुष पदार्थ को, तो हम देखेगे कि दृश्य ज्ञान और भौतिक इन्द्रिय (आँख) के बीच कोई सम्बन्ध नही हो सकता और इसलिए वह बात प्रमेय नही हो सकती कि दृश्य ज्ञान आँख पर निर्भर है। यदि हम प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त का यह निर्वचन करे कि उसका अर्थ वह घटना है जो हो रही है तो उससे किसी भी समुत्पाद की परिभाषा नही हो सकेगी। समस्त समुत्पाद मिथ्या है क्योकि कोई पदार्थ न तो अपने आप समुत्पन्न होता है न अन्यो के द्वारा, न किसी की सहायता से, न किसी कारण के बिना, क्योकि, यदि कोई चीज पहले से अस्तित्व मे है तो वह पुन. अपने आप समुत्पन्न नही हो सकती। यदि हम माने कि वह अन्य के द्वारा समुत्पन्न है तो इसका अर्थ होगा कि वह पहिले से विद्यमान किसी पदार्थ का समुत्पाद है। यदि किसी अन्य विशेषण के बिना हम कहे कि एक पर निर्भर होते हुए इसकी चीज अस्तित्व मे आती है तो उसका अर्थ होगा किसी भी एक चीज पर निर्भर होते हुए दूसरी चीज अस्तित्व मे आ सकती है। तो फिर प्रकाश से अन्धकार अस्तित्व मे आ जाएगा। जब एक चीज न स्वय पैदा होती है न अन्यो के द्वारा तो वह इन दोनो के समवाय से भी पैदा नही होती। कोई पदार्थ किसी कारण के बिना भी पैदा नही होता, अन्यथा सब पदार्थ

---

* मुझे अश्वघोष का "श्रद्धोत्पादशास्त्र" उपलब्ध नही है अतः मेरा यह विवरण उसके सुजुकीकृत अनुवाद पर ही आधारित है।

सब समयों मे ग्रस्तित्व मे ग्रा जाएँगे। इसलिए यह मानना पडेगा कि जहाँ-जहाँ बुद्ध ने तथाकथित प्रतीत्यसमुत्पाद की बात कही है उनका तात्पर्य है उन भ्रमात्मक प्रत्यक्षो से जो बुद्धि और इन्द्रियों (जो अज्ञान से ग्रावृत्त है) को प्रतीत होते है। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद कोई वास्तविक नियम नही किन्तु अविद्या के कारण हुई प्रतीति ही है। अविनाशी पदार्थ (ग्रमोष-धर्म) केवल निर्वाण है, अन्य समस्त ज्ञान के विषय और सस्कार मिथ्या है और प्रतीति के साथ समाप्त हो जाते हैं (सर्वसस्काराश्च मृषा-मोष-धर्माण.)।

कभी-कभी इस सिद्धान्त पर यह ग्रापत्ति की जाती है कि यदि सभी प्रतीतियाँ मिथ्या है तो इनका कोई अस्तित्व नही होना चाहिए। तो फिर अच्छे बुरे काम भी नही होने चाहिए और सृष्टिक्रम भी नही। जब यह सब कुछ नही तो इनके बारे मे दार्शनिक विचार क्यो? इसका उत्तर यह है कि शून्यवाद का उद्देश्य है वस्तुग्रो को भ्रम के कारण सत्य मानने वाले लोगो की धारणा का खण्डन करना। जो वस्तुत: विद्वान् है वे किसी भी वस्तु को सत्य या मिथ्या नही मानते। उनके लिए किसी वस्तु का अस्तित्व नही है इसलिए उनके सत्य व मिथ्या होने के चक्कर मे वे नही पडते। ज्ञानी पुरुष के लिए न कोई कर्म है न ससार। इसलिए वह प्रतीतियो की सत्ता असत्ता के चक्कर मे नही पडता। रत्नकूट सूत्र मे कहा गया है कि चाहे कितनी भी गहरी खोज करो, चित्त को नही खोजा जा सकेगा। जिसका प्रत्यक्ष नही हो सकता उसकी सत्ता नही कही जा सकती, जिसकी सत्ता नही है उसका कोई भूत, भविष्य, वर्तमान नही, और इसीलिए उसका कोई स्वभाव भी नही कहा जा सकता, जिसका स्वभाव नही उसका समुत्पाद या समाप्ति भी नही हो सकती। जो अपने ज्ञान-विपर्यास के कारण प्रतीतियों के मिथ्यात्व का बोध नही कर पाता, उसे सत्य समझता है वह ससारचक्र की यन्त्रणा भोगता है। समस्त भ्रमो की तरह मिथ्या होने पर भी ये प्रतीतियाँ पुनर्जन्म और यन्त्रणा का कष्ट दे सकती है।

यहाँ यह ग्रापत्ति भी हो सकती है कि शून्यवादियो के मत मे जब कोई वस्तु सत्य नही तो उनका यह कथन कि समुत्पाद और समाप्ति नही है भी, सत्य नही होगा। इसके उत्तर मे चन्द्रकीर्ति कहता है कि सत्य चरम शाति है (मौन)। जब शून्यवादी भिक्षु विमर्श करते है तो सामान्य जनो के तर्कों को कुछ समय के लिए स्वीकार करके उन्हे समझाने के लिए, उनकी भाषा मे, समस्त प्रतीतियो को वास्तविकता बतलाने हेतु इन शब्दो का प्रयोग करते हैं। समस्त प्रतीतियो की मिथ्यात्व बताने वाले तर्कों के बावजूद यह कहना युक्तिसगत नही होगा कि प्रतीतियाँ अनुभव से परीक्षित हैं क्योकि जिसे हम अनुभव कहते है वह केवल भ्रम है, मिथ्या है, इन कार्यों का कोई अस्तित्व नही।

जब प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त की परिभाषा "वह जैसा कि वह है" के रूप में की

जाती है तो उसका अर्थ होता है कि वस्तुएँ प्रतीतियों के रूप मे एक के बाद एक सकेतित की जा सकती है किन्तु उनकी वास्तविक सत्ता अथवा स्वभाव नहीं होते। शून्यवाद का भी यही मतलब है (देखें माध्यमिकवृत्ति पृ० ५६)। प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यवाद का वास्तविक अर्थ है कि घटनाएँ जो प्रतीत होती है सत्य नहीं है। जब वे सत्य नही है तो न उत्पन्न होती है न नष्ट होती है, न आती है न जाती हैं, वे माया की प्रतीतियाँ है। 'शून्य का मतलब शुद्ध अभाव से नही' क्योकि वह किसी वस्तु या स्थिति से जुड़ा हुआ होता है। उसका तो अर्थ है, वस्तुओ का कोई स्वभाव नही (नि:स्वभावत्वम्)।

माध्यमिक और शून्यवादी नही मानते कि वस्तु मे सत्य या स्वभाव होता है। उष्णता को अग्नि का स्वभाव नही कहा जा सकता क्योकि अग्नि और ताप अनेक स्थितियो के समवाय के परिणाम है और जो अनेक स्थितियो पर निर्भर है वह वस्तु का स्वभाव नही हो सकता। वस्तु का स्वभाव तो वह होता है जो किसी अन्य पर निर्भर न हो और चूँकि ऐसा कोई भी स्वभाव नही होता जो अपने आप मे अनिर्भर रूप से सत्ता मे हो। इसलिए उसका अस्तित्व हम कैसे मान सकते है। जब किसी वस्तु में सार या सत्ता नही है तो उसमे अन्य वस्तुओ का सार (परभाव) भी हम नही मान सकते जब किसी वस्तु मे किसी वस्तु का स्वीकार नही हो सकता तो किसी वस्तु मे किसी वस्तु का नकार भी नही हो सकता। जब पहले कोई किसी वस्तु का भाव मानता है, बाद मे समझता है कि वे नही है, तब वह उसका अभाव जानता है, किन्तु वस्तुत: हम किसी चीज का भाव ही नही मानते तो उसका अभाव भी नही मान सकते।[1]

यहाँ यह आपत्ति होती है कि फिर भी हम एक प्रक्रिया को चलते कैसे पाते है? माध्यमिक इसका उत्तर उस प्रकार देता है कि स्थायी वस्तुओ मे परिवर्तन की प्रक्रिया नही मानी जा सकती। इसी प्रकार क्षणिक वस्तुओ मे भी क्रम नही मान सकते क्योकि क्षणिक वस्तु प्रतीति के अगले क्षण नष्ट हो सकती है, फिर क्रम कहाँ रहेगा? जो उत्पन्न प्रतीत होती है वह न तो कही से आती है न जाती है, जो नष्ट प्रतीत होती है वह भी न आती है न जाती है, इसलिए उनकी प्रक्रिया (ससार) भी नही मानी जा सकती। ऐसा नही हो सकता कि जब दूसरा क्षण आया तो पहले क्षण का ससार बदल गया, क्योकि वह दूसरा क्षण था पहला उसके समान नही था, क्योकि कार्य कारण सम्बन्ध नही होता। वस्तुत इन दो मे कोई सम्बन्ध नही होता अत. सभी जागतिक निर्धारण पूर्व और पर के, गलत है। यह मानना कि एक आत्मा है जिसमे परिवर्तन होता है, भी गलत है। क्योंकि हम कितना भी खोजे आत्मा नही पाएँगे, पाँच स्कध ही पाएँगे। यदि आत्मा एक है तो इनमे कोई क्रम या वृद्धि नही होगी अन्यथा यह

[1] देखे, माध्यमिकवृत्ति (पृ० ९३-१००)।

मानना पड़ेगा कि एक ही क्षण मे आत्मा एक स्वभाव छोडती है दूसरा धारण करती है जो कि नही माना जा सकता ।[1]

अब प्रश्न उठता है कि यदि कोई कम नही है और ससार का अनेक यंत्रणाओं वाला चक्र भी नही है तो फिर निर्वाण क्या है जिसे समस्त क्लेशों से मुक्ति बतलाया गया है ? इसका माध्यमिक यह उत्तर देते है कि वे निर्वाण की यह परिभाषा नहीं मानते । उनके अनुसार निर्वाण समस्त घटनाओ के सार का अभाव है उसे किसी वस्तु की समाप्ति या निरोध के रूप मे या किसी वस्तु की उत्पत्ति के रूप मे नही माना जा सकता वह "अनिरुद्धम् अनुत्पन्नम्" है । निर्वाण मे सब घटनाएँ समाप्त हो जाती है (हम कहते है कि निर्वाण मे वे समाप्त हो जाती है, वैसे वस्तुत रज्जु में सर्प की भांति, वे रहती ही[2] नही । निर्वाण की कोई वस्तु-सत्ता अथवा कोई भाव नही है क्योकि वस्तुएँ और सत्ताएँ कारणो के कार्य (सस्कृत) होती है और विनाश-गोचर भी होती है । यह अभाव भी नही है । क्योकि जब भाव ही नही हो अभाव कैसा ? प्रतीतियाँ और घटनाएँ एक के बाद एक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप मे प्रतीत होती है किन्तु इससे परे उनमे कोई सार सत्ता या सत्य नही कहा जा सकता । घटनाएँ कभी उत्पन्न प्रतीत होती है कभी नष्ट, किन्तु उन्हे सत्तात्मक या असत्तात्मक नही कहा जा सकता । निर्वाण का तात्पर्य है इस प्रतीत होने वाली प्रपच प्रवृत्ति की समाप्ति । उसे भाव या अभाव नही कहा जा सकता, ये शब्द प्रपचो के लिए ही प्रयुक्त हो सकते है । (न चाप्रवृत्तिमात्र भावाभावेति परिकल्पितु पार्यते एव न भावाभावनिर्वाणम् । मा० वृ० १९७) ऐसी स्थिति मे कोई ज्ञान नही होता, यह ज्ञान भी नही कि प्रपच की समाप्ति हो गई है । स्वय बुद्ध भी एक प्रपच, आभास या स्वप्न ही है, इसी प्रकार उनके उपदेश भी ।[3]

यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धान्त मे कोई बन्धन या मुक्ति जैसी चीज नही मानी जा सकती । समस्त प्रपच प्रतिबिब, मृगतृष्णा, स्वप्न, माया आदि के समान नि स्वभाव है, यह मानना कि किसी को वास्तविक निर्वाण प्राप्त हो सकता है, अज्ञान ही है ।[4] यह मिथ्या अहंकार ही अविद्या माना जाता है । ध्यान से देखने पर स्पष्ट होता है कि किसी वास्तविक सत्ता की कोई भी स्थिति नही है । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यदि अविद्या नही होती तो सस्कार भी नही होते और यदि सस्कार नही होते तो चित्त भी नही होता इत्यादि । किन्तु अविद्या के बारे मे यह नही कहा जा

---

[1] देखे, माध्यमिकवृत्ति (पृ० १०१-१०२) ।
[2] वही, पृ० १९४ ।
[3] मा० वृ० (पृ० १६२ तथा २०१) ।
[4] मा० वृ० (पृ० १०१-१०८) ।

सकता कि, 'मैं संस्कार पैदा कर रही हूं', परन्तु संस्कारो के बारे में यह कहा जा सकता है 'हम अविद्या के द्वारा उत्पन्न हो रहे हैं।' अविद्या है इसलिए संस्कार होते है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के बारे में भी कहा जा सकता है। प्रतीत्य-समुत्पाद की यह प्रकृति ही हेतूपनिबध कही जाती है।

इसे एक दूसरे पहलू से भी देखा जा सकता है, वह है समवाय अथवा सम्बद्धता पर निर्भरता (प्रत्ययोपनिबन्ध)। चार तत्वों एवं आकाश तथा विज्ञान के समवाय से ही मनुष्य बनता है। पृथ्वी तत्व से शरीर ठोस होता है, जल तत्व से चर्बी बनती है, अग्नि तत्व से पाचन होता है, वायु तत्व से श्वास प्रश्वास चलते है, आकाश तत्व से शरीर मे अवकाश, छिद्र या कूप बनते है और विज्ञान तत्व से मन, मस्तिष्क या चैतन्य बनता है। इन सबके समवाय के कारण ही हम मनुष्य को वैसा पाते है जैसा वह है। किन्तु इन तत्वो मे से कोई यह नही जानता कि वह वे कार्य सम्पन्न कर रहा है जो उसे आवटित है। इनमें से कोई तत्व, स्वय कोई सार आत्मा, या प्राणी नहीं है। अज्ञान के कारण इनको अपने आप मे एक सत्ता मानकर हम उनके प्रति एक मोह पैदा कर लेते है। इस प्रकार अज्ञानवश सस्कार जन्मते हैं, जिनमे राग, द्वेष, मोह आते हैं, उनके बाद विज्ञान और चार स्कध आते हैं। ये सब चार तत्वो से मिलकर नामा और रूप देते हैं, इन सबसे इन्द्रिय (षडायतन) बनते है। इन तीनों के समवाय से स्पर्श पैदा होता है, उससे भावना, उससे तृष्णा, और इस प्रकार यह क्रम चलता है। यह एक नदी के प्रवाह की तरह चलता है[1] परन्तु इन सबके पीछे कोई वास्तविक सार अथवा इसके नीचे कोई ठोस आधारभूमि नही है। इस प्रकार प्रपचों को सत् या असत्--कुछ नही कहा जा सकता और शाश्वतवाद और उच्छेदवाद मे से किसी को भी सत्य नही ठहराया जा सकता। इसी कारण इन दोनो के बीच के इस सिद्धान्त को मध्यमक (माध्यमिकवाद) कहा गया है।[2] सत्ता और असत्ता मे केवल एक सापेक्ष सत्य है (सवृतिसत्य) जैसा कि प्रपंचो मे है, परमार्थ सत्य नही है। वह कही नही है। सद्धर्माचरण (नैतिकता या शील) को इस सिद्धान्त मे भी, अन्य भारतीय धर्मों की भांति बहुत महत्व दिया गया है। यहाँ नागार्जुन की "सुहृल्लेखा" के तिब्बती अनुवाद से वेन्जॅल द्वारा किए गए अनुवाद से कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं--

(पी० टी० एस०, १८८६)।

६ यह जानकर कि संपत्ति विनाशी और निःसार है, धर्मानुसार भिक्षुओ, ब्राह्मणो, गरीबो और मित्रो मे दान करो, दान से श्रेष्ठतर मित्र कोई नही।

---

[1] मा० वृ० पृ० २०६-२११ मे शालिस्तम्भासूत्र से उद्धृत। इसी को वाचस्पतिमिश्र ने शकर के ब्रह्मसूत्र पर अपनी टीका 'भामती' मे से भी उद्धृत किया है।

[2] माध्यमिकवृत्ति पृ० १६०।

७. निर्दोष और ऊँचा पवित्र और निष्कलंक शील धारण करो, शील ही श्रेष्ठता का आधार है जैसे कि पृथ्वी चराचर का आधार है।

८ धर्म, शील, शम, शक्ति, ध्यान, ज्ञान आदि उच्च एव अशोच्य शीलों का आचरण करो जिससे कि जन्म के दूसरे छोर पर पहुँचकर तुम जिन बन सको।

९. परिजन, शरीर, कीर्ति, यौवन अथवा सत्ता के साथ जुड़े हुए मात्सर्य, शाठ्य, माया, काम, कौषीद्य, मान, राग, द्वेष, मद आदि को शत्रु मानो।

१५. शम से अधिक कोई चीज दु:साध्य नहीं है इसलिए क्रोध को स्थान मत दो। बुद्ध का वचन है कि जिसने क्रोध पर विजय पा ली वह अनागामित्व (अपुनर्जन्मा भिक्षुत्व) को प्राप्त होता है।

१६. परस्त्री की ओर दृष्टि न डालो और यदि उस पर दृष्टि पड़ जाय तो उसे आयु के अनुसार अपनी माता, बहिन या पुत्री समझो।

२४. जिसने छहों इन्द्रियों के चचल एव अस्थिर विषयो पर विजय पा ली तथा जिसने युद्ध मे शत्रु की सेनाओ को विजय कर लिया, इन दोनो मे से ज्ञानी लोग प्रथम विजयी को श्रेष्ठ मानते है।

२९. विश्वास को हानि और लाभ, हर्ष और विषाद, कीर्ति और अपकीर्ति, निन्दा और स्तुति इन आठो के प्रति समान भाव रखना चाहिए। इनमे भेद का विचार मत करो।

३७ केवल एक ही स्त्री परिवार की रक्षिका देवी के समान पूज्य है जो बहिन के समान शीलवती, सुहृद् के समान आकर्षक, माता के समान शुभेच्छु और सेवक के समान आज्ञाकारिणी हो।

४०. दया, क्षमा, प्रसन्नता एव औदासीन्य इनका सदा ध्यान रखो। इससे यदि तुम्हे उच्चता नही मिली तो ब्रह्मविहार अवश्य मिलेगा।

४१ काम, विचार, प्रीति तथा सुख-दुःख को चार ध्यानों द्वारा निरस्तर करके ही तुम ब्रह्मत्व का फल प्राप्त कर सकोगे।

४९. यदि तुम समझो कि यह कलेवर तुम नही हो तो तुम्हें भान होगा कि यह कलेवर तुम्हे नही मिला, तुम्हारा नहीं है, तुम इसमे नही रहते, यह तुम मे नही रहता। इसी प्रकार तुम चारो तत्वो की नि सारता का बोध कर सकोगे।

५० तत्वों की उत्पत्ति इच्छा से नही, काल से नही, प्रकृति से नही, स्वभाव से भी नही। न ईश्वर से वे जन्मे हैं ? वे अकारण भी नही है। वे अविद्या और तृष्णा से जन्मे हैं यह जान लो।

५१. धार्मिक रीति रिवाज (शील व परामर्श), गलत धारणाएँ (मिथ्यादृष्टि) और शका (विचिकित्सा) ये तीन बन्धन हैं।

५३. सर्वोच्च धर्म, सर्वोच्च ज्ञान और सर्वोच्च विचारों का सदा अनुशीलन करते रहो क्योंकि प्रातिमोक्ष के १५० नियम इन्ही तीन मे निहित है।

५८. हे पुरुष श्रेष्ठ, ससार के इस असार कदली वृक्ष से नि:संग हो जाओ क्योंकि तुमने देख लिया है कि यह सब अनित्य है, अनात्म है, अशरण है, अनाथ है और अस्थान है।

१०४ जैसे सिर मे या कपडो मे आग लग जाने पर तुम उसे तुरन्त बुझाना चाहते हो, उसी प्रकार इच्छा को तुरन्त बुझाओ, क्योंकि इससे बड़ा कोई आवश्यक कार्य नही।

१०५. धर्म, ज्ञान और ध्यान के द्वारा शमात्मक, शान्त, काल-रहित, अमर, अजर तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र से रहित निर्वाण की श्रेष्ठता प्राप्त करो।

१०७ जहाँ प्रज्ञा नही है वहाँ ध्यान नही, जहाँ ध्यान नही है वहाँ प्रज्ञा नहीं है। जिसने इन दोनो को प्राप्त कर लिया है उसके लिए संसार सागर गोपद के समान है।

कट्टर प्रत्ययवाद अथवा बौद्ध विज्ञानवाद

विज्ञानवाद अथवा योगाचार के नाम से प्रसिद्ध बौद्ध दर्शन का उल्लेख कुमारिल और शकर जैसे वरिष्ठ हिन्दू दार्शनिको ने भी किया है। यह शून्यवादियों से, जिनका वर्णन हम ऊपर कर चुके है, बहुत हद तक मिलता जुलता है। समस्त धर्म, (गुण और सार) अज्ञानी दिमागो की नकली उपज है। बाह्य जगत् मे कोई गति या जीवन नही है जैसाकि हम समझते है, क्योंकि उसकी कोई सत्ता नही है। इसका निर्माण हम ही करते है और हमे ही "यह है" ऐसा मोह हो जाता है (निर्मितप्रतिमोही)।[1] हमारे मन मे दो क्रियाएँ होती है। एक वह जो प्रत्यक्ष करती है (ख्यातिविज्ञान), दूसरी वह जो उन्हे काल्पनिक निर्मितियो मे रखती है (वस्तु-प्रतिविकल्प विज्ञान)। ये दोनो व्यापार परस्पर-सबद्ध है, निर्भर है और अविभाज्य है (अभिन्नलक्षणे, अन्योन्यहेतुके)। दृश्य जगत् के सम्बन्ध से जो अनादि, सहज प्रवृत्तियाँ निहित होती है उनके कारण ये व्यापार होते है (अनादिकाल-प्रपच-वासना-हेतुकं च)।[2]

---

[1] लकावतारसूत्र, २१-२२।

[2] लंकावतार, पृ० ४४।

जब विभिन्न गूढ कल्पना प्रवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं तभी ऐन्द्रिय ज्ञान समाप्त हो सकता है (अभूत-परिकल्प वासना-वैचित्र्य-निरोधः)।[1] हमारा समस्त बाह्य ज्ञान निस्सार और निस्स्वभाव है, वह माया-जन्य है, मृगतृष्णा है, स्वप्नवत् है। कोई चीज बाहरी नहीं है, सब कुछ मन (स्वचित्त) की काल्पनिक रचना है। अनादि काल से मन काल्पनिक रचना करने का अभ्यासी हो गया है। यह मन जिसके व्यापार से ये रचनाएँ विषय या विषयी के रूप में जन्मती हैं, अपने आप मे कोई वस्तु नही हैं, यह उत्पत्ति-स्थिति और विनाश-रहित है (उत्पादस्थिति भगवर्जम्)। इसे ही आलय-विज्ञान कहा गया है। आलय-विज्ञान को आपत्तिस्थिति-नाश-रहित बताने का कारण शायद यह है कि इसकी सत्ता इस रूप मे काल्पनिक है कि यह प्रपच की स्थितियो का, जैसी वे प्रकट होती हैं, ज्ञान कराता है, इसकी स्वय की कोई सत्ता नही है, सही मायनो मे हम इसकी कोई वस्तु-सत्ता नही बता सकते।

हमे यह ज्ञान नही होता कि दृश्य-प्रपच कोई बाहरी वस्तु नही, बल्कि स्वचित्त के अन्दर ही है। फिर, भासमान बाह्य जगत् पर विश्वास करने और मानने की एक अनादि प्रवृत्ति चली आ रही है। ज्ञान का स्वभाव है कि (ज्ञाता और ज्ञेय के रूप मे) वह जानता है तथा मन की प्रवृत्ति है कि विभिन्न विषयो का अनुभव करता है। इन चारो कारणो से आलय-विज्ञान (मन) मे अनुभव की रेखाएँ प्रकट होती है (प्रवृत्ति विज्ञान) जैसे जलाशय मे लहरे। ऐन्द्रिय अनुभवो की ये लहरे अनुभूतियो के रूप मे प्रकट होती है। इस प्रकार पाँचो स्कध (पच विज्ञान काय) अपने मिले-जुले स्वरूप मे प्रकट होते है। बाह्य ज्ञान को हम आलय विज्ञान से भिन्न भी नही कह सकते और अभिन्न भी नही, जैसे समुद्र को लहरो से भिन्न भी नही कह सकते और अभिन्न भी नही कह सकते। जैसे हम समुद्र का लहरो के रूप में उछलता देखते है वैसे ही चित्त अथवा आलय-विज्ञान को विभिन्न प्रवृत्तियो के रूप मे देखते है। चित्त के रूप मे यह समस्त कर्मों को ग्रहण करता है, मन के रूप मे सयोजन करता है (विधीयते), विज्ञान के रूप मे पाचो प्रत्यक्षो का निर्माण करता है (विज्ञानेन विजानाति दृश्य कल्पते पचभि.)।[2]

माया के कारण प्रपच विषय और विषयो के रूप मे द्विधा दिखते है। ये सब आभास मात्र माने जाने चाहिए (सम्वृतिसत्यता)। वास्तव मे इनकी कोई सत्ता है या नही है (भाव या अभाव) यह नही कहा जा सकता।[3]

सत् और असत् सभी सवृत्तियाँ मायाकृत है (सदसतः मायोपमा.) ध्यान से देखने पर मालूम होता है कि समस्त आभासो का नितात अभाव है, अभावो का भी, क्योकि

---

[1] लकावतार पृ० ४४।

[2] वही, पृ० ५०-५५।

[3] असग का महायानसूत्रालकार (पृ० ५८-५६)।

वे भी आभास हैं। इससे चरम सत्य भावस्वरूप होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है क्योंकि वह तो भाव और अभाव दोनों मे समान है (भावाभावसमानता)।[1] ऐसी स्थिति, जो अपने आप में पूर्ण है, अनाम है और असार है, लंकावतार सूत्र में तथता[2] कही गई है। इसी सूत्र मे अन्यत्र इसे शून्यता कहा गया है जो एक है, अजन्मा है और असार है।[3] एक अन्य स्थान पर इसे तथागत गर्भ भी कहा गया है।[4]

यह सोचा जा सकता है कि निर्गुण चरम सत्य का यह सिद्धान्त वेदान्त के आत्मा या ब्रह्म के सिद्धान्त के बहुत निकट है, जैसे कि अश्वघोष का तथता-सिद्धान्त। लंकावतार में रावण बुद्ध से पूछता है—"आप कैसे कह सकते है कि, आपका तथागतगर्भ सिद्धान्त अन्य दर्शनो की आत्मा से भिन्न है? वे विरोधी भी आत्मा को अनादि, कारण भूत, निर्गुण, सर्वव्यापी, अविनाशी मानते है।" बुद्ध इसका उत्तर यों देते है— "हमारा सिद्धान्त उनसे भिन्न है। यह मानते हुए कि ऐसे दर्शन का उपदेश जो समस्त जगत् का कोई आत्मा या सार नही मानता (नैरात्म्य), शिष्यों को भयावह लगेगा, मैं यह कहता हू कि यह सब कुछ केवल, वस्तुसत्ता मे तथागतगर्भ है। इसे आत्मा नहीं समझना चाहिए। जैसे मृत्तिका के एक ढेले से विभिन्न आकार बन जाते है उसी प्रकार यह निस्सार प्रपंच है जो निर्गुन है, निर्लक्षण है (सर्व-विकल्प-लक्षण-विनिवृत्त)। इसे कही गर्भ और कही नैरात्म्य कहा गया है। चरम सत्य और वस्तु-सत्ता के रूप मे तथागत गर्भ की यह व्याख्या इसलिए की गई है कि वे विरोधी अन्धविश्वास के कारण आत्मा के सिद्धान्त को मानते है हमारे मत की ओर आकृष्ट हो।"[5]

जहाँ तक सवृतियो (दृश्य प्रपचो) की प्रतीति का प्रश्न है, प्रत्ययवादी (विज्ञान-वादी) बौद्ध दार्शनिक प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को ही थोडे परिवर्तनो के साथ मानते है। वे एक बाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद (जैसा कि विषयगत दृष्टि से वह देखा जा सकता है) तथा एक आन्तरिक प्रतीत्यसमुत्पाद दोनो का विवेचन करते है। बाह्य प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन वे इस उदाहरण से करते है कि किस प्रकार भौतिक पदार्थ जैसे एक घट विभिन्न वस्तुओ—मृत्पिण्ड, कुलाल, चक्र आदि के समवाय और सहयोग से बनते है। आन्तरिक अर्थात् आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद के विवेचन मे वे अविद्या, तृष्णा, कर्म, स्कध, आयतन आदि का विचार करते हैं।[6]

---

[1] असग का महायानसूत्रालंकार पृ० ६३।
[2] लंकावतार सूत्र पृ० ७०।
[3] वही, पृ० ७८।
[4] वही, पृ० ८०।
[5] लकावतार, पृ० ८०-८१।
[6] लंकावतार, पृ० ८५।

हमारा बोध दो प्रकार की बुद्धियों मे प्रकट होता है, प्रविचय बुद्धि तथा विकल्प-लक्षणग्रहाभिनिवेशप्रतिष्ठापिका बुद्धि। प्रविचयबुद्धि चार प्रकार से वस्तुओ का बोध कराती है–एकत्वान्यत्व (या तो यह या वह) का विवेचन करके, उभयानुभव का विवेचन करके (दोनो या दोनो नही), अस्ति नास्ति का विवेचन करके (है या नही), नित्यानित्य (स्थायी हैं या अस्थायी) का विवेचन करके। पर वस्तुतः प्रपचो के बारे मे इन चारो मे से कोई भी प्रकार पूरा नही बैठता। दूसरी तरह की बुद्धि मन की उस प्रवृत्ति मे निहित है जिस कारण वह विविधता पैदा करता है तथा उनको अपनी कल्पनाओं (परिकल्पो) के द्वारा किसी एक बौद्धक, तार्किक आनुपूर्वी या क्रम मे कर्ता, कर्म, विषय, विषयी, कार्य कारण आदि के सम्बन्धो मे बिठाकर रखता है। जिन्हे इन दोनों बुद्धियो के व्यापार का ज्ञान है वे जानते हैं कि बाह्य भौतिक जगत् की कोई सत्ता नही है और यह केवल मन के अनुभव के रूप मे ही आभासित या प्रतीत होता है। जब कही नही है–यह केवल स्नेहात्मिका ऐन्द्रिय मानस प्रवृत्ति है जो बाह्य पदार्थ के रूप मे जल की कल्पना करती है, ताप अथवा शक्ति की ऐन्द्रिय कल्पना अग्नि की निर्मिति कर लेती है, गति की ऐन्द्रिय कल्पना वायु की निर्मिति कर लेती है। इस प्रकार असत्य मे सत्य का अभिनिवेश करने की मिथ्या प्रवृत्ति (मिथ्यासत्याभिनिवेश) के कारण पाँच स्कन्ध प्रकट होते है। यदि ये सब एक साथ प्रकट होते तो हम कार्य कारण सम्बन्ध नही मान सकते थे–यदि ये एक के बाद एक के क्रम मे प्रकट होते तो इनमे कोई परस्पर सम्बन्ध नही होता क्योकि उन्हे एक साथ सयुक्त रखने का कोई हेतु नहीं होता। सो, वस्तुतः कोई चीज न तो उत्पन्न होती है न नष्ट होती है, यह तो हमारी निर्मित्यात्मक कल्पना ही है जो प्रत्यक्षीकृत वस्तुओं का द्रष्टा या प्रत्यक्षकर्ता के साथ वस्तुओ को उनके सम्बन्धो सहित पैदा कर लेती है। वस्तुओ को 'ज्ञात' रूप मे अभिहित करना भी एक परम्परा ("व्यवहार") मात्र है।[1] जो भी हम वाणी द्वारा कहते है वह 'वाग्विकल्प' मात्र है। वह अवास्तव है। वाणी मे किसी भी वस्तु को कार्यकारण सबधो मे बाँधे बिना हम अभिहित नही कर सकते किन्तु इन बातो मे कोई भी सत्य नही है। परमार्थ को वाणी द्वारा अभिहित नही किया जा सकता। वस्तुओ की शून्यता को सात प्रकार से समझा जा सकता है–(१) वे सब अन्योन्यनिर्भर है और उनका अपना कोई लक्षण नही है। उनमे जब स्वय का कोई लक्षण नही है तो अन्य के लक्षण से भी उन्हे नही कहा जा सकता क्योकि जब उनका कोई लक्षण नही है तो अन्य भी अलक्षण (अपरिभाषित, अनिर्धारित ही होगा) अतः यह सब लक्षणशून्य है। (२) क्योकि वे अभाव अर्थात् स्वभाव शून्यता से उत्पन्न है (स्वभावा-भावोत्पत्ति) अतः अत उनमे कोई भाव नही है भावस्वभावशून्यता)। (३) वे अज्ञात अभाव से उत्पन्न

---

[1] लकावतार (पृ० ८७) शकर ने भी 'व्यवहारिका' शब्द का प्रयोग भौतिक, संवृत्यात्मक, पारपरिक ससार के लिए किया है जो इससे तुलनीय है।

हैं (अप्रचरितशून्यता) क्योंकि समस्त स्कन्ध निर्वाण मे जाकर विलीन हो जाते हैं। (४) अभूत होते हुए भी वे प्रपंचो के रूप में संबद्ध प्रतीत होते हैं (प्रचरितशून्यता) क्योंकि उनके स्कन्धों मे न तो अपने आप में वस्तुसत्य है न वे किसी अन्य से संबद्ध हैं फिर भी वे कार्यकारण संगत और संबद्ध प्रतीत होते हैं। (५) उनका किसी भी प्रकार विवेचन या वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता (निरभिलप्यशून्यता)। (६) दीर्घ-काल से हमारी दृष्टि को दूषित करने वाले मिथ्याभास के अतिरिक्त अन्य किसी ज्ञान के द्वारा उनका बोध नही किया जा सकता। (७) हम वस्तुओं को काल विशेष और देश विशेष में स्थिति बतलाते हैं जबकि वे नही हैं (इतरेतरशून्यता)।

इस प्रकार केवल "अभाव" ही विद्यमान है पर वह भी न तो अनादि है, न विनाशी। जगत् एक स्वप्नमात्र है, माया है। दो निरोध बतलाए गए हैं–आकाश और निर्वाण। ऐसी वस्तु जिसका न तो भाव है, न अभाव है उसे केवल मूर्खों की कल्पना द्वारा ही विद्यमान माना जा सकता है।

यह मत इस सिद्धान्त के इस विचार के विरोध मे जाता है कि वस्तुसत्य को तथागतगर्भ (तथता मे समाने वाले पदार्थों का गर्भ) कहा जाता है और स्कन्धो, धातुओं (तत्वो) तथा ऐन्द्रिय विषयो (आयतनो) के आभास इसे दोषो से ढक देते हैं। इससे यह सिद्धान्त एक विश्वजनीन आत्मा को ही अन्तिम सत्य मानने वाले मत के निकट आता सा जान पडता है। लकावतार सूत्र इस विरोधाभास का इस प्रकार समाधान करता है कि तथागतगर्भ को ही चरम वस्तुसत्य बतलाना केवल एक गुडजिह्लिका मात्र है जो उन व्यक्तियो को आकर्षित करने हेतु दी जाती है जो नैरात्म्य सिद्धान्त की रुक्षता को सहन नही कर पा सकते (लकावतार पृ० ८०)।

बोधिसत्वों को चार प्रकार के ज्ञान द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है–(१) स्वचित्तदृश्य-भावना (२) उत्पादस्थितिभग-विवर्जना (३) बाह्यभावाभावोपलक्षणता और (४) स्वप्रत्यार्यज्ञानाधिगमाभिन्नलक्षणता। प्रथम का तात्पर्य है कि समस्त वस्तुएँ केवल चित्त की कल्पना मात्र है। दूसरे का तात्पर्य है कि चूंकि वस्तुओ मे कोई सार नही है अत. उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश है ही नही। तीसरे का तात्पर्य है बाह्य वस्तुओ का भाव क्या है व अभाव क्या है इसका वास्तविक तात्पर्य केवल यह है कि यह सब उपलक्षण मात्र है, एक मृगतृष्णा के समान है, यह वासना की ही उपज है जो इस सब विविध प्रपच को पैदा करती है, उसका प्रत्यक्ष कराती है। चौथे का तात्पर्य है वस्तुओ के स्वभाव के ज्ञान का अधिगम।

लकावतार मे वर्णित चार ध्यान थेरवाद बौद्ध सिद्धान्त के प्रसग मे वर्णित चार ध्यानो से कुछ भिन्न है। इनके नाम है–१. बालोपचारिका २. अर्थप्रविचय ३. तथता-

लंबन व ४. तथागत। प्रथम ध्यान श्रावक और प्रत्येक बुद्ध लगाते है। इसमें पुद्गल-नैरात्म्य (आत्मा नही है) सिद्धान्त पर ध्यान लगाया जाता है, ये मानते हैं कि यह सब क्षणिक, दु:ख व अशुद्ध है। इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक ध्यान लगाते हुए साधक उस स्थिति तक पहुँच जाता है जब उसे सज्ञा नहीं रहती (असंज्ञानिरोधात्) तब इसे बालोपचारिका ध्यान (शिक्षुओं का ध्यान) कहा जाता है।

दूसरा ध्यान आगे की स्थिति का है। इसमे यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा नही है, साथ ही यह भी कि न तो जागतिक पदार्थ सत्य है न अन्य सिद्धान्तों के मत, कोई भी धर्म जो आभासित होते हैं, नही है। इसे अर्थप्रविचय कहते हैं क्योंकि साधक वस्तुओ के वास्तविक अर्थ की खोज करती है। तीसरे मे बुद्धि मे यह अहसास रहता है कि वस्तुओं की सत्ता नही है, आत्मा तथा आभास सब कुछ नही है यह सिद्धान्त भी कल्पना की ही उपज मात्र है और अन्तत: तथता मे विलीन हो जाता है। इसीलिए इस ध्यान को तथतालम्बन कहा गया है क्योंकि तथता को ही आधारभूत मानकर यह चलता है।

चौथा और अन्तिम ध्यान वह है जिसमे मन तथता मे इस प्रकार विश्रान्त हो जाता है कि प्रपचो का अनस्तित्व व अविज्ञेयत्व पूर्णत: ज्ञात हो जाता है। निर्वाण वह है जिसमे ज्ञान के रूप मे प्रकट होने वाली समस्त वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और बुद्धि जो ज्ञान और प्रत्यक्ष द्वारा आभासो और मिथ्या वस्तुओ की प्रतीति कराती है, कार्य करना बन्द कर देती है। इसे मृत्यु नही कहा जा सकता क्योकि मृत्यु के बाद तो पुनर्जन्म हो सकता है, इसके बाद नही, इसे विनाश भी नही कह सकते क्योंकि सस्कृत वस्तुओ का ही विनाश हो सकता है। इस प्रकार यह मृत्यु और विनाश दोनो से विलक्षण है। यह श्रावको और प्रत्येक बुद्धो के निर्वाण से भी विलक्षण है क्योकि वे तो उस स्थिति को ही निर्वाण कह देते है जब विनाशी वस्तुओ की क्षणिकता और दु:खता का आभास होने के कारण वे पदार्थों से अनासक्त हो जाते है और मिथ्या ज्ञान नही होता (लकावतार पृ० १०६)।

इस प्रकार हम देखते है कि जैसा अन्य विधर्मी कहते है, वस्तुओ का कोई कारण (आधार) नही है। जब हम कहते है कि जगत् माया या भ्रम है तो उसका तात्पर्य यही होता है कि इसका कोई आधार या कारण नही है। जो पदार्थ उत्पन्न, स्थित और विनष्ट होते से दिखते है यह विदुष्ट कल्पना की उपज ही है। अनादि मूल वासनाओ से विदुष्ट कल्पना (विकल्प) के रचनात्मक क्रियाकलापो से अलग होना ही तथता है (लकावतार पृ० १०६)। तथता की माया से अलग स्थिति नही है। जब माया के निर्माण का क्रम बद हो जाता है तो तथता ही माया का स्वरूप ले लेती है। इसीलिए इसे कभी-कभी 'चित्तविमुक्त' अथवा 'चित्त से अलग' कहा गया है क्योकि

यह सर्वकल्पनाविरहित होती है। विज्ञानवाद का यह विवरण मुख्यतः लंकावतारसूत्र पर आधारित है क्योंकि इस वाद का अन्य कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नही है (हिन्दू दार्शनिको द्वारा इसका वर्णन एव खडन उनके दार्शनिक ग्रन्थों जैसे कुमारिल का श्लोकवार्तिक या शकर का भाष्य (२/२) मे मिल सकता है। असंग के महायान सूत्रालकार में बोधिसत्व के आचारों का अधिक वर्णन है, दर्शन का कम)।

प्रत्यक्ष का सौत्रान्तिक सिद्धान्त

धर्मकीर्ति[1] (६३५ ई० के आसपास) के सौत्रान्तिक तर्कशास्त्रीय एवं न्यायशास्त्रीय ग्रन्थ 'न्यायबिन्दु' के टीकाकार धर्मोत्तर (८४७ ई०) के अनुसार समस्त पुरुषार्थ की सिद्धियो के लिए सम्यग् ज्ञान अनिवार्य रूप से आवश्यक है (सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थ सिद्धि)।[2] ज्ञान के विषय के प्रति प्रवृत्त होने पर जब ज्ञेय वस्तु का अवगमन होता है तो उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञेय विषय का वास्तविक अधिगमन ही सम्यग् ज्ञान है (अर्थाधिगति)। इस दृष्टि से ज्ञान की प्रक्रिया पदार्थ के प्रत्यक्ष सन्निकर्ष से आरम्भ होती है और ज्ञान की व्यावहारिक कामना की पूर्ति के साथ समाप्त होती है (अर्थाधिगमात् समाप्तः प्रमाणव्यापार) (२) इसके अनुसार हमारी ज्ञान में प्रवृत्ति (३) ज्ञान की दिशा मे हमारे प्रयत्न के अनुसार ज्ञेय वस्तु के ज्ञान का अधिगम। अनुमान को भी सम्यग् ज्ञान कहा जाना चाहिए क्योंकि यह भी पदार्थ की उपस्थिति किसी सबध विशेष से कराता है तथा पदार्थों का बोध कराकर हमारे ज्ञान के उद्देश्य की प्राप्ति कराता है। प्रत्यक्ष मे पदार्थ की उपस्थिति सीधे होती है, अनुमान में यह अप्रत्यक्ष रूप से अर्थात् लिंग (तर्क) के माध्यम से होती है। अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य ज्ञान की उपलब्धि करता है और दार्शनिक ग्रन्थों मे ज्ञान का विवेचन इसीलिए किया जाता है कि यह मनुष्यो का प्राप्तव्य है। इसलिए वह ज्ञान जो अपने विषय के सही अधिगमन कराने मे सफल नही होता उसे सम्यग् ज्ञान नहीं कहा जा सकता। समस्त भ्रमात्मक प्रत्यक्ष जैसे श्वेत शख को पीत शख के रूप मे देखना अथवा स्वप्न के दृश्य, सम्यक् ज्ञान नही है क्योंकि ज्ञेय पदार्थों का जैसे कि वे है, ये सही बोध नही कराते। यह सही है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं इसलिए प्रत्यक्ष के क्षण मे

---

[1] सन्तानान्तरसिद्धि में धर्मकीर्ति अपने आपको विज्ञानवादी बतलाता है। यह अहंमात्र-वाद पर अच्छा निबन्ध है। किन्तु उसके न्यायबिन्दु को न्यायबिन्दु टीकाटिप्पणीकार ने सौत्रान्तिकवाद का ग्रन्थ बतलाया है (पृ० १६) जो ठीक ही प्रतीत होता है।

[2] न्यायबिन्दु के अन्य टीकाकारों, विनीतिदेव और शान्तभद्र (७वीं शताब्दी) के मतो का साराश धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका की टिप्पणी "न्यायबिन्दु टीका टिप्पणी" में उद्धृत अवश्य मिलते हैं पर ये ग्रन्थ अब हमे उपलब्ध नही हैं।

जो पदार्थ रहता है वह दूसरे क्षण मे वैसा नही रहता। किन्तु समान पदार्थों की उपस्थिति की दृष्टि से हम कह सकते है कि नीले पदार्थ के प्रथम प्रत्यक्ष के समय जो नीलत्व की प्रतीति होती है वह अन्य नीले पदार्थों के अपर प्रत्यक्षो द्वारा प्रमाणित होती है इसलिए नीलत्व का प्रत्यक्ष प्रमाणित हो जाता है (नीलादौ य एव सतान: परिछिन्नो नीलाजनेन स एव तेनप्रापित. तेन नीलाजन प्रमाणम्)।[1]

जब यह कहा जाता है कि सम्यक् ज्ञान पुरुषार्थ के लिए आवश्यक है या इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए सहायक और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति मे बाधक है तो इसका अर्थ यह नही है कि सम्यक् ज्ञान इष्ट प्राप्ति का सीधा कारण हो जाता है। वस्तुत: किसी भी प्रत्यक्ष द्वारा भूत अनुभवों की स्मृति जगती है उससे इच्छा पैदा होती है, इच्छा से बाह्यरूप प्रयत्न शुद्ध होता है और उसके फलस्वरूप इष्ट वस्तु का अधिगमन होता है। इस दृष्टि से पदार्थ के अधिगमन का सीधा कारण सम्यक् ज्ञान नही है, वह इष्ट पदार्थ की उपस्थिति को सीधे संकेतित करता है। किन्तु उपस्थिति मात्र से कोई पदार्थ जिज्ञासा की वस्तु नही बन जाते। प्रत्यक्ष द्वारा उपस्थापित पदार्थ की उपलब्धि के सबब से ही वह जिज्ञासा का विषय बनता है।

धर्मकीर्ति द्वारा प्रत्यक्ष को उपस्थिति बताया गया है जो पदार्थ द्वारा ही उत्पादित होती हो और अन्य नामो अथवा कल्पनाओ से विरहित तथा अभ्रात हो (कल्पनापोढम-भ्रान्तम्)।[2] इस परिभाषा से यद्यपि प्रत्यक्ष का स्वरूप वर्णित नही होता किन्तु यह उस शर्त को स्पष्ट करती है जो प्रत्यक्ष के सही होने के लिए पूरी होनी चाहिए। प्रत्यक्ष अभ्रात नही होना चाहिए यह कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई उस ज्ञान के मुताबिक प्रयत्न मे प्रवृत्त हो तो उस प्रत्यक्ष द्वारा उपस्थापित पदार्थ की उपलब्धि मे असफल न हो (तस्मादग्राह्यो अर्थे वस्तुरूपे यद्विपर्यस्त तदभ्रान्तमिह वेदितव्यम्)। यह कहा गया है कि सही प्रत्यक्ष नामो से (कल्पना या अभिलाप) अरोढ नही होनी चाहिए। यह शर्त इसलिए जोडी गई है कि पदार्थ द्वारा सीधे प्रस्तुत अर्थों के अलावा

---

[1] न्यायबिन्दु टीका टिप्पणी, पृ० ११।

[2] दिङ्नाग (५०० ई०) के 'प्रामाणसमुच्चय' (संस्कृत मे अनुपलब्ध) मे दी हुई सर्व-प्रथम परिभाषा थी "कल्पनापोढम्।" धर्मकीर्ति के अनुसार यह निर्विकल्पक ज्ञान है जिसमे उस पदार्थ की प्रतिमा मात्र होती है जिसे इन्द्रियो के सम्मुख उपस्थापित किया जाता है और जो प्रत्यक्ष मे उपस्थापित वस्तुगत, ठोस तत्व है। सविकल्पक ज्ञान वह है जो मन की चिन्तनात्मक क्रिया द्वारा निर्मित होता है और जिसमे किसी पूर्वानुभूत विषय की प्रत्यभिज्ञा होती है। इसे इन्द्रियो के सम्मुख उपस्थापित वस्तुगत पदार्थ का सही चित्रण, ज्ञान या प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता।

अन्य बातों को छोडा जा सके। पदार्थ को नाम तब दिया जाता है जब उसे स्मृति के द्वारा बुद्धि में इस प्रकार सम्बद्ध कर लिया जाय कि यह वही पूर्व मे प्रत्यक्षीकरण पदार्थ है ऐसा बोध होने लगे। इसे प्रत्यक्ष के विषय द्वारा सीधे उत्पादित अर्थ नही कहा जा सकता। इन्द्रियाँ पदार्थों को उनसे सन्निकृष्ट होने के कारण उपस्थापित करती हैं और पदार्थ इन्द्रियो द्वारा सम्पर्क मे आने पर उसी रूप मे उपस्थित होते है जैसे वे हैं किन्तु स्मृति या नाम-साधन ऐसी चीज है जो पदार्थों द्वारा सीधे प्रस्तुत नहीं की जाती क्योकि उसमें पूर्वानुभवो का सम्बन्ध निहित रहता है जो प्रत्यक्ष से सीधे सन्निहित नही होता (पूर्वदृष्टापरदृष्ट चार्थमेकीकुर्वत् विज्ञानं असन्निहित विषयं पूर्वदृष्ट्या सन्निहितत्वात्)। समस्त भ्रमात्मक प्रत्यक्षो मे बाहरी अथवा अंदरुनी शारीरिक कारणों से इन्द्रिय प्रभावित होते है। यदि इन्द्रियाँ असम्यक् नहीं हैं तो वे पदार्थ की सही प्रतीति अवश्य कराएँगी। प्रत्यक्ष का तात्पर्य यही है कि इन्द्रियो के द्वारा पदार्थ को अपने ही रूप मे, अपने ही लक्षण की सही उपस्थिति कराना (स्वलक्षणं)। अर्थ के साथ ज्ञान का सारूप्य ही प्रमाण है (अर्थेन सह यत्सारूप्य सादृश्यमस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणमिह) यहाँ यह आपत्ति होती है कि यदि हमारा ज्ञान बाह्य पदार्थ के समान ही है तो यह समानता उपस्थिति से विभिन्न होगी और प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जाएगा। किन्तु समानता उस ज्ञान से विभिन्न नही है जो पदार्थ के समान प्रतीत होता है। उनके सारूप्य के कारण ही उस पदार्थ को ज्ञान का विषय मानते हैं (तदिति सारूप्य तस्य वशात्)। तभी उस पदार्थ का प्रत्यक्ष सम्भव होता है। चूंकि हमे नीलत्व का ज्ञान है इसीलिए हम नीले पदार्थ के प्रत्यक्ष का भान करते है। नीले पदार्थ के प्रत्यक्ष की समानता का भान तथा प्रत्यक्ष मे नीलत्व की प्रतीति के फल में कार्य कारण सम्बन्ध नही है किन्तु व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव सम्बन्ध है। इस प्रकार ज्ञान के विषय का सारूप्य बताने वाला ज्ञान तथा ज्ञान के रूप में ज्ञेय वस्तु की प्रतीति का फल देने वाला ज्ञान एक ही है, उनमे विरोध नही है (तत एकस्य वस्तुन· किन्चिद् रूप प्रमाण किंचित् प्रमाण फले न विरुध्यते) पदार्थ के साथ इसी सारूप्य के कारण ही पदार्थ का सही ज्ञान प्रमाणित होता है (व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यम्), इस प्रकार व्यवस्थापक के द्वारा व्यवस्थाप्य का ज्ञान होता है अर्थात् हम ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष की पदार्थ से समानता के प्रमाण द्वारा किसी पदार्थ विशेष के नीलत्वादि ज्ञान की प्राप्ति, जो प्रमाण-फल है, उसे पाते है। यदि ज्ञान और उसके विषय मे यह सारूप्य नही होता तो हम पदार्थ और ज्ञानफल मे भेद ही न कर पाते (सारूप्यमनुभूत व्यवस्थापनमत्र हेतु)। पदार्थ अपने से सरूप ज्ञानफल पैदा करता है और इसी सारूप्य के कारण सम्यक् ज्ञान द्वारा उपस्थापित पदार्थ का बोध होता है।[1]

---

[1] यह दुर्भाग्य की बात है कि न्यायबिन्दु, न्यायबिन्दु टीका और न्यायबिंदु-ओकाटिप्पणी (सेंटपीटर्सबर्ग १६०६) के अलावा इस महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष सिद्धान्त पर कोई साहित्य

अनुमान का सौत्रांतिक सिद्धान्त[1]

धर्मकीर्ति तथा धर्मोत्तर द्वारा परिभाषित सौत्रांतिक सिद्धान्त मे जो कि सम्भवत. संस्कृत मे उपलब्ध प्रणालीबद्ध बौद्धतर्क का एकमात्र आगार है, अनुमान के दो भेद किए गए है, स्वार्थानुमान (स्वय अपने आप के लिए अथवा अपने ज्ञानार्थ तर्क करते हुए व्यक्ति द्वारा किया गया अनुमान) और परार्थानुमान (शास्त्रार्थ मे दूसरो को कायल करने के लिए हेतु वादो द्वारा दिया गया अनुमान)। प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की तरह ही अनुमान का प्रामाण्य भी बाह्य जगत् मे वस्तुत. विद्यमान पदार्थों की समानता पर निर्भर है। जैसे प्रत्यक्ष बाह्य वस्तु सत्य के सारूप्य को बतलाता है वैसे ही अनुमान भी उसी पर निर्भर है। जिस प्रकार नीलत्व के प्रत्यक्ष का प्रामाण्य प्रत्यक्षीकृत नील पदार्थ से उसके सारूप्य पर निर्भर है उसी प्रकार नीलत्व के अनुमान का प्रामाण्य भी अनुमित बाह्य पदार्थ से सारूप्य पर निर्भर है (सारूप्य वशाद्धितन्नीलप्रतीतिरूप सिध्यति)।

जिस हेतु अथवा आधार पर (लिंग से) अनुमान किया जाता है वह ऐसा होना चाहिए कि उन मामलो मे उपस्थित हो जहाँ अनुमेय वस्तु उपस्थित हो और उन मामलों में अनुपस्थिति हो जहाँ वह नही हो। जहाँ उस हेतु (लिंग) का सही होना इन दोनो (अन्वय-व्यभिचार) शर्तों को देखकर प्रमाणित हो जाता है तब अनुमेय अर्थ और उस हेतु का एक सार्वदिक सम्बन्ध (प्रतिबंध) प्रमाणित हो जाता है। यही पर्याप्त नही है कि हेतु वहाँ-वहाँ विद्यमान हो जहाँ-जहाँ अनुमेय अर्थ रहता हो और वहाँ नही हो जहाँ वह अविद्यमान हो पर यह भी आवश्यक है कि वह केवल उपर्युक्त मामले मे ही विद्यमान हो। साधन और साध्य[2] के सम्बन्ध मे यह नियम अनुमान की आवश्यक

उपलब्ध नही है। न्यायबिंदु सम्भवत. उन प्राचीनतम ग्रन्थो मे से है जिनमे हमें सर्वप्रथम अर्थक्रियाकारित्व (व्यावहारिक क्रियापूर्ति को ही सही ज्ञान की कसौटी मानना) सिद्धान्त का वर्णन मिलता है। बाद मे इसे सत्ता की कसौटी मान लिया गया था जैसाकि परवर्ती हिन्दू दर्शन ग्रन्थो मे दिए गए बौद्ध दर्शन ग्रन्थो के सदर्भों से तथा रत्नकीर्ति की रचनाओं से सिद्ध होता है। अर्थक्रिया का उल्लेख नागार्जुन पर चन्द्रकीर्ति की टीका मे तथा ललितविस्तर जैसे प्राचीन ग्रन्थो मे (जैसा मुझे कैंब्रिज विश्वविद्यालय पुस्तकालय के ई० जे० टामस महोदय ने बताया) भी मिलता है पर वहाँ इसका कोई दार्शनिक अर्थ नही है।

[1] चूँकि दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय सस्कृत मे उपलब्ध नही है, हमे विकसित बौद्ध तर्कशास्त्र के बारे मे पर्याप्त ज्ञान सुलभ नही है। धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका में जो कुछ उपलब्ध है वही हमारी जानकारी का स्रोत है।

[2] तस्मान्नियमवतोरेवान्वय व्यतिरेकयो: प्रयोग. कर्तव्यो येन प्रतिबन्धो गम्यते साधनस्य साध्येन (न्यायबिन्दु टीका पृ० २४)।

शर्त है। यह सार्वदिक नैसर्गिक संबध (स्वभाव प्रतिबन्ध) दो की प्रकार स्थितियों में पाया जाता है। एक तो वह जबकि हेतु उस पदार्थ मे उसकी प्रकृति के रूप में ही निहित हो, अर्थात् जब हेतु उस जाति का बोधक हो जिसका कि अनुमेय (साध्य) अर्थ उस जाति का एक व्यक्ति हो। इस प्रकार एक मूर्ख व्यक्ति जो ऊँचे ताल वृक्षो के प्रदेश मे रहता हो यह सोच सकता है कि तालो को वृक्ष इसलिए कहा जाता है क्योकि वे लम्बे हैं–तब उसे यह बतलाना उपयोगी होगा कि तालवृक्ष छोटा हो तब भी पेड होगा क्योंकि वह ताल है–क्योकि तालत्व वृक्षत्व रूपी एक बड़ी जाति का एक भाग है। वृक्षत्व ताल में स्वभावतः निहित है–व्यक्ति में जाति तदभिन्न रूप से स्थित होती है अतः विशिष्ट व्यक्ति को देखकर उसमें उसकी जाति का अनुमान किया जा सकता है किन्तु यदि जाति उपस्थित हो तो यह आवश्यक नही कि उसमें विशिष्ट व्यक्ति भी उपस्थित होगा ही। दूसरा प्रकार वह है जबकि कार्य को देखकर उसके आधार पर कारण का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार धूम से जो कि कार्य है उसके कारण अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। इन सब अनुमानों का आधार यही है कि वह हेतु या साधन जिसके आधार पर साध्य का अनुमान किया जाता है वह साध्य या अनुमेय वस्तु से सार्वदिक रूप से सम्बद्ध रहता है–यदि ऐसा नही होता तो अनुमान का प्रकरण ही नही बनता।

यह नैसर्गिक संबंध (स्वभाव प्रतिबध) चाहे वह सामान्य और विशेष का तादात्म्य रूपी सम्बन्ध हो या कारण या कार्य का सबध हो सारे अनुमान का मूल होता है।[1] यही स्वभाव-प्रतिबन्ध अविनाभावनियम अथवा सार्वदिक संबध को निर्धारित करता है और अनुमान तर्क वाक्यो द्वारा नही अपितु सीधे उस लिंग द्वारा किया जाता है जो अविनाभावनियम से सम्बद्ध होता है।[2]

दूसरे प्रकार का अनुमान जिसे परार्थानुमान कहा जाता है अन्य समस्त लक्षणो में स्वार्थानुमान के समान ही होता है किन्तु उसमे यही अन्तर होता है कि अनुमान की प्रक्रिया को शब्दो मे तर्क वाक्यो द्वारा रखना पडता है।

---

[1] न हि यो यत्र स्वभावेन न प्रतिबद्ध स तम अप्रतिबद्धविषयमवश्यमेव न व्यभिचरतीति नास्ति तयोरव्यभिचारनियम (न्यायबिंदुटीका पृ० २६)।

[2] अविनाभाव संबध जो अनुमान का आधार है तभी सम्भव है जब लिंग तीन शर्तो की पूर्ति करता हो–१. पक्षसत्व अर्थात् पक्ष (जिसके बारे मे अनुमान किया जा रहा है) मे लिंग की सत्ता, २. सपक्षसत्व अर्थात् सपक्ष मे जिसमे साध्य रहता है, लिंग की सत्ता और, ३. विपक्षासत्व अर्थात् विपक्ष मे जिसमे साध्य नही रहता, लिंग की अनुपस्थिति। बौद्धों ने एक तर्कवाक्य मे तीन ही वचन माने है–उदाहरणार्थ पर्वत मे अग्नि है क्योंकि इसमे धूम है जैसाकि रसोईघर में होता है और जलाशय में नही होता।

सम्भवतया नवी या दसवी ईस्वी शताब्दी मे हुए प० रत्नाकर-शान्ति ने एक निबन्ध 'अन्तर्व्याप्ति-समर्थन' शीर्षक से लिखा था जिसमे उन्होंने बतलाया कि व्याप्ति केवल उन दो पदार्थों मे नही मानी जाती जिनमें लिंग अथवा हेतु होता है और जिनमें साध्य होता है किन्तु उनमे होती है जिनमे लिंग के लक्षण विद्यमान हो और जिसमे साध्य के लक्षण विद्यमान हो, दूसरे शब्दो मे धूम को रखने वाले बाहरी स्थानो जैसे महानस (रसोईघर), पर्वत मे और वह्नि को रखने वाले स्थानो में व्याप्ति नही मानी जाती बल्कि उन दो पदार्थों मे मानी जाती है जिनमे लिंग अर्थात् धूम के लक्षण हो और जिसमे साध्य अर्थात् वह्नि के लक्षण हो। व्याप्ति के लक्षण के बारे मे यह मत अन्त-र्व्याप्ति-मत कहा जाता है और साध्य और साधन रखने वाले बाह्य पदार्थों मे व्याप्ति मानने वाला मत (जो न्याय शास्त्र वाले मानते है) बहिर्व्याप्तिमत कहा जाता है। स्पष्टत: अन्तर्व्याप्ति का सिद्धान्त परवर्ती है और बौद्ध दार्शनिको की देन है।

यहाँ यह उल्लेख अप्रामगिक नही होगा कि बौद्ध तर्कशास्त्र के कुछ उदाहरण हमे कथावत्थु (२०० ई० पू०) के समय से ही मिलने लगते हैं। यमक के प्रमाणो पर ओग ने बतलाया कि अशोक के समय मे बौद्ध तर्कशास्त्र को पदो की व्याप्ति का भी ज्ञान था और परिवर्तन की प्रक्रिया का भी। उसने यह भी बताया है कि तर्क वाक्यो जैसे उदाहरण (यो यो अग्गिमा सो सो धूमवा–जहाँ अग्नि है वहाँ वहाँ धूम है), उपनयन (अय पब्बतो धूमवा, यह पर्वत धूमवान है) तथा निग्गम (तस्मादया अग्गिमा इसलिए यह अग्निमान है) का भी उसे ज्ञान था। ओग ने कथावत्थु मे उपलब्ध तर्कों की प्रक्रिया का भी थोडा संक्षिप्त विवरण दिया है। एक उदाहरण इस प्रकार है–

वादी–क्या क ख हैं (थापना)।

प्रतिवादी–हाँ

वादी–क्या ग, घ हैं (पापना)।

प्रतिवादी–नही

वादी–यदि क ख है तो (तुम्हारे अनुसार) ग घ होना चाहिए। ख को क मे सिद्ध किया जा सकता है पर घ को ग मे सिद्ध करना मिथ्या है इसलिए तुम्हारा प्रथम उत्तर खडित हुआ।

मुख्य प्राक्कल्पना का हेतु वाक्य थापना कहा जाता है क्योकि प्रतिवादी की स्थिति कि क ख है–खडन के लिए हेतुक रूप मे स्थापित की जाती है। प्राक्कल्पना के प्रधान वाक्य का फलवाक्य पापना कहा जाता है क्योकि यह हेतु वाक्य से नि.सृत है। निष्कर्ष को रोपणा कहा जाता है क्योकि प्रतिवादी का नियमन किया जाता है। एक अन्य उदाहरण–

"यदि घ ग से निःसृत है तो ख क से निःसृत होगा पर तुमने क को ख सिद्ध किया इसलिए क ख सिद्ध हो सकता है किन्तु ग या घ सिद्ध नही हो सकता यह गलत है।" यह पतिलोम, विपरीत या अप्रत्यक्ष पद्धति है जो अनुलोम या प्रत्यक्ष पद्धति (पहले उदाहरण) से विभिन्न है। दोनो मे निष्कर्ष सिद्ध किया जाता है। किन्तु यदि हम मुख्य प्राक्कल्पना को अनुलोम पद्धति मे बदल दे तो वह यूं होगी-"यदि क ख है तो ग घ है। लेकिन क ख है इसलिए ग घ है।" इस अप्रत्यक्ष पद्धति से प्रतिवादी का द्वितीय उत्तर पुनः स्थापित हो जाता है।[1]

क्षणिकवाद का सिद्धान्त

रत्नकीर्ति ने (६५० ईस्वी) समस्त सृष्टि (सत्व) की क्षणिकता सिद्ध करने का प्रयास किया था, पहले तो अन्वयव्याप्ति द्वारा फिर व्यभिचार व्याप्ति द्वारा यह सिद्ध करते हुए कि वस्तुओ के नित्य होने की कल्पना से कार्यों की उत्पत्ति सिद्ध नही की जा सकती इसलिए क्षणिकवाद को मानना ही एकमात्र मार्ग है। सत्व की परिभाषा अर्थ-क्रियाकारित्व (किसी के उत्पादन की शक्ति) के रूप मे की गई है। अन्वय व्याप्ति के पहले तर्क को इस प्रकार रखा जा सकता है-"जो भी कुछ सृष्टि में है वह क्षणिक है, अपने सत्य के रूप मे, जैसे घडा। प्रत्येक वस्तु जिसकी क्षणिकता के बारे मे हम विमर्श कर रहे है सत् है अत क्षणिक है।" यह नही कहा जा सकता घडा जिसे हमने सत् के उदाहरण के रूप मे चुना है क्षणिक नही है, क्योकि घडा इस क्षण मे कुछ कार्यों की उत्पत्ति कर रहा है, यह नही कहा जा सकता कि ये सब भूत और भविष्य मे समान है या यह कि भूत और भविष्य मे इसके कोई परिणाम नही हुए क्योकि प्रथम असभव है क्योकि जो परिणाम अभी हो रहे है भविष्य मे नही हो सकेगे, दूसरा इसलिए नही कि यदि इसमे परिणाम उत्पन्न करने की क्षमता है तो ऐसा करना बन्द नही करेगा, उस स्थिति मे हम यह भी मान सकते हैं कि इस वर्तमान क्षण मे भी कोई परिणाम नही होगे। यदि किसी मे किसी समय किसी को उत्पन्न करने की क्षमता है तो वह अवश्य ऐसा करेगा। यदि वह एक क्षण मे ऐसा करता है और दूसरे क्षण मे ऐसा नही करता तो उससे यह सिद्ध होगा कि विभिन्न क्षणो मे पदार्थ विभिन्न थे। यदि यह माना जाता है कि उत्पत्ति की प्रकृति अलग-अलग क्षणो मे विभिन्न है तो उन दो क्षणो मे वस्तु भी विभिन्न होगी क्योकि एक वस्तु मे दो विरोधी लक्षण नही रह सकते।

क्योकि घडा वर्तमान क्षण मे भूत और भविष्य के क्षणो का कार्य नही करता, वह ऐसा कर भी नही सकता, इसलिए कि यह घडा भूतकाल के और भविष्य के घडे

---

[1] देखें : कथावत्थु (पाइन्ट्स आव कन्ट्रोवर्सी) के राइस डेविड्स कृत अनुवाद की भूमिका।

से अभिन्न नही है क्योंकि घड़े मे शक्ति है भी और शक्ति नही भी है यह तथ्य सिद्ध करता है कि दो क्षणों मे वह घडा एक और अभिन्न नहीं था (शक्ताशक्तस्वभावतया प्रतिक्षणम् भेदः)। अर्थ-क्रियाशक्ति जो सत्व का ही दूसरा नाम है, क्षणिकता से सर्वाधिक रूप से सम्बद्ध है (क्षणिकता व्याप्त)।

न्याय दर्शन इस सिद्धान्त का विरोध करता है और वह है कि जब तक किसी पदार्थ के कार्य को हम ज्ञात नही करते तब तक उसकी शक्ति का ज्ञान नही हो सकता और यदि कार्यों के उत्पादन की शक्ति को ही सत्व या सत्ता माना जाय तो कार्य की सत्ता या सत्व तब तक ज्ञात नही हो सकता जब तक उसके द्वारा दूसरा कार्य उत्पन्न न कर दिया जाय और उसके द्वारा तीसरा। इस प्रकार आगे चलते जाएँगे। चूँकि ऐसा कोई सत्व नही है जिसमे कार्य के उत्पादन की शक्ति नही हो और यह शक्ति यदि केवल अनन्त शृंखला के रूप मे ही प्रकट या ज्ञात हो सकती है अत सत्व का ज्ञान असभव होगा, और सत्व के लक्षण के रूप मे कार्य के उत्पादन की शक्ति को सिद्ध करना भी असभव होगा। दूसरे, यदि सभी वस्तु क्षणिक हो तो क्षणिकता अथवा परिवर्तन का ज्ञान या प्रत्यक्ष करने वाला कोई स्थायी द्रष्टा भी नही होगा और फिर जब कोई चीज स्थायी नही है तो किसी भी प्रकार के अनुमान करने के लिए भी कोई आधार नही होगा। इसका उत्तर रत्नकीर्ति यों देता है कि सामर्थ्य खडन नही किया जा सकता। क्योकि खडन मे भी सामर्थ्य स्वतः प्रकट हो जाएगा। अन्वय या व्यभिचार द्वारा व्याप्ति की सिद्धि के लिए किसी स्थायी द्रष्टा की आवश्यकता नही है, क्योंकि अन्वय की कुछ शर्तों मे अन्वय की व्याप्ति का ज्ञान निहित है और दूसरी स्थितियो मे व्यभिचार की व्याप्ति का ज्ञान। अगले क्षण मे व्याप्ति का ज्ञान प्रथम क्षण की स्थितियों के अनुभव को भी अपने आप मे निहित रखता है। इसी प्रकार हम ज्ञान करते है। किसी स्थायी द्रष्टा की आवश्यकता नही है।

बौद्ध दर्शन मे सत्व की परिभाषा वस्तुतः सामर्थ्य है। इसे हम यों समझते है कि सभी सिद्ध उदाहरणों मे सत्ता का लक्षण केवल सामर्थ्य द्वारा ही दिया गया है, बीज अकुर के उत्पादन करने का सामर्थ्य ही है और यदि इस सामर्थ्य के लिए भी आगे के कार्यों के उत्पादन करने का सामर्थ्य अपेक्षित हो तो यह तथ्य जो परिज्ञात है फिर भी रहेगा ही कि बीज का सत्व अकुर के उत्पादन के अतिरिक्त कुछ भी नही है और इस प्रकार[1] अनवस्था दोष नही होगा। यद्यपि सभी वस्तुएँ क्षणिक है फिर भी हम

---

[1] दोषात्मक अवस्था तथा अदुष्ट अनवस्था के बीच विभेद भारतीय दार्शनिकों को ईसा की छठी या सातवी शताब्दी से ही ज्ञात था। जयन्त ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमे इन दोनो का भेद स्पष्ट किया गया है।

—न्यायमंजरी पृष्ठ २२।

तब तक व्याप्ति ग्रहण कर सकते है जब तक कि उनके (साध्यसाधन के) प्रत्यक्ष रूप विभिन्न हो जाते (अतद्रूप-परावृत्तयोरेव साध्यसाधनयोः प्रत्यक्षेण व्याप्ति ग्रहणात्)। दो चीजो में (जैसे वह्नि और धूम) व्याप्ति का ग्रहण उनकी पूर्ण समानता पर आधारित होता है, अभिन्नता पर नही।

क्षणिकवाद के विरुद्ध एक आपत्ति यह उठाई जाती है कि कारण द्वारा कार्य की उत्पत्ति किए जाने के पूर्व अनेक साधनो का समवाय आवश्यक है जैसे बीज द्वारा अंकुर की उत्पत्ति होने से पूर्व मिट्टी, जल आदि अनेक तत्व आवश्यक है इसलिए यह सिद्धान्त असफल है। इसका उत्तर रत्नकीर्ति यो देता है कि वास्तव में यह स्थिति नहीं है कि बीज पहले होता हो और उसके बाद अन्य साधनो के साहाय्य से कारणों की उत्पत्ति करता हो, वस्तुतः एक विशेष बीज क्षण की यह विशिष्ट शक्ति है कि यह एक सस्थिति और उन स्थितियो को तथा कार्य अर्थात् अंकुर को भी एक साथ जन्म देता है। एक विशिष्ट बीज-क्षण ऐसी विशिष्ट शक्ति किस प्रकार प्राप्त करता है यह अन्य कारणिक क्षणो पर, जो उसके पूर्ववर्ती थे और जिन पर वह निर्भर है, आधारित होता है। रत्नकीर्ति इस ओर ध्यान दिलाना चाहता है कि जिस प्रकार एक प्रात्यक्षिक क्षण अनेक पदार्थों का बोध करा देता है उसी प्रकार एक कारणिक क्षण अनेक कार्यों की उत्पत्ति करा सकता है। इस प्रकार वह सिद्ध करता है कि 'जो भी सत् है वह क्षणिक है' यह सिद्धान्त सिद्ध एवं निर्दोष है।

रत्नकीर्ति के तर्कों के दूसरे भाग पर विशेष विस्तार आवश्यक नही है जिसमें वह कहता है कि कार्यो की उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं की जा सकती जब तक हम यह न मान लें कि सब वस्तुएँ क्षणिक है, क्योकि यह न्याय के सिद्धान्तों के खंडन मात्र के लिए लिखा गया है बौद्ध दर्शन के विवेचन की दृष्टि से नही।

क्षणिकवाद को बौद्ध तत्व-मीमासा के सीधे परिणाम के रूप में सामने आना चाहिए था किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि प्राक्तन पाली साहित्य मे यद्यपि समस्त धर्म परिवर्तनशील माने गए थे किन्तु वे सब क्षणिक भी है (क्षणिक अर्थात् एक क्षण के लिए ही विद्यमान) यह उनमे कही वर्णित नही है। अपने ग्रन्थ "श्रद्धोत्पादशास्त्र" में

मूलक्षतिकरोमाहुरनवस्थां हि दूषणम्।
मूलसिद्धौ त्वरुच्यापि नानवस्था निवार्यते ॥

जिस अनावस्था को मूल प्रतिपाद्य के मार्ग मे मानना अनिवार्य हो जाता है और जो प्रतिपाद्य की क्षति करती है वह दोष है किन्तु यदि मूल अनवस्था से बच जाता है, उसकी सिद्धि अक्षुण्ण रहती है तो अरुचिकर होने पर भी अनवस्था में कोई दोष नही होता।

अश्वघोष ने सभी स्कंधों को क्षणिक बतलाया है (सुजुकीकृत अनुवाद पृ० १०५)। बुद्ध घोष ने "विसुद्धिमग्ग" में स्कंधों का चिन्तन क्षणिक के रूप में किया जाना बताया है। ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर ११वी शताब्दी तक इस सिद्धान्त पर तथा अर्थ क्रियाकारित्व के सिद्धान्त पर सौत्रांतिकों और वैभाषियों ने पर्याप्त विवेचन और विचारमंथन किया। इस अवधि का न्यायसाहित्य और वेदान्तसाहित्य इन वादों के खंडन-मंडन से भरा पड़ा है। बौद्ध दर्शन में क्षणिकवाद का विवेचन उपलब्ध है वह रत्नकीर्ति की लेखनी से ही प्रसूत है। इस वाद के समर्थन में उसने जो मुख्य बिन्दु बतलाए है उनका कुछ विवेचन ऊपर किया गया है, अधिक विशद विवेचन इस काल के महत्वपूर्ण न्याय ग्रन्थो जैसे न्यायमजरी, तात्पर्य-टीका (वाचस्पतिमिश्र कृत) आदि मे उपलब्ध हो सकता है।

बौद्धदर्शन ने कभी किसी वस्तु को स्थायी नही माना है। इस वाद के विकास के साथ इस तथ्य को हम और भी बद्धमूल पाते है। एक क्षण में पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं और दूसरे क्षण मे नष्ट हो जाते है। जो भी सत्ता मे है, सभी क्षणभंगुर है। ऐसा कहा जाता है कि स्थायिता का हमारा सिद्धान्त स्व या आत्मा की स्थायिता की धारणा पर आधारित होता है, बौद्धदर्शन 'स्व' को ही स्थायी नही मानता। 'स्व' के रूप में हम जिसे देखते है वह केवल विचारों, भावनाओ तथा सक्रिय प्रवृत्तियो जो किसी क्षण विशेष मे प्रतिभासित होती है, का एक समवाय मात्र है। अगले क्षण ये तिरोहित हो जाती है और उनसे निःसृत अन्य भावनाएँ और प्रवृतियाँ प्रतिभासित होती है। इस प्रकार वर्तमान विचार की एकमात्र चिन्तक है। भावनाओ, प्रत्ययो और क्रियारूप प्रवृत्तियों से परे कोई 'स्व' या आत्मा नही है। इसका समवाय ही 'आत्मा' के एक भ्रमात्मक प्रत्यय की सृष्टि के लिए उत्तरदायी है। किसी क्षण विशेष मे इस समवाय द्वारा आत्मा का अहसास जन्मता है और चूंकि अगले क्षण ये भावना, प्रत्यय आदि बदल जाते है अतः स्थायी आत्मा जैसी कोई चीज नही हुई।

यह तथ्य कि "मुझे स्मरण है कि मैं चिरकाल से निरन्तर विद्यमान हू" इस बात को सिद्ध नही कर देता कि चिरकाल से एक स्थायी आत्मा भी विद्यमान है। जब मैं कहता हूं कि 'यही वह पुस्तक है', मैं इस पुस्तक को अपनी आंख से वर्तमान क्षण मे देखता हूं किन्तु यह बात कि यह पुस्तक वही पुस्तक (जो कि मेरी स्मृति मे इस समय है)–इन्द्रिय (आंख) गम्य नहीं है। वह पुस्तक स्मृतिगत किसी भूतकालिक पुस्तक का द्योतन करती है जबकि यह पुस्तक आंख के सामने है। इस प्रकार स्थायिता की सिद्धि करने के लिए प्रत्यभिज्ञा की जो भावना काम मे लाई जाती है वह स्मृतिगत किसी पदार्थ में जो भूतकालिक है और सुतरां विभिन्न है, वर्तमानकालिक और इन्द्रियगम्य

किसी पदार्थ का भ्रम पैदा करने के कारण जन्म लेती है।[1] यह बात न केवल बाह्य पदार्थों की प्रत्यभिज्ञा और स्थायिता पर घटित होती है बल्कि आत्मा के स्थायित्व की धारणा पर भी लागू होती है क्योंकि आत्मा प्रत्यभिज्ञा स्मृति में उत्थित कुछ प्रत्ययों या भावनाओं के साथ वर्तमान क्षणगत तत्समान भावनाओं या प्रत्ययों का घपला कर देने से उद्भूत होती है। किन्तु चूँकि स्मृति भूतकालिक प्रत्यक्ष के पदार्थों को ही भासित करती है और प्रत्यक्ष वर्तमानकालिक पदार्थ को भासित करती है—इन दोनों को मिला देने से (घपला कर देने से) प्रत्यभिज्ञा सिद्ध नहीं होती। हर क्षण संसार का हर पदार्थ विनाश और तिरोधान की प्रक्रिया से गुजरता रहता है फिर भी पदार्थ स्थायी जैसे लगते हैं और बहुधा विनाश की क्रिया भासित नहीं होती। हमारे केश और नख बढते हैं, काटे जाते हैं किन्तु हमे लगता है कि ये वही केश हैं, वही नख हैं जो पहले थे। पुराने केशों और नखों की बजाय नए उग आते हैं पर लगता है ये वही पुराने हैं। इसी प्रकार ऐसा होता है कि पुराने पदार्थों की बजाय हर क्षण ठीक उन्हीं के समान नए पदार्थ उद्भूत होते रहते हैं। पुराने पदार्थ अगले क्षण नष्ट होते रहते है किन्तु ऐसा लगता है कि ये वही पुराने पदार्थ अस्तित्व में हैं।[2] जिस प्रकार मोमबत्ती की लौ हर क्षण पृथक् होती है किन्तु हमे लगता है कि यह वही लौ है जो पहले थी—उसी एक लौ का हम प्रत्यक्ष कर रहे है ऐसा लगता है उसी प्रकार हमारे शरीर, प्रत्यय, भावनाएँ तथा समस्त बाह्य पदार्थ जो हमारे चारों ओर हैं, हर क्षण नष्ट होते रहते है और नए पदार्थ उसके अनुवर्ती क्षण मे उद्भूत होते रहते हैं पर जब तक नए पदार्थ उनसे पूर्ववर्ती पदार्थों के समान होते है तब तक हमे ऐसा लगता है कि ये वही पदार्थ हैं और विनाश जैसी कोई वस्तु नही हुई।

क्षणिकवाद का सिद्धान्त और अर्थक्रियाकारित्व का सिद्धान्त

ऐसा लगता है कि बौद्ध दर्शन के दृष्टिकोण से किसी पदार्थ या प्रघटना (सवृति) को विविध लक्षणो के समुदाय के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है।[3] जिसे हम पदार्थ कहते है वह विविध, विभिन्न लक्षणो का संघात है जो अन्य सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों के रूप मे प्रतिभासित अन्य पदार्थों को प्रभावित अथवा निर्धारित करते हैं।

---

[1] देखें, बौद्धो का प्रत्यभिज्ञानिरास, न्यायमंजरी (वी० एस० सिरीज, पृ० ४४६) तथा आगे।

[2] देखें, गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका, पृ० ३०, एवं न्यायमंजरी (वी० एस० संस्करण, पृष्ठ ४५०)।

[3] तुलनीय: मिलिन्दपन्ह २/१/१ रथ की निदर्शना।

जब तक किसी समुदाय के घटक तत्वो के लक्षण समान रहते हैं, उस समुदाय को समान कहा जा सकता है और ज्योंही उन लक्षणों में से किसी के स्थान पर नए लक्षण पैदा हो जाते हैं तो उस समुदाय को नया कहा[1] जाता है। सत्ता अथवा किसी पदार्थ के होने का तात्पर्य है कि उसके लक्षण समुदाय द्वारा क्या कार्य किया जाता है अथवा उस समुदाय द्वारा अन्य समुदाय पर क्या प्रभाव डाला जाता है। इसे ही संस्कृत मे अर्थ क्रियाकारित्व कहा जाता है जिसका अनुवाद होगा कार्यों को करने की शक्ति अथवा किसी प्रकार का उद्देश्य।[2] सत्ता अथवा होने का मापदण्ड ही यही है कि कुछ विशिष्ट क्रियाओ का सम्पादन-अथवा-सत्ता का तात्पर्य यही है कि किस प्रकार एक विशिष्ट प्रभाव या कार्य सम्पादित होता है (अर्थ-क्रिया)। जिससे इस प्रकार की अर्थ-क्रिया का प्रादुर्भाव होता है उसी पदार्थ को सत् या सत्ताशील कहा जाता है। कार्य मे इस प्रकार जो परिवर्तन निष्पादित होता है उसका परिणाम होता है सत्ता में भी उसी प्रकार का परिवर्तन। वह परिवर्तन जो इस समय निष्पादित हुआ है, इससे पूर्व ठीक

---

[1] तुलनीय: गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका, ए० एस० संस्करण, पृ० २४,२८ तथा न्यायमजरी, वी० एस० संस्करण, पृ० ४४५, तथा रत्नकीर्ति की क्षणभगसिद्धि पर शोधपत्र (सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स)।

[2] अर्थक्रियाकारित्व शब्द का यह अर्थ उस अर्थ से विभिन्न है जो हमने "प्रत्यक्ष के सौत्रातिक सिद्धान्त" अध्याय मे समझा था। किन्तु अर्थ का यह विकास रत्नकीर्ति के ग्रन्थो मे भी उपलब्ध होता है और न्याय के उन ग्रन्थो मे भी जिनमे इस बौद्ध सिद्धान्त का उल्लेख है। विनीतदेव (सातवी ईस्वी सदी) ने "अर्थ क्रियासिद्धि" शब्द का अर्थ लिया था किसी भी अपेक्षा की पूर्ति करना जैसे अग्नि से चाँवलो के पकाने का कार्य (अर्थ क्रिया शब्देन प्रयोजनमुच्यते पुरुषस्य प्रयोजन दारुपाकादि तस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः, अर्थ का तात्पर्य है अपेक्षा, मनुष्य की अपेक्षा जैसे काष्ठ के द्वारा अग्नि और उससे पाचन, सिद्धि का तात्पर्य है पूर्ति)। लगभग डेढ शताब्दी बाद हुए धर्मोत्तर ने अर्थ सिद्धि का अर्थ लिया था क्रिया (अनुष्ठिति) और हेय एवं उपादेय विषयो के सदर्भ मे उनका तात्पर्य निर्वचन किया था (हेयोपादेयार्थ-विषय)। किन्तु रत्नकीर्ति ने अर्थ क्रियाकारित्व शब्द का बिलकुल अलग ही अर्थ लिया है—(९५० ईस्वी)—वह शब्द जो किसी घटना या क्रिया को जन्म दे—और इस प्रकार इसे सत्व (सत्ता) के एक लक्षण या परिभाषा के रूप मे माना है। वह अपने ग्रन्थ "क्षणभगसिद्धि" (पृ० २०, २१) मे कहता है कि यद्यपि विभिन्न दर्शनो मे सत्व के विभिन्न अर्थ और परिभाषाएँ है, मैं अपनी परिभाषा सर्वमान्य रूप से प्रसिद्ध लक्षण से शुरु कर रहा हूं और वह है अर्थ-क्रियाकारित्व (किसी घटना या कार्य के उत्पादन का सामर्थ्य)। जिन किन्ही हिन्दू दार्शनिको ने अर्थ-क्रियाकारित्व सिद्धान्त का उल्लेख किया है, उन्होने इसी परिभाषा का संदर्भ दिया है जो रत्नकीर्ति का है।

वही परिवर्तन कभी नही पैदा हुआ था, न भविष्य मे उसे उत्पादित किया जा सकेगा—क्योकि ठीक वही परिवर्तन भविष्य मे कभी पैदा किया ही नही जा सकता। इस प्रकार पदार्थों द्वारा विभिन्न क्षणों मे हम मे जो परिवर्तन निष्पादित होते हैं वे समान हो सकते है किन्तु अभिन्न नही हो सकते। प्रत्येक क्षण नए कार्य और परिणाम से सम्बद्ध होता है और प्रत्येक नए परिणाम या परिवर्तन की उत्पत्ति का अर्थ होता है हर बार पदार्थ की सत्ता का तदनुरूप नए रूप मे जन्म लेना। यदि पदार्थ स्थायी होते तो काल के विभिन्न क्षणों में उनके द्वारा विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति करने का कोई कारण नही हो सकता था। कार्य मे किसी भी परिवर्तन की उत्पत्ति चाहे वह उस पदार्थ के स्वयं के कारण हो चाहे अन्य सहायक स्थितियो के समुदाय के कारण, हमे यह सिद्ध करने की ओर ले जाती है कि वह पूर्ववर्ती पदार्थ परिवर्तित हो गया है और उसके स्थान पर एक नए पदार्थ ने जन्म ले लिया है। उदाहरणार्थ, घट की सत्ता इसीलिए है कि वह अपने आप को हमारे ज्ञान में प्रतिभासित करने की क्षमता रखता है—यदि उसमें यह क्षमता नही होती तो हम यह कभी नहीं कह सकते थे कि घट है। पदार्थों की सत्ता का इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नही हो सकता कि वह हम में एक छाप या प्रतिभास पैदा करता है—यह प्रतिभास हमारे ऊपर उस पदार्थ की प्रतिभासन क्षमता के प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से हमें ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता कि पदार्थ की इस प्रकार प्रतिभास या छाप छोडने की क्षमता के अतिरिक्त (जो उस पदार्थ की आन्तरिक क्षमता है) कोई अन्य स्थायी सत्ता है जिससे वह क्षमता सबद्ध रहती है और उस क्षमता के हम पर क्रिया करने के पूर्व भी ऐसी कोई सत्ता थी। हम प्रतिभास, कार्य या क्रिया के उत्पादन करने की इस क्षमता का ही प्रत्यक्ष करते हैं और इस क्षमता की प्रत्येक इकाई को सत्ता की प्रत्येक इकाई के रूप मे परिभाषित करते हैं। चूँकि विभिन्न क्षणो मे इस क्षमता की इकाई अलग होती है अतः उन क्षणों मे उस सत्ता की इकाई भी अलग ही माननी होगी जिसका अर्थ यह हुआ कि सत्ता अलग-अलग क्षणो में पैदा होती है और इस प्रकार वह स्थायी नहीं है। सत्ताशील सभी तत्व क्षणिक है—उस क्षण मे ही स्थित रहते है जिसमे वह क्षमता कार्य करती है। सत्ता की यह परिभाषा रत्नकीर्ति द्वारा वर्णित क्षणिकता की परिभाषा की जनक है।

विभिन्न भारतीय दर्शनों द्वारा विभिन्न रूप से विवेचित कुछ सत्तामीमांसीय विषय

हम बौद्ध दर्शन का अपना विवेचन बिना उन दार्शनिक बिन्दुओं पर बौद्ध दृष्टिकोण का विचार किए समाप्त नही कर सकते जो समस्त भारतीय दार्शनिक क्षेत्रों के चिन्तन के मुख्य विषय रहे हैं। ये प्रमुखतः इस प्रकार है—१. कार्य कारण सम्बन्ध, २. अवयवी और अवयव का सम्बन्ध, ३. सामान्य और विशेष का सम्बन्ध, ४. गुण

और गुणी का सम्बन्ध, ५. शक्ति और शक्तिमान् का सम्बन्ध। कार्य और कारण के सम्बन्ध पर शंकर का विचार था कि कारण ही नित्य, स्थायी और वास्तविक है–समस्त कार्य अपने आप मे अस्थायी, मायाकृत, भ्रमगत हैं एवं अविद्याजन्य हैं। सांख्य के मत में कार्य और कारण मे कोई भेद नहीं है–केवल इतना फर्क है कि कारण केवल एक पूर्वतर स्थिति है जिसमे कुछ परिवर्तन की प्रक्रिया शुरु होने पर वही कार्य बन जाता है। कार्यकारण-सम्बन्ध का इतिहास कारण के ही कार्य रूप में परिणत होने का इतिहास है। बौद्धों के मत मे कारण और कार्य दोनो क्षणिक है अतः दोनों ही अस्थायी है। कार्य को कार्य इसलिए कहा जाता है कि उसकी क्षणिक सत्ता उसके पूर्ववर्ती कारण की क्षणिक सत्ता की समाप्ति द्वारा ही परिभाषित होती है। ऐसी कोई स्थायी सत्ता नही है जिसमे परिवर्तन होता है–बल्कि एक परिवर्तन दूसरे परिवर्तन को जन्म देता है या निर्धारित करता है। यह निर्धारण इस प्रकार होता है–"उसके होते हुए यह हुआ।" अवयवावयवि-सम्बन्ध के बारे मे बौद्ध अवयवी की सत्ता ही नही मानते। उनके अनुसार अवयब ही भ्रमात्मक रूप से अवयवी के रूप मे दिखते है। एक एक अणु एक क्षण मे उत्पन्न होता है और दूसरे क्षण नष्ट होता है और इस प्रकार "अवयवी" जैसी कोई स्थिति नही बनती।[1] बौद्धो के अनुसार कोई जाति भी नही है–केवल व्यक्ति ही है जो आते और जाते है। मेरे हाथ मे पाँच अगुलियाँ है जो अलग-अलग है और व्यक्ति है। इनमे अगुलित्व जैसी कोई जाति नही है। गुणगुणी के सम्बन्ध के बारे मे भी हमने यह देखा है कि सौत्रानिक बौद्ध किसी भी तत्व को, गुणो के अलावा या पृथग्भूत नहीं मानते। जिसे हम गुणी कहते है केवल एक ऐसी इकाई है जो सवेदन की एक इकाई को जन्म दे सकता है। बाह्य जगत् मे उतने ही व्यक्ति, या सामान्य इकाइयाँ है जितने सवेदन के क्षण हैं। एक सवेदन की इकाई के ही प्रतिनिधि या प्रतिरूप के रूप मे बाह्य जगत् मे भी एक वस्तु की इकाई होती है। हमारे द्वारा किया गया किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष इन सवेदनाओं के समवाय का ही प्रत्यक्ष है। बाह्य जगत् मे कोई तत्व या पदार्थ वस्तुत नहीं हैं, केवल अणु अथवा व्यक्ति है, प्रत्येक एक संवेदन की इकाई का रूप है–अथवा क्षमता या गुण की इकाई का जो एक क्षण मे उत्पन्न होती है और दूसरे क्षण मे नष्ट होती है। इस प्रकार बौद्ध गुण और गुणी के बीच "समवाय" सम्बन्ध जैसे किसी सम्बन्ध को नही मानते। चूंकि कोई गुणी या पदार्थ ही नही है तो उनमें समवाय सम्बन्ध मानने की आवश्यकता भी उन्हे नही है। इसी तर्क के आधार पर बौद्ध शक्ति और शक्तिमान जैसी चीजों की सत्ता भी नही मानते।

---

[1] देखें, अवयविनिराकरण (सिक्स बुद्धिस्ट ट्रैक्ट्स बिब्लियोथीका इन्डिका, कलकत्ता १९१०)।

बौद्ध चिन्तन के विकास का संक्षिप्त सर्वेक्षण

बौद्ध दर्शन के प्रारंभिक काल में चार महान् सत्यो की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया था, प्रणालीबद्ध तत्वमीमासा की ओर कम। दुःख क्या है–उसका कारण क्या है, उसकी समाप्ति कैसे होती है और उसके क्या उपाय है ? 'पतिच्चसमुप्पाद' का सिद्धान्त इसी बात की व्याख्या करने हेतु बना था कि दुःख कैसे उद्भूत होता था, उसे किसी तत्वमीमासीय विवेचना के लिए नही बनाया गया था। प्रारभिक काल मे ऐसे चरम तत्वमीमासीय विषयो की विवेचना, जैसे यह जगत् नित्य है या अनित्य, तथागत मृत्यु के बाद भी रहते है या नही, एक प्रकार की धर्म-विमुखता ही समझी जाती थी। शील, समाधि और पञ्ञा पर बहुत जोर दिया जाता था तथा 'आत्मा कही नही है' वाले सिद्धान्त को ही मानकर चला जाता था। अभिधम्मों में ऐसा कोई दर्शन नही मिलता जो सुत्ते मे नही मिलता हो। उनमे सत्तों में वर्णित विषयों को ही व्याख्याओं और उदाहरणो द्वारा समझाया गया है। लगभग २०० ई० पू० के आसपास महायान ग्रन्थो के विकास के साथ ही धम्मो की नि.सारता तथा अनावश्यकता उपदिष्ट की जाने लगी। यह सिद्धान्त जिसे नागार्जुन, आर्यदेव, कुमारजीव तथा चन्द्रकीर्ति ने अभिहित एवं पल्लवित किया पूर्वकालिक बौद्ध दर्शन का ही उपनिगमन है। यदि हम यह नही कह सकते कि जगत् नित्य है या अनित्य, तथागत मृत्यु के बाद भी रहते है या नहीं, यदि कही कोई नित्य आत्मा नही है, यदि सभी धम्म परिवर्तनशील हैं–तो जो भी कुछ हमारे चितन के लिए बच रहता है वह कुछ ऐसा ही होता है कि समस्त वस्तुएँ जो दिखाई देती है, नि·सार है और प्रतिभासमात्र हैं। ये प्रतिभास परस्पर सबद्ध जैसे दिखते है लेकिन आभास के अतिरिक्त उनमें कोई सत्य, सत्ता या वास्तविकता नही है। अश्वघोष द्वारा उपदिष्ट तथता सिद्धान्त इन दो स्थितियो के बीच झूलना सा प्रतीत होता है–एक ओर समस्त धम्मों की नि.सारता का सिद्धान्त, दूसरी ओर यह ब्राह्मण-वादी विचार कि इन नि सार धर्मों के आधार रूप मे कही कुछ और भी है। इसे ही वह तथता का नाम देता है पर वह स्पष्ट रूप से नही कह पाता कि कोई स्थायी सत्ता कही विद्यमान रह सकती है या नही। इसी काल में विकसित विज्ञानवाद सिद्धान्त भी मुझे तो शून्यवाद और तथता सिद्धान्त का मिश्रण जैसा लगता है। यदि बहुत ध्यान से देखा जाए तो यह शून्यवाद के अतिरिक्त और कुछ नही–समस्त दृश्य संवृतियो की व्याख्या करने का यह एक प्रयत्न मात्र है। यदि सब नि.सार है तो यह पैदा कैसे हुआ ? विज्ञानवाद इसका यह उत्तर देना चाहता है कि ये सब संवृतियाँ केवल मन की उपज है, प्रत्ययमात्र हैं जो मन की अनादि वासनाओ द्वारा जनित हैं। तथता सिद्धांत में जो कठिनाई रह जाती वह यह है है कि इन समस्त संवृतिरूपी प्रत्ययों के उत्पादन करने वाली कोई वस्तुसत्ता इनके पीछे होनी चाहिए, यही कठिनाई विज्ञानवाद की भी है। विज्ञानवादी ऐसी किसी वस्तुसत्ता की स्थिति को नहीं मान सके हैं किन्तु उनका सिद्धान्त

अन्ततः इसी दिशा की ओर उन्हें ले जाता है। वे इस कठिनाई का सही समाधान नहीं दे सके है और उन्हे कहना पड़ा है कि उनका यह सिद्धान्त कही कही विधर्मी ब्राह्मणवाद के कुछ सिद्धान्तों के साथ समझौता है किन्तु सिद्धांत को अन्य धर्मानुयायियों के लिए अधिक बोधगम्य और रुचिकर बनाने हेतु ऐसा समझौता आवश्यक था। वस्तुतः इस सिद्धान्त में जिस सत्य को मानकर चला गया है वह भी सारहीन है। विज्ञानवाद पर हमे जो साहित्य उपलब्ध है वह इतना अपर्याप्त है कि हम यह नही कह सकते कि विज्ञानवादी इस कठिनाई के समाधान के लिए क्या उत्तर देते है। ये तीनों सिद्धान्त. प्राय समकालिक से हैं और शून्य, तथता और आलयविज्ञान (विज्ञानवाद) के चिन्तन और विचार मे जो कठिनता रह जाती है वह सभी मे समान है।

अश्वघोष का तथतासिद्धान्त उसके साथ ही समाप्त हो जाता है। किन्तु शून्य-वाद और विज्ञानवाद के सिद्धान्त जो लगभग २०० ई० पू० के आसपास उत्पन्न हुए लगभग ईसा की आठवी शताब्दी तक विकसित होते रहे। कुमारिल और शकर के बाद शून्यवाद के खडन हेतु इतना जोरदार विचार-विमर्श किसी अन्य स्वतत्र हिन्दू दर्शन की पुस्तक मे नही हो पाया है। ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी से कुछ बौद्ध तार्किको ने प्रणालीबद्ध तर्क का अध्ययन आरम्भ किया और हिन्दू तार्किको के सिद्धान्तो का खडन भी। संभवतः दिङ्नाग (बौद्ध तार्किक, ५०० ईस्वी) ने इस प्रकार के खडनात्मक विचारविमर्श का सूत्रपात किया अपने 'प्रमाणसमुच्चय' मे हिन्दू तार्किक वात्स्यायन के सिद्धान्तों का खडन करके। तार्किक शास्त्रार्थ की इन गतिविधियो के साथ ही दो अन्य बौद्ध दर्शन सिद्धान्तो की चिन्तनात्मक गतिविधि भी हमे देखने को मिलती है सर्वास्तिवादियो (जिन्हे वैभाषिक भी कहा जाता है) और सौत्रातिको मे। वैभाषिक और सौत्रातिक दोनो बाह्य जगत् की सत्ता मानते हैं किन्तु वे सामान्यतः हिन्दू दर्शन के न्याय-वैशेषिक और साख्य सिद्धान्तो से विपरीत तर्क ही देते है यद्यपि ये दोनो दर्शन भी जगत् की सत्ता मानते है। वसुबन्धु (४२०-५०० ईस्वी) इस परम्परा के सर्वाधिक प्रतिभाशाली नामो मे से एक है। इस समय से हम कुछ महान् बौद्ध चिन्तको की एक लम्बी परम्परा से साक्षात्कार करने लगते है जिसमे यशोमित्र (वसुबन्धु का टीकाकार), धर्म-कीर्ति (न्यायबिदु का रचयिता, ६३५ ईस्वी), विनीतदेव एव शान्तभद्र (न्यायबिन्दु के टीकाकार), धर्मोत्तर (न्यायबिन्दु का टीकाकार, ८४७ ईस्वी), रत्नकीर्ति (६५० ई०), पंडित अशोक, रत्नाकर शान्ति आदि आते है जिनकी कुछ रचनाएँ "सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स" (बिब्लियोथीका इन्डिका सीरीज कलकत्ता से प्रकाशित) मे प्रकाशित है। ये बुद्ध विचार प्रमुखत. ऐसे विषयों पर जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का प्रकार, क्षणिकवाद सिद्धान्त, अर्थ क्रियावाद जिससे सत्ता का स्वरूप स्पष्ट होता है, विवेचन करते है। जहाँ तक खंडन का ताल्लुक है, इन लोगो ने न्याय और साख्य के सत्ता-मीमासात्मक सिद्धान्तो का, उदाहरणार्थ, पदार्थ विभाजन, अभाव,

अवयवावयविसबंध, संज्ञाओं की परिभाषा आदि का, खंडन किया है। इन विषयों पर सौत्रातिकेतर तथा वैभाषिकेतर बौद्ध दार्शनिकों ने प्रारभिक काल मे कोई रुचि नही ली थी। पूर्वकालिक बौद्धो से उनकी इस बात पर तो सहमति है कि वे भी किसी स्थायी आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते पर इसको प्रमाणित करने के लिए वे अर्थ-क्रियावाद का सहारा लेते है। शंकराचार्य (८०० ई०) तक के हिन्दू दार्शनिकों के विचारों मे तथा शकर के समय तक हुए बौद्ध दार्शनिको के विचारों मे मुख्य विभेद यही है कि बौद्ध किसी स्थायी आत्मा या स्थायी बाह्य जगत् का अस्तित्व नहीं मानते। हिन्दू दर्शन कमोवेश व्यावहारिक रुख अपनाता है, यहाँ तक कि शांकर वेदान्त भी किसी न किसी रूप मे स्थायी बाह्य जगत् का अस्तित्व मान लेता है। शकर की दृष्टि मे बाह्य जगत् के पदार्थ निश्चित ही मायाकृत और भ्रमात्मक है। किन्तु उन्हें ब्रह्म के रूप मे एक स्थायी आधार मिला हुआ है जो बाह्य जागतिक और आन्तरिक बौद्धिक सवृतियों के पीछे एकमात्र वास्तविक सत्य है। सौत्रातिक भी बाह्य जगत् का अस्तित्व मानते हैं, उनका न्याय और साख्य से मतभेद उनके क्षणिकवाद-सिद्धान्त पर ही अवलम्बित है। उनके द्वारा 'आत्मा' का अस्वीकार तथा विभिन्न सत्ता-मीमांसीय विषयों पर उनका दृष्टिकोण उनके क्षणिकवाद पर आधारित है। बारहवी शताब्दी के बाद बौद्धों से शास्त्रार्थ या उनके खंडन की कोई बहुत बडी घटना हमारे ध्यान मे नही आती। इस समय के बाद प्रमुख विचार-विमर्श और खंडन-मंडन की गतिविधियाँ नैयायिको एवं शाकर वेदान्तियो तथा रामानुज और मध्व आदि सगुण वेदान्तियो के बीच ही रही।

——○○——

अध्याय ६

जैन दर्शन

जैन धर्म का उद्गम

जैन धर्म और बौद्ध धर्म की दार्शनिक मान्यताओ मे अनेक मौलिक अन्तर होते हुए भी ये दोनों धर्म अपने बाहरी रूप मे बहुत समान लगते है क्योकि ये दोनो ब्राह्मण धर्मों से पृथक् है और दोनों भिक्षुओं के धर्म के रूप मे प्रसिद्ध है। कुछ योरपीय विद्वान् तो जो जैन धर्म से केवल उसके कुछ अपर्याप्त साहित्य को पढकर ही परिचित हो पाए थे, आसानी से समझ बैठे थे कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से ही उद्गत हुआ। जैन साहित्य से अपरिचित भारतीय विद्वान् भी इसी प्रकार की गलती करते पाए जाते हैं। अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि यह विचार गलत है और जैन धर्म यदि पुराना नहीं तो बौद्ध धर्म के समकालिक अवश्य है। प्राचीनतम बौद्ध ग्रन्थो ने जैन धर्म का एक समानान्तर (प्रतिद्वन्द्वी) धर्म के रूप मे उल्लेख किया है जिसे उन्होने निगन्थ के नाम से अभिहित किया है, साथ ही उसके नेता नातपुत्र वर्धमान महावीर का भी जो जैन तीर्थंकरो मे अन्तिम था, उल्लेख किया है। जैनो के धर्म ग्रन्थो ने भी महावीर के समकालीन शासको के रूप मे उन्ही राजाओ का उल्लेख किया है जो बुद्ध के समय के शासक थे।

इस प्रकार महावीर बुद्ध के समकालीन थे किन्तु वे बुद्ध के समान न तो किसी धर्म के प्रवर्तक थे न किसी पन्थ के सस्थापक, वे केवल एक भिक्षु थे जिन्होने जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की और बाद मे एक मुनि बन गए और जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर के रूप मे विख्यात हुए।[1] उनके पूर्ववर्ती पार्श्व जो अन्तिम से पहले तीर्थंकर थे, महावीर से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए कहे जाते है और उसके पूर्ववर्ती अरिष्टनेमि महावीर के निर्वाण से चौरासी हजार वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए ऐसा कहा जाता है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' की यह कथा कि पार्श्व का एक शिष्य महावीर के एक शिष्य से मिला तथा उसने प्राचीन जैन धर्म तथा महावीर द्वारा उपदिष्ट जैन धर्म के बीच समन्वय कराया, यह सूचित करती है कि पार्श्व सम्भवत. एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

---

[1] देखे. जैन धर्म पर जैकोबी का लेख (ई० आर० ई०)।

परम्परावादी जैनों के विश्वास के अनुसार जैन धर्म अनादि है और विश्व की अनादि अनन्त सृष्टियों मे हर बार प्रत्येक सृष्टि मे अनेक तीर्थंकरों द्वारा इसका उपदेश किया जाता रहा है। इस युग मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभ थे और अन्तिम अर्थात् चौबीसवें वर्धमान महावीर। सब तीर्थंकरों को मृत्यु के उपरान्त मोक्ष की प्राप्ति हुई और यद्यपि स्वयं उन्हे सासारिक कार्यों की कोई चिन्ता नहीं थी, न उन्होंने उन पर कोई प्रभाव डाला तथापि जैन उन्हे देवता के समान पूजते हैं।[1]

जैन धर्म के दो पंथ[2]

जैनो के दो प्रमुख पन्थ हैं–श्वेताम्बर (श्वेतवस्त्रधारी) और दिगम्बर (नग्न)। दोनो मे जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तो पर सहमति है। दिगम्बरो की विशेष मान्यता यह है कि पूर्ण मुनि, जैसे तीर्थकर आदि, बिना भोजन के जीवित रहते हैं–और दूसरी यह कि देवनन्दा के गर्भ से त्रिशला के गर्भ मे महावीर को स्थानान्तरित नही किया गया था जैसाकि श्वेताम्बर मानते हैं, तसरी यह कि जो साधु कोई सम्पत्ति रखता है या वस्त्र पहिनता है वह मोक्ष प्राप्त नही कर सकता–और चौथी यह कि स्त्रियाँ मोक्ष प्राप्त नही कर सकती।[3] दिगम्बर श्वेताबरो के धर्म ग्रन्थों को मान्यता नही देते और मानते है कि वे सब महावीर के बाद विलुप्त हो गए थे। श्वेताम्बरों का कहना है कि दिगंबरो का उद्गम शिवभूति (८३ ई०) से हुआ और यह पन्थ प्राचीन श्वेताम्बर धर्म का ही एक पन्थ है, इसके पूर्व इस प्रकार के सात अन्य पथ निकल चुके थे। इसके जवाब मे दिगम्बर इस कथन को नकारते हुए कहते है कि वास्तविक धर्म को उन्होंने ही संरक्षण दिया है और मानते हैं कि अन्तिम तीर्थकर महावीर के बाद आठवें मुनि भद्रबाहु के समय मे अर्धकालको का एक पन्थ चल पडा था जिनके आचार-विचार शिथिल थे और उन्ही से श्वेताबरो का यह पथ उद्गत हुआ है (ई० ८०)। श्वेताबरो से बहुत पुराने समय से पृथक् होने के अनन्तर दिगम्बरो ने अपने विशिष्ट धार्मिक आचार बना लिए और उनके धर्म और साहित्य का इतिहास भी उनसे विभिन्न ही हो गया जबकि धर्म के मौलिक सिद्धान्तो मे दोनो मे कोई मतभेद नही है। यहाँ यह उल्लेख अप्रासगिक न होगा कि दिगम्बरो के सस्कृत ग्रन्थ श्वेताम्बरो के सस्कृत ग्रन्थो से अधिक प्राचीन है यदि

---

[1] देखे, दिगम्बर जैन 'आइकनोग्राफी' (आई. ए. XXXII १६०३) पृ० ४५६, ले जे. बर्गेज तथा 'स्पेसिमेन्स आव जिन स्कल्पचर्स फ्राम मथुरा' (एपिग्राफिया इडिका ११ पृ० ३११ से) ले० बूलर। जैकोबी का जैन धर्म पर लेख (ई. आर. ई) भी द्रष्टव्य।

[2] देखें, जैकोबी का जैन धर्म पर लेख (ई० आर० ई०)।

[3] देखे, 'षड्दर्शनसमुच्चय' मे जैनदर्शन पर गुणरत्न की टिप्पणी।

हम श्वेताम्बरो के आचार ग्रन्थों के कथन को प्रमाण मान लें। यह भी इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात है कि परवर्ती काल मे जाकर जैन धर्म के कोई ८४ विभिन्न पंथ बन गए जो कि मतमतान्तरों और आचार की सूक्ष्मताओं मे ही परस्पर भिन्न थे। इन्हें 'गच्छ' कहा जाता था। इनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण था खरतर-गच्छ जो अनेक अवान्तर गच्छों मे विभक्त हो गया था। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों के ग्रन्थो मे महावीर से लेकर बाद तक के गुरुओं की वशावली मिलती है (स्थविरावली पट्टावली या गुणावली) तथा उनके बारे में कल्पसूत्रो, और हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व आदि में अनेक कथाएँ भी मिलती हैं।

जैनों के धार्मिक एवं अन्य ग्रन्थ

जैनों के अनुसार मूलतः दो प्रकार के पवित्र ग्रन्थ थे, चतुर्दश पूर्व और ग्यारह अग। पूर्व कुछ समय तक पढ़े पढ़ाए जाते रहे पर धीरे-धीरे विलुप्त हो गए। ग्यारह अगो के रूप मे प्रसिद्ध ग्रन्थ ही वर्तमान मे उपलब्ध जैन धर्म ग्रन्थो मे प्राचीनतम है। इनके नाम हैं–आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, भगवती, ज्ञानधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृत दशा, अनुत्तरोपपातिक दशा, प्रश्न-व्याकरण और विपाक। इनके अतिरिक्त बारह उपाग,[1] दस प्रकीर्ण,[2] छ. छेद सूत्र[3] है, नादी और अनुयोग-द्वार तथा चार मूल सूत्र (उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक एव पिण्डनिर्युक्ति) भी उपलब्ध है। दिगम्बरों की मान्यता है कि इन नामो से वर्तमान मे प्रचलित ग्रन्थ नकली हैं, वास्तविक मूल ग्रन्थ तो सभी विलुप्त हो गए। जैनो के अनुसार इनकी मूल भाषा अर्द्धमागधी थी किन्तु उसमे आधुनिकीकरण के प्रयत्न होते रहे इसलिए वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थों की भाषा को जैन प्राकृत और अर्वाचीन ग्रन्थो की भाषा का जैन महाराष्ट्री कहना ही उचित होगा। इन ग्रन्थो के भाष्यो, टीकाओ और टिप्पणियो आदि के रूप मे जैन धर्म साहित्य बहुत विशाल हो गया है। इनके अतिरिक्त जैनों के अनेक ऐसे ग्रथ भी है जिनमे सस्कृत और प्राकृत में उनके धार्मिक सिद्धान्तो की विभिन्न व्याख्याएँ समझाई गई है। इन स्वतन्त्र निबन्धों की अनेक टीकाएँ भी लिखी गई है। ऐसे निबन्धों मे एक प्राचीन रचना है उमास्वाति का तत्वार्थाधिगम-सूत्र (१-८५ ई०)। परवर्ती जैन ग्रन्थो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ जिन पर यह अध्याय आधृत है, निम्नलिखित है–

---

[1] औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बुद्वीप-प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, निरयाबली कल्पावतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा।

[2] चतुःशरण, संस्तार, आतुर प्रत्याख्यान, भक्तापरिज्ञा, तन्दुलवैयाली, चण्डावीज, देवेन्द्रस्तव, गणिवीज, महाप्रत्याख्यान, वीरस्तव।

[3] निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, पचकल्प।

विशेषावश्यक भाष्य, जैन तर्कवार्तिक (शान्त्याचार्यकृत टीका सहित) नेमिचन्द्रकृत द्रव्यसग्रह् (११५० ई०) मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी (१२६२ ई०) सिद्धसेन दिवाकर का न्यायावतार (५३३ ई०), अनन्तवीर्य का परीक्षामुखसूत्र लघुवृत्ति (१०३९), प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमलमार्तण्ड (८२५ ई०), हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) का योग-शास्त्र तथा देवसूरि (१०८६-११६९ ई०) का प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार। इनके समय की जानकारी के लिए मैं विद्याभूषण कृत 'इन्डियन लॉजिक' से उपकृत हुआ हू।

यहां यह भी उल्लेख कर देना चाहिए कि जैन साहित्य मे संस्कृत और प्राकृत मे लिखित धार्मिकेतर साहित्य भी उपलब्ध है। अनेक नीतिकथाएँ (उदाहरणार्थ–समराइच्च कथा, उपमितिभव-प्रपचकथा प्राकृत मे, तथा सोमदेव का यशस्तिलक और धनपाल की तिलकमजरी), संस्कृत मे पौराणिक और काव्यमय शैली मे काव्य ग्रन्थ, प्राकृत और संस्कृत मे लिखे स्तोत आदि पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होते है। बहुत से जैन नाटक भी हैं। जैन लेखको ने भारतीय वैज्ञानिक साहित्य की विविध शाखाओ को मौलिक निबन्धो तथा विवेचनात्मक ग्रन्थों के रूप मे भी बहुमूल्य योगदान दिया है। इनमे व्याकरण, जीवनिया, छन्द.शास्त्र के ग्रन्थ, काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ और दर्शन ग्रन्थ आदि सभी है। जैनों का तर्कशास्त्र को अवदान विशेषतः उल्लेखनीय है।[1]

जैनों की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ

जैन केवल भारत मे ही बसे हुए हैं और उनकी सख्या १५ लाख से कुछ कम है। दिगम्बर अधिकतर दक्षिण भारत मे पाए जाते है किन्तु कुछ उत्तर भारत मे भी हैं, उत्तर पश्चिमी सीमान्त, पूर्वी राजपूताना तथा पजाब मे। श्वेताम्बरों के मुख्यालय गुजरात और पश्चिमी राजपूताना मे है–वैसे वे समस्त उत्तर भारत और मध्यदेशीय भारत मे मिलते हैं।

एक भिक्षु का परिग्रह, जैसाकि जैकोबी ने बताया है–केवल अत्यावश्यक वस्तुओं तक ही सीमित है–ये वस्तुएँ भी वह शिक्षा से ही प्राप्त करता है–कुछ कपड़े, एक कबल, एक भिक्षापात्र, एक दड, एक छीपी (झाड़ू) जिससे भूमि स्वच्छ की जा सके, एक कपड़े की पट्टी जिसे बोलते समय मुंह पर ढका जा सके ताकि उसमे कीटादि प्रवेश न कर सके।[2] भिक्षुणियो का भी सामान यही होता है, उनके पास कुछ वस्त्र अधिक होते हैं। दिगम्बरों की सम्पत्ति भी इसी प्रकार होती है, वे कपडे नही रखते, मयूरपख अथवा बालो की छीपी रखते है अथवा चंवर रखते है।[3] भिक्षु या तो मुंडित होते हैं

---

[1] देखे, जैनदर्शन पर जैकोबी का लेख (ई० आर० ई०)।

[2] देखें, जैकोबी का वही लेख।

[3] देखें, षड्दर्शन समुच्चय, अध्याय चौथा।

या उन्होंने उखाडकर बाल समाप्त कर दिए होते हैं। बालों को नोचकर निकाल देना अधिक उत्तम माना जाता है—कभी-कभी उसे एक आवश्यक आचार माना जाता है। भिक्षुओं के आचार बड़े कठोर होते हैं। वे केवल तीन घंटे सो सकते हैं, शेष समय तपस्या और पापों के प्रायश्चित मे, ध्यान, अध्ययन, भिक्षा (तीसरे पहर) तथा कीटादि के निवारणार्थ अपने वस्त्रों एवं अन्य वस्तुओं के ध्यानपूर्वक स्वच्छीकरण में लगाना होता है। सामान्य जनों को भिक्षुओं के आदर्श आचार का अनुकरण करने हेतु प्रयत्नशील होना चाहिए, उनसे उपदेश लेना चाहिए, स्वय व्रतबद्ध होना चाहिए। भिक्षुओं से धर्म ग्रन्थो का उपदेश देते रहने तथा उपाश्रयों (बौद्ध विहारो की तरह जैनों के पृथक् आश्रयों) मे प्रवचन करने की अपेक्षा की जाती है। अहिंसा अथवा किसी भी जीव की 'किसी भी प्रकार हिंसा न हो पाए' इस सिद्धान्त को निभाने मे पराकाष्ठा की सतर्कता भिक्षुओं के जीवन मे पूरी तरह, अपनी अन्तिम हद तक, क्रियान्वित की जाती है। सामान्य जन-जीवन को इसी ने बडी हद तक प्रभावित किया है। कोई भी जैन किसी जीव की हत्या नही करेगा, एक कीडे तक की भी नही; चाहे वह कितना भी हानिकर हो। बिना पीडा पहुचाए उसे हटा दिया जा सकता है। किसी भी जीव की हिंसा न करने के इस सिद्धात ने उन्हें कृषि जैसे उद्योगों से हटाकर केवल वाणिज्य तक सीमित रख दिया है।[1]

महावीर की जीवनी

जैनो का अन्तिम तीर्थंकर महावीर ज्ञात गोत्र का क्षत्रिय एवं वैशाली (आधुनिक बेसढ पटना से २७ मील) का निवासी था। वह सिद्धार्थ एव त्रिशला का दूसरा पुत्र था। श्वेतांबरो का मानना है कि तीर्थंकर का गर्भ जो प्रथमत ब्राह्मणी देवनन्दा मे प्रविष्ट हुआ था बाद मे त्रिशला के गर्भ मे स्थानान्तरित हो गया। जैसा हम बतला चुके है, दिगम्बर ऐसा नही मानते। महावीर के माता-पिता ने जो पार्श्व के पूजक थे उसे वर्धमान नाम दिया (वीर अथवा महावीर)। उसने यशोदा से विवाह किया तथा एक पुत्री उत्पन्न की। जब वह तीस वर्ष का था उसके माता पिता का निधन हो गया और अपने बडे भाई नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर वह भिक्षु बन गया। बारह वर्ष की तपस्या के बाद उसे ज्ञान की (केवल ज्ञान या बोध जो बौद्धो के बोधि के समान है) प्राप्ति हुई। इसके अनन्तर वह बयालीस वर्ष तक जिया और निरन्तर उपदेश करता रहा और बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय पूर्व ही उसने लगभग ४८० ई० पू० में मोक्ष प्राप्त किया।[2]

---

[1] देखे, जैकोबी का वही लेख।

[2] देखें, उवासगदसाओ का होर्नली कृत अनुवाद, जैकोबी का वही लेख तथा आजीवकों

जैन सत्तामीमांसा के मूल विचार

एक पदार्थ ही (जैसे मृत्तिका) अनेक रूप धारण कर लेती है और विभिन्न परिवर्तनों से होकर गुजरती है (जैसे घडा, तसला आदि) जैसाकि छान्दोग्य उपनिषद् में पाया जाता है, इन सब परिवर्तनो के बीच मृत्तिका स्थायी रहती है, वही सत्य है, स्वरूप और स्थितियो के परिवर्तन आभास मात्र हैं, उनकी प्रकृति और सत्ता का वर्णन अथवा प्रमाणन नहीं किया जा सकता। अपरिवर्तनीय पदार्थ (जैसे मृत्तिका) ही सत्य है, परिवर्तनशील स्थितियाँ केवल इन्द्रियो का भ्रम है; नाम रूप मात्र है।[1] जिसे हम रूप, इन्द्रियगम्यता आदि कहते है उसमे कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता, वे सब बदलते रहते है और केवल आभास मात्र है जिनके बारे मे कोई धारणा तर्क के आलोक मे नही बनाई जा सकती।

बौद्धो का मत है कि परिवर्तनशील गुणो या धर्मों का प्रत्यक्ष मात्र किया जा सकता है उनके पीछे कोई अपरिवर्तनशील आधार नही है। जिसे हम मिट्टी के रूप में प्रत्यक्ष करते है वह एक विशिष्ट धर्म मात्र है, जिसका हम घट के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं वह भी एक गुण या धर्म ही है। इन गुणो के अतिरिक्त हम किसी गुणहीन पदार्थ का प्रत्यक्ष नही करते जिसे उपनिषदो ने स्थायी और अपरिवर्तनशील कहा है। इस प्रकार स्थायी और अपरिवर्तनीय पदार्थ अज्ञान-जन्य कल्पना मात्र हैं क्योकि ससार मे समस्त दृश्य पदार्थ अस्थायी गुणो की संस्थिति मात्र है। धर्मों का मतलब यह नही होता कि उनके धर्मों के रूप मे कोई पदार्थ भी अस्तित्व मे हो क्योकि तथाकथित पदार्थ या शुद्ध द्रव्य का कोई अस्तित्व नही है, इसे न तो इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता, न अनुमित किया जा सकता। केवल क्षणिक दृश्यमान धर्म ही ससार मे विद्यमान है। प्रत्येक धर्म के परिवर्तन को नई सत्ता के रूप मे देखा जाना चाहिए।

जैसा हमने बताया, आद्य जैन बुद्ध के समकालीन थे और सम्भवत और कुछ उपनिषदो के भी। इस समस्या का उन्होंने भी अपनी दृष्टि से उत्तर दिया। उनका मत है कि यह सही नही है कि केवल द्रव्य ही सत्य है और गुण केवल मिथ्या एव भ्रमात्मक आभास है। यह भी सही नही है, जैसाकि बौद्ध कहते है, कि द्रव्य की कोई सत्ता नही है, परिवर्तनशील गुणो की ही है। ये दोनो विचार दो विभिन्न चरम दृष्टिकोण है और अनुभव विरुद्ध है। दोनो ध्रुवो के बीच सत्य कही है, जो अनुभव-गम्य होता है, अर्थात् दोनो विचारो मे थोडा सत्यांश है, पूर्ण सत्य नही है। अनुभव बताता है कि प्रत्येक परिवर्तन मे तीन तत्व है—

पर होर्नली का लेख (ई० आर० ई०)। श्वेताम्बरो का यह अभिमत है कि इसका समय ५२७ ई० पू० था। दिगम्बरो के अनुसार यह अठारह वर्ष बाद की बात है।

[1] छान्दोग्योपनिषद् ४-१।

(१) गुणों की कुछ संस्थितियाँ अपरिवर्तित प्रतीत होती हैं।
(२) कुछ नए गुण उत्पन्न होते है।
(३) कुछ पुराने गुण नष्ट होते है।

यह सच है कि वस्तुओं के गुण प्रतिक्षण बदलते रहते हैं किन्तु समस्त गुण परिवर्तित नही होते। जब घडा बन जाता है तो उसका अर्थ हुआ कि मृत्पिण्ड नष्ट हो गया और घड़ा उत्पन्न हो गया–मृत्तिका तो वही रही, स्थायी रही। अर्थात् समस्त उत्पत्तियाँ इसी प्रकार होती है कि कुछ पुराने गुण नष्ट हो जाते हैं, नए गुण उत्पन्न हो जाते है और कुछ ऐसा तत्व भी होता है जो स्थायी रहता है। मृत्तिका अपने एक रूप में नष्ट हो गई, और एक अन्य रूप मे स्थायी रही। इन अपरिवर्तित गुणों के कारण ही पदार्थ को स्थायी कहा जाता है यद्यपि उसमे परिवर्तन होते रहते है। इसलिए जब स्वर्ण, दड के रूप मे या छल्ले के रूप मे बदलता है तो स्वर्ण के जितने भी गुण हैं वे सब स्थायी रहते है और उसके रूप बदलते रहते है। इस प्रकार के प्रत्येक परिवर्तन के साथ कुछ गुण नष्ट हो जाते है और कुछ नए गुण पैदा हो जाते है। इस प्रकार यह सत्य सिद्ध होता है कि पदार्थ मे कोई ऐसा स्थायी तत्व भी रहता है जो उसके गुणो की स्थायिता मे निहित है और जिसके कारण परिवर्तनों के होते हुए भी हम उस पदार्थ या द्रव्य को उसका अपना नाम देते है। अतः सत् का स्वरूप न तो पूर्णत स्थायी है न क्षणिक और परिवर्तनशील गुणो या सत्ताओ का रूप है किन्तु दोनो के सम्मिलित रूप से वह बनता है। इस प्रकार, जैसा कि अनुभव सिद्ध है, सत् वही है जिसमे कोई ध्रुव तत्व हो, वह निरन्तर कुछ गुणो को हर क्षण गवाता रहता है और कुछ नए गुणो को पैदा करता रहता है। सत् के जैन सिद्धात में कुछ नए गुणों का ध्रुव उत्पाद और पुराने गुणो का व्यय[1] बतलाया गया है। इस दृष्टि से जैनों का दृष्टिकोण वेदान्तियो और बौद्धों के दृष्टिकोण के बीच सामान्य अनुभव के आधार पर किए समझौते पर आधारित है।

अनेकान्तवाद

स्थायी और परिवर्तनशील के समन्वय के रूप मे सत् की यह धारणा हमे जैनों के अनेकान्तवाद की ओर ले जाती है जिसे हम सापेक्ष अनेकत्ववाद कह सकते है जो उपनिषदो के चरम निरपेक्षवाद और बौद्धों के बहुतत्ववाद, दोनो से पृथक् है। जैनो के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेकान्त है। किसी भी चीज को या बात को एकान्ततः सिद्ध

---

[1] देखें, तत्वार्थाधिगमसूत्र तथा षड्दर्शनसमुच्चय में गुणरत्न द्वारा जैनदर्शन का प्रतिपादन।

नहीं किया जा सकता। कोई स्थिति चरम या निरपेक्ष नही है। सारे कथन कुछ विशिष्ट स्थितियो और सीमाओ के अधीन ही सत्य हैं। उदाहरणार्थ एक स्वर्ण पात्र को लें। एक द्रव्य के रूप मे इसकी सत्ता अणुओं के एक समवाय का स्वरूप है, वह आकाश या अन्य किसी द्रव्य के समान नही है अर्थात् स्वर्णपात्र केवल इस एक अर्थ मे द्रव्य है, प्रत्येक अर्थों मे नही, अणुओ के समवाय के रूप मे यह द्रव्य है और आकाश या काल के रूप मे यह द्रव्य नहीं भी है। यह द्रव्य है भी और नहीं भी, एक ही समय मे यह द्रव्य-अद्रव्य दोनों ही है। अब अणुओं के समवाय के रूप मे भी यह पृथ्वी के अणुओ का समवाय है यह अणु भी है और नही भी क्योकि यह जल के अणुओ का समवाय नही है। फिर, यह पृथ्वी के अणुओं का समवाय है भी और नही भी क्योंकि यह धात्विक अणुओ का रूप है, पृथ्वी के अन्य अणुओं (मिट्टी या पत्थर) का नहीं। धात्विक अणुओ का स्वरूप भी इसी सीमा तक सही है कि यह स्वर्ण धातु का है लोह धातु का नही। स्वर्ण धातु मे भी यह केवल पिघले और शुद्ध स्वर्ण के अणुओ का द्रव्य है अन्य किसी स्थिति के स्वर्ण का नही। उसमे भी शुद्ध और तपाए ऐसे सोने का है जो देवदत्त नामक सुनार द्वारा घडा गया है, यज्ञदत्त द्वारा नही। फिर, इसका उपर्युक्त द्रव्य होना भी इसी सीमा तक सही है कि यह घडे के रूप मे बनाई गई एक संस्थिति है प्याले या अन्य पात्र के रूप मे नही। इस प्रकार इन तरीको से विचार करते हुए जैन कहते है कि समस्त कथन किन्ही सीमित अर्थों मे ही सत्य है। समस्त वस्तुएँ अनन्त संख्या मे धर्म रखती है, अनन्त-धर्मात्मक है, प्रत्येक धर्म को एक विशेष अर्थ मे ही सत्य कहा जा सकता है।[1] घडे जैसा एक सामान्य पदार्थ भी अनन्त प्रकार के कथनों मे रखा जा सकता है, उसमे अनन्त धर्म रहते हैं, अनन्त दृष्टिकोणो से उन्हे देखा जा सकता है। अपने रूप मे वे सब सही है और इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ या कथन उस सीमा तक ही सत्य है, निरपेक्ष या चरम रूप से कही कुछ नहीं। इसी प्रकार स्वीकारात्मक रूप मे दरिद्रता को धनवत्ता नही कहा जा सकता, पर निषेधात्मक सबध से वह भी कहा जा सकता है। 'दरिद्र के पास धन नही है' इसमे अभाव सम्बन्ध से दरिद्र के पास भी धन है। इस प्रकार किसी न किसी सम्बन्ध से हर वस्तु से हर चीज बताई जा सकती है और उस वस्तु मे वह चीज नही भी बताई जा सकती। इस प्रकार जिन दृष्टिकोणो से वस्तु मे (जो अनन्त धर्मों और कथनो का आगार है और जिसे किसी एक दृष्टिकोण से ही हम वैसा कहते है) जिस धर्म को बताया जा रहा है या जिस वस्तु या बात के सम्बन्ध मे उसे वर्णित किया जा रहा है–जैन दर्शन मे 'नय' कहा जाता है।[2]

[1] षड्दर्शन समुच्चय मे जैन मत पर गुणरत्न की टिप्पणी द्रष्टव्य (पृ० २११ से)। तत्वार्थाधिगमसूत्र भी देखे।

[2] देखे तत्वार्थाधिगम सूत्र, तथा विशेषावश्यक भाष्य पृ० ८९५-९२३।

नयों का सिद्धान्त

वस्तुओ के बारे मे निर्धारण करते समय हमारे सामने दो प्रकार रहते है—प्रथम तो यह कि हम किसी वस्तु के विविध, अनेक धर्मों और लक्षणो को जानकर उन्हे उस वस्तु मे समन्वित रूप मे देखे—जैसे कि हम जब एक पुस्तक के बारे मे कहते है कि 'वह एक पुस्तक है' तो हम उसके लक्षणों को उससे विभिन्न करके नही देखते बल्कि उसके धर्मों और लक्षणो को उससे अभिन्न रूप मे देखते है। दूसरे यह कि हम केवल उस वस्तु के धर्मो को अलग से देखे और उस वस्तु को केवल एक सत्ता हीन, कल्पना-मात्र समझे (जैसा कि बौद्ध दृष्टिकोण है) जैसे कि एक पुस्तक के विभिन्न गुणो या धर्मो के बारे मे ही हम कथन करे और माने कि पुस्तक मे केवल उसके गुणो या धर्मों का ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है, उनसे पृथक् पुस्तक का कोई अस्तित्व नही है। इन दोनो दृष्टिकोणो को क्रमश. द्रव्यनय और पर्यायनय[1] कहा गया है। द्रव्यनय के तीन भेद है—और पर्यायनय के चार। इनमे से प्रथम भेद ही हमारे प्रयोजन से महत्वपूर्ण है। अन्य तीन व्याकरण के ही काम के है अत हम यहाँ उन्हे छोड सकते है। द्रव्यनय के तीन भेद इस प्रकार है—नैगमनय, सग्रहनय और व्यवहारनय।

जब हम किसी वस्तु को व्यावहारिक दृष्टि से देखकर वर्णित करते है तो हम अपने विचारो को बहुत स्पष्ट या असदिग्ध रूप मे रखने का कष्ट नही करते। उदाहरणार्थ, यदि मेरे हाथ मे एक किताब है और मुझसे पूछा जाता है—'क्या तुम्हारे हाथ खाली है' तो मै कहूंगा—'नही मेरे हाथ मे कुछ है।' या यह कहूगा 'मेरे हाथ मे पुस्तक है।' स्पष्ट है कि पहले उत्तर मे मैंने पुस्तक को बहुत व्यापक और सामान्य रूप मे देखते हुए 'कुछ' या किसी चीज के रूप मे बताया जबकि दूसरे उत्तर मे उसकी पुस्तक के रूप मे सत्ता वर्णित की। मैं जब पढ़ रहा होता हू तो एक पुस्तक का कोई एक विशिष्ट पृष्ठ पढ रहा होता हू पर कहता हूं 'मैं पुस्तक पढ रहा हू।' मै कागज पर कुछ अक्षर लिख रहा हू पर कहता हू, 'मै जैन दर्शन पर पुस्तक लिख रहा हू।' वस्तुत पुस्तक तो वहाँ है ही नही, कुछ खुले कागज मात्र है। इस प्रकार वस्तुओ का अत्यन्त सामान्य, व्यावहारिक रूप मे वर्णन करना जबकि हम उनकी सत्ता को एक सामान्य या व्यापक धर्म या लक्षण के रूप मे या एक विशिष्ट धर्म के रूप मे नही देखते बल्कि केवल उस रूप मे देखते है जिस रूप मे प्रथम दृष्टि मे वे हमारे सामने आती है—नैगम नय कहलाता है। यह आनुभविक दृष्टिकोण शायद इस धारणा पर आधृत है कि एक वस्तु मे अत्यन्त सामान्य से लेकर अत्यन्त विशिष्ट धर्म तक रहते है—हम एक किसी समय मे उसमे किसी एक पर ध्यान देते है और बाकी सबो को भूल

[1] स्याद्वादमजरी, पृ० १७१-१७३।

जाते हैं। जैनो के अनुसार इसी धारणा को लेकर न्याय और वैशेषिक ने अनुभव की व्याख्या की है।

संग्रहनय का अर्थ है किसी वस्तु को अत्यन्त सामान्य दृष्टिकोण से देखना। जैसे हम सभी वस्तुओ को 'सार' के रूप मे वर्णित कर सकते हैं। यह समस्त वस्तुओं का एक सामान्य, व्यापक लक्षण है। जैनो के अनुसार यह धारणा वेदान्त की है।

व्यवहारनय का दृष्टिकोण यह है कि किसी वस्तु का वास्तविक अर्थ उसके वास्तविक, व्यावहारिक अनुभव के आधार पर लिया जाना चाहिए। इसमे कुछ सामान्य और कुछ विशिष्ट धर्म समाहित हो जाएँगे जो भूतकाल से चले आ रहे है और भविष्य मे भी रहेगे यद्यपि उनमे थोडे-थोडे सामान्य परिवर्तन हर क्षण होते रहते है जो अनेको दृष्टियो से हमारे अपने व्यावहारिक अनुभवों के कारण होते है। जैसे एक पुस्तक अपने सामान्य धर्म भी रखती है जो सभी पुस्तको मे विद्यमान होगे किन्तु उस पुस्तक मे कुछ विशिष्ट लक्षण भी होगे। उसके अणु निरन्तर विनाश, परिवर्तन, पुनर्योजन आदि परिवर्तनो से गुजर रहे है किन्तु भूतकाल से यह पुस्तक के रूप मे विद्यमान है और भविष्य मे भी कुछ काल विशेष तक विद्यमान रहेगी। ये सब लक्षण मिलकर उसे 'पुस्तक' का रूप देते है जिसे हम अपने व्यावहारिक अनुभव की दृष्टि से पुस्तक कहते है—इनमे से कोई भी एक धर्म अलग करके 'पुस्तक' की धारणा के रूप मे व्यवहृत नही किया जा सकता। यह दृष्टिकोण जैनो के अनुसार वेदान्त का दृष्टिकोण है।

पर्यायनय का प्रथम प्रकार 'ऋजुसूत्र' कहा गया है। यह बौद्धो वाला दृष्टिकोण है जो किसी वस्तु की सत्ता भूत या भविष्य मे मानता ही नही है और जिसके अनुसार एक वस्तु केवल एक विशिष्ट क्षण मे विशिष्ट लक्षणो का एक समन्वय है जो उस क्षण विशिष्ट प्रकार के कार्य का उत्पादन करती है। प्रत्येक अगले क्षण नए धर्मों या गुणो का नया समवाय पैदा होता है और हमारी उस वस्तु की वास्तविक सत्ता की धारणा केवल इसी को लेकर बनाई है।[1]

'नय', जैसा ऊपर बतलाया गया है, केवल दृष्टिकोण अथवा किसी वस्तु को देखने के हमारे प्रकार का ही नाम है। इस दृष्टि से नय अनन्त है। ऊपर के चार वर्ग उनके मोटे वर्गीकरण के नमूने मात्र है। जैनो की यह मान्यता है कि न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, साख्य और बौद्ध दर्शनो ने अनुभव को ऊपर वर्णित चार प्रकारो मे से एक-एक के दृष्टिकोण से देखकर वर्णित और पारिभाषित करने की चेष्टा की है और प्रत्येक उनमे से

---

[1] पर्यायनय के अन्य प्रकार भी है जो व्याकरण और शब्द-शास्त्र के दृष्टिकोण से प्रयुक्त है, जैसे शब्दनय, समभिरूढनय तथा एव-भूतनय। देखें विशेषावयश्क भाष्य, पृष्ठ ८९५-९२३।

यह समझता है कि उसका ही दृष्टिकोण परमार्थतः सत्य है—अन्य सब दृष्टिकोणो को वह दरगुजर कर देता है। यह, उनके मत मे 'नयाभास' है और दोष है क्योंकि प्रत्येक दृष्टिकोण वस्तु को देखने के विभिन्न कोणो मे से एक ही तो हैं। एक दृष्टिकोण से देखकर बनाई धारणा एक सीमित अर्थ में और सीमित स्थितियों मे ही सत्य होगी। इसी प्रकार कथन है। एक वस्तु के बारे मे अनन्त दृष्टिकोणों को लेकर अनन्त कथन किए जा सकते है। इस प्रकार कथन, निर्धारण या परिभाषण किसी भी वस्तु के बारे मे कभी भी चरम ऐकान्तिक या निरपेक्ष नही हो सकता। उसी वस्तु के बारे मे अन्य दृष्टिकोणों से उस कथन, निर्धारण या परिभाषण से विपरीत बात भी सही हो सकती है। अतः प्रत्येक कथन का सत्य आपेक्षिक है और ऐकान्तिक रूप से असम्भव है। यदि सही रूप से उसे रखना है तो प्रत्येक कथन के पहले 'स्यात्' (शायद) लगाना चाहिए। इससे यह सकेतित हो सकेगा कि यह कथन सापेक्ष मात्र है, किसी एक प्रकार से किया गया है, एक दृष्टिकोण और सीमा के अधीन है और किसी भी दृष्टि से निरपेक्ष नही है। ऐसा कोई निर्धारण नही है जो पूर्णत सत्य हो, न कोई ऐसा है जो पूर्णत मिथ्या हो। सभी कथन एक दृष्टि से सत्य है, दूसरी दृष्टि से मिथ्या है। यह सिद्धान्त हमे "स्याद्वाद" के विवेचन की ओर ले जाता है।[1]

स्याद्वाद

स्याद्वाद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि एक वस्तु के सबध मे परस्पर विरोधी अनन्त प्रकार के विविध कथन किए जा सकते है इसलिए किसी भी नय से कैसा भी कथन कभी अन्तिमत· सत्य नही हो सकता। सभी कथन एक दृष्टि से सत्य है (शायद, 'स्यादास्ति के अर्थ मे), सभी कथन एक दृष्टि से मिथ्या है, सभी कथन एक दृष्टि से अनिश्चित, सदिग्ध और अवाच्य है (स्यादवक्तव्य·), सभी कथन एक दृष्टि मे मिथ्या और सत्य दोनो ही है (स्यादस्ति चावक्तव्यश्च), सभी कथन एक दृष्टि से मिथ्या एव अनिश्चित दोनो ही है, सभी कथन एक दृष्टि से, सत्य, मिथ्या और अनिश्चित तीनो है (स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यश्च)। उदाहरणार्थ, हम कह सकते है कि घडा है अर्थात् घडा अस्तित्व मे है पर यह कहना अधिक सही होगा कि 'शायद घडा है।' अन्यथा, यदि हम प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व इसमे निरपेक्ष रूप से माने तो इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि मृत्पिड अस्तित्व मे है, खभा अस्तित्व मे है, कपडा अस्तित्व मे है या कोई भी और चीज अस्तित्व मे है। यहां तो अस्तित्व केवल घडे के रूप मे सीमित एव परिभाषित कर दिया गया है। अतः 'घडा है' का तात्पर्य 'चरम रूप से अस्तित्व मे है' नही है बल्कि घड़े के रूप मे निर्धारित स्वरूप मे अस्तित्व मे होना है।

---

[1] देखे, विशेषावश्यक भाष्य, पृ० ८९५ से, तथा स्याद्वाद-मजरी पृ० १७० से।

घड़ा है यह कथन एक सीमित अस्तित्व अर्थात् घडे के रूप में परिभाषित अस्तित्व का कथन करता है, सामान्य, निरपेक्ष या चरम रूप के अस्तित्व का कथन नहीं करता। यदि अस्तित्व निरपेक्ष हो तो इसका तात्पर्य 'कपड़ा है ?' 'मिट्टी है' आदि कुछ भी हो सकता है। इसके अलावा, घडे का अस्तित्व विश्व के अन्य सभी पदार्थों के अभाव द्वारा भी निर्धारित होता है। घड़े का प्रत्येक गुण या लक्षण (जैसे लाल रंग) लिया जाता है और उसे तदितर अन्य अनन्त, विविध गुणों के अभाव द्वारा सिद्ध किया जाता है–और तब घड़े के, एक-एक करके सब गुणो का तदितर गुणो के निवारण द्वारा जो समुदाय बनता है उससे घडा निर्धारित होता है। घडे के अस्तित्व से तात्पर्य है घटेतर अन्य सभी वस्तुओ का अभाव। इस प्रकार एक दृष्टि से 'घडा है' यह वाक्य अस्तित्व का बोध कराता है, दूसरी दृष्टि से यह अभाव का बोध कराता है (घटेतर वस्तुओ के)। इस प्रकार 'घडा है' के बारे में यह कहना चाहिए कि 'शायद यह अस्तित्व का कथन है (स्यादस्ति), हो सकता है कि यह अभाव का कथन हो (स्यान्नास्ति)।' इसे दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। हम कह सकते है, 'घडा है' का अर्थ है यह घड़ा यहाँ है, जिसका तात्पर्य यह भी है कि 'यह घडा वहाँ नही है।' इस प्रकार 'घडा है' का अर्थ घडा नही है भी हुआ। हमने देखा कि घडे के अस्तित्व का कथन एक स्थान पर सही है दूसरे स्थान पर मिथ्या है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'हो सकता है एक दृष्टि से घडा है और हो सकता है कि एक दृष्टि से नही भी है।' इन दोनों को मिलाकर हम कह सकते है कि 'शायद घड़ा है और दूसरी दृष्टि से शायद घडा नही है।' इससे यह समझा जा सकता है कि यदि अस्तित्व के गुणो पर हम बल दे तो हम कहते है कि घडा है किन्तु अभाव की ओर देखते हुए हम यह भी कह सकते है घडा नही है। ये दोनो कथन उसी घडे के संबंध मे सही है, केवल दृष्टियो और तात्पर्यों का अन्तर है। यदि इसी पर बल दिए बिना हम घडे के सम्बन्ध मे दोनो परस्पर-विरोधी और विपरीत कथनो को जाचते है तो पाते है कि घडे का स्वभाव या अस्तित्व अनिश्चित अनिर्धारणीय और अवक्तव्य है, क्योकि हम एक ही चीज की सत्ता और अभाव का एक साथ कथन कैसे कर सकते है। लेकिन वस्तुओ का स्वभाव ही ऐसा है कि हमे ऐसा करना ही होता है। इस प्रकार समस्त कथन सत्य है, मिथ्या है, सत्य और मिथ्या दोनो है तथा इस दृष्टि से अवक्तव्य और अनिश्चित है। इन चारो को मिलाकर हम तीन निष्कर्ष निकाल सकते है–(१) शायद एक दृष्टि से घडा है, (२) फिर भी वह अवक्तव्य है अथवा (३) कि शायद घडा नही है और अवक्तव्य है अथवा अन्त मे शायद घड़ा है और नही है और अवक्तव्य है। इस प्रकार जैनो के अनुसार कोई भी कथन अपने स्वभाव मे पूर्ण सत्य नहीं है, अपने सीमित अर्थ मे ही सत्य है, और उनमे से प्रत्येक को ऊपर वर्णित सात प्रकारो से कहा जा सकता है जो सभी सही है। इसे ही सप्त-भंगीनय कहा गया है।[1] जैनों का कथन है कि अन्य हिन्दू दर्शनो मे यह प्रवृत्ति है कि

[1] देखे, स्याद्वादमजरी, हेमचन्द्रकृत टीका सहित पृ० १६६ से।

वे अपने ही दृष्टिकोण को एक मात्र चरम दृष्टिकोण समझते है। उन्हे इस बात का एहसास नही है कि यथार्थ का स्वरूप यही है कि किसी भी कथन का सत्य सीमित और सापेक्ष होता है, वह किन्ही स्थितियो और उपाधियो मे ही सत्य है। इसलिए सार्वभौम और पूर्ण रूप से सत्य कथन करना असम्भव है क्योकि उस कथन से विपरीत और विरुद्ध कथन भी एक दृष्टि से सत्य और सही पाया जाएगा। क्योकि समस्त वस्तु-सत्य अशत स्थायी है और अंशत परिवर्तनशील है, पुराने गुणो को छोड़ता और नए गुणों को ग्रहण करता है अत वह सापेक्षतः स्थायी और अस्थायी है, इसलिए सत्य के सबध मे हमारे कथन केवल सापेक्षतः सही और गलत है। तर्क के तीन पक्ष, भाव, अभाव और अनिश्चय, प्रत्येक प्रकार के कथन के बारे मे परस्पर क्रमिक सम्बन्धो के तहत किसी न किसी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के लिए लगाए जा सकते है। कोई भाव या अभाव त्रिकालातीत और सार्वदेशिक नही हो सकता, समस्त निर्धारण सापेक्ष रूप से ही सही होते है। यो नय-सिद्धान्त का स्याद्वाद के साथ यही सम्बन्ध हुआ कि प्रत्येक नय के अनुसार किए गए किसी भी निश्चय या कथन के उतने ही विकल्प होगे जितने स्याद्वाद द्वारा वर्णित है। ऐसे निर्धारण की सिद्धि भी, इसलिए, सापेक्ष है। यदि यह बात किसी भी नय के अनुसार व्याख्यान करते समय ध्यान मे रखी जाय तभी वह नय सही होगा। किन्तु यदि किसी भी नय के मुताबिक कोई निश्चय पूर्ण रूप मे कह दिया जाय और स्याद्वाद के अनुसार अन्य नयो का कोई सदर्भ न दिया जाय तो वह नय गलत होगा जैसे कि अन्य कथन गलत होते है। इस प्रकार के गलत निश्चयो को 'नयाभास' कहा जाता है।[1]

ज्ञान और इसका मूल्य

धर्मोत्तर नामक बौद्ध ने न्यायबिन्दु की अपनी टीका मे कहा है कि किसी प्रयोजन के साधन करने के इच्छुक व्यक्ति उस उद्देश्य की प्राप्ति मे सहायक ज्ञान का बहुत मूल्य मानते है। चूंकि ज्ञान इस प्रकार मूल्यवान् और मनुष्यो के लिए उपादेय है इसीलिए दर्शन सम्यक् ज्ञान अथवा प्रमाण के स्वरूप का विवेचन अपना प्रमुख कर्त्तव्य मानता है। सत्य ज्ञान की प्रमुख कसौटी यह है कि वह हमारे प्रयोजन की सिद्धि मे साधक हो। ज्ञान के सम्बन्ध मे बौद्धो के इस विचार से जैन भी सामान्यत. सहमत है।[2] उनका भी

---

[1] स्याद्वाद और सप्तभंगी का कदाचित् सर्वप्रथम उल्लेख भद्रबाहु (४३३-३५ ई० पू०) की सूत्रकृतागनिर्युक्ति टीका मे मिलता है।

[2] देखे, प्रमाणनयतत्वालोकालकार (बनारस) पृ० २६ तथा परीक्षा मुखसूत्रवृत्ति (एशियाटिक सोसाइटी) अध्याय १।

यह कथन है कि ज्ञान का मूल्य स्वयं ज्ञानमात्र के लिए नही है। किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य इस बात में निहित है वह हमे, जो हमारे लिए शुभ है उसकी प्राप्ति में और जो बुरा है उसके निवारण में सहायक होता है। ज्ञान मे ही यह शक्ति है, इसी से हम हमारे परिवेश से सामजस्य पैदा कर पाते है और जो हमारे लिए शुभ है उसे पा लेते है और अशुभ से बच जाते है।[1] इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति मे क्या-क्या बातें सहायक होती हैं। (जैसे—चाक्षुप प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्य ज्ञान के लिए पूर्ण प्रकाश का होना, तथा उस पदार्थ का आँख से सन्निकर्ष) यह इस प्रसंग मे कोई महत्व की बात नही मानी गई है। हमे इससे क्या सरोकार है कि सज्ञान कैसे पैदा होता है, इससे हमारे प्रयोजनो की सिद्धि मे कोई सहायता तो मिलती नही। हमारे लिए यही जानना पर्याप्त है कि कुछ निर्धारित स्थितियो मे बाह्य ज्ञेय पदार्थ इस प्रकार की विशिष्ट योग्यता धारण कर लेते हैं कि हम उनका ज्ञान प्राप्त कर सके। इस बात का निश्चय पूर्वक हम कथन नही कर सकते कि वे ही हम मे ज्ञान पैदा करते है। क्योकि हम केवल यह जानते है कि हम कुछ विशिष्ट स्थितियो मे एक वस्तु को जान जाते है जबकि दूसरी स्थितियो मे हम उसे नही जानते।[2] वस्तुओ की इस विशिष्ट योग्यता की मीमासा से भी जो हममे उनका ज्ञान सम्भव बनाती है, हमारे लिए खास प्रयोजन नही। वे सब स्थितियाँ—जो वस्तुओ मे ज्ञेयता की योग्यता पैदा करती है हमारे खास काम की नही है। हमारा तो उद्देश्य शुभ की प्राप्ति और अशुभ का निवारण है और वह ज्ञान से ही प्राप्त हो जाता है, बाह्य पदार्थों की इस योग्यता के कारण नही।

ज्ञान से ही हमे ज्ञाता के रूप मे स्वय अपने आपकी तथा ज्ञेय के रूप मे बाह्य विषयो की जानकारी होती है। इस बात का कोई प्रमाण नही है (जैसा कि बौद्ध मानते है) कि बाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त समस्त ज्ञान मूलत अनिश्चित और अनिर्धारित होता है और रूप, रग, आकार तथा वस्तु के अन्य लक्षणो के बारे में हमारे समस्त वैचारिक निर्धारण प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त नही होते बल्कि केवल उत्प्रेक्षा से आते है, इसलिए वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा केवल अनिर्धारित निर्विकल्प ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है। अनुभव बताता है कि सत्य ज्ञान एक ओर तो विषयी या ज्ञाता के रूप मे हमारा स्वय का बोध कराता है और दूसरी ओर बाह्य विषयो के समस्त रूपों और लक्षणो का भी सही प्रत्यक्ष कराता है। इसीलिए ज्ञान को हमारा सन्निकट और प्रमुख उद्देश्य प्राप्ति का साधन मानना चाहिए। यह अवश्य है कि ज्ञान सीधे और तुरन्त वह शुभ हमे नही ला देता जिसकी प्राप्ति हमे करनी होती है लेकिन वह हमे हमारे चारो ओर के उन विषयो को सही रूप मे सम्प्रेषित करता है इसलिए इष्ट

---

[1] प्रमाणनयतत्वालोकालकार पृ० २६।

[2] देखे, परीक्षामुखसूत्र २-९ तथा उसकी वृत्ति एव अध्याय २ की उपसहारक वृत्ति।

की प्राप्ति और अनिष्ट के निवारण के लिए हमारे प्रयत्नो को सम्भव बनाता है। ज्ञान से ही ये कार्य जन्म लेते है, यदि ज्ञान नही होता तो प्रयत्न और कार्य भी नही होते। इस प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य इस बात मे निहित है कि यह सीधा, अव्यवहित और अचूक इष्ट-प्राप्ति का साधन है। जब तक किसी ज्ञान का प्रामाण्य खडित नहीं हो जाता तब तक उसे सत्य ज्ञान माना जाना चाहिए। मिथ्या ज्ञान वह होता है जो वस्तुओ को उन रूपो मे प्रस्तुत करें जिन रूपो मे वे विद्यमान नहीं है। जब कम प्रकाश वाले स्थान मे पड़ी रस्सी सर्प का भ्रम पैदा करती है, रज्जु में सर्प का ज्ञान भ्रमात्मक ज्ञान कहा जाता है, अर्थात् जहाँ सर्प विद्यमान नही है वहाँ उसका ज्ञान। सर्प भी होते है और रज्जुएँ भी[1] होती है। इसमे कोई मिथ्यात्व नही है। भ्रम इसलिए बताया जाता है कि जिन स्थितियो मे रज्जु विद्यमान है उन स्थितियो में सर्प का ज्ञान हुआ। उन सम्बन्धो और परिवेशो मे सर्प का प्रत्यक्ष करना जिनमे उस समय वह विद्यमान नही यही यहाँ मिथ्यात्व का स्वरूप है। जिसका पहले सर्प के रूप मे प्रत्यक्ष किया गया उस ज्ञान का बाद मे विरोध या खडन हो गया इसलिए वह मिथ्या माना गया। इस दृष्टि से मिथ्यात्व अनुभव के यथार्थ तथ्यो के गलत निरूपण या प्रस्तुतीकरण मे निहित है। और इसीलिए सत्य ज्ञान वह है जो अपने विषय का ऐसा सही और पूर्ण प्रस्तुतीकरण करे जो बाद मे कभी भी विरुद्ध या खंडित न हो पाए। उदाहरणार्थ ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष मे इन्द्रियो के सन्निकर्ष द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह स्पष्ट, विश्लिष्ट तथा निर्भ्रान्त होता है इसीलिए प्रत्यक्ष कहा जाता है। जब किसी अन्य मार्ग से ज्ञान प्राप्त होता है तो वह इतना स्पष्ट और सीधा नही होता इसलिए उसे परोक्ष ज्ञान कहा गया है।[2]

प्रत्यक्ष का सिद्धान्त

प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे जैनो और बौद्धो के सिद्धान्त मे यही अन्तर है जैसा ऊपर बताया गया है। जैनो के अनुसार प्रत्यक्ष बाह्य विषय का उसी रूप मे सम्पूर्ण

---

[1] भ्रम हमारे ज्ञान अथवा निर्धारण के विषयो मे, देश, काल या अन्य प्रकार के ऐसे सम्बन्धो के संयोजन मे निहित है जो वस्तुत विद्यमान नही है—यद्यपि वे विषय अन्य सम्बन्धों मे विद्यमान होते है। जब मुझे रज्जु मे सर्प का भ्रम होता है तो साप भी विद्यमान तो होता है यद्यपि 'यह सर्प है' में यह के रूप मे जहाँ मैं साँप देख रहा होता हू वहाँ साप नही होता क्योंकि रस्सी साँप नही होती। यह भ्रम सत्ख्याति अथवा 'सत्' वस्तुओ को गलत सदर्भ देना कहा जाता है।

[2] देखे, सिद्धसेन कृत जैन तर्कवार्तिक अध्याय १ तथा शान्त्याचार्य की वृत्ति, प्रमाणनयतत्वालोकालकार, अध्याय १, परीक्षामुख-सूत्रवृत्ति, अध्याय १।

प्रस्तुतीकरण कर देता है जिसमें उसके सभी रूप, रग, आकार आदि लक्षण सम्मिलित होते हैं। वे यह भी मानते हैं कि ज्ञान आत्मा में उदित होता है, आन्तरिक उद्घाटन के रूप में, जैसेकि ढकने वाले आवरण को हटाने पर वस्तु उद्घाटित हो जाती है। समस्त बाह्य विषय केवल ज्ञान के ही रूप में विद्यमान नही है (जैसाकि विज्ञानवादी बौद्ध मानते है), वे वस्तुतः विद्यमान होते है। बाह्य विषयो का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान इन्द्रियगम्य होता है। यहाँ इन्द्रिय का बाहरी स्वरूप, जैसाकि आँख का ढाचा, इन्द्रिय नही है, इन्द्रिय से तात्पर्य है आत्मा की देखने की वह अन्तर्निहित शक्ति जो प्रत्यक्ष करती है। इस प्रकार की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है। जैनों की यह मान्यता है कि हम पाँच प्रकार की इन्द्रियो से पाँच प्रकार का ऐन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करते है। इसलिए सच तो यह है कि वस्तुतः आत्मा ही स्वय इन विविध ऐन्द्रिय ज्ञानो को बाह्य इन्द्रियो की सहायता से प्राप्त करता है जैसे कि आवरण हट जाने पर वस्तु दिख जाती है। ज्ञान पर ढके आवरण को हटाने से जीव ज्ञान का प्रत्यक्ष करता है। बाह्य प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे किसी इन्द्रिय की अपने आपकी शक्ति ही काम करती हो सो बात नही है, आत्मा मे ऐन्द्रिय ज्ञान का स्वय प्रकाश होता है, यद्यपि वह किसी इन्द्रिय विशेष (जैसे आँख) की सहायता से होता है। आत्मा शरीर के प्रत्येक अग से सम्बद्ध है। चाक्षुष ज्ञान वह ज्ञान है जो आत्मा के उस अश मे पैदा होता है जो चक्षुरिन्द्रिय से सम्बद्ध है। उदाहरण के लिए मैं सामने आँख फैलाता हू और एक गुलाब का फूल देखता हू। गुलाब के फूल के इस ज्ञान के पहले गुलाब के फूल का ज्ञान मुझमे था किन्तु वह आवरण से ढका था अत उसका प्रकटीकरण नही होता था। देखने की क्रिया का अर्थ यह है कि गुलाब के फूल मे और मुझमे वह योग्यता पैदा हो गई जिससे गुलाब के फूल का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सका। मेरे गुलाब के फूल के ज्ञान पर पडा हुआ आवरण हट गया। जब चाक्षुष ज्ञान पैदा होता है तब वह चक्षुरिन्द्रिय की सहायता से होता है। मुझे लगता है कि मैं आँख के माध्यम से देख रहा हू जबकि वास्तव मे मैं उस विषय का ज्ञान कर रहा हूं जो आँख से सम्बद्ध है। चूँकि अनुभव मे विभिन्न इन्द्रियो का अलग ज्ञान नही होता इसलिए यह मानना अनावश्यक है कि उनका आत्मा से अलग भी कोई अस्तित्व है। इसी चिन्तन धारा पर आगे चलते हुए जैन मन का अलग अस्तित्व नही मानते क्योकि मन का अस्तित्व भी अनुभवगम्य नही है। उसका आनुमानिक अस्तित्व मानना अनावश्यक है क्योकि जीवात्मा को ही मानने से काम चल जाता है।[1]

---

[1] "तन्न इन्द्रिय भौतिक किन्तु आत्मा च इन्द्रियम् अनुपहत...चक्षुरादिदेशेषु एव आत्मन. कर्मक्षयोपशमस्तेनथगित गवाक्षतुल्यानि चक्षुरादीन्युपकरणानि।" (जैनवार्तिक वृत्ति २, पृ० ९८)। किन्तु अनेक स्थानों में पाँच इन्द्रियाँ, कान, नाक, आँख आदि को, इन्द्रिय के रूप मे उल्लिखित किया गया है और प्राणियो को बहुधा इस आधार पर वर्गीकृत किया गया है कि उनकी कितनी इन्द्रियाँ है (देखे, प्रमाणमीमासा तथा

विषय के प्रत्यक्ष से मतलब है उस विषय के ऊपर आत्मा मे पड़ा हुआ अज्ञान का आवरण हट गया है। आन्तरिक रूप से अज्ञान के आवरण का यह हटना व्यक्ति के कर्मों पर निर्भर होता है, बाह्य रूप से यह अनेक स्थितियों पर निर्भर होता है जैसे प्रत्यक्ष के विषय की विद्यमानता, प्रकाश, चक्षुरिन्द्रिय की शक्ति आदि आदि। बौद्धों तथा अनेक अन्य भारतीय दार्शनिको से विपरीत जैन यह मानते है कि समस्त विषयों के पूर्ण रूप का आत्मा के अन्दर सीधा प्रकटन होता है। ऐसा नही होता कि पहले निर्विकल्प ज्ञान प्राप्त हो फिर उसके बाद सविकल्प ज्ञान के रूप में अन्य लक्षण ज्ञात हों। इस प्रकार इस सिद्धांत का बौद्धो के उस सिद्धान्त से सीधा विभेद स्पष्ट हो जाता है जो यह मानते है कि प्रत्यक्ष का वास्तविक स्वरूप निर्विकल्प ऐन्द्रिय ज्ञान मात्र है। सविकल्प ज्ञान की स्थिति बाद की है जो अनेक बौद्धिक तत्वों जैसे उत्प्रेक्षा, स्मृति आदि की अधिक्रियाओ से बाद मे बनती है और इसलिए ज्ञान का मूलभूत अश नही है।[1]

परोक्ष ज्ञान

परोक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान में यह भेद है कि परोक्ष प्रत्यक्ष के समान विषयो का उतना स्पष्ट चित्र प्रस्तुत नही करता जितना कि प्रत्यक्ष ज्ञान। जैन नही मानते कि आत्मा के संज्ञानों के निर्धारण मे इन्द्रियों की विशिष्ट भूमिका है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञान के अन्य प्रकारो मे यह भेद है कि प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तुओ मे स्वरूप और लक्षणों का सीधे चित्र प्रस्तुत कर देता है, परोक्ष वैसा नही करता। परोक्ष ज्ञान मे अनुमान, प्रत्यभिज्ञा, आपादन, स्मृति आदि आते है।

अनुमान के बारे मे जैन दर्शनो मे यह विशेषता है कि वे पाच तर्क वाक्यो को अनावश्यक मानते है। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, और निगमन नामक पांच वाक्य, जैसे– (१) पर्वत वह्निमान् है (२) क्योकि उसमे धूम है (३) जहाँ जहाँ धूम है वहाँ अग्नि होती है जैसे रसोई घर (४ पर्वत मे धूम है (५) इसलिए उसमें आग भी है। इनमे

तत्वार्थाधिगम सूत्र अध्याय २)। यह केवल ऐन्द्रिय संवेदन की दृष्टि से ही है। इन्द्रियो के पृथक् अस्तित्व का खण्डन इस दृष्टि से किया गया है कि वे जीव से पृथक् कोई इकाई या स्वतन्त्र क्षमता रखने वाली शक्तियाँ नही है। वे तो जीव के लिए बाहर झाकने के लिए बने गवाक्ष जैसी ही है। आन्तरिक निर्धारण द्वारा जीवात्मा मे जो ज्ञान उदित होता है उसके निर्धारण या रूपान्तरण मे इन्द्रियों की कोई भूमिका पृथक् से नही है क्योकि वह तो जीवात्मा मे पहले से ही विद्यमान है। प्रत्यक्ष की क्रिया का तात्पर्य केवल यही है कि जो आवरण था वह हट गया है।

[1] प्रमेय-कमल-मार्तण्ड पृ० ८-११।

जैनों के अनुसार अनुमान की प्रणाली के लिए वस्तुत. मूलभूत महत्त्व के केवल प्रथम दो ही वाक्य हैं (प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० १०८-१०६)। जब हम अनुमान करते हैं तो हम इस प्रकार पाँच वाक्य नही बनाते। जो यह जानते हैं कि हेतु साध्य से, या तो सहभाव के कारण या क्रमभाव के कारण अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है वे हेतु (जैसे धूम) की विद्यमानता की बात सुनते ही तुरन्त यह अनुमान लगा लेते है कि पर्वत वह्निमान है। इसलिए पंचवाक्यात्मक तर्क की बात बालको को समझाने के लिए ही कही जाती है, अनुमान के समय बुद्धि की जो तार्किक प्रक्रिया चलती है उसका सही प्रतिनिधित्व नही करती।[1]

[1] जहाँ तक व्याप्ति का प्रश्न है, कुछ जैन तर्कशास्त्री बौद्धो के समान ही अन्तर्व्याप्ति (धूम और अग्नि के बीच) को बहिर्व्याप्ति (धूमवान् और अग्निमान् के बीच) से अधिक महत्व देते है। उनके मत मे भी अनुमान के दो भेद है, स्वार्थानुमान (स्वय अपने लिए) और परार्थानुमान (दूसरो को समझाने के लिए)। यहाँ यह उल्लेख भी अप्रासगिक नही होगा कि अति प्राचीन जैन तर्कशास्त्री अनुमान करने के लिए दशवाक्यात्मक तर्क के पक्षपाती थे, जिसका प्रमाण हमे भद्रबाहु के 'दशवै-कालिकनिर्युक्ति' नामक ग्रन्थ से मिलता है। दस वाक्य थे (१) प्रतिज्ञा (उदाहरणार्थ, अहिसा सर्वोत्तम गुण है), (२) प्रतिज्ञाविभक्ति (जैसे अहिसा, जैन शास्त्रो के अनुसार सर्वोत्तम गुण है), (३) हेतु (क्योकि जो अहिसा का आचरण करते है वे दवताओ के प्रिय होते है और उनके प्रति आदर शुभावह है), (४) हेतु विभक्ति (जो ऐसा आचरण करते है वे ही जीवन मे सर्वोच्च प्रतिष्ठा के पात्र होते है), (५) विपक्ष (किन्तु हिसा का आचरण करने पर भी कई लोग उन्नति कर सकते है और जैन शास्त्रो की निन्दा करने पर भी कुछ लोग शुभ की प्राप्ति कर सकते है जैसेकि ब्राह्मण लोग), (६) विपक्ष प्रतिषेध (ऐसा नही है, यह असम्भव है कि जो जैन शास्त्रो की निन्दा करते हो वे देवो के प्रिय हो या प्रतिष्ठा के पात्र हो), (७) दृष्टान्त (अर्हत् लोग गृहस्थो से भिक्षा द्वारा अन्न प्राप्त करते है क्योकि कीटादि जीवो की हिसा की आशका से वे भोजन नही पकाना चाहते), (८) अशका (किन्तु यो तो गृहस्थो द्वारा पकाए भोजन का पाप उन्हे लगना चाहिए क्योकि वह उन्ही के लिए पकाया गया है), (६) आशका प्रतिषेध (ऐसा नही है क्योकि अर्हत् लोग कभी भी अप्रत्याशित रूप से किसी भी घर मे पहुँच सकते है अत ऐसा नही कहा जा सकता कि भोजन उनके लिए पकाया जाता है), निगमन (अत. अहिसा ही सर्वोत्तम गुण है)। (विद्याभूषण : इडियन लॉजिक)। ये सब तर्कात्मक कथन है जो सामान्य विचार विमर्शो मे भी व्यावहारिक रूप से बहुधा प्रयुक्त होते है किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इनमे से अनेक अनावश्यक भी है। वात्स्यायन ने अपने न्यायसूत्र भाष्य मे (१-१-३२) जो यह कहा है कि अन्य तार्किको मे प्रचलित दशवाक्यात्मक

जहाँ तक प्रामाण्य का सवाल है जैन वेदो का प्रामाण्य नही मानते। वे जैन शास्त्रों को ही प्रमाण मानते हैं। वे ही सत्य ज्ञान के स्रोत हैं क्योकि वे उनके द्वारा प्रणीत हैं जिन्होने प्रारम्भ मे सासारिक जीवन भले ही जिया हो किन्तु बाद में सम्यक् कर्म और सम्यक् ज्ञान द्वारा उन्होने समस्त इच्छाओ का दमन कर अज्ञान का नाश कर दिया था।[१]

ज्ञान का स्वरूप

बौद्धो का मत था कि वस्तु के अस्तित्व का प्रमाण उसका हम पर विशेष प्रभाव होना अथवा कार्यकारित्व ही है। जिसका हम पर कोई प्रभाव हो वह वस्तु सत् मानी जाती थी और जो ऐसा नही करती थी वह असत्। उनके मत मे सत्ता की परिभाषा प्रभाव के उत्पादन में ही थी। सिद्धान्ततः प्रभाव की प्रत्येक इकाई अन्य प्रभावो की इकाइयो से अलग होती है अतः उन्हे मानना पड़ा कि प्रभाव की विभिन्न इकाइयो का क्रमिक आवर्तन होता है, दूसरे शब्दों मे प्रत्येक क्षण नए कार्य की उत्पत्ति के साथ नए द्रव्यो की उत्पत्ति उन्हे माननी पडी। समस्त पदार्थ उनके मत मे क्षणिक थे। जैनो ने कहा कि कार्य के उत्पादन को ही सत्ता का प्रमाण मानने के पीछे यही तर्क है कि हम उसी चीज का अस्तित्व मानते हैं जो तदनुकूल अनुभव द्वारा प्रमाणित हो। जब हमे अनुभव की एक इकाई अनुभूत होती है तो हम उसके आधार को सिद्ध करने के लिए उस द्रव्य की सत्ता को मानते है। इस दृष्टि से बौद्धो का यह अव्यावहारिक विश्लेषण कि हममे उत्पादित प्रभाव की प्रत्येक इकाई प्रत्येक क्षण नई होती है, वही नही रहती, और इसलिए समस्त वस्तु क्षणिक है, दोषपूर्ण है। यह अनुभव गम्य है कि किसी का सारा रूप क्षण क्षण मे नही बदलता, उसका कुछ अश (जैसे एक स्वर्णभूषण मे स्वर्ण) स्थायी रहता है और कुछ अश (जैसे कनफूल या बाजूबन्द आदि उसके बाहरी रूप) परिवर्तित होते रहते है। इस प्रत्यक्ष अनुभव के विपरीत हम यह कैसे मान सकते है कि समस्त वस्तु हर क्षण नष्ट होती हैं और नई वस्तुएँ हर अगले क्षण पैदा होती है ? इस प्रकार केवल सिद्धान्त की बात और निराधार कल्पनाओं से परे हटकर अनुभव की ओर देखा जाए तो यह ज्ञात होगा कि सत्ता या अस्तित्व की धारणा मे परिवर्तन *या पर्याय* (*नए गुणो का ग्रहण और पुराने गुणो का त्याग*) के साथ-साथ स्थायित्व की धारणा भी निहित है। जैन मानते है कि अन्य दर्शनो की प्रणालियाँ इसलिए दोषपूर्ण है कि वे अनुभव को एक ही *नय* की दृष्टि से परिभाषित

तर्क के स्थान पर गौतम ने पचवाक्यात्मक तर्क के सिद्धान्त को विकसित किया, उसकी पृष्ठभूमि मे यही जैन मत उनके मस्तिष्क मे रहा होगा।

[१] देखें, जैन तर्कवार्तिक तथा परीक्षामुखसूत्रवृत्ति एव षड्दर्शनसमुच्चय में जैन दर्शन पर गुणरत्न की टिप्पणी।

करती है जबकि उनकी प्रणाली अनुभव के समस्त पहलुओ की छानबीन करती है और अनुभव द्वारा उपस्थापित तथ्यो को स्वीकार करती है, ऐकातिक रूप से नही किन्तु उचित सीमाओ के अन्दर। जैनो के अनुसार अर्थ-क्रियाकारित्व के सिद्धान्त के वर्णन से बौद्धों मे पहले तो अनुभव के प्रामाण्य पर आधारित विवेचना के से लक्षण प्रकट होते हैं किन्तु वे तुरन्त ही एकपक्षीय हो जाते है और बाद मे अनुभव-विरुद्ध कल्पनाओ मे अकारण फस जाते है। यदि हम अनुभव के आधार पर चले तो हम न तो आत्मा को अस्वीकार कर सकते है न बाह्य जगत् के अस्तित्व को जैसा बौद्ध करते हैं। ज्ञान, जो हमे बाह्य जगत् के सभी स्पष्ट स्वरूपो को दिखला देता है, अपने आप में यह भी प्रमाणित करता है कि वह ज्ञान विषयी के रूप मे स्वय मेरा भी (ज्ञाता का) अविभाज्य अग है। इस दृष्टि से ज्ञान मेरी स्वय की एक अभिव्यक्ति ही है। अनुभव मे हमे यह ज्ञात नही होता कि बाह्य जगत् हममे मृष्ट हो रहा है, किन्तु हममे ज्ञान का उदय हो रहा है और वह हमे कुछ विषयो का ज्ञान करा रहा है ऐसा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार ज्ञान का उदय वस्तुओ मे निहित कुछ विशिष्ट वस्तुगत सस्थितियो के समानान्तर है जिनमे एक विशिष्ट योग्यता होती है जिसके कारण वे किसी विशिष्ट क्षण मे प्रत्यक्षीकृत और ज्ञात होते है। इस दृष्टि से हमारे समस्त अनुभव हममें ही केन्द्रित होते हैं, क्योकि एक दृष्टि से हमारे अनुभव हमारे स्वय के रूपान्तर या अभिव्यजन के रूप में ही आते है। ज्ञान आत्मा का लक्षण है अत. इन्द्रियो से अनिर्भर और स्वतत्र रूप मे वह आत्मा के प्रकटीकरण का ही रूप है। ज्ञान मे चेतन और अचेतन तत्वो का विभेद करना अनावश्यक है जैसा साख्य करता है। इसी प्रकार ज्ञान को उन वस्तुओ की प्रतिलिपि के रूप मे नही देखना चाहिए जैसा सौत्रातिक मानते है क्योकि वस्तुओ की भौतिकता की प्रतिलिपि होने के कारण हमे ज्ञान को भी भौतिक मानना पड़ेगा। अत ज्ञान को आत्मा का एक रूपहीन गुण मानना चाहिए जो अपने आप मे वस्तुओं का प्रकटीकरण करता है। किन्तु मीमासा का यह मत कि ज्ञान स्वत. प्रमाण है ठीक नही है। तार्किक और मनस्तात्त्विक दोनो दृष्टियो से ज्ञान का प्रामाण्य तथ्यो से बाह्य सवाद होने पर ही निर्भर होता है, केवल ऐसी स्थितियो मे जहा पूर्वानुभूत सवाद (तथ्यो के साथ सवाद के पहले हो चुके अनुभव) के कारण किसी बात का सही विश्वास हो जाता है तो बाहरी तथ्यो के साथ सवाद को देखे बिना ही प्रामाण्य गृहीत हो सकता है (प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ स्वकार्ये च स्वत. परतश्च अभ्यासानाभ्यासापेक्षया)।[1] बाह्य जगत् सत्य है क्योकि अनुभव-गम्य है किन्तु यह बात कि वह हममे ज्ञान की उत्पत्ति करता है कि अकारण मानी हुई परिकल्पना है क्योंकि ज्ञान तो आत्मा की अभिव्यक्ति है। अब हम इसी के साथ जैन तत्व-मीमासा का विवेचन प्रारम्भ करते है।

---

[1] प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ३८-४३।

जीव

जैनों का मत है कि यह अनुभव सिद्ध है कि वस्तुएँ दो वर्गों में विभाजित हैं--जीव और अजीव। जीवनी शक्ति शरीर से बिलकुल पृथक् चीज है अतः यह विचार भ्रमात्मक है कि जीवन शरीर की ही उत्पत्ति या सम्पत्ति है।[1] जीवनी शक्ति के कारण ही शरीर सजीव लगता है। यह जीवनी शक्ति जीव ही है। जीव की ईक्षण (अन्तर्दृष्टि द्वारा) किया जा सकता है जैसे अन्य बाह्य पदार्थों का। यह केवल शब्द मात्र मे स्थित प्रतीक स्वरूप वस्तु या केवल वर्णन की चीज नही है। यह विचार सुप्रसिद्ध मीमासक प्रभाकर के मत से बिककुल विपरीत पडता है।[2] जीव अपने शुद्ध स्वरूप मे अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनत सुख और अनत वीर्य धारण करने वाली शक्ति है।[3] यह पूर्ण है। सामान्यतः कुछ शुद्ध और मुक्त जीवो को छोड कर अन्य सभी जीव संसारी है और उनकी शुद्धता और शक्ति कर्म के फल के आवरण से आच्छादित रहती है और कर्म अनादि काल से उन पर छाते रहते है। जीवो की संख्या अगणित है। वे द्रव्य है एवं अनादि हैं। वस्तुत हमारे लोकाकाश मे अनन्त जीव व्याप्त है, उनका आकार मध्यम परिमाण का है, वे न विभु है न अणु है। इसलिए उन्हे जीवास्तिकाय के नाम से पुकारा जाता है। अस्तिकाय शब्द का अर्थ होता है वह वस्तु जो किसी जगह को रोक सके और जो व्यापिनी शक्ति रखती हो। ये जीव जिस समय जिस शरीर मे समाहित होते हैं उसके अनुसार अपने आपको आकार मे सकुचित या विस्तृत बनाते रहते है (हाथी मे विस्तृत आकार धारण करके और चीटी मे सकुचित आकार धारण करके)। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जैनो के अनुसार जीव समस्त शरीर मे व्याप्त रहता है। केशो से लेकर पैर के नखो तक। तभी तो जहाँ कही भी कोई सवेदन या पीडा होती है उसका अनुभव तुरन्त हो जाता है। जीव समस्त शरीर मे किस प्रकार व्याप्त रहता है इसे वे एक कमरे मे एक कोने मे रखे दीपक की उपमा से समझाते है जो समस्त कमरे को आलोकित करता रहता है। जैन इन्द्रियो को धारण करने की मात्रा

---

[1] देखे, जैनवार्तिक पृ० ६०।

[2] देखे, प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ३३।

[3] जैन दर्शन और ज्ञान मे भेद करते है। दर्शन किसी विषय का ज्ञान मात्र है, विवरण-पूर्वक ज्ञान नही, जैसे मैं एक कपडा देखता हू। ज्ञान सविवरण ज्ञान है जैसे कपडा देखकर मैं यह भी जानता हू कि यह किसका है, किस स्तर का है, किसका बनाया हुआ है आदि। प्रत्येक सज्ञान मे हमे पहले दर्शन होता है फिर ज्ञान। शुद्ध जीव मे सभी पदार्थों का अनन्त सामान्य प्रत्यक्ष निहित रहता है तथा समस्त पदार्थों का सविवरण ज्ञान भी निहित रहता है।

और सख्या के हिसाब के अनुसार जीवो का वर्गीकरण करते है। सबसे नीचे पेड़ पौधे आते हैं जिनमे केवल स्पर्शेन्द्रिय या स्पर्श-सवेदन होता है उससे ऊँचा वर्ग उन कीड़ों का आता है जिनमें दो इन्द्रियाँ होती हैं स्पर्श और स्वाद की। उससे ऊपर चीटियाँ आदि आती है जिनमे स्पर्श, घ्राण और स्वाद तीनो की शक्ति होती है। उससे ऊपर मधुमक्खियाँ आदि आती है जिनमे स्पर्श, घ्राण और स्वाद के अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी होती है। अन्य जीवधारी प्राणियो मे पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ होती है। ऐसे ऊँचे प्राणियों मे मनुष्य और देवता गिने जाते है जिनमे समस्त इन्द्रियाँ तो होती ही है एक आन्तरिक इन्द्रिय और होती है, मन, जिसके कारण वे सज्ञी प्राणी कहे जाते हैं, अन्य पशु आदि प्राणी असज्ञी कहे जाते है।

यह स्पष्टत· देखा जा सकता है कि निम्नतर प्राणियों मे जीव का विभाजन करते हुए जैन चार तत्वों, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि मे भी जीव की सत्ता मानते है। पार्थिव पदार्थ भी जीवो के ही पिण्ड है। इन्हे पार्थिव जीव आदि कहा जा सकता है। इन्हें हम प्राथमिक जीव कह सकते हैं। वे जीवन पूर्ण कर मर जाते हैं और किसी अन्य प्राथमिक शरीर मे पुन: जीवित हो उठते है। ऐसे प्राथमिक जीव स्थूल भी होते है और सूक्ष्म भी। सूक्ष्म जीव अदृश्य होते है। ऐकेन्द्रिय जीवो के अन्तिम वर्ग में पौधे आते है। कुछ पौधो मे समस्त कलेवर एक ही जीव का बना होता है जबकि कुछ ऐसे होते है जो शरीरधारी जीवों के समूह से बने होते है। इनके विभिन्न अवयवो मे जीवन के समस्त लक्षण पाए जाते हैं जैसे श्वसनक्रिया, वृद्धि की क्रिया, पोषण क्रिया आदि। एक जीव वाले पौधे स्थूल होते है, वे पृथ्वी के आवासयोग्य भाग मे ही पाए जाते है। किन्तु उन वृक्षो मे भी जो विभिन्न वृक्ष-जीवों के समूह से निर्मित होते है, कुछ सूक्ष्म जीव हो सकते है और अदृश्य हो सकते है—ऐसे पौधे समस्त विश्व मे व्याप्त है। समस्त ब्रह्माण्ड निगोड नामक सूक्ष्म जीवों मे व्याप्त है। वे अनन्त जीवो के समूह से निर्मित होते है। इनमे श्वसन और पोषण क्रिया समान होती है, इन्हे भयकर पीड़ा का अनुभव होता रहता है। समस्त आकाश (अन्तरिक्ष) ऐसे अनन्त जीवो से ठसाठस भरा हुआ है जैसे चूर्ण के डिब्बे मे चूर्ण भरा रहता है। जिन जीवों को मोक्ष प्राप्त हो जाता है उनके स्थान पर इन निगोडो से अन्य जीव आ जाते है। अब तक, अनादिकाल से लेकर आज तक जितने जीवो को निर्वाण प्राप्त हुआ है उन सबकी जगह लेने के लिए केवल एक निगोड के अत्यत स्वल्प स्थान से निकले बहुत थोडे से जीव ही पर्याप्त रहे है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ससार जीवधारी प्राणियो से कभी खाली नही हो सकता। निगोडो मे से जिन जिन को विकास की आकाक्षा होती है वे बाहर आकर विभिन्न प्रक्रमो से गुजरते हुए अपना विकास जीवधारी प्राणी के रूप मे करते रहते है।[1]

---

[1] देखें, जैन धर्म पर जैकोबी का लेख (ई आर ई) एव लोक प्रकाश अध्याय ४ पृ० ३१ से।

कर्म सिद्धान्त

अपने अपने कर्मों को गुणों और दोषो के अनुसार जीव देव, मनुष्य, पशु या असुरों के रूप में जन्म लेते हैं। हमने अध्याय–३ मे बतलाया है कि जीव के शरीर धारण का हेतु कर्म-द्रव्य की उपस्थिति ही है। शुद्ध जीव की सहज पूर्णता कर्म द्रव्य के विविध प्रकारो से दूषित हो जाती है। वे कर्म जो सम्यक् ज्ञान के सही स्वरूप को दूषित करते है उन्हे ज्ञानावरणीय कहा जाता है, जो सम्यक् दर्शन को दूषित करते हैं उन्हे दर्शनावरणीय कहा जाता है, जो जीव के आनन्द स्वरूप को आवृत करके सुख दुख की उत्पत्ति करते हैं उन्हे वेदनीय कहा जाता है, और जो धर्म और सदाचार के प्रति हमारी सम्यक् प्रवृत्ति को आवृत करते है उन्हे मोहनीय कहा जाता है।[1] इन चार प्रकार के कर्मों के अलावा जो इन वस्तुओ के आवरण के रूप मे आ जाते है, कर्मों के अन्य चार प्रकार भी है जिनमें निम्नलिखित बातें निर्धारित होती हैं—

(१) किसी जन्म मे कितनी आयु होगी। (२) कौन-सा शरीर, उसके कौन-से सामान्य और विशेष गुण तथा शक्तियाँ होगी (३) कौन-सा देश, जाति, परिवार तथा सामाजिक स्थिति होगी (४) जीव की कितनी आन्तरिक शक्ति होगी, जिसे आवृत करके कर्म सम्यक् आचरण करने की इच्छा होते हुए भी जीव को वैसा करने से रोक देता है। इन कर्मों को क्रमश (१) आयुष्क कर्म (२) नामकर्म, (३) गोत्रकर्म और (४) अन्तराय कर्म कहा जाता है। हमारे मन, वचन और काय से कार्य करते हुए हम निरन्तर किसी न किसी प्रकार का कर्म-द्रव्य पैदा करते रहते है। जिसे प्रथमत· भाव कर्म कहा जाता है जो बाद मे द्रव्य कर्म के रूप मे परिवर्तित हो जाता है और जीव मे प्रविष्ट होकर उसके काषाय के रूप मे उससे चिपका रहता है। ये काषाय चिकनाई की तरह अन्य, बाह्य से आकर प्रविष्ट होने वाले कर्म द्रव्य को अपने मे चिपकाने का कार्य करते रहते है। यह कर्म द्रव्य आठ विभिन्न प्रकारो मे कार्य करता है अत इसे ऊपर बताए गए आठ भेदो मे विभक्त किया गया है। यही कर्म बन्धन और दु ख का कारण है। अच्छे और बुरे कर्म द्रव्य के ससक्त होने के फलस्वरूप जीव विभिन्न रगों मे रग जाता है जैसे सुनहरा, कमल के समान गुलाबी, सफेद और काला, नीला आदि। इन्हे लेश्या कहा जाता है। कर्म द्रव्य के इकट्ठा होने से जो भाव उत्पन्न होते है उन्हे भाव-लेश्या और जीव के इसके द्वारा बदले गए रग को द्रव्य-लेश्या कहा जाता है। अच्छे, बुरे अथवा उदासीन कार्यों से उत्पन्न कर्मद्रव्य तदनुरूप सुख, दु ख या औदासीन्य

---

[1] जैन ज्ञान के पाँच प्रकार मानते है–(१) मतिज्ञान (सामान्य सज्ञान) (२) श्रुति (प्रमाण) (३) अवधि (अतिमानव सज्ञान) (४) मन· पर्याय (विचारो को पढ लेना) (५) केवल ज्ञान (सर्वज्ञता)।

उत्पन्न करता है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि द्वारा जो ज्ञान हम प्राप्त करते रहते हैं वह भी कर्मों के प्रभाव का परिणाम है जिससे कि हमारे ज्ञान पर पड़ा हुआ पर्दा उस समय हट जाता है और हम वह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। हमारे ज्ञान, भावना आदि पर पड़ा पर्दा हमारे कर्मों के अनुसार इस प्रकार उठता है कि हमे वही ज्ञान प्राप्त हो जिसके हम भागी है। इस प्रकार एक दृष्टि से कर्मों के प्रभाव से समस्त ज्ञान और भावना हमारे अन्तर मे ही उत्पन्न होती है, जिन बाह्य पदार्थों के कारण वह ज्ञान पैदा होता हुआ-सा लगता है वे केवल तात्कालिक सयोग जन्य परिस्थितियाँ ही हैं।

जब किसी विशेष कर्मद्रव्य या कर्मवर्गणा का परिपाक पूरा हो जाता है तो वह समाप्त हो जाता है और जीव से वह हट जाता है। कर्मों के विरेचन की यह प्रक्रिया 'निर्जरा' कही गई है। यदि तब नया कर्मद्रव्य सचित नही हो तो धीरे धीरे इस प्रकार के विरेचन से अन्ततः जीव कर्मद्रव्य से विमुक्त हो सकता है किन्तु यह चक्र ही ऐसा है कि यदि पुराना कर्मद्रव्य विरिक्त हो जाता है तो नया कर्मद्रव्य सदा जीव मे प्रविष्ट होता रहता है और इस प्रकार विरेचन और बन्धन दोनों की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती रहती है जिससे जीव निरन्तर सृष्टि क्रम, पुनर्जन्म आदि मे लिप्त रहता है। व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसका जीव अपने कर्मणा शरीर के साथ अपने नए जन्म स्थान मे पहुँच जाता है और वहाँ नया शरीर धारण करता है और उसका कलेवर कर्मणा शरीर के अनुसार विस्तृत, सकुचित, निर्धारित होता है।

सामान्य क्रम मे कर्म अपना परिणाम दिखाते रहते है। वह स्थिति जीव की 'औदयिक स्थिति' होती है। अनेक प्रयत्नो से कर्मों के परिपाक का शमन किया जा सकता है (यद्यपि कर्म तब भी रहते है) उस स्थिति को 'औपशमिक' दशा कहते है। जब कर्मों का परिपाक ही नही, कर्म भी समाप्त हो जाते है तो उस स्थिति को 'क्षयिक दशा' कहते है। यही दशा मोक्ष की स्थिति को लाती है। इसके अतिरिक्त एक चौथी स्थिति और मानी गई है जिसमे सज्जन सदाचारी व्यक्ति पहुँचते है। उस स्थिति में कुछ कर्म नष्ट हो जाते है, कुछ का परिपाक नही होता और कुछ सक्रिय रहते है। यह क्षयोपशमिक दशा है।[1]

---

[1] एक विकासमान जीव जिन स्थितियो से होकर गुजरता है उन्हे दर्शन की भाषा मे गुणस्थान कहा गया है। ये चौदह होते हैं। पहली तीन स्थितियाँ जीव मे जैन धर्म के प्रति आस्था उदित होने से सबद्ध है, अगली पाच स्थितियो मे समस्त काषाय नियत्रित होते हैं, दूर होते है, अगली चार स्थितियो में साधक योग का अभ्यास करता है और अपने समस्त कर्मों का नाश करता है। तेरहवीं स्थिति मे वह समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है किन्तु फिर भी योग का अभ्यास करता रहता है और अन्ततः चौदहवीं स्थिति में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

(देखें, द्रव्य संग्रहवृत्ति, श्लोक १३)।

कर्म, आस्रव एवं निर्जरा

कर्मों के कारण जीवों को इस संसार क्रम का चक्र भोगना होता है, देव, मानव, पशु या कीट बनकर विविध स्थानों पर जन्म और पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कर्म एक प्रकार से अतिसूक्ष्म आण्विक द्रव्य के रूप में परिकल्पित किए गए हैं (कर्मवर्गणा)। इन कर्मद्रव्यों का जीव में प्रवेश 'आस्रव' कहा गया है। ये कर्म मन, वचन और काम से उद्भूत होते हैं। आस्रव के उपमान से यही तात्पर्य है कि जिस प्रकार विभिन्न स्रोतों से जल एक जलाशय मे प्रविष्ट होता है उसी प्रकार कर्म जीव में प्रविष्ट होते रहते हैं। जैन कर्मों और उन स्रोतो में जिनके द्वारा कर्म जीव में प्रविष्ट होते है, भेद करते हैं। आस्रव को इसीलिए उन्होंने दो वर्गों मे विभक्त किया है, भावास्रव और कर्मास्रव। भावास्रव वह चिन्तना या भावना है जिसके माध्यम से या जिसके कारण कर्मद्रव्य के अणु जीव मे प्रविष्ट होते हैं।[1] नेमिचन्द्र के अनुसार भावास्रव जीव में होने वाला ऐसा परिवर्तन है जिसके रूप मे कर्म जीव मे प्रविष्ट होते है। यह उस परिवर्तन से विपरीत है जो कर्मास्रव का नाश करते समय होता है।[2] कर्मास्रव जीव मे कर्मों के प्रविष्ट होने की वास्तविक क्रिया है। भावास्रव सामान्यत पाँच प्रकार के बतलाए गए है–मिथ्यात्व, अविरति (नियंत्रणहीनता), प्रमाद, योग और काषाय। मिथ्यात्व भी पाँच प्रकार का है–एकान्त (बिना विमर्श के किया हुआ विश्वास या कोई चरम धारणा), विपरीत (सत्य के बारे मे अनिश्चय), विनय (यह जानते हुए भी कि यह विश्वास गलत है, उसे आदत के कारण लिए रहना), सशय (सही-गलत के बारे मे सदेह) और अज्ञान (तर्क के अभाव में किसी विश्वास का न बन पाना)। अविरति भी पाँच प्रकार की होती है–हिंसा, अनृत, चौर्य, अब्रह्म (असंयम) और परिग्रहाकाक्षा। प्रमाद भी पाँच प्रकार का होता है–विकथा (कुवार्ता), काषाय, इन्द्रिय (इन्द्रियों का असयम), निद्रा और राग (आसक्ति)।[3]

अब हम द्रव्यास्रव पर आते है। यह कर्म के आस्रव की वास्तविक क्रिया है। चूँकि कर्म आठ विभिन्न प्रकारो से जीव को प्रभावित करते है इसलिए कर्मों को भी आठ वर्गों मे विभक्त किया गया है–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। यह कर्मास्रव वस्तुत भावास्रव या कुविचारो के कारण अथवा जीव मे हुए भावजन्म परिणामों (परिवर्तनो) के कारण होता है। भाव की स्थितियाँ जो कर्मों के प्रवेश को निर्धारित करती हैं, 'भावबन्ध' कहे जाते हैं और

---

[1] द्रव्य संग्रहवृत्ति श्लोक २६।

[2] द्रव्यसंग्रह श्लोक २६ पर नेमिचन्द्र की टीका (एस. सी. घोषाल द्वारा संपादित)।

[3] श्लोक सख्या ३० पर नेमिचन्द्र की टीका।

जीव का वह बन्धन जो कर्मों के सम्पर्क के विकार के कारण उद्भूत होता है–'द्रव्य बंध' कहा जाता है। भावबध के कारण कर्मों के साथ जीव का सम्पर्क होता है।[1] यह सम्पर्क कुछ इस प्रकार का परिकल्पित किया गया है जैसे किसी पुरुष के तेल से सने शरीर पर धूल चिपकती जाती है। गुणरत्न के शब्दो मे 'कर्म के प्रवेश का तात्पर्य है किसी विशिष्ट वर्ग के कर्मद्रव्य के साथ जीव का संपर्क, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार तेलाक्त शरीर मे धूल का चिपकना।' जीव के समस्त भागों में कर्मद्रव्यो के अनन्त अणु चिपक जाते हैं जिससे वह चारो ओर से इस प्रकार आवृत हो जाता है कि हम इस दृष्टि से ससार स्थिति के इस जीव को कभी-कभी द्रव्य शरीर कह सकते है।[2] एक दृष्टि से कर्म बन्धन केवल पुण्य और पाप ही है।[3] दूसरी दृष्टि से इनके चार भेद किए गए हैं–कर्मों की प्रकृति, स्थिति (बन्धन की), अनुभाग (तीव्रता) और प्रदेश (फैलाव) के आधार पर। कर्मों की प्रकृति से तात्पर्य है कर्मों के आठ प्रकार जो ऊपर वर्णित है। ज्ञानावरणीय कर्म जीव के विस्तृत और अनन्त विशिष्ट ज्ञान पर आवरण डालता है, दर्शनावरणीय कर्म जीव के अनन्त सामान्य ज्ञान पर आवरण डालता है, वेदनीय कर्म जीव मे सुखदुःखानुभूति पैदा करता है, मोहनीय कर्म जीव को इस प्रकार मोह के जाल मे डाल देता है कि वह क्या सही है और क्या गलत है इसका भेद नही कर पाता, आयु कर्म जीव की शरीर विशेष मे आयु निर्धारित करता है, नामकर्म व्यक्तियो के व्यक्तित्व निर्धारित करता है, गोत्र कर्म जीव के लिए विशिष्ट सामाजिक स्थितियाँ सर्दभित करता है और अन्तराय कर्म जीव के द्वारा सम्यक् आचरण मे विघ्न डालता है। किसी भी कर्म की जीव मे रहने की अवधि स्थिति कही जाती है। कर्म तीव्र, मध्यम और मन्द इस प्रकार के वर्गों मे विभाजित किए जा सकते है–इसी आधार पर तीसरा सिद्धान्त जिसे अनुभाग कहा जाता है, बतलाया गया है, कर्मों की जीवो मे स्थिति और उनकी तीव्रता, मन्दता आदि विभेद जीव के 'काषायो' पर निर्भर होती है तथा ज्ञानावरणीय आदि वर्ग विभाजन जीव के कर्मद्रव्य से सम्पर्क विशेष की प्रकृति पर निर्भर होता है।[4]

कर्मों के प्रवेश के दो प्रकारो, भावास्रव और कर्मास्रव के अनुरूप ही ऐसे प्रवेश का प्रतिरोध करने वाली दो नियत्रक प्रक्रियाएँ बतलाई गई है, जो विचारो को नियंत्रित करके तथा कर्मद्रव्यो का प्रतिरोध करके कर्मों पर अकुश लगाती है। इन्हे क्रमशः भावसंवर तथा द्रव्यसवर कहा गया है। भाव सवर सात प्रकार के बतलाए गए हैं। (१) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की प्रतिज्ञाएँ (२) ईर्या (जीव हिंसा

---

[1] श्लोक ३१ पर नेमिचन्द टीका तथा वर्धमानपुराण १६-४४ घोषाल द्वारा उद्धृत।

[2] देखें, गुणरत्न पृ० १८१।

[3] वही।

[4] वर्धमानपुराण १६-६७-६८ तथा द्रव्यसंग्रहवृत्ति श्लोक ३५।

रोकने के लिए निर्धारित मार्गों के अवलंबन हेतु समितियाँ), भाषा (संयत और पवित्र भाषण), एषणा (उचित भिक्षाटन) आदि (३) गुप्तियाँ अर्थात् मन, वचन और काम का संयम (४) धर्म अर्थात् क्षमा, विनय, सदाचार, सचाई, स्वच्छता, सयम, तप, त्याग, लाभ और हानि के प्रति उदासीनता, ब्रह्मचर्य[1] (५) अनुप्रेक्षा अर्थात् ससार की अनित्यता पर विचार, सत्य के बिना सब कुछ निसार है इसका एहसास, सृष्टिक्रम अच्छे और बुरे कर्मों के प्रति हमारी स्वयं की जिम्मेदारी, आत्मा और अनात्म के भेद, शरीर तथा उसकी उपाधियो के अशुचित्व, कर्मों के प्रवेश तथा जो कर्म प्रविष्ट हो गए है उसके विनाश के सम्बन्ध मे, जीव, द्रव्य ब्रह्माड आदि तत्वो के बारे मे, सत्य, ज्ञान, श्रद्धा और आचरण की उपलब्धि की कठिनता के बारे मे तथा ससार के सारभूत सिद्धान्तो के विषय मे चिन्तन ।[2] (६) परीषहजय अर्थात् ताप, शीत और शारीरिक असुविधाओं पर विजय प्राप्त करना तथा (७) चरित्र अर्थात् सम्यक् आचरण ।

इसके बाद हम निर्जरा अर्थात् कर्मों के विरेचन या उनके विनाश के सम्बन्ध मे विवेचन करेंगे । निर्जरा दो प्रकार की बताई गई है, भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा । भाव निर्जरा से तात्पर्य है जीव मे इस प्रकार का वैचारिक परिवर्तन जिससे कि कर्म द्रव्य का विनाश हो सके । द्रव्य निर्जरा से तात्पर्य है कर्मों के विनाश की वास्तविक प्रक्रिया जो या तो उनके फलभोग द्वारा होता है अथवा कर्मों के परिपाक के समय के पूर्व ही तप द्वारा हो जाता है । इन दोनो को क्रमश सविपाक और अविपाक निर्जरा कहा जाता है । जब समस्त कर्मों का विनाश हो जाता है तो मोक्ष प्राप्त हो जाता है ।

पुद्गल

अजीवो के सात भेद है। पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुण्य और पाप । पुद्गल का अर्थ है द्रव्य ।[3] इसे अस्तिकाय इसलिए कहा जाता है कि यह जगह घेरता है । पुद्गल अनेक अणुओ से बना होता है जो आकारहीन होते है और अनादि होते है । द्रव्य स्थूल (जैसे कि सासारिक वस्तुएँ जिन्हे हम देखते है) और सूक्ष्म (जैसे कर्मद्रव्य जो जीव को दूषित करता है, दोनों रूपो मे विद्यमान है । समस्त भौतिक पदार्थ मूलत. अणुओ के सयोग द्वारा पैदा होते है । द्रव्य का सबसे छोटा अविभाज्य टुकड़ा अणु कहा जाता है । अणु अनादि होते है और

---

[1] तत्वार्थाधिगम सूत्र ।

[2] वही ।

[3] यह बौद्ध सिद्धान्त से बिलकुल विभिन्न है । बौद्धो मे पुद्गल से तात्पर्य एक व्यक्ति या इकाई से है ।

उनमे स्पर्श, स्वाद, गंध और रंग होता है। अणुओ के ज्यामितिक, गोलीय अथवा घनीय रूप में संयुक्त हो जाने पर उनके कलेवर की विभिन्न मात्राओं के पारस्परिक सयोजन के अनुरूप (धनप्रतर भेदेन) ही ससार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते है। कुछ सयोजन दो स्थानो पर (युग्मप्रदेश) पारस्परिक सयोग द्वारा बनते है और कुछ स्थानों पर आकर्षण शक्ति द्वारा अणु परस्पर सयुक्त हो जाते हैं (ओज प्रदेश)। (प्रज्ञापनोपाग सूत्र, (१०-१२) दो अणु एक स्कंध बनाते है, इनमे एक स्नेही और दूसरा शुष्क हो सकता है अथवा उनके स्नेह और शुष्कता की विभिन्न मात्राएँ हो सकती है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि बौद्धो के अनुसार अणुओं मे कोई पारस्परिक सयोग नही होता जबकि जैन मानते है कि सयोग आवश्यक है और अनुभव सिद्ध हैं। अणुओ के सयोग अन्य सयोगो से इसी प्रकार जुडते जाते है और अन्तत ससार के विभिन्न स्थूल पदार्थ जन्म लेते है। पदार्थों में निरतर परिवर्तन (परिणाम) होता रहता है जिससे उनके कुछ गुण नष्ट हो जाते है और नए गुण पैदा हो जाते हैं। पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि चार तत्व हैं और इनके अणु प्रकृति मे समान है। स्थूलता का प्रत्यक्ष भ्रम नहीं है जो कि हमारे मन मे अणुओ के प्रत्यक्ष के कारण भासित होता हो (जैसा कि बौद्धो का मत है) न ही यह प्रत्यक्ष आकाश मे लम्बाई और चौडाई मे फैले हुए अणुओ के प्रत्यक्ष का परिणाम है (जैसा कि साख्य योग का मत है), किन्तु यह प्रत्यक्ष स्थूलता, नीलता अथवा कठोरता के गुणो का, जो सयुक्त अणुओ मे होने के कारण पदार्थ मे भी व्याप्त हो जाते है, प्रत्यक्ष है, इस लिए हममे स्थूल नील या कठोर पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। जब कोई चीज हमे नीली दिखती है तब यह क्रिया होती है कि उस पदार्थ के अणुओ द्वारा नीलत्व का गुण ग्रहण कर लिया गया होता है और दर्शनावरणीय और ज्ञानावरणीय आवरण हट जाने के कारण जीव मे उस नील पदार्थ का प्रत्यक्ष और ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अणुओ के समूहो मे गुणो के धारण के बाद उनमे जो समानता (समानरूपता) दिखलाई देती है और जिसके कारण वह पदार्थ कुल मिलाकर एक इकाई के रूप मे दिखाई देता है (जैसे एक गाय) दार्शनिक भाषा मे तिर्यक् सामान्य कहा गया है। यह सामान्य न तो मन का आरोप है न आभासीय है (जैसा कि नैयायिक मानते है) यह केवल इस कारण है कि विभिन्न अणुओ मे समान गुण विकसित हो जाने के कारण उनके समवाय मे उन्ही गुणो की सगति पैदा हो जाती है। जब तक गुणो की यह समानता रहती है तब तक वह पदार्थ समान दिखलाई देता है और कुछ समय तक दिखलाई देता रहता है। जब हम एक पदार्थ को स्थायी समझते है तो यह इस प्रकार होता है कि अणुओ के एक समवाय मे समानता की प्रवृत्तियां हमें देखने को मिलती है और उनमें समान गुणों का आपेक्षिक स्थायित्व (पदार्थों में) हमे दिखलाई देता है। जैनों के अनुसार पदार्थ क्षणिक नही है। उनके गुणो के बारे मे यह मानते हुए भी कि पुराने गुण नष्ट होते है और नए पैदा होते हैं, वे ये मानते है कि पदार्थ के रूप मे एक इकाई उसी प्रकार और स्थायी रह सकती है। समय मे गुणो की यह

समानता या स्थायिता ऊर्ध्वसामान्य[1] कही गई है। यदि अणुओं को इस दृष्टि से देखा जाए कि उनमें गुणों का विनाश व उद्भव होता रहता है तो उन्हें नश्वर कहा जा सकता है किन्तु यदि द्रव्य के रूप में देखा जाए तो वे चिरस्थायी और अनादि हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश

धर्म और अधर्म, इन शब्दो का जो तात्पर्य भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओ मे लिया जाता है, जैन दर्शन मे उससे बिलकुल विभिन्न है। धर्म, स्वाद, स्पर्श, गन्ध, शब्द से रहित है। यह लोकाकाश मे पूर्णत व्याप्त है, उसके प्रत्येक अश मे समाया हुआ है, इसीलिए इसे अस्तिकाय सज्ञा दी गई है। समस्त क्रिया का यही रहस्य है। जिस प्रकार मछली के चलने फिरने का एकमात्र कारण और आधार जल है उसी प्रकार विश्व की समस्त गति का कारण और सहचारी धर्म ही है, सारी क्रियाएँ उसी से सभव होती है। *मछली की गति के लिए जल उदासीन कारण है, प्रेरक कारण नही।* गतिहीन मछली को जल चलने फिरने के लिए बाध्य नही कर सकता, किन्तु यदि मछली गति मे आना चाहती है तो उसके लिए जल आवश्यक कारण या सहायक है। धर्म द्रव्य को गति नही दे[2] सकता किन्तु यदि उनमे गति आती है तो बिना धर्म के वह नही आ सकती। इसलिए लोक की चरम स्थिति मे, मुक्त जीवो के क्षेत्र मे, चूंकि कोई धर्म नही रहता अत. मुक्त जीव पूर्ण शाति और स्थिरता प्राप्त कर लेते है। उनमे गति नही हो सकती क्योकि आवश्यक गतितत्व, धर्म, वहाँ नही है। अधर्म को भी इसी प्रकार एक व्यापक इकाई माना गया है जो जीवो को और पुद्गलो को स्थिर रखता है, रखने मे सहायता करता है। यदि धर्म नही होता तो हिलडुल नही सकता था। यदि अधर्म नही होता तो कोई तत्व स्थिर नही रह सकता था। इन दो पृथक् तत्वो को मानने की आवश्यकता सवभत. जैनो को इसलिए अनुभव हुई कि उनके मत में जीवो या अणुओ की आतरिक अथवा पारस्परिक क्रिया के लिए किसी बाहरी इकाई की सहायता का सिद्धान्त माना जा चुका था, बाह्य गति में परिवर्तित होने के लिए उसका प्रेरक तत्व माना जाना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त यदि यह मान लिया जाता कि जीवो मे गति की क्रिया स्वय भू है तो मोक्ष के समय भी उनको गतिशील मानना पड़ता जो जैन नही चाहते थे, अतः यह माना गया कि वास्तविक गति की निष्पत्ति के लिए किसी बाह्य सत्ता की सहायता आवश्यक होती है जो मुक्त जीवों के क्षेत्र मे नहीं रहती। आकाश वह सूक्ष्म सत्ता है, जो लोक और अलोक (मुक्त जीवो के उच्चतर

---

[1] देखें, प्रेमयकमलमार्तण्ड पृ० १३६-१४३, जैनतर्कवार्तिक पृ० १०६।

[2] द्रव्यसंग्रहवृत्ति १७-२०।

क्षेत्र) में व्याप्त रहता है और जिसमे धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल आदि समस्त तत्त्व स्थित रहते हैं। *यह केवल अभाव मात्र नही है, या आवरण या प्रतिरोधक रहित शून्य नहीं है,* किन्तु एक वास्तविक तत्व है जिसमे अन्य वस्तु प्रविष्ट हो सकती है। इसी व्यापकता के कारण इसे आकाशास्तिकाय कहा गया है।[1]

काल एवं समय

वस्तु-सत्ता मे काल ऐसे अनन्त कणों से बना है जो आपस मे नही मिलते किन्तु अणुओं के गुणो मे परिवर्तन, नए गुणो का अधिगम तथा रूपान्तरण की घटनाओं को सम्भव बनाते हैं, उनमें सहायता करते है। काल स्वयं वस्तुओं के गुणों में परिवर्तन नही लाता किन्तु जैसे आकाश अपने में अन्त प्रवेश और धर्म की गति मे सहायक होता है उसी प्रकार वस्तुओं मे नए गुणो के परिवर्तन की क्रिया में सहायक होता है। काल *को जब क्षणो, घंटो, दिनों आदि के रूप मे लिया जाता है, तब उसे समय कहा जाता है।* यह अपरिवर्ती, सनातन, काल की विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्ति ही है। इस प्रकार काल केवल अन्य वस्तुओं मे परिवर्तन लाने मे सहायक नही होता किन्तु स्वय अपने रूपान्तरो जैसे क्षण, मुहूर्त, होरा आदि मे भी अपने आपको रूपान्तरित होने की स्थिति मे ला सकता है। इस दृष्टि से यह द्रव्य है और क्षण, मुहूर्त, होरा आदि इसके पर्याय है। समय की एक इकाई वह है जो एक अणु द्वारा देश की एक इकाई को अपनी मंदगति से पार करने मे लगती है।

जैनों का ब्रह्माण्ड

जैनों के अनुसार विश्व अनादि और अनन्त है। लोक वह स्थान है जहां अच्छे और बुरे कार्यों के परिणामस्वरूप सुख और दुख का भोग या अनुभव होता है। इसे तीन भागो मे विभाजित किया गया है—ऊर्ध्व (जहां देव रहते है), मध्य (जहां हम रहते है), अधः (जहां नरक के जीव रहते है)। लोकाकाश मे धर्म समाया रहता है जो सारी गतियो को सम्भव बनाता है। लोकाकाश के बाहर धर्म नही है अतः कोई गति नही है। वहां केवल आकाश है। लोकाकाश के चारों ओर वायु के तीन स्तर है। पूर्णता प्राप्त कर जीव ऊर्ध्वलोक की ओर उठ जाता है, लोकाकाश से ऊपर चला जाता है और वहां (धर्म होने के कारण) स्थिर हो जाता है।

---

[1] द्रव्यसंग्रहवृत्ति १६।

जैनों का योग

जैनों के अनुसार योग मोक्ष का कारण है। योग ज्ञान (यथार्थ का ज्ञान), श्रद्धा (जिनों के उपदेशो में) और चरित्र (बुरे आचरण से पूर्ण निवृत्ति) से बनता है। चरित्र मे आते है–अहिंसा (भूल या चूक से भी किसी जीव को समाप्त न होने देना), सूनृत (सत्य, शुभ और प्रिय बोलना), अस्तेय (बिना दिए कोई चीज न लेना), ब्रह्मचर्य (सब प्रकार के विषयो की तृष्णा से मन, वचन और काय की विरक्ति) एवं अपरिग्रह (किसी भी वस्तु से मोह न रखना)।[१]

आचार के कट्टर नियम उनके लिए आवश्यक है जो मोक्ष प्राप्ति के लिए तत्पर हैं और साधु हैं। सामान्य श्रावक गृहस्थों के लिए जो आचार नियम बतलाए गए हैं वे पर्याप्त सरल और व्यावहारिक है। हेमचन्द्र ने कहा है कि सामान्य श्रावक को ईमानदारी से धन कमाना चाहिए, सज्जनो के आचरण का अनुसरण करना चाहिए, अच्छे परिवार की अच्छी कन्या से विवाह करना चाहिए, अपने देश के सदाचार का पालन करना चाहिए आदि आदि। ये तो ऐसे नियम हैं जिनका पालन आज भी एक सद्-गृहस्थ के लिए आवश्यक होता है। अहिंसा, सूनृत, अस्तेय और ब्रह्मचर्य के पालन पर काफी जोर दिया गया है किन्तु इन सबका आधारभूत गुण अहिंसा ही बतलाया गया है। सूनृत, अस्तेय और ब्रह्मचर्य को अहिंसा के ही अनुपूरक गुणो के रूप मे पालनीय माना गया है। इस दृष्टि से अहिंसा को जैन धर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण, आधारभूत नैतिक गुण कहा जा सकता है, समस्त धर्मों पर व्यवस्था उसी मापदण्ड को सामने रखते हुए दी जा सकती है। सूनृत, अस्तेय और ब्रह्मचर्य भी उसी पर आधृत है क्योकि उनके पालन न करने से अहिंसाव्रत विक्षत होता है। इन व्रतो के पालन का एक

[१] कुछ नीतिसमत आचरणो को भी चरित्र कहा गया है। वे ये है–ईर्या (उस मार्ग पर चलना जिस पर पहले से अन्य लोग चल चुके हैं, और जो सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है ताकि चलते समय अपने पैरो से कीटो आदि जीवो की हिंसा न हो पाए) भाषा (समस्त प्राणियो से अच्छा और मीठा बोलना), ईषण (साधुओ के सुसमत तरीके से भिक्षाटन), दानसमिति (किसी भी चीज को लेते या देते समय आसन की भली प्रकार देख-भाल कर लेना ताकि अनधिकार विपर्यय न हो), उत्सर्ग समिति (इस बात का ध्यान रखना कि मल मूत्रादि इस प्रकार न फेंक दिए जाएं कि किसी जीव का नुकसान हो), मनोगुप्ति (समस्त मिथ्या विचारो से दूर रहना, अपने आप में संतुष्ट रहना तथा समस्त व्यक्तियो को मन से समान समझना), वाग्गुप्ति (मौन) तथा कायगुप्ति (शरीर का पूर्ण नियंत्रण)। द्रव्यसंग्रहवृत्ति मे पाँच अन्य प्रकार के चरित्र भी गिनाए गए हैं। (३५)

सरल प्रकार गृहस्थो के लिए बनाया गया है जो अणुव्रत कहा गया है। जो लोग मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हैं उन्हे इन गुणो का कट्टरता से पालन करना चाहिए–उसे महाव्रत कहा जाता है। उदाहरणार्थ ब्रह्मचर्य पालन का अणुव्रत एक सामान्य गृहस्थ के लिए यही होगा कि वह व्यभिचार न करे–किन्तु एक साधु के लिए इसका तात्पर्य महाव्रत के रूप में यह होगा कि मन, वचन और कर्म के सभी प्रकार के कामुक विचारों, कृत्यों और वचनो का पूर्ण परिहार। सामान्य गृहस्थों के लिए अहिंसा का अणुव्रत होगा किसी जीव की हत्या न करना किन्तु महाव्रत यह होगा कि किसी भी प्रकार आपके कारण किसी भी जीव की हत्या का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोई कारण या प्रसंग न बन जाए इसका पूर्ण ध्यान रखना और अनुपालन करना।

अन्य अनेक व्रत सामान्य श्रावकों के लिए बतलाए गए है जो सभी अहिंसा के मूलभूत तत्व पर आधारित हैं। ये हैं–(१) दिग् विरति (एक निर्धारित, सीमित स्थल पर ही समस्त क्रियाकलाप निर्वर्तित कर लेना ताकि अलग अलग स्थलों मे विद्यमान जीवो की हिंसा से बचा जा सके) (२) भोगोपभोगमान (आहार विहार में सयम अर्थात् मद्यपान न करना, मास, घी, शहद, मेवा कुछ अन्य वनस्पति, फल शाक आदि न खाना तथा भोजन के समय और स्थल को सीमित कर आहार को नियन्त्रित करना (३) अनर्थदण्ड जिसमे–(क) अपध्यान (किसी को शारीरिक हिंसा न पहुँचाना, शत्रुओं की हत्या न करना आदि) (ख) पापोपदेश (लोगों को कृषि कर्म में लगने की सलाह न देना क्योकि उससे जीव हिसा होती है) (ग) हिंसोपकारिदान (कृषि के उपादानो का लोगो को दान न करना क्योकि उससे कीटो की अन्ततः हिंसा होती है) (घ) प्रमादाचरण (सगीतगोष्ठियो, नाट्यों आदि मे न जाना, कामुक साहित्य न पढ़ना, द्यूत से विरति) इत्यादि का ध्यान रखा जाता है। (४) शिक्षापदव्रत जिसमें (क) सामयिक व्रत, (समस्त प्राणियो मे समानता का बर्ताव), (ख) देशावकाशिकव्रत (दिग्विरतिव्रतों का उत्तरोत्तर अधिकाधिक पालन), (ग) पोषधव्रत (कुछ अन्य सयम), (घ) अतिथिसविभागव्रत (अतिथियो को दान)। इन सब धर्मों का उल्लघन, जिसे अतिचार कहा गया है, वर्जित है।

समस्त प्रत्यक्ष, ज्ञान और आचरण जीव के होते है और यह ज्ञान कि ये सब जीव के किस प्रकार होते है जीव का सच्चा ज्ञान होता है। आत्मज्ञान के अभाव के कारण उत्पन्न समस्त दुःख केवल सच्चे आत्मज्ञान से ही विनष्ट हो सकते हैं। जीव (आत्मा) केवल शुद्ध बुद्धि स्वरूप है, वह अपने कर्म के कारण शरीर धारण करता है। जब ध्यान से समस्त कर्मों का दहन हो जाता है (ध्यानाग्निदग्धकर्माणं) तो आत्मा शुद्ध हो जाती है। जीव ही अपने आप मे संसार (जन्म मृत्यु चक्र, पुनर्जन्मचक्र) होता है जब वह चार काषायों (भाव दूषणों) और इन्द्रियों से कलुषित होता है–क्रोध, मान (घमड), माया, (पाखड तथा अन्यो को छलने की प्रवृत्ति) और लोभ। ये काषाय

इन्द्रियसयम से ही निवृत्त हो सकते है। इन्द्रिय सयम से मन.शुद्धि होती है। बिना मनःशुद्धि के योग मार्ग मे अग्रसर नही हुआ जा सकता। मन जब संयत होता है तो हमारी सारी क्रियाएँ नियंत्रित हो जाती है। अतः जो मोक्ष मार्ग मे प्रवृत्त होता है उसे मन. सयम के लिए समस्त प्रयत्न करना चाहिए। जब तक मन शुद्ध नही होता कोई तप लाभकारी नहीं हो सकता। मन शुद्धि से ही समस्त प्रकार के मोह और रागद्वेष निवृत्त हो सकते है। मोह और रागद्वेष से ही मनुष्य बन्धन में बधता है। इसलिए योगी के लिए उस बधन से मुक्त होना और वास्तविक अर्थों मे 'मुक्त' होना आवश्यक है। जब साधक समस्त प्राणियो से समदृष्टि या समत्व रखना सीख लेता है तो वह राग एव द्वेष पर विजय प्राप्त कर सकता है, इसके बिना लाखो वर्षों की तपस्या से भी राग द्वेष पर विजय प्राप्त नही किया जा सकता। समस्त प्राणियो मे समत्व दृष्टि प्राप्त करने के लिए हमे निम्नलिखित भावनाओं का अनुपालन करना चाहिए।

समस्त वस्तुओ की अनित्यता पर विचार करना। एक चीज जो प्रातःकाल थी, दोपहर मे नही रहेगी, वह जो दोपहर मे थी, रात को नही रहेगी, सारे पदार्थ अनित्य और परिवर्तनशील है। हमारा शरीर और हमारे सुख के समस्त विषय, धन और यौवन स्वप्न के समान अथवा आँधी मे उडते रुई के टुकडो के समान चल है।

समस्त प्राणी, यहाँ तक कि देवता भी मरणशील है। हमारे सारे सम्बन्धी अपने अपने कर्मों से मृत्यु के शिकार होगे। ससार दुःखो से भरा है। इसमे हमारा कोई भी सहायक नही है। जिस किसी बात के लिए हम जिस किसी पर आशा लगाएँगे या निर्भर रहेंगे वह हमे धोखा देगा। ऐसा अनुभव सिद्ध है। इस विचार को अशरण भावना कहा गया है।

कुछ लोग ससार मे पैदा होते है, कुछ लोग दुःख पाते है, कुछ पूर्व जन्मो का फल भोगते है। हम सब हमारे परिवेश, कर्म, विभिन्न शरीरो तथा विभिन्न उपादानो के कारण जो हमे प्राप्त है, एक दूसरे मे विभिन्न और पृथक् है। इन विचारो को एकत्व भावना और अन्यत्व भावना कहा गया है।

यह शरीर दूषित तत्वो का, मास, रक्त, अस्थियो का बना है और अशुद्ध है। इसे अशुचि भावना कहा गया है।

यदि मेरा मन विश्व मित्रता और करुणा की भावना से पवित्र हो गया है और दोष दूर हो गया है तो मैं शुभ फल प्राप्त करूँगा। किन्तु यदि, इसके विपरीत, मैं पाप करूँगा और धर्म का उल्लघन करूँगा तो मुझे बहुत अशुभ परिणाम प्राप्त होगा। इसे आस्रव भावना कहा गया है। आस्रव (कर्मों के प्रवेश) के निरोध से सवर (कर्मों की विरति) होता है तथा पूर्व संचित कर्मों के विनाश से निर्जरा (कर्म द्रव्य का नाश) होती है।

दश धर्मों का अर्थात् संयम, सूनृत, शौच (स्वच्छता), ब्रह्म (पवित्रत), अकिंचनता (लालच का अभाव), तप (त्याग), सहनशीलता, शान्ति (क्षमा), मार्दव, (मृदुता), ऋजुता (सरल स्वभाव) तथा मुक्ति (समस्त पापों से मुक्ति), आचरण ही शुभ की प्राप्ति मे सहायक हो सकता है। इस संसार मे ये ही हमारे सहायक हो सकते हैं। इन्ही पर विश्व आधारित है। इस भावना को धर्मस्वाख्यातता भावना कहा गया है।

जैन ब्रह्मांड सिद्धान्त पर भी निरन्तर भावना रखनी चाहिए तथा यह भी चिन्तन करते रहना चाहिए कि मनुष्यो की विभिन्न दशाओ के लिए उनके कर्म ही जिम्मेदार होते है। इन दोनो को क्रमशः लोकभावना तथा बोधिभावना कहा गया है।

जब इन भावनाओ के निरन्तर अभ्यास से मनुष्य को समस्त विषयो से विरति होने लगती है तो समग्र प्राणियो मे समत्व की भावना विकसित होने लगती है और वह सासारिक सुखो के प्रति अनासक्त हो जाता है। तब शान्त मन से वह दोषो से मुक्त होने लगता है। इसके बाद उसे ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। समत्व अर्थात् मन की समानता, भावना और ध्यान ये परस्पर सम्बद्ध है। समत्व के बिना ध्यान और ध्यान के बिना समत्व सम्भव नही है। ध्यान से मन को एकाग्र करने के लिए मैत्री (विश्वमित्रता की भावना), प्रमोद (मनुष्यो के अच्छे पक्ष पर जोर देने की आदत), करुणा (विश्वकारुण्य) तथा माध्यस्थ्य (लोगो के दोषो के प्रति उपेक्षा) का सहारा लेना चाहिए। जैन प्रार्थना मत्रो पर मन को एकाग्र करने को जैन लोग ध्यान कहते है। ध्यान का उपयोग, जैसाकि ऊपर वर्णित है, मन को एकाग्र, शुद्ध करने और समता की भावना विकसित करने के लिए ही किया जाता है। मोक्ष तो कर्म द्रव्यो के पूर्ण विनाश से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार जैनो का योग–नैतिक मानसिक अनुशासन का ही मार्ग है जो मन को शुद्ध करता है। वह हिन्दू दर्शनो के सुप्रसिद्ध योग से विभिन्न है–बौद्धो के योग से भी वह भिन्न ही है।[1]

जैनों का निरीश्वरवाद[2]

नैयायिको का कथन है कि यह जगत् कार्य है अत निश्चित रूप से इसका कोई कारण भी होगा। इसका कर्ता कोई बुद्धिमान ही हो सकता है और वह ईश्वर है। इसका उत्तर जैन इस प्रकार देते है, 'जब नैयायिक यह कहता है कि जगत् एक कार्य है

---

[1] हेमचन्द्र का योगशास्त्र, विंडिश द्वारा सपादित (जीतश्रिफत देर डूशेन मार्ग गेसल-शाफट लाइपजिग, १८७४) तथा घोषाल द्वारा संपादित द्रव्यसग्रह (१९१७)।

[2] देखें, गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका।

तो कार्य से उसका तात्पर्य क्या है ? क्या वह यह कहना चाहता है कि कार्य वह इस-लिए है (१) कि वह अवयवों से बना (सावयव) है या (२) वह किसी अस्तित्वहीन वस्तु के कारणो की आकस्मिक संगति का फल है (३) यह ऐसी वस्तु है जिसे कोई किसी के द्वारा बनाई हुई मानता है या (४) वह परिवर्तनशील वस्तु है (विकारित्वम्)। फिर, सावयव का तात्पर्य भी क्या है ? यदि इसका तात्पर्य अवयवों के रूप मे अस्तित्व मे आना है तो अवयवो मे विद्यमान जो सामान्य है उन्हे भी कार्यों के रूप मे माना जाना चाहिए, तब वे नश्वर होंगे, किन्तु उन्हे नैयायिक अवयवहीन और अनादि मानते हैं। यदि इसका तात्पर्य अवयवी से है, जिसके कई अवयव हो, तो आकाश को भी कार्य मानना होगा किन्तु नैयायिक उसे नित्य मानते हैं।

पुन. कार्य का तात्पर्य एक अस्तित्वहीन वस्तु के कारणो की आकस्मिक सगति जो पहले विद्यमान नही थे, नहीं हो सकता क्योकि तब हम जगत् को कार्य नहीं कह सकेंगे, कारण कि पृथ्वी आदि तत्वों के अणु नित्य माने जाते है।

यदि कार्य का तात्पर्य (किसी के द्वारा जो बनाया हुआ माना जाता हो) लिया जाए तो आकाश को भी कार्य मानना होगा क्योकि जब कोई व्यक्ति जमीन खोदकर गड्ढा बनाता है तो वह समझता है कि जो गड्ढा उसने खोदा है उसमे जो आकाश है वह उसी ने बनाया है।

यदि इसका तात्पर्य 'जो परिवर्तनशील हो' लिया जाता है तो वह भी सही नही है क्योकि तब यह तर्क भी हो सकता है कि ईश्वर भी परिवर्तनशील है और उसे बनाने वाला कर्ता भी कोई होना चाहिए, उस कर्ता को बनाने वाला भी एक और कोई कर्ता मानना होगा और इस प्रकार अनन्त कर्ता मानने होंगे। फिर, यदि ईश्वर कर्ता है तो वह अवश्य ही परिवर्तनशील होगा क्योकि उसका कार्य परिवर्तनशील है और वह निर्माण मे लगा हुआ है।

इसके अतिरिक्त हम जानते है कि जो बाते कभी घटित होती है और अन्य किसी समय घटित नही होती उन्हे कार्य कहा जाता है। किन्तु जगत्, अपने रूप मे सदा ही विद्यमान रहता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि जगत् के अन्दर विद्यमान वस्तुएँ जैसे पेड-पौधे कार्य है तो फिर आपका तथाकथित ईश्वर भी कार्य होगा क्योकि उसकी इच्छा और विचार विभिन्न समयो मे विभिन्न रूप से कार्य करते माने जाएँगे और वे ईश्वर मे निहित है जैसे पेड-पौधे जगत् मे निहित है, अत. जगत् को कार्य माना गया है। इस प्रकार इच्छा और विचार के आधार पर वह भी कार्य हो जाता है। तब अणु भी कार्य बन जाएँगे क्योकि ताप के द्वारा उनमे भी रंगो के परिवर्तन आते है।

यदि तर्क के लिए यह मान भी लें कि जगत् कार्य है और प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है अत. जगत् का भी कोई कारण है तो यह भी मानना आवश्यक नही कि

वह कारण कोई बुद्धिमान्, चेतनाशील कर्ता ही होगा जैसा–आप ईश्वर को मानते हैं। यदि यह तर्क दें कि मानव-कर्ता के निदर्शन के आधार पर ईश्वर को चेतन कर्ता माना गया है तो उसी आधार पर उसे मानव के समान ही अपूर्ण माना जाएगा। यदि यह तर्क दें कि यह जगत् उस प्रकार का कार्य नही है जैसे मानव निर्मित अन्य कार्य होते हैं उनके कुछ समान ही कुछ अन्य प्रकार के कार्य है तो इससे कोई अनुमान सिद्ध नहीं होगा क्योंकि जल से उठने वाला धुआँ उसी धुएँ के समान होता है जो आग से उठता है किन्तु जल मे अग्नि का अनुमान कोई नही करता। यदि यह कहा जाय कि जगत् एक बिल्कुल विभिन्न प्रकार का कार्य है जिससे कि ऐसा अनुमान सम्भव है चाहे अब तक कोई इस प्रकार का कार्य पैदा करता हुआ नही देखा गया तो फिर, पुराने खंडहरों को देखकर यह अनुमान करना होगा कि वह भी किसी चेतन कर्ता का कार्य है क्योंकि ये भी कार्य है और उनका कोई चेतनकर्ता हमने नही देखा है। ये दोनो कार्य है और दोनों का कर्ता हमने नही देखा। यदि यह तर्क दिया जाय कि जगत् ऐसा कार्य है जिसे देखकर हमें यह अहसास होता है कि यह किसी के द्वारा अवश्य बनाया होना चाहिए तो हम पूछेंगे कि इस अहसास से आप ईश्वर का अनुमान करते हैं या कि इसके ईश्वर के बनाए हुए होने के तथ्य से इसके कार्य होने का अनुमान करते है ? इस प्रकार यह अन्योन्याश्रय दोष हो जाएगा।

इसके अलावा यदि मान भी ले कि जगत् एक कर्ता का बनाया हुआ है तो उस कर्ता का कोई शरीर भी होना चाहिए क्योकि हमने बिना शरीर के कोई चेतन कर्ता नही देखा। यदि यह कहा जाए कि हम कर्तृत्व सामान्य ही का अनुमान करते है कि कर्ता चेतन है तो यह आपत्ति होगी कि ऐसा असम्भव है क्योकि कर्तृत्व भी किसी शरीर मे ही रहता है। यदि अन्य कार्यों का उदाहरण ले, जैसे खेत मे उगे अकुर, तो हम पाएँगे कि उन्हे रचने वाला कोई चेतन कर्ता नही है। यदि आप कहेगे कि ईश्वर उनका कर्ता है तो यह चक्रक दोष हो जाएगा क्योकि इसी तर्क मे इसी विषय को आप सिद्ध करना चाहते थे।

तर्क के लिए हम मान लेते है कि ईश्वर है। अब क्या उसकी उपस्थिति मात्र से विश्व की सृष्टि हो जाती है ? यदि ऐसा है तो फिर कुम्हार की उपस्थिति भी विश्व की सृष्टि कर सकती है क्योकि केवल उदासीन उपस्थिति मात्र दोनों मे समान है। क्या ईश्वर ज्ञान और इच्छापूर्वक विश्व की सृष्टि करता है ? यह असभव है क्योकि बिना शरीर के ज्ञान और इच्छा हो ही नही सकती। क्या वह विश्व की सृष्टि शारीरिक क्रिया द्वारा करता है या किसी अन्य क्रिया द्वारा ? ये दोनों ही बातें असम्भव है क्योंकि बिना शरीर के कोई क्रिया भी सम्भव नही है। यदि आप मानते हैं कि वह सर्वज्ञ है, तो मानते रहें, उससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि वह सर्वस्रष्टा हो सकता है।

अब, फिर मान ले (तर्क के लिए) कि एक शरीर रहित ईश्वर अपनी इच्छा और क्रिया से विश्व की रचना कर सकता है। उसने विश्व की रचना क्या किसी व्यक्तिगत सनक के कारण शुरु की ? यदि हो, तो उस स्थिति मे विश्व मे कोई प्राकृतिक नियम या व्यवस्था नही होनी चाहिए। तब क्या उसने यह रचना मनुष्यों के नैतिक और अनैतिक कार्यों के आधार पर की ? यदि हाँ, तो वह नैतिक व्यवस्था मे बद्ध है और स्वयं स्वतन्त्र नही है। तो क्या उसने करूणा के कारण सृष्टि की ? यदि हाँ, तो फिर विश्व मे केवल प्रसन्नता और अच्छाई ही होनी चाहिए और कुछ नही। यदि आप यह कहे कि मनुष्य जो दुःख भोगते है वह तो उनके पूर्व कर्मों के कारण है और सुख भी कर्मों के कारण। यदि पूर्व कर्मो, जो भाग्य या नियति के रूप मे आप द्वारा माने गए है, के कारण मनुष्य कुकर्म करने को प्रेरित होता है तो वह नियति यानी अदृष्ट ही ईश्वर की जगह सृष्टि कर्ता क्यों न मान लिया जाय ? यदि ईश्वर ने खेल-खेल मे सृष्टि बना दी तो वह एक बच्चा हुआ जिसने निरूद्देश्य यह कार्य किया। यदि उसने ऐसा इस उद्देश्य से किया है कि कुछ को दण्ड और कुछ को पुरस्कार मिल सके तो फिर वह पक्षपाती हुआ कुछ के लिए, और द्वेषी हुआ अन्यों के लिये। यदि सृष्टि रचना उसका स्वभाव ही है और उससे सृष्टि प्रगटी है तो फिर उसे मानने की आवश्यकता ही क्या है यही क्यो न मान ले कि सृष्टि स्वयं अपने स्वभाव से प्रगटी है ?

यह मानना क्लिष्ट कल्पना ही है कि एक ईश्वर जैसी किसी चीज ने औजारो, उपकरणो या सहायको के बिना यह दुनिया रच दी। यह तो अनुभव विरुद्ध है।

तर्क के लिए यदि मान ले कि ऐसा ईश्वर है तो आप जो विशेषण उसके लिए प्रयुक्त करते है वे कभी भी सगत नही बैठते। आप कहते है कि वह अनादि, अनन्त, नित्य है। किन्तु जब वह निःशरीर है तो वह बुद्धि और चेतना स्वरूप हुआ। उसका वह स्वरूप विश्व के विभिन्न प्रकार के पदार्थों की रचना के लिए विभिन्न रूपो मे बदलता रहा होगा। यदि उसकी बुद्धि, चेतना या ज्ञान मे कोई परिवर्तन नही होता तो सृष्टि और विनाश के इतने विभिन्न रूप क्यो हैं ? सृष्टि और विनाश एक अपरिवर्तनीय बुद्धि और ज्ञान के परिणाम नही हो सकते। फिर, ज्ञान का स्वभाव ही बदलना है, यदि हम उस ज्ञान से तात्पर्य ले जो मानवीय सदर्भो मे प्रयुक्त होता है (और उसके अलावा अन्य कोई संदर्भ ज्ञान के ज्ञात ही नही है)। आप कहते है कि ईश्वर सर्वज्ञ है पर यह कैसे माना जाय कि उसे कोई ज्ञान हो भी सकता है, क्योकि उसके कोई इन्द्रिय ही नही है तो फिर उसे प्रत्यक्ष कैसे होगा और बिना प्रत्यक्ष के वह कोई अनुमान भी नही कर सकेगा। यदि यह कहें कि बिना ईश्वर को माने विश्व की रचना का यह वैचित्र्य कैसे व्याख्यात या सिद्ध होगा तो वह भी सही नही है। आपादन द्वारा यह सिद्धि तब सगत मानी जा सकती है जब अन्य कोई परिकल्पना सम्भव ही न हो। यहाँ अन्य सभावनाएँ भी हो सकती है। एक सर्वज्ञ ईश्वर के बिना भी, एक

नैतिक व्यवस्था अथवा कर्म सिद्धान्त के आधार पर सारी सृष्टि व्याख्यात की जा सकती है। यदि आप एक ईश्वर मानते हैं तो ईश्वरों का एक समुदाय भी माना जा सकता है। यदि आप कहें कि बहुत से ईश्वर होने पर मतभेद और झगडे हों जाएँगे तो यह उस कजूस की कहानी-सी हो गई जो खर्च न करना चाहने के कारण अपने पुत्रो और पत्नी को छोडकर जंगल मे साधु बन गया। जब चीटियाँ और मक्खियाँ तक समन्वय के साथ सहयोग कर सकती है तो अधिक ईश्वर होने पर यह मानना कि उनमे मतभेद हो जाएगा, यह सिद्ध करता है कि आप द्वारा बताए गए ईश्वर के महान् गुणों के बावजूद उसका स्वभाव यदि कुटिल और दुष्ट नही तो कम से कम अविश्वसनीय अवश्य है। इस प्रकार किसी भी तरह आप ईश्वर की सिद्धि करने का प्रयत्न करें वह विफल ही होगा। इससे तो अच्छा है ईश्वर की सत्ता न ही मानी जाए।[1]

मोक्ष

मनुष्य का मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न इस उद्देश्य को लक्ष्य करके होता है कि दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति हो सके क्योकि मुक्ति की दशा जीव की सुख या आनन्द की दशा मानी गई है। यह शुद्ध एवं अनन्त ज्ञान की तथा अनन्त दर्शन की स्थिति भी है। ससार दशा मे कर्म के आवरण के कारण यह शुद्धता दूपित हो जाती है, आवरण केवल अपूर्ण रूप से समय समय पर उठते या हटते रहते है और सामान्य मति, श्रुत, अतिमानुप ज्ञान या ध्यान और अवधि की स्थिति मे ज्ञान या मानसिक अध्ययन अर्थात् मन. पर्याय द्वारा अन्यो के विचारो का ज्ञान, इन सबके क्षणो मे किसी पदार्थ या विषय का ज्ञान हो जाता है। किन्तु मुक्ति की दशा मे पूर्ण आवरण भग हो कर केवल ज्ञान की स्थिति आ जाती है और केवली (पूर्ण ज्ञानी) को समस्त पदार्थों और विपयो का एक साथ पूर्ण ज्ञान हो जाता है। ससार दशा मे जीव सर्वदा नए गुण धारण करता रहता है और इस प्रकार तत्व रूप मे निरतर परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरता रहता है। किन्तु मोक्ष के बाद जीव मे जो परिवर्तन होते है वे एक से ही होते है (अर्थात् दूसरे शब्दो मे कोई परिवर्तन लक्षित नही होता) अर्थात् वह स्थिति आ जाती है कि जीव तत्व रूप मे भी एक-सा लक्षित होता है और अनन्त ज्ञान आदि के गुण भी अपरिवर्तित रहते है। परिवर्तन उस अनन्त ज्ञान मे ही, उन्ही गुणो का होता है अत लक्षित नही होता।

यहाँ यह उल्लेख भी अप्रासगिक नही होगा कि मनुष्यो के कर्म ही उनका विभिन्न रूपो मे निर्धारण करते है फिर भी उनमे सम्यक् कर्म करने की अनन्त शक्ति (अनन्त वीर्य) होती है। कर्म उस शक्ति या स्वातन्त्र्य को नष्ट या अल्पीकृत नही कर सकता,

[1] देखें, षड्दर्शनसमुच्चय मे गुणरत्न की जैन दर्शन पर टिप्पणी पृ० ११५-१२४।

चाहे कर्मों के प्रभाव से समय समय पर यह शक्ति कुछ दब जाती हो। इस प्रकार इस शक्ति के उपयोग से मनुष्य समस्त कर्मों पर विजय प्राप्त कर सकता है और अंततः मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

यदि मनुष्य में अनन्त वीर्य नहीं होते तो वह संचित कर्मों के प्रभाव में अनन्त काल तक रहता और हमेशा बन्धनबद्ध रहता। किन्तु चूंकि मनुष्य इस प्रकार की शक्ति का खजाना है अत. कर्म उसे बन्धन में बांध भले ही लेते हों, विघ्न भले ही उत्पन्न कर देते हो और दुःख भोग करवा देते हों किन्तु उसे अन्ततः महत्तम कल्याण की स्थिति प्राप्त करने से वंचित नही कर सकते।

—oo—

अध्याय ७

कपिल एवं पातंजल सांख्य (योग)[1]

दो विभिन्न प्रकार के प्राचीन नास्तिक दर्शनों, जैन और बौद्ध दर्शन के विवेचन से हम स्पष्टत इस बात से आश्वस्त हो जाते है कि औपनिषद ऋषियो के दर्शन अनुचिन्तन के क्षितिजो के बाहर भी पर्याप्त गम्भीर दार्शनिक विचारमन्थन होता रहा है। यह भी बहुत सम्भव लगता है कि योग नाम से प्रचलित आचार और अभ्यास प्रबुद्ध जनो मे व्यापक रूप से सुपरिज्ञात एव सुप्रचलित थे क्योकि उनका उल्लेख न केवल उपनिषदो मे ही मिलता है अपितु बौद्ध और जैन दोनो नास्तिक दर्शनों द्वारा भी परिगृहीत पाए जाते है। हम उन्हे चाहे आचार शास्त्र के दृष्टिकोण से देखे या तत्वमीमासीय दृष्टिकोण से–ये दोनो नास्तिक दर्शन प्रणालियाँ ब्राह्मणो की कर्मकाडीय परम्पराओ के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे ही उभरी। इन दोनो प्रणालियो का उद्गम क्षत्रियो मे हुआ और जीव हिसा के प्रति तथा बलिदान द्वारा जीवो की बलि चढाने के विरुद्ध गहरी घृणा इनका मुख्य स्वर है।

याज्ञिक कर्मवाड के सिद्धान्त मे यह विश्वास निहित है कि विहित पद्धति से क्रियाओ, रीतियो और यज्ञ सामग्री के यथोचित प्रयोग मे इष्टसिद्धि की एक अलौकिक शक्ति निहित है जो वर्षा, पुत्रोत्पत्ति, शत्रु की महती सेना का पराजय आदि परिणाम ला सकती है। यज्ञो का अनुष्ठान सामान्यत किसी नैतिक या आध्यात्मिक उन्नति के लिए न होकर व्यावहारिक एषणाओ की कुछ उपलब्धियो की दृष्टि से किया जाता था। वेदो को अनादि उद्गार मानकर उन्हे ही विधियो के विशकलित विधान का शक्तिमान् स्रोत माना जाता था। उसकी विधियो पर चलकर तथा उसके द्वारा निषिद्ध कार्यों से बचकर ही विहित यज्ञो के सही अनुष्ठान द्वारा इष्ट की सिद्धि की जा सकती थी। इस प्रकार की कर्मकांडीय सस्कृति के दर्शन के अनुसार यदि हम सत्य को परिभाषित करें तो यही कहना होगा कि वही सत्य है जिसके अनुसार आचरण कर अपने चारो ओर के विश्व मे अपने वाछित उद्देश्यो की प्राप्ति कर सकें। वैदिक विधियो का सत्य हमारे

---

[1] यह अध्याय मेरे ग्रन्थ 'स्टडी ऑव पतजलि' (कलकत्ता विश्वविद्याल से प्रकाशित) तथा अन्य ग्रन्थ 'योग फिलासफी इन रिलेशन टू अदर सिस्टम्स ऑव थॉट' (जो वही प्रकाशनाधीन है) पर आधारित है। इन ग्रन्थों मे इस दर्शन का विस्तृत विवेचन है।

उद्देश्यो की व्यावहारिक उपलब्धि का सत्य है। सत्य प्रागनुभविक रूप से निर्धारित नही किया जा सकता बल्कि आनुभविक कसौटी पर ही परखा जा सकता है।[1]

यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि इस कर्मकाडीय पद्धति के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप मे उद्गत कहे जाने वाले बौद्ध और जैन दर्शन भी इस पद्धति के उन अनेक सिद्धान्तो के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव से बच नहीं सके है जो चाहे इस पद्धति मे स्पष्टत. उद्धृत या वर्णित न हो किन्तु जो इन याज्ञिक अनुष्ठानो के मूल मे निहित थे। उदाहरणार्थ, हमने देखा कि बौद्ध दर्शन समस्त उत्पादन और विनाश को कुछ स्थितियों के समवाय द्वारा जन्म मानता है और सत्य को 'किसी कार्य के उत्पादन मे सामर्थ्य' के रूप मे परिभाषित करता है। किन्तु बौद्धो ने इन सिद्धान्तो को तार्किक पराकाष्ठा तक पहुँचाकर अन्तत· पूर्ण क्षणिकवाद की अवधारणा तक पहुँचा दिया था।[2] जहाँ तक जैनो का प्रश्न है वे भी ज्ञान का मूल्य इसी मे मानते थे कि वह हमे हमारे शुभ इष्ट की प्राप्ति और अशुभ और अनिष्ट के निवारण मे सहायता देता है। सत्य हमे पदार्थो के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट कर देता है कि उसके अनुसार चलते हुए हम उसे वास्तविक अनुभव के आलोक मे सत्यापित कर सकते है। इस प्रकार पदार्थों का सही आकलन कर हम अच्छे की उपलब्धि और बुरे का निवारण कर पाते है। जैनो का यह विश्वास भी था कि समस्त परिवर्तन स्थितियो के समवाय द्वारा होते है किन्तु उसे वे तार्किक पराकाष्ठा तक नही ले गए। जगत् मे उन्होने परिवर्तनीयता के साथ-साथ कुछ स्थायित्व भी माना। बौद्ध तो यहाँ तक चले गए कि समस्त वस्तुओ को अस्थायी मानते हुए उन्होने आत्मा जैसी कोई स्थायी चीज भी नहीं मानी। जैनो का कथन था कि वस्तुओ के बारे मे कोई भी ऐकान्तिक चरम या एकपक्षीय निर्धारण नही हो सकता। उनके अनुसार न केवल समस्त सबृनियाँ और घटनाएँ ही सापेक्ष है बल्कि हमारे समस्त निर्धारण भी केवल सीमित अर्थो मे ही सही है। यह व्यावहारिक बुद्धि के अनुसार ठीक भी है जो प्रागनुभविक निष्कर्षो से उच्चतर मानी गई है और जिससे एक पक्षीय और चरम निष्कर्ष भी निकल सकते है। स्थितियो के सयोजन के कारण वस्तुओ के पुराने गुण गायब हो जाते है और नए गुण उद्भूत हो जाते है, साथ ही उसका कुछ अश स्थायी भी होता है। किन्तु इस व्यावहारिक बुद्धि के दृष्टिकोण द्वारा, जो हमारे

[1] कुमारिल और प्रभाकर की मीमासा द्वारा वर्णित वैदिक दर्शन इससे विपरीत दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उन दोनो के अनुसार सत्य प्रागनुभविक रूप से निर्धारित होता है और मिथ्यात्व अनुभव द्वारा।

[2] ऐतिहासिक दृष्टि से क्षणिकवाद अर्थक्रियाकारित्वसिद्धान्त से सम्भवत. पूर्वतर है। किन्तु परवर्ती बौद्धो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि क्षणिकवाद अर्थक्रियाकारित्वसिद्धान्त का तार्किक परिणमन है।

दैनन्दिन अनुभव की कसौटी से भले ही खरा उतरता हो हमारी सत्यान्वेषिणी प्राग-नुभविक दृष्टि की माग को सन्तुष्ट नहीं कर पाता, उस सत्य का स्वरूप सामने नहीं आता जिसे हम सापेक्ष रूप से ही नही पूर्ण रूप से जानना चाहते हैं। यदि पूछा जाय कि क्या कोई चीज सत्य है तो जैन दर्शन यही उत्तर देगा—"हाँ, यह इस दृष्टिकोण से सत्य है पर उस दृष्टिकोण से असत्य जबकि वह भी उक्त दृष्टिकोण से सत्य है और अमुक दृष्टिकोण से असत्य।" इस प्रकार का उत्तर उस जिज्ञासा को सतुष्ट कैसे कर पाएगा जो सत्य के एक निश्चित निर्धारण और पूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचना चाहती है।

इस कर्मकाडीय पद्धति से जैनो और बौद्धो का मुख्य विभेद यह था कि ये दोनों ब्रह्माड के बारे मे एक सिद्धान्त बनाना तथा वस्तुसत्य, सवेदनशील प्राणियो, विशेषकर मनुष्यो की स्थिति के बारे मे एक अवधारणा निष्कृष्ट करना चाहते थे जबकि कर्म-काडीय पद्धति वैयत्तिक रीतिरिवाजो और यज्ञो से सम्बद्ध थी और सैद्धान्तिक विवेचन से केवल उतना ही सरोकार रखती थी जहाँ तक वह कर्मकाडीय विवेचन में आवश्यक होता था। फिर इन नयी पद्धतियो मे क्रिया का तात्पर्य केवल कर्मकाड से न होकर हमारे कर्ममात्र से था। कर्म अच्छे और बुरे इस आधार पर कहे जाते थे कि उनसे हमारा नैतिक उत्कर्ष होता है या अपकर्ष। कर्मकाडीय पद्धति के अनुयायी असत्य से यदि दूर रहते थे तो इसलिए कि वेदो मे असत्य भाषण का निषेध और वेद विहित कर्म ही करना चाहिए इसलिए नही कि इससे कोई वैयक्तिक या नैतिक अपकर्ष होता है। याज्ञिक पद्धति इहलोक और परलोक मे अधिकाधिक सुख के ही उद्देश्य से प्रेरित थी। जैन और बौद्ध दर्शनों ने सामान्य सुख मे परे हट कर एक चरम और अपरिवर्तनीय स्थिति को प्राप्त करने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया जहाँ समस्त सुख और दु ख सदा के लिए विगलित हो जाएँ (बौद्ध मत) और जहाँ अनन्त आनन्द अविचल रूप से अधिगत हो। व्यक्ति के नैतिक उत्कर्ष के लिए सम्यक् नैतिक आचरण की कोई सहिता निर्धारित करना याज्ञिक कर्मकाड मे निहित नही था। सम्यक् आचरण की संहिता यदि वेद विहित है तभी तो वह अनुपालनीय होगी। कर्म और कर्मफल से तात्पर्य याज्ञिक अनुष्ठान और उसके फल से था, ज्ञान का अर्थ याज्ञिक-प्रक्रिया का ज्ञान और वेदो का ज्ञान था। जैन व बौद्ध दर्शनो ने कर्म, कर्मफल, सुख, ज्ञान इन सबका व्यापक दार्शनिक तात्पर्य लिया। सुख या दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति उनका भी उद्देश्य रही किन्तु यह सकुचित अर्थों मे याज्ञिक सुख नही था किन्तु स्थायी, दार्शनिक अर्थों मे सुख या दु:ख निवारण था। कर्म का ही मार्ग उन्होने भी स्वीकारा किन्तु यह कर्म यज्ञा-नुष्ठान नही था बल्कि हमारे समस्त अच्छे बुरे काम थे—ज्ञान का तात्पर्य उन्होने सत्य ज्ञान से लिया, कर्मकाडीय ज्ञान से नही।

इस प्रकार की दार्शनिक विचारसरणि का उत्कर्ष औपनिषद् युग से ही शुरू हो गया था जो एक प्रकार से इन सभी क्षेत्रो की दार्शनिक पद्धतियो का पूर्वरग सा था।

इन दर्शनों के उद्गाताओं ने कर्मकांडीय पद्धति और औपनिषद दर्शन दोनों से अपने दर्शन के मूल सूत्र लिए और अपने तार्किक चिन्तन के आधार पर अपनी-अपनी दार्शनिक प्रणालियों का गठन किया। जब उपनिषदों के विचारों को उन विधर्मी दार्शनिकों ने जो वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे, इस प्रकार प्रयुक्त किया तो यह भी स्वाभाविक ही था कि हिन्दू दर्शनों के खेमे में भी ऐसे चिन्तन सूत्र पनपते जिनमें औपनिषद विचार प्रणाली और याज्ञिक पद्धति की चिन्तन प्रक्रिया का समन्वय हो। सांख्य दर्शन जिसके बीज हम उपनिषदों में खोज सकते हैं इसी प्रकार की चिन्तन प्रणाली है।

उपनिषदों में सांख्य दर्शन के बीज

यह स्पष्ट है कि उपनिषदों में ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनमें ब्रह्म को ही चरम सत्ता माना गया है—और अनन्त, ज्ञान, आनन्द आदि अन्य समस्त नाम उसी के परिवर्तमान स्वरूप और अभिधान हैं। 'ब्रह्मन्' शब्द मूलतः वेदों में 'मन्त्र' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो विधिवत् अनुष्ठित यज्ञ और यज्ञ की शक्ति का नाम है जिससे हमें इष्ट सिद्धि होती है।[1] उपनिषदों के अनेक वचनों में यही ब्रह्मन् विश्वजनीन और चरम सिद्धान्त के रूप में वर्णित है जिससे सभी को शक्ति प्राप्त हुई है। इस ब्रह्म की हम अपने आत्म-कल्याण के लिए आराधना करते हैं। धीरे-धीरे विकास की प्रक्रिया के तहत ब्रह्म की अवधारणा कुछ उच्चतर स्तर पर पहुँची और विश्व की सचाई और वस्तुसत्ता धीरे-धीरे अन्तर्हित होती गई तथा एक मात्र परम तत्व अनाद्यनन्त ज्ञान को सत्य माना जाने लगा। यह वैचारिक विकास धीरे-धीरे जाकर अद्वैत वेदान्त दर्शन में परिणत हुआ जिसके उद्गाता शंकर हैं। इसी के समानान्तर एक अन्य विचार सरणि भी पनप रही थी जो विश्व को एक वस्तुसत्ता तथा पृथ्वी, जल, अग्नि आदि तत्वों से निर्मित मानती थी। श्वेताश्वतर में ऐसे वचन भी हैं और विशेषकर मैत्रायणी के वचनों में यह स्पष्ट होता है कि सांख्य दर्शन की विचार धारा तब तक पर्याप्त विकसित हो चुकी थी और उसकी अनेक दार्शनिक संज्ञाएँ सुप्रयुक्त हो चली थीं।[2] मैत्रायणी की तिथि अब तक निर्विवाद रूप से निर्धारित नहीं हो पाई है। उसमें जो विवरण मिलता है उसके आधार पर भी हम उपनिषदों में विकसित सांख्य सिद्धान्तों का कोई विशकलित स्वरूप नहीं बता सकते। यह असम्भव नहीं कि विकास की इस स्थिति में भी इसने बौद्ध और जैन दर्शनों को कुछ प्रेरणा दी हो किन्तु सांख्य योग दर्शन का जो स्वरूप हमें आज

[1] देखें, हिलेब्राड का लेख 'ब्रह्मन्' (ई० आर० ई०)।

[2] कठ, ३-१०, ५-७ श्वेताश्व। ५-७,८,१२,४-५,१,३,१। इसका विस्तृत विवेचन मेरी पुस्तक 'योग फिलासफी इन रिलेशन टू अदर इन्डियन सिस्टम्स ऑव थाट' के पहले अध्याय में है।

मिलता है उसमें बौद्ध और जैन दर्शनों के निष्कर्ष इस प्रकार गुम्फित मिलते हैं कि उसमे उपनिषद् के स्थायित्व सिद्धान्त के साथ-साथ बौद्धो के क्षणिकवाद और जैनो के सापेक्षवाद का समन्वय स्पष्ट दिखता है।

सांख्य एवं योग का वाङ्मय

साख्य और योग दर्शन के इस अध्याय मे विवेचित स्वरूप का मुख्य आधार है—साख्यकारिका, साख्यसूत्र और पतजलि के योगसूत्र, तथा उनकी टीकाएँ एवं उप-टीकाएँ। साख्यकारिका (लगभग २०० ई०) ईश्वर कृष्ण निर्मित है। चरक (७८ ई०) द्वारा दिया हुआ साख्य का विवरण सम्भवत· इसकी किसी पूर्ववर्ती प्रणाली पर आधारित है जिसे हमने अलग से विवेचित किया है। वाचस्पति मिश्र (नवी सदी ई०) ने इस पर तत्वकौमुदी नामक टीका लिखी है। इससे पूर्व गौडपाद और राजा[1] ने सांख्यकारिका पर टीकाएँ लिखी थी। नारायण तीर्थ ने गौडपाद की टीका पर चन्द्रिका नामक टीका लिखी। साख्य सूत्र जिन पर प्रवचन भाष्य नाम से विज्ञान भिक्षु (सोलहवी सदी) ने भाष्य लिखा है नवी शताब्दी के बाद किसी अज्ञात लेखक की कृति प्रतीत होता है। पद्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुए अनिरुद्ध ने सर्वप्रथम साख्यसूत्रो पर टीका लिखी। विज्ञानभिक्षु ने साख्य पर एक अन्य प्रारम्भिक कृति रची जिसका नाम है साख्य सार। पर परवर्ती सक्षिप्त ग्रन्थ है तत्वसमास (सम्भवत. चौदहवी सदी)। साख्य के दो अन्य ग्रन्थो सीमानन्द के साख्य तत्व विवेचन और भावागणेश के साख्य-तत्वयाथार्थ्य-दीपन का भी हमने पर्याप्त विवेचन किया है। ये विज्ञान-भिक्षु से परवर्ती बहुमूल्य दार्शनिक कृतियां है। पतजलि के योगसूत्र (जो १४७ ई० पू० से पहले का नही हो सकता) । पर व्यास (४०० ई०) ने भाष्य लिखा, व्यास भाष्य पर वाचस्पति मिश्र ने तत्ववैशारदी टीका, विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक, दसवी शती के भोजवृत्ति और सत्रहवी सदी के नागेश ने छाया-व्याख्या नामक टीकाएँ लिखी। आधुनिक कृतियों मे से, जिनसे मै उपकृत हुआ हू, मै डा० बी० एन० सियाल कृत 'मिकेनिकल फिजीकल एण्ड केमिकल थियरीज आव एनशेंट हिन्दूज' तथा 'द पोजिटिव साइसेज आव द एशेट हिन्दूज' का तथा अपने योगदर्शन के दो ग्रन्थो—'स्टडी आव पतजलि' (कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित) तथा 'योग फिलासफी इन रिलेशन टू अदर इन्डियन सिस्टम्स ऑव थाट' (शीघ्र प्रकाश्य) तथा मेर एक अन्य ग्रन्थ ग्रन्थ 'नेचरल फिलासफी ऑव द एशेट हिन्दूज' (कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशन की प्रतीक्षा मे) का नामोल्लेख करना चाहूगा।

---

[1] मेरा अनुमान है कि कारिका पर राजा की टीका "राजवार्तिक" है जिसका उद्धरण वाचस्पति ने दिया है। जयन्त ने अपनी न्यायमंजरी (पृ० १०६) मे भी कारिका पर राजा की टीका का उल्लेख किया है। सम्भवत यह कृति अब अप्राप्य है।

गुणरत्न ने दो अन्य प्रमाणिक साख्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है–माठर भाष्य तथा आत्रेयतन्त्र। इसमे दूसरा तो सम्भवत चरक के साख्य विवेचन का ही नाम है क्योंकि चरक के ग्रन्थ में अत्रि ही वक्ता है और इसलिए इसे आत्रेय संहिता या आत्रेयतन्त्र कहा गया है। माठर भाष्य के सम्बन्ध मे कुछ ज्ञात नही है।[1]

सांख्य की एक पूर्ववर्ती प्रणाली

साख्यदर्शन के इतिहास का विवेचन करते समय यह आवश्यक लगता है कि इसके चरक कृत विवेचन का परिचय इस दर्शन के अध्येताओ से कराया जाय जिस पर जहाँ तक मुझे ज्ञात है अब तक किसी भी आधुनिक दर्शन ग्रन्थ मे विवेचन नही किया गया है। चरक के मत मे छ. धातुएँ है–आकाश, वायु आदि पांच तत्व तथा चेतना जिसे पुरुष भी कहा गया है। दूसरे दृष्टिकोणो से तत्व चौबीस कहे जा सकते है–दस इन्द्रियो (पाँच ज्ञानेन्द्रिय व पाँच कर्मेन्द्रिय) मन, पाँच इन्द्रियो के विषय तथा आठ प्रकृतियां (प्रकृति, महत्, अहकार तथा पाँच तत्व)।[2] मन इन्द्रियो के माध्यम से कार्य करता है। यह अणु है तथा इसकी सत्ता इस प्रकार प्रमाणित होती है कि इन्द्रियों के अस्तित्व के बावजूद तब तक कोई ज्ञान प्रकट नही होता जब तक मन इन्द्रियो से सयुक्त नही होता। मन की दो क्रियाएँ है–ऊहा और विचार। इन दोनो के बाद बुद्धि का उद्भव होता है। पांचो इन्द्रियां पच महाभूतो के समवाय मे उत्पन्न होती है किन्तु उनमे से भी श्रोत्रेन्द्रिय मे आकाश गुण का आधिक्य है, स्पर्शेन्द्रिय मे वायु का, चक्षुरिन्द्रिय मे प्रकाश का, रसनेन्द्रिय मे जल का और घ्राणेन्द्रिय मे पृथ्वी का। चरक ने तन्मात्रो का उल्लेख नही किया है।[3] इन्द्रियार्थों का समुदाय अथवा स्थूल पदार्थ, दश इन्द्रियाँ, मन, पाँच सूक्ष्म भूत, प्रकृति, महत्, अहकार जो रजोगुण से उद्भूत होता है–ये सब

---

[1] साख्ययोग से अपरिचित पाठक इससे आगे के तीन परिच्छेदों को छोड सकते है, यदि वे पहला वाचन कर उसके सिद्धान्तों मात्र से परिचित होना चाहते हो।

[2] पुरुष इस सूत्र मे नही है। टीकाकार चन्द्रमणि के अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों अव्यक्त हैं अत दोनो को एक ही गिना गया है। "प्रकृतिव्यतिरिक्त चोदासीनं "पुरुषमव्यक्तत्वसाधर्म्यत् अव्यक्तार्या प्रकृतावेव प्रक्षिप्य अव्यक्त शब्देनैव गृह्णाति।" हरिनाथ विशारद का 'चरक' का सस्करण शारीर, पृ० ४।

[3] किन्तु स्थूल द्रव्य से पृथक् सूक्ष्म द्रव्य जैसे किसी पदार्थ को प्रकृति का आन्तरिक कलेवर बताया गया है। प्रकृति में आठ तत्व बताए गए है, (प्रकृतिश्चाष्टधातुकी) ये तत्व है अव्यक्त, महत्, अहकार तथा पाच तत्व। प्रकृति के अन्तर्भूत इन तत्वों के अतिरिक्त इनमे इन्द्रियार्थों का उल्लेख भी है–पाँच इन्द्रिय विषयो के रूप मे जिन्हे प्रकृति से ही उद्भूत माना गया है।

मिल कर मनुष्य का निर्माण करते हैं। जब सत्वगुण का उत्कर्ष होता है तो यह समुदाय विघटित हो जाता है। समस्त कर्म, कर्मफल, ज्ञान, सुख, दु.ख, अज्ञान, जीवन और मृत्यु ये सब इसी समुदाय के है। इनके प्रतिरिक्त पुरुष भी है क्योकि यदि वह नही हो तो जन्म, मृत्यु, बन्धन या मुक्ति कुछ भी न हो। यदि आत्मा को कारण न माना जाय तो ज्ञान के समस्त प्रकाश का कोई आधार नही रह जावेगा। यदि स्थायी आत्मा न मानी जाय तो एक के कार्य के लिए दूसरे भी उत्तरदायी ठहराए जा सकेंगे। यह पुरुष जिसे परमात्मा भी कहा गया है अनादि और स्वयंभू है। आत्मा स्वय मे स्थिर है, वहां चेतना नही है। चेतना इन्द्रियो और मन के साथ इसका सयोग होने पर आती है। अज्ञान, इच्छा, द्वेष और कर्म के कारण पुरुष के साथ अन्य तत्वो का सयोग होता है। उसी से ज्ञान भावना और कर्म पैदा होते है। समस्त कार्य कारण समुदाय से उत्पन्न होते है, एक कारण से नही किन्तु समस्त विनाश स्वभावत बिना किसी कारण के होता है। जो अनादि है वह किसी का कार्य नही। चरक प्रकृति के अव्यक्त अश को पुरुष से अभिन्न और एक तत्व मानता है। प्रकृति के विकार या उद्भव को क्षेत्र कहा गया है तथा प्रकृति के अव्यक्त अश को क्षेत्रज्ञ (व्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृंषयोविदु)। यही अव्यक्त चेतना है। इसी अव्यक्त प्रकृति या चेतना से बुद्धि प्रकट होती है, बुद्धि से अहकार, अहकार से पाँच तत्व और इन्द्रियां। यह सब उत्पत्ति ही सृष्टि कहलाती है। प्रलय के समय समस्त विकार फिर प्रकृति मे लीन हो जाते है और अव्यक्त हो जाते है। नई सृष्टि के समय इसी अव्यक्त पुरुष से समस्त व्यक्त उद्भव, बुद्धि, अहकार आदि उद्भूत होते है। जन्म और पुनर्जन्म, प्रलय और सृष्टि का यह चक्र रज और तम के प्रभाव से चलता है, अत जो लोग इन दो गुणो पर विजय पा लेते है वे इस चक्र से मुक्त हो जाते है। मन आत्मा के सयोग से ही सक्रिय होता है, आत्मा ही कर्ता है। यही आत्मा स्वय अनेक जीवनो मे, स्वेच्छा से अन्य किसी के निर्देश के बिना पुनर्जन्म लेता है, अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करता हुआ अपने कर्मों का फल भोगता है। यद्यपि समस्त आत्माएं व्यापक है फिर भी वे उन शरीरो मे जाकर ही ज्ञान का प्रत्यक्ष करती है जिनमे इन्द्रियां होती है। समस्त सुख और दुःख राशि द्वारा अनुभूत किए जाते है। उसके अध्यक्ष आत्मा द्वारा नही।[1] सुख और दु ख के अनुभव और भोग के कारण तृष्णा उत्पन्न होती है जो राग-द्वेषात्मक होती है, तृष्णा से पुन. सुख और दु ख की उद्भूति होती है। मोक्ष मे उन समस्त सुखो और दु खो की

---

[1] इन उद्भवो या विकारो के व्यक्त होने व विलीन होने से सम्बद्ध भाग का निर्वचन चक्रपाणि से पूर्व की एक टीका मे विभिन्न रूप मे किया गया है कि मृत्यु के समय ये सारे विकार बुद्धि, अहकार इत्यादि पुन प्रकृति मे लीन हो जाते है (पुरुष मे) और पुनर्जन्म के समय ये पुन व्यक्त हो जाते है। देखें—शारीर पर चक्रपाणि की टीका, पृ० १-४६।

सम्पूर्ण समाप्ति हो जाती है जो मन, इन्द्रियों और इन्द्रिय विषयो से आत्मा के सयोग होने पर पैदा होते हैं। यदि मन आत्मा मे स्थिर हो जाता है तो वह योगदशा होती है, तब सुख-दु ख नही होते। जब यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि–"ये समस्त पदार्थ कारण जन्य है, अनित्य है स्वय प्रकट होते है किन्तु आत्मा के उद्‌भव नही है, दु ख स्वरूप है और मेरे आत्मा के अश नही है" तब आत्मा ऊपर उठ जाती है। यह अन्तिम योग की स्थिति होती है जब समस्त आभास और ज्ञान पूर्णत अस्त हो जाते है। उस समय आत्मा के किसी भी अस्तित्व का भान नही होता और अपने आपकी भी सज्ञा नही रहती।[1] यही ब्रह्मत्व दशा है। ब्रह्मज्ञानी इसे ब्रह्मत्व कहते है जो अनन्त और निर्गुण है। साख्य इसी स्थिति को अपना चरम लक्ष्य बताते है, यही योगियो का भी गम्य है। जब रज और तम समाप्त हो जाते है और भूत काल के कर्म जिनका फल भोगना होता है निरस्त हो जाते है, नया कर्म और नया जन्म नही होता, तब मोक्ष की स्थिति आती है। सतो के समागम, अनासक्ति, सत्य की जिज्ञासा, ध्यान, धारणा आदि उपाय इसके अनिवार्य साधन बताए गए है। इस प्रकार जो तत्व ज्ञान होता है उसका निरन्तर मनन करना चाहिए।[2] वही अन्त मे शरीर से आत्मा की मुक्ति सम्भव बनाता है। चूंकि आत्मा अव्यक्त है और निर्गुण और निर्लक्षण है अत: इस स्थिति को नि शेष निवृत्ति ही कहा जा सकता है।

चरक मे साख्य दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धान्त बताए गए है— (१) पुरुष अव्यक्त दशा है (२) इस अव्यक्त के साथ इसके उद्‌भवो के सयोगो से जो राशि बनती है वह जीव को जन्म देती है (३) तन्मात्र नही बताए गए है (४) रज और तम मन की कुत्सित दशा के गुण है जबकि सत्व उत्तम है (५) मुक्ति की चरम दशा या तो आत्यंतिक समाप्ति या प्रलय दशा है अथवा निर्लक्षण ब्रह्मत्व दशा है, उस दशा मे कोई सज्ञा या चेतना नही रहती क्योकि चेतना आत्मा के साथ उसके बुद्धि, अहकार आदि उद्‌भवो के संयोग से पैदा होती है। (६) इन्द्रिय भौतिक है।

---

[1] यद्यपि इस दशा को ब्रह्मभूत दशा कहा गया है किन्तु इसका वेदान्त के ब्रह्म से कोई सम्बन्ध नहीं है जो शुद्ध, सत्, चिन्ता और आनन्द स्वरूप बतलाया गया है। यह अनिर्वचनीय दशा तो एक प्रकार की ऐसी शून्य और अलक्षण स्थिति है जिसमें अस्तित्व का कोई चिह्न नही है और पूर्ण विनाश की सी दशा रहती है जो नागार्जुन की निर्वाण दशा से मिलती जुलती है। चरक ने लिखा है–तस्मिश्चारमन्यासे समूला सर्ववेदना.। असज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्ति यान्त्यशेषत। अत. पर ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते। नि:सृत. सर्वभावेभ्यश्चिन्ह यस्य न विद्यते। गति ब्रह्मविदा ब्रन्ह तच्चाक्षरमलक्षणम्। —चरक शारीर, १-९८-१००।

[2] स्मृति के यहाँ चार कारण बताए हैं–(१) कारण की स्मृति कार्य की स्मृति को जन्म देती है, (२) साम्य (३) विरोधी तथा (४) स्मृति का निरन्तर प्रयत्न।

सांख्य का यह विवेचन पंचशिख (जो कपिल के शिष्य आसुरि का शिष्य और इस दर्शन का जन्मदाता बताया जाता है) द्वारा महाभारत (१२-२१९) में विवेचित सांख्य सिद्धांत से मेल खाता है। वहां पंचशिख ने चरक के समान स्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन नहीं किया है किन्तु पंचशिख द्वारा संकेतित वर्णन से साफ लगता है कि चरक का मत भी वही है।[1] पंचशिख अव्यक्त अथवा पुरुषावस्था को ही चरम सत्य बताता है। सांख्य वाङ्मय में प्रकृति को अव्यक्त नाम से ही पुकारा गया है। यदि मनुष्य विभिन्न तत्व के संयोग से पैदा हुआ है तो मृत्यु के साथ ही सब कुछ समाप्त हो जाना चाहिए। इस शंका के उत्तर में चरक यह विमर्श आरम्भ करता है जिसमें वह सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि हमारे समस्त कर्त्तव्यों और नैतिक आदर्शों का चरम आधार आत्मा का अस्तित्व ही है। पंचशिख में भी यही विमर्श आता है। आत्मा के अस्तित्व के लिए दिए हुए प्रमाण भी वही हैं। चरक के समान पंचशिख भी कहता है कि हमारे भौतिक शरीर के साथ मन और चेतस् की राशीकरण की दशा के कारण चेतना उत्पन्न होती है। ये सभी तत्व स्वतंत्र हैं और स्वतंत्र होकर ही जीवन की प्रक्रिया और कार्य को चलाते हैं। इस राशि द्वारा उत्पन्न कोई भी सवृति आत्मा नहीं है। हम गलती से उसे ही आत्मा समझ लेते हैं इसलिए हमें अनेक दुःख मिलते हैं। जब इस समस्त प्रपंच से पूर्ण वितृष्णा और संन्यास अधिगत हो जाता है तो मोक्ष प्राप्त हो जाता है। पंचशिख द्वारा वर्णित गुण मन के अच्छे और बुरे लक्षण हैं, जैसाकि चरक ने कहा है। राशि की स्थिति को क्षेत्र कहा है, जैसाकि चरक ने भी कहा है, और उसमें कोई प्रलय या अनंतता नहीं है। चरम स्थिति को यह उपमा दी गई है कि जिस प्रकार समस्त नदियां समुद्र में विलीन हो जाती हैं वैसी ही अलिंग (लक्षण-रहित) स्थिति यह है। परवर्ती सांख्य में यही संज्ञा प्रकृति को दी गई है। वह स्थिति त्याग (वैराग्य) की पूर्ण दशा के बाद आती है। इस प्रक्रिया को पूर्ण विनाश (सम्यक् वध) की प्रक्रिया बताया जाता है।

गुणरत्न (१४वीं सदी ई०) जिसने षड्दर्शन समुच्चय की टीका लिखी है, सांख्य के दो प्रकार बतलाता है, मौलिक्य और उत्तर।[2] इनमें से मौलिक्य सांख्य का यह मत प्रमुखतः बतलाया जाता है कि वह प्रत्येक आत्मा के लिए एक प्रधान भी मानता है। (मौलिक्य-सांख्या ह्यात्मानमात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति) सम्भवतः उसी सांख्य सिद्धान्त का यह उल्लेख है जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है। इसलिए मेरा यह मत बनता है यही सांख्य का सर्वप्रथम दार्शनिक विवेचन है।

---

[1] पंचशिख के मत को शुद्ध सांख्य दर्शन का सिद्धान्त मानने में योरपीय विद्वानों को बहुत आनाकानी है। इसका कारण यह हो सकता है कि चरक में वर्णित सांख्य दर्शन का विवरण उनके ध्यान में ही नहीं आया।

[2] गुणरत्नः तर्करहस्यदीपिका, पृ० ९९।

महाभारत (१२-३१८) में सांख्य की तीन धारायें बताई गई हैं। एक तो वे जो २४ तत्व मानते हैं (ऊपर वर्णित मत), दूसरे वे जो पच्चीस तत्व मानते हैं (पारंपरिक सांख्य दार्शनिक) और तीसरे वे जो छब्बीस तत्व मानते हैं। यह अन्तिम धारा पुरुष के अतिरिक्त एक 'प्रधान' तत्व को छब्बीसवें तत्व के रूप मे मानती है। इस दृष्टि से वह पारपरिक योग दर्शन के ही अनुरूप दिखती है। महाभारत में वर्णित सांख्य का भी यही मत है। वहाँ २४ और २५ तत्व मानने वाले साख्य मतो को अनुपादेय बताया गया है। ऊपर हमारे द्वारा वर्णित साख्य सिद्धान्त के बिल्कुल समान अनेक दार्शनिक सिद्धान्त महाभारत मे वर्णित है (१२-२०३-२०४)। शरीर से व्यतिरिक्त आत्मा को द्वितीया के चन्द्र के समान बताया गया है। यह भी कहा गया है कि जैसे सूर्य से राहु विभिन्न होते हुए भी अलग दिखलाई नहीं देता उसी प्रकार शरीर से पृथक् आत्मा दिखलाई नही देती। शरीरियो को प्रकृति के ही उद्भव बताया गया है।

हमे कपिल के प्रमुख शिष्य आसुरि के बारे मे कोई जानकारी नही मिली है।[1] किन्तु यह सम्भव है कि हमने ऊपर जो साख्य दर्शन की प्रणाली वर्णित की है और जो ठीक उसी प्रकार महाभारत मे पचशिख द्वारा उपदिष्ट बतलाई गई है, वही सांख्य का सर्वप्रथम प्रणालीबद्ध विवेचन हो। इस मत की पुष्टि गुणरत्न द्वारा किए गए मौलिक्य सांख्य के उल्लेख से तो होती ही है इस बात से भी होती है कि चरक (७८ ई०) ईश्वर कृष्ण द्वारा वर्णित साख्य का और महाभारत के अन्य भागो मे उल्लिखित साख्य का कोई उल्लेख नही करता। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर कृष्ण का साख्य परवर्ती है जो या तो चरक के समय मे था ही नही या उस समय उसे साख्य दर्शन का अधिकृत मौलिक स्वरूप नही माना जाता था।

वसीलीफ ने तिब्बती ग्रन्थो को उद्धृत करते हुए लिखा है कि विन्ध्यवासी ने साख्य को अपने मत के मुताबिक परिवर्तित कर दिया।[2] तकाकुसु का मत है कि विन्ध्यवासी[3] ईश्वर कृष्ण का ही उपनाम था। गार्बे का कहना है कि ईश्वर कृष्ण का

---

[1] गुणरत्न ने एक श्लोक उद्धृत कर उसे आसुरि-लिखित बतलाया है (तर्क रहस्य दीपिका पृ० १०४)। इस श्लोक का तात्पर्य है कि जब बुद्धि किसी विशेष प्रकार से परिणत हो जाती है तो वह (पुरुष) अनुभूति करने लगता है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे स्वच्छ जल मे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

[2] वसीलीफ कृत 'बुद्धिस्मस' पृ० २४०।

[3] देखें, तकाकुसु का प्रबन्ध 'ए स्टडी आव परमार्थ' स लाइफ आव वसुबन्धु (जे० आर० ए० एस० १६०५)। तकाकुसु द्वारा ईश्वर कृष्ण को ही विन्ध्यवासी मानना बहुत संदेहावह है। गुणरत्न ने ईश्वर कृष्ण और विन्ध्यवासी को दो पृथक् व्यक्ति माना है (तर्क रहस्य-दीपिका पृ० १०२, १०४)। विन्ध्यवासी के नाम से उद्धृत

समय १०० ई० के लगभग है। यह बात सगत प्रतीत होती है कि ईश्वर कृष्ण की कारिकाएँ किसी अन्य ग्रन्थ पर आधारित हों जो उस शैली से विभिन्न शैली मे लिखा गया हो जो ईश्वर कृष्ण की है। कारिकाओं में सातवी कारिका ठीक वही बात कहती है जो पतजलि (१४७ ई० पू०) के महाभाष्य में उद्धृत की गई है।[1] इन दोनो उक्तियों का विषय है ऐसे कारणो का संख्यान जो चाक्षुष प्रत्यक्ष को विफल बना देते है। यद्यपि यह सिद्धात साख्य दर्शन का तकनीकी दार्शनिक सिद्धान्त नही है और यह सम्भव है कि वह ग्रन्थ पतजलि ने यह उक्ति उद्धृत की हो और जिसका ईश्वर कृष्ण ने आर्याछद मे अनुवाद करके कारिका बना दी हो, साख्य का ग्रन्थ ही नही हो। फिर भी चूँकि इस प्रकार के कारणो का परिगणन भारतीय दर्शन की किसी अन्य शाखा मे नही पाया जाता और साख्य द्वारा वर्णित प्रकृति की अवधारणा के विरुद्ध शकाओ के निवारण के लिए यह एक विशिष्ट आधार हो सकता है इसलिए स्वाभाविक और सगत यही अनुमान लगता है कि वह पद्य किसी ऐसी साख्य की पुस्तक का ही है जिसका बाद मे ईश्वर कृष्ण ने अनुवाद किया।

साख्य के प्राचीन विवरण मे जिनमे ईश्वर कृष्ण के साख्य से बहुत समानता पाई जाती है (केवल ईश्वर का सिद्धान्त ही उनमें जोडा गया है) वे है पतञ्जलि के योग-सूत्र और महाभारत मे वर्णित सिद्धान्त। किन्तु हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते है कि चरक द्वारा वर्णित साख्य का जो विवरण हमने दिया है वह पतञ्जल को भी ज्ञात था क्योंकि योगसूत्र (१-१९) मे साख्य का जो उल्लेख किया गया है वह बिलकुल इसके समान है।

अनुष्टुप छन्द मे निबद्ध श्लोक (पृ० १०४) ईश्वर कृष्ण के ग्रन्थो में नही पाया जाता। यह लगता है कि ईश्वर कृष्ण ने दो पुस्तके लिखी—एक तो सांख्यकारिका और दूसरी साख्य दर्शन पर एक पृथक् ग्रन्थ जिसमे से गुणरत्न ने निम्नलिखित पक्ति उद्धृत की है—"प्रतिनियताध्यवसाय श्रोत्रादिसमुत्थ अध्यक्षम्" (पृ० १०८)।

यदि वाचस्पति की तत्वकौमुदी मे दिया गया अनुमान के भेदो का निर्वचन साख्यकारिका का सही व्याख्यान मान लिया जाए तो ईश्वर कृष्ण विन्ध्यवसी से पृथक् ही व्यक्ति सिद्ध होता है क्योकि विन्ध्यवासी का मत, जैसाकि श्लोकवार्तिक (पृ० ३९३) मे बताया गया है, उसके मत से बिलकुल भिन्न है। किन्तु तात्पर्य टीका मे (पृ० १०९ एवं १३१) वाचस्पति का स्वय का कथन यह सूचित करता है कि उसका विवेचन मूल का पूरा-पूरा सही व्याख्यान नही है।

[1] पातञ्जल महाभाष्य (४/१/३) अतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षान्मूर्त्यन्तर-व्यवधानात्तमसावृतत्वादिन्द्रिय दौर्बल्यादतिप्रमादात्' आदि (बनारस सस्करण)।

सांख्य दर्शन के इतिहास की दृष्टि से चरक और पचशिख का सांख्य बहुत महत्व-पूर्ण है क्योंकि वह उपनिषदों में वर्णित दर्शन और ईश्वर कृष्ण द्वारा वर्णित पारंपरिक सांख्य सिद्धान्त के बीच के संक्रमण काल का प्रतिनिधित्व करता है। एक और इसका यह सिद्धान्त कि इन्द्रिय भौतिक है और यह कि स्थितियो के समुदाय के फलस्वरूप कार्य की उत्पत्ति होती है, साथ ही यह बात कि पुरुष अचेतन है इनके सिद्धांत को न्याय के बहुत निकट ला देते है, दूसरी और पारपरिक सांख्य की बजाय यह साख्य बौद्ध दर्शन के भी निकट लगता है।

षष्टितत्र शास्त्र साख्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ बतलाया गया है। अहिर्बुध्न्य सहिता मे इसे दो खडों मे विभक्त (कर्मी ३२ और २८ अध्यायो वाले) बताया गया है। राजवार्तिक (एक अज्ञातकालिक ग्रन्थ) से साख्यकारिका के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने बहत्तरवी कारिका की टीका मे एक उद्धरण देते हुए कहा है कि षष्टितत्र इसका नाम इसलिए पड़ा कि यह प्रकृति के अस्तित्व, उसके एकत्व, पुरुष से उसकी विभिन्नता, पुरुष के लिए उसकी महत्ता, पुरुषो का अनेकत्व, पुरुषो से सम्बन्ध और वियोग, तत्वो की उत्पत्ति, पुरुषो की निष्क्रियता और पांच विपर्यय, नौ तुष्टियां, इन्द्रियो के अट्ठाईस प्रकार के दोष तथा आठ सिद्धियां, इनका विवेचन करता है।[1]

---

[1] विपर्यय, तुष्टि, इन्द्रियदोष और सिद्धि के सिद्धान्त ईश्वर कृष्ण की कारिका मे वर्णित हैं किन्तु मैंने उन्हे अपने विवेचन मे इसलिए नही लिया है कि उनका दार्शनिक दृष्टि से महत्व नही है। विपर्यय (मिथ्याज्ञान) पाँच प्रकार का होता है—अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (घमड), राग, द्वेष व अभिनिवेश (आत्मरति)। इन्हे तमो, मोह, महामोह, तमिस्त्रा और अन्धतमिस्त्र भी कहा जाता है। तुष्टि नौ प्रकार की है—जैसे यह विचार कि हमे अपनी ओर से कोई प्रयत्न नही करना है, प्रकृति अपने आप हमारे मोक्ष की व्यवस्था कर देगी (अम्भ.) ध्यान आवश्यक नही, यही पर्याप्त है कि हम गृहस्थ से सन्यास ले ले (सलिल), मोक्ष के लिए कोई जल्दी नही, वह अपने आप यथा समय प्राप्त हो जाएगा (मेघ) भाग्य से ही मोक्ष प्राप्त होगा (भाग्य), पाँच कारणो से वैराग्य की उत्पत्ति और उससे उद्भूत सन्तोष यथा कमाने मे आने वाली दिक्कते (पर) कमाई सम्पत्ति की रक्षा मे आई दिक्कते (सुपर), कमाई हुई सम्पत्ति के भोग द्वारा उसका नैसर्गिक क्षय (परापर), इच्छाओ की वृद्धि के कारण आने वाला असन्तोष (उत्तमाम्भ)। वैराग्य की यह उत्पत्ति उन लोगो के लिए जो प्रकृति और उसके विकारो को आत्मा मानते है, बाह्यकारणो से होती है। सिद्धियां (सफलताएँ) आठ प्रकार की है (१) तार (शास्त्राभ्यास) (२) सुतार (उनकी अर्थमीमासा) (३) तारतार (तर्क) (४) रम्यक (अपने विचारो का गुरुओ तथा अन्य प्रबुद्धजनों के विचारों से उपोद्बलन) (५) सदामुदित निरन्तर अभ्यास से बुद्धि की विमलता)। अन्य तीन सिद्धियां हैं, प्रमोद, मुदित

किन्तु अहिर्बुध्न्य संहिता मे षष्टितंत्र के विषयो की जो सूची है वह कुछ और ही है और उससे ऐसा लगता है कि अहिर्बुध्न्य संहिता मे उल्लिखित षष्टितंत्र पांचरात्र वैष्णवो के प्रकार का कोई ईश्वरवादी दर्शन रहा होगा। अहिर्बुध्न्य संहिता में कपिल के सांख्य दर्शन को भी वैष्णव दर्शन बताया गया है। सांख्य के सबसे बड़े विवेचक विज्ञान-भिक्षु ने अपने विज्ञानामृतभाष्य मे कई जगह कहा है कि सांख्य मूलतः आस्तिक था और निरीश्वर सांख्य केवल प्रौढ़िवाद है (ईश्वर के बिना भी सृष्टि की व्याख्या करने की एक अनधिकार चेष्टा)। अलबत्ता महाभारत का कथन है कि सांख्य और योग मे यही भेद है कि सांख्य अनीश्वर है, योग सेश्वर। दोनो षष्टितन्त्रो के वर्णनो में यह भेद यह सूचित करता है कि अहिर्बुध्न्य संहिता मे उल्लिखित मूल षष्टितंत्र बाद में रूपान्तरित हुआ होगा और काफी बदल गया होगा। इस कयास की पुष्टि इससे भी होती है कि गुणरत्न ने प्रमुख सांख्य ग्रन्थो मे षष्टितन्त्र का उल्लेख नही किया है बल्कि केवल षष्टितन्त्रोद्धार का ही किया है जो षष्टितंत्र का रूपान्तरित संस्करण है।[1] सम्भवतः मूल षष्टितंत्र वाचस्पति के समय से पूर्व ही नष्ट हो गया था।

यदि हम मान ले कि अहिर्बुध्न्य संहिता मे उल्लिखित षष्टितंत्र साररूप मे वही ग्रन्थ है जो कपिल ने बनाया होगा और उसके उपदेशो का सही निरूपण है तो यह मानना होगा कि कपिल का सांख्य ईश्वरवादी था।[2] यह सम्भव है कि उसके शिष्य आसुरि ने उसका प्रचार किया हो लेकिन ऐसा लगता है कि जब आसुरि के शिष्य पंचशिख ने उसका विवेचन किया तो उसमे बहुत परिवर्तन हो गया। हमने देखा है कि उसके सिद्धान्त पारंपरिक सांख्य सिद्धान्तो से अनेक अंशो मे विभिन्न हैं। सांख्य-कारिका मे कहा गया है कि उसने इस तंत्र के बहुत भाग कर दिए (तेन बहुधाकृतं तंत्रम्)। इस वाक्य का अर्थ समझना मुश्किल है। शायद इसका यह मतलब है कि मूल षष्टितन्त्र को उसने अनेक निबन्धो मे पुनर्लिखित किया था। यह सुविदित है कि वैष्णवों के अधिकांश पंथ ब्रह्माण्ड विज्ञान का वही स्वरूप बतलाते हैं जो सांख्य के ब्रह्माण्ड विज्ञान का है। इससे इस कयास की पुष्टि होती है कि कपिल का सांख्य शायद सेश्वर हो। किन्तु इसके अलावा कपिल के और पतंजलि के सांख्य मे अर्थात्

और मोदमान जो प्रकृति से पुरुष की सीधे वियुक्ति मे सहायक होती है। इन्द्रिय-दोष अट्ठाईस प्रकार के कहे गए है। ग्यारह इन्द्रियो के ग्यारह दोष तथा सिद्धियो के अभाव मे तथा तुष्टियो के कारण होने वाले सत्रह प्रकार के अन्य दोष। विपर्यय, तुष्टि तथा इन्द्रियदोष सांख्योपदिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति मे बाधक बताए गए है।

[1] तर्करहस्यदीपिका पृ० १०९।

[2] एवं षड्विंशकं प्राहुः शारीरमिह मानवाः। सांख्यं सांख्यात्मकत्वाच्च कपिलादि-भिरुच्यते (मत्स्यपुराण ४-२८)।

योग में कुछ अन्य विभेद भी हैं। एक अनुमान यह लगाया जा सकता है कि पंचशिख ने कपिल के ग्रन्थ मे थोड़ा परिवर्तन कर और उसे निरीश्वर रूप में पुनर्लिखित कर कपिल के नाम से प्रचारित कर दिया है। यदि इस अनुमान को सही मान लिया जाय तो हम साख्य की तीन धाराएँ मान सकते हैं पहली सेश्वर धारा जिसके चिह्न अब लुप्त हो गए हैं किन्तु जो पातंजल साख्य के रूप मे आज भी अवशिष्ट हैं; दूसरी निरीश्वर धारा जिसका प्रतिनिधित्व पचशिख करता है और तीसरी पारम्परिक सांख्य-वाली निरीश्वर धारा जो उससे थोड़ी विभिन्न है। साख्य दर्शन मे एक महत्वपूर्ण परिवर्तन विज्ञान भिक्षु (सोलहवी सदी ई०) ने किया प्रतीत होता है। उसने गुणो को पदार्थ के भेद बतलाया है। मैने साख्य के इस निर्वचन को पूर्णत: तार्किक एव दार्शनिक मानकर कपिल और पातजल साख्यो के पारस्परिक विवेचन में इसी का अनुसरण किया है। किन्तु यह बतला देना प्रासगिक होगा कि मूलत: गुणों की अवधारणा विभिन्न अच्छी बुरी मानसिक स्थितियो के विभिन्न प्रकारो के रूप मे मानी गई थी और बाद मे एक ओर तो उन्हे आनुपातिक वृद्धि या ह्रास के आधार पर एक रहस्यात्मक तरीके से सृष्टि का कारण मान लिया गया और दूसरी ओर मानवीय मनोजगत् की समग्रता का भी आधार उन्हे ही मान लिया गया। गुणो का तार्किक विवेचन करने का प्रयत्न विज्ञान भिक्षु और वैष्णव ग्रन्थकार वेंकट ने अपने अपने तरीके से अलग अलग किया है।[1] चूंकि पतजलि का योगदर्शन और उस पर व्यास, वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु की टीकाएँ, वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु द्वारा वर्णित साख्य दर्शन के अधिकाश सिद्धान्तो पर एक ही मत रखते है इसलिए मैने उन्हे कपिल का साख्य और पातजल सांख्य नाम देना ही अधिक उचित समझा और उनका विवेचन भी एक साथ कर रहा हूं। षड्दर्शन समुच्च मे हरिभद्र ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

गौडपाद द्वारा उल्लिखित अन्य साख्य के दर्शनकार हैं, सनक, सनन्दन, सनातन और वोढ। उनकी ऐतिहासिकता और दार्शनिक सिद्धान्तो के बारे मे कुछ भी ज्ञात नही है।

सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र, वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञान भिक्षु

साख्ययोग दर्शन पर मेरे विवेचन की भूमिका मे कुछ स्पष्टीकरण देना आवश्यक लगता है। साख्यकारिका इस दर्शन की प्राचीनतम कृति है जिस पर परवर्ती लेखको द्वारा टीकाएँ लिखी गई है। किसी भी लेखक द्वारा 'साख्य सूत्र' का उल्लेख नहीं किया गया है—केवल अनिरुद्ध (१५वी सदी ई०) ने पहली बार इसकी टीका लिखी।

---

[1] वेंकट के दर्शन का विवेचन इस ग्रन्थ के दूसरे खंड मे किया गया है।

गुणरत्न ने भी, जो चौदहवी सदी ई० का है और जिसने अनेक साख्य ग्रन्थो का उल्लेख किया है, 'सांख्यसूत्र' का कोई सदर्भ नही दिया। गुणरत्न से पूर्व किसी लेखक ने 'साख्यसूत्र' का कहीं उल्लेख किया हो ऐसा भी नही दिखता। इस सबका स्वाभाविक निष्कर्ष यही निकलता है कि ये सूत्र सम्भवत चौदहवी सदी के कुछ समय बाद ही लिखे गए। किन्तु इस बात का भी कोई प्रमाण नही मिलता कि ये पन्द्रहवी सदी के समय से पूर्व की कृति नही है। ईश्वर कृष्ण की साख्यकारिका के अन्त मे यह उल्लेख है कि कारिकाओ में साख्यदर्शन का विवेचन है किन्तु उसमे अन्य दार्शनिको के सिद्धान्तो का खडन तथा षष्टितन्त्र शास्त्र आदि मूल साख्य ग्रन्थो से सम्बद्ध दृष्टान्त कथाएँ शामिल नही है। साख्यसूत्रो मे अन्य मतो का खंडन और अनेक दृष्टान्त कथाएँ भी हैं। यह असम्भव नहीं कि ये सब किसी अन्य साख्य ग्रन्थ से संकलित किए गए हो जो अब लुप्त हो चुका है। यह भी हो सकता है कि षष्टितन्त्र शास्त्र के किसी परवर्ती सस्करण से (जिसे गुणरत्न ने षष्टितन्त्रोद्धार नाम से उल्लिखित किया है) यह सकलन किया गया हो। यद्यपि यह एक अनुमान ही है। इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि साख्यसूत्रों मे उपलब्ध साख्य का साख्यकारिकाओ मे उपलब्ध साख्य से कोई महत्वपूर्ण अन्तर है। केवल एक महत्वपूर्ण बात यह है कि साख्यसूत्र ऐसा मानते है कि उपनिषदो मे एक परम शुद्ध चित् का जो वर्णन है उसका तात्पर्य उस एकता से है जो चेतन पुरुषो के वर्ग मे निहित है और गुणो के वर्ग से विभिन्न है। चूँकि समस्त पुरुष शुद्ध चित् स्वरूप है, उपनिषदो मे उन्हे एक बतलाया गया है क्योकि वे सभी शुद्ध चित की श्रेणी मे आते है और इस दृष्टि से एक भी कहे जा सकते है। यह समझौता साख्यकारिका मे नही मिलता। यह एक चूक हो सकती है, विभेद इससे सिद्ध नही होता। साख्यसूत्र का टीकाकार विज्ञानभिक्षु सेश्वर साख्य या योग के प्रति अधिक झुका हुआ था, निरीश्वर साख्य की बजाय। यह उसके साख्य प्रवचन भाष्य, योग वार्तिक एव विज्ञानामृत भाष्य (बादरायण के ब्रह्म सूत्रो पर ईश्वरवादी साख्य के दृष्टिकोण से लिखी गई एक स्वतंत्र टीका) मे उसके स्वय के वचनो से सिद्ध होता है विज्ञानभिक्षु का अपना दृष्टिकोण सच्चे अर्थों मे पूर्णत योगदर्शन का दृष्टिकोण नही कहा जा सकता क्योकि उसने पौराणिक साख्य दर्शन के दृष्टिकोणो का समर्थन अधिक किया है जिसके अनुसार विभिन्न पुरुष और प्रकृति अन्तत ईश्वर मे विलीन हो जाते है और जिसकी इच्छा से प्रत्येक प्रलय के बाद प्रकृति मे सृष्टि प्रक्रिया पुन. शुरू होती है। वह साख्यसूत्रो के पूर्णत निरीश्वर सिद्धान्तवादो से बच नही सका है किन्तु उसका कहना है कि ये उसने यह बतलाने के लिए प्रयुक्त किए है कि साख्य दर्शन इतना तार्किक है कि उससे ईश्वर को माने बिना भी, समस्त पदार्थों की व्याख्या की जा सकती है। विज्ञानभिक्षु की सांख्य दर्शन की व्याख्या वाचस्पति से बहुत बातो पर मतभेद रखती है और यह कहना कठिन है कि इन दोनो मे से कौन सही है। विज्ञानभिक्षु मे यह बात अच्छी है कि कुछ कठिन बिन्दुओ पर, जिन पर वाचस्पति मौन है, वह स्पष्ट एव निर्भीकता

पूर्वक निर्वचन करता है। मेरा तात्पर्य प्रमुखत गुणों के स्वरूप के निर्वचन से है जो मेरे मत में साख्य का एक महत्वपूर्ण बिन्दु है। विज्ञानभिक्षु ने गुणो को यथार्थ अथवा अतिसूक्ष्म पदार्थ माना है किन्तु वाचस्पति और गौडपाद (साख्यकारिका का एक अन्य टीकाकार) इस विषय पर मौन है। उनकी व्याख्याओं मे ऐसी कोई बात भी नहीं है जो विज्ञान भिक्षु के निर्वचन के विरुद्ध जाती हो किन्तु वे जहाँ गुणो के स्वरूप का कोई विवेचन नही करते वहाँ भिक्षु उनकी प्रकृति के बारे मे बहुत संतोषजनक स्पष्ट और तार्किक विवरण देता है।

चूँकि भिक्षु से पूर्व किसी अन्य ग्रन्थ मे गुणो का निरूपण नही मिलता, यह संभव लगता है कि इस विषय पर उससे पूर्व कोई विचारमन्थन नही हुआ। चरक मे या महाभारत मे भी गुणो के स्वरूप के बारे मे कुछ नही मिलता। किन्तु भिक्षु की व्यवस्था इतनी स्पष्ट है कि उसमे गुणो के पूर्ववर्ती समस्त दार्शनिक कृतियो मे उपलब्ध स्वरूप और प्रक्रिया का सारा सार समाहित सा लगता है। इसलिए गुणो के स्वरूप के विवेचन के सम्बन्ध मे मैंने भिक्षु के निर्वचन को ही मान्य माना है। कारिका ने गुणो का स्वरूप सत्व, रज और तम बतलाया है। इसमे सत्व को लघु और प्रकाशक, रज को शक्ति और गतिस्वरूप और तम को गुरु और आवरणकर्त्ता बताया है। वाचस्पति ने कारिका के इन शब्दो का अनुवाद मात्र कर दिया है, कोई विवेचन नही किया। भिक्षु की व्याख्या गुणो के तब तक उपलब्ध समस्त विवेचनो से सुसगत बैठती है, यद्यपि यह सम्भव है कि वह दृष्टिकोण उससे पहले अपरिज्ञात रहा हो और जब मूल साख्य-सिद्धान्त की स्थापना हुई हो उस समय भी गुणो की अवधारणा के बारे मे कुछ अस्पष्टता रही हो।

कुछ अन्य बिन्दु भी है जिनमे भिक्षु का दृष्टिकोण वाचस्पति से भिन्न है। इनमे से कुछेक महत्वपूर्ण बिन्दुओ का उल्लेख यहाँ उचित होगा। पहला तो बौद्धिक स्थितियो के पुरुष से सम्बन्ध के बारे मे है। वाचस्पति का मत है कि पुरुष से किसी भी बुद्धि की स्थिति का सयोग नही होता किन्तु पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि की स्थिति मे पड जाता है जिससे बुद्धि-स्थिति चैतन्ययुक्त हो जाती है और चेतना मे परिणत हो जाती है। परन्तु इस मत से यह शका हो सकती है कि पुरुष को फिर बुद्धि की चेतन स्थितियो का अनुभवकर्ता कैसे कहा जा सकता है क्योंकि बुद्धि मे उसका प्रतिबिम्ब तो केवल प्रतिफलन मात्र है, उसके आधार पर ही, पुरुष के बुद्धि मे सयोग किए बिना, भोग कैसे हो सकता है? वाचस्पति मिश्र द्वारा इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि देश काल मे दोनो का सयोग नही होता किन्तु उनकी सन्निधि से तात्पर्य एक विशिष्ट प्रकार की योग्यता से है जिसके कारण पृथक् रहते हुए भी पुरुष बुद्धि से सयुक्त और तदभिन्न अनुभूत होती है और उसी के कारण बुद्धि की स्थितियो को किसी व्यक्ति की बतलाया जाना प्रतीत होता है। विज्ञानभिक्षु का कथन कुछ विभिन्न है।

उसका मत है कि यदि ऐसी विशिष्ट योग्यता मान ली जाए तो कोई कारण नही कि मुक्ति के समय पुरुष में ऐसी विशिष्ट योग्यता क्यों न रहे, यदि ऐसा हुआ तो मोक्ष ही नही होगा। यदि योग्यता पुरुष मे निहित है तो वह उससे रहित कैसे हो जाएगा और तब बुद्धि मे निहित अनुभवों को भोगता रहेगा। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु का मत है कि किसी संज्ञानात्मक दशा मे पुरुष का बुद्धि की स्थिति से वास्तविक संयोग होता है। पुरुष और बुद्धि के इस संयोग का तात्पर्य यह नही है कि पुरुष इसके कारण परिवर्तित होता जाएगा–संयोग का मतलब परिवर्तन नही होता। परिवर्तन का तात्पर्य है नए गुणो का उदय। बुद्धि मे ही परिवर्तन होते हैं और जब ये परिवर्तन पुरुष मे प्रतिबिम्बित है तो पुरुष मे व्यक्ति अथवा अनुभवकर्ता का अनुभव होता है और जब पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पडता है तो बौद्धिक दशा चैतन्य दशा प्रतीत होती है। दूसरा बिन्दु है प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे वाचस्पति और भिक्षु मे मतभेद। भिक्षु का मत है कि मन की किसी क्रिया के बिना भी इन्द्रियाँ पदार्थों के निर्धारित गुणों का प्रत्यक्ष कर सकती है जबकि वाचस्पति यह मन की शक्ति मानता है कि वह इन्द्रियो के विषयो को एक निर्धारित क्रम मे व्यवस्थित करता है और अनिर्धारित इन्द्रिय विषयो का निर्धारण करता है। उसके अनुसार सज्ञान की पहली स्थिति वह है जब अनिर्धारित ऐन्द्रिय विषय प्रस्तुत होते है, दूसरी स्थिति में उनके स्वागीकरम, विभेदन और समूहन आदि होते है जिनके कारण मानसिक प्रक्रिया द्वारा अनिर्धारित पदार्थ सुव्यवस्थित होते है एव वर्गीकृत किए जाते है। यह मानसिक प्रक्रिया सकल्प कही जाती है जिसके द्वारा अनिर्धारित पदार्थ निर्धारित ऐन्द्रिय विषयो के रूप मे और प्रत्यक्ष के स्वरूपो और वर्गों मे व्यवस्थित किए जाते है, उन वर्गों के विश्लिष्ट लक्षणयुक्त धारणात्मक रूप बनाए जाते है। भिक्षु को जो यह मानता है कि पदार्थों का निर्धारित स्वरूप सीधे इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्षीकृत होता है, मन को निश्चित ही गौण स्थान देना पड़ेगा और उसे इच्छा, शका और कल्पना की एक शक्ति के रूप मे ही मानना पडेगा।

यहाँ यह उल्लेख करना भी अप्रासगिक नही होगा कि साख्यकारिका पर वाचस्पति की टीका मे एकाध स्थल ऐसे है जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अहकार को इन्द्रियो की विषयावलियो का जन्मदाता मानता है और बाह्य जगत् की भौतिक पदार्थावली को एक इच्छा या सकल्प से उद्भूत मानता है किन्तु उसने इस सिद्धान्त का आगे स्पष्टीकरण नही किया अतः उस पर अधिक विवेचन आवश्यक नही। इसके अतिरिक्त, महत् से तन्मात्रो के उद्भव के बारे मे भी एक मतभेद है। व्यासभाष्य और विज्ञानभिक्षु आदि से विपरीत, वाचस्पति का मत[1] है कि महत् से अहकार पैदा हुआ और अहकार से तन्मात्र। विज्ञानभिक्षु का मानना है कि अहकार का पृथग्भवन

[1] देखे मेरा ग्रन्थ 'स्टडी आव पतंजलि' (पृ० ६० से)।

और तन्मात्रों का उद्भव दोनों महत् में ही होते हैं और चूंकि यही मत मुझे अधिक तर्कसंगत लगा अतः मैंने यही पक्ष स्वीकार किया है। इसके अलावा योगदर्शन के बारे में वाचस्पति और भिक्षु में कुछ अन्य विभेदक बिन्दु भी हैं जिनका दार्शनिक महत्व अधिक नही है।

योग एवं पतंजलि

ऋग्वेद में योग शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे हुआ है, जैसे जूड़ा डालना या हल डालना, अनुपलब्ध की प्राप्ति, जोडना इत्यादि। जूड़ा डालने के अर्थ में इसका उतना प्रयोग नही हुआ जितना अन्य अर्थों में, किन्तु यह सत्य है कि ऋग्वेद मे तथा अन्य वैदिक साहित्य मे, जैसे शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् मे इस अर्थ मे भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] इसी शब्द से एक अन्य पद भी निकला है 'युग्य' जिसका प्रयोग परवर्ती सस्कृत साहित्य मे हुआ।[2]

ऋग्वेद मे धार्मिक और दार्शनिक विचारो के विकास के साथ-साथ हम यह भी पाते है कि धार्मिक यम नियम और आचार अधिक महत्व पाते गए हैं। तप और ब्रह्मचर्य बहुत ऊँचे गुण माने जाते थे तथा उन्हे उच्चतम शक्ति का स्रोत माना जाता था।[3]

तप और आत्मसयम के सिद्धान्तो का ज्यो ज्यो विकास होता गया त्यो त्यो यह भी अहसास होता गया कि चचल चित्तवृत्तियाँ उसी प्रकार अनियत्रणीय होती है जैसे एक उद्धत घोड़ा और इसीलिए योग शब्द का, जिसका प्रयोग मूलत. घोडो के नियत्रण के सदर्भ मे होता था, इन्द्रियो के नियत्रण के सदर्भ मे भी प्रयोग होने लगा।

पाणिनि के समय तक आते आते योग शब्द ने तकनीकी अर्थ धारण कर लिया था। पाणिनि ने 'युज समाधौ' धातु को 'युजिर योगे' धातु से इसलिए अलग माना है। समाधि या एकाग्रता के अर्थ वाला यूज धातु क्रियापदो मे कही प्रयुक्त नही हुआ है। इस धातु को 'योग' शब्द को निष्पन्न करने के लिए ही गिनाया गया है।[4]

---

[1] तुलनीय, ऋग्वेद १-३४-६; ७-६७-८; ३-२७-११, १०-३०-२, १०-१४-६, ४-२४-४; १-५-३; शतपथ ब्राह्मण १४-७-१-२।

[2] यह शायद आर्य भाषाओ का ही कोई प्राचीन शब्द है; तुलनीय जर्मन जोक, एवं लॉ-सेक्सन geoc. लैटिन Jugum

[3] कठोप ३-४; इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयास्तेषु गोचरान् (इन्द्रिय घोड़े है और उनके गम्य पदार्थ उनके विषय हैं) मैत्रा० २-६, कर्मेन्द्रियाण्यस्य हया (कर्मेन्द्रिय इसके घोड़े है)।

[4] 'युग्य' पद 'युजिर योगे' से बना है, युज समाधौ से नही। यदि हम पाणिनि के सूत्र

भगवद्गीता मे योग शब्द का प्रयोग 'युज्समाधौ' वाले अर्थ में तो हुआ ही है, 'युजिर योगे' वाले अर्थ में भी हुआ है। इसके कारण भगवद्गीता के अध्येताओं में कुछ भ्रम भी फैला है। गीता में योगी अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो अपने आप को समाधि में खो देता है सर्वोच्च श्रद्धा का पात्र माना गया है। वहाँ इस शब्द के प्रयोग के साथ एक यह विशेषता जुड़ी हुई है कि गीता ने एक और निर्गुण समाधि वाले तपःपूर्ण नियन्त्रण की प्रक्रिया और दूसरी ओर वैदिक ऋषियो के यज्ञादि कार्यों का सम्पादन करने वाले एक नए प्रकार के योगी (युजिर योगे वाले अर्थ में) की धारणा दोनो के बीच एक मध्यम मार्ग निकालना चाहा। ऐसा योगी जो इन दोनो मार्गों के सर्वोत्तम आदर्शों का एक समन्वय अपने आप मे स्थापित कर लेता है, अपने कर्तव्यो के प्रति सचेष्ट रहता है किन्तु साथ ही उनके स्वार्थमय उद्देश्यों तथा आसक्तियों मे लिप्त नहीं होता, वही सच्चा योगी माना गया है।

अपने अर्थशास्त्र मे दर्शन विज्ञान के विषयो का नाम गिनाते हुए कौटिल्य साख्य, योग और लोकायत का नाम लेता है। प्राचीनतम बौद्ध सूत्र (जैसे सतिपत्थान सुत्त) योग समाधि के सभी चरणों से परिचित प्रतीत होते हैं। इससे हम यह अनुमान लगा सकते है कि एकाग्रता का अभ्यास तथा योग बुद्धि के पूर्व ही रहस्यात्मक समाधि की एक तकनीकी प्रक्रिया के रूप मे विकसित हो चुके थे।

जहाँ तक साख्य के साथ योग के सम्बन्ध का प्रश्न है, जैसाकि हम पतजलि के योगसूत्रो मे स्पष्ट सकेतित पाते है, इस सम्बन्ध मे किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना बडा कठिन है। प्राचीनतर उपनिषदों मे श्वास सम्बन्धी विज्ञान पर कुछ विवेचन उपलब्ध होता है यद्यपि उस समय तक योगमार्ग की 'प्राणायाम' जैसी सुनिर्धारित प्रक्रिया विकसित नही हुई थी। जब हम मैत्रायणी तक आ जाते है तब जाकर यह स्पष्ट होता है कि योगदर्शन का एक प्रणालीबद्ध विकास पूरा हो चुका था। दो अन्य उपनिषद् जिनमे योगदर्शन के सिद्धान्त पाए जाते है—कठोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् है। यह वस्तुतः दिलचस्प बात है कि कृष्णयजुर्वेद की केवल इन्ही तीनो उपनिषदो मे जिनमे योगाभ्यास का सन्दर्भ मिलता है, साख्य के बारे मे भी वर्णन यद्यपि साख्य और योग के सिद्धान्त इनमे परस्पर सम्बद्ध रूप मे या किसी एक प्रणाली के ही दो भागों के रूप मे सकेतित नही मिलते किन्तु मैत्रायणी उपनिषद् मे एक उल्लेखनीय उद्धरण इस प्रकार का मिलता है जिसमे शाक्यायन और बृहद्रथ का सवाद

'तदस्य ब्रह्मचर्यम्' पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि उसके समय तक (पाणिनि को गोल्डस्टूकर ने बुद्ध से पूर्वकालिक बताया है) कि ब्रह्मचर्य के रूप मे न केवल तपस्या और संयम के ही विभिन्न रूप देश में प्रचलित थे बल्कि उसी से सम्बद्ध एक बौद्धिक और नैतिक संयम की सुनिर्धारित प्रणाली भी योग के नाम से प्रचलित थी।

है और उसमें योग प्रक्रिया का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए कुछ क्षेत्रों में साख्य के तत्वदर्शन का सहारा लिया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि योग प्रणाली मे सांख्य के तत्वदर्शन का समन्वय या उपोद्बलन इसी विचारधारा के अनुयायियो की देन है जिसे बाद मे पतजलि ने एक प्रणालीबद्ध रूप दे दिया है। शाक्यायन कहता है 'कुछ लोगों का यह कथन है कि प्रकृति के वैभिन्य के कारण गुण, इच्छा के बन्धन में बंध जाता है, और उसकी मुक्ति तब होती है जबकि इच्छा का दोष अपनीत हो जाता है, तब वह बुद्धि से देखने लगता है। जिसे हम अभिलाषा, कल्पना, संशय, विश्वास, अविश्वास, निश्चय, अनिश्चय, लज्जा, विचार, भय आदि कहते है वह सब केवल बुद्धि ही है। अपनी कल्पना मे अन्धकारक्रान्त गुणो की लहरो द्वारा विचलित होकर, अनिश्चित, दिङ्मूढ़, अपग इच्छाओ से आक्रान्त, किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर वह ऐसी धारणाओं से आबद्ध हो जाता है कि यह मैं हूं, वह मेरा है, और इस प्रकार अपनी आत्मा से अपने आपको बाँध लेता है जैसे एक पक्षी अपने आपको घोसले मे बाँध लेता है। इसलिए वह मनुष्य जो इच्छा, कल्पना और धारणा के वशीभूत होता है गुलाम होता है और जो उनके वश मे नही है वही स्वतंत्र है। इसीलिए मनुष्य को अपनी इच्छा, कल्पना और धारणा से निर्मुक्त रहना चाहिए। यही स्वातन्त्र्य का लक्षण है, यही ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग है, यही वह द्वार है जिससे वह अन्धकार को पार पा सकता है। सभी इच्छाएँ वहाँ जाकर शान्त हो जाती है। इसके लिए एक प्राचीन उक्ति भी उद्धृत की जाती है–

"जब पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ मन मे स्थिर हो जाती है और जब बुद्धि अविचलित होती है, वही सर्वोच्च स्थिति है।"[1]

---

[1] परन्तु वात्स्यायन ने न्यायसूत्र के अपने भाष्य (१-१-२६) मे साख्य और योग का भेद इस प्रकार बतलाया है–साख्य का मत है कि कोई भी वस्तु उत्पन्न या विनष्ट नही होती शुद्ध चेतना मे कोई परिवर्तन नही आता। (निरतिशया चेतना) समस्त परिवर्तन शरीर, इन्द्रियो, मन तथा बाह्य पदार्थो मे होते है। योग का मत है कि समस्त सृष्टि पुरुष के कर्म पर आधारित है। समस्त दोष एव प्रवृत्ति कर्म के ही कारण होते है। चेतना सगुण होती है। जो असत् है वह सत्ता मे आ सकती है और जो उत्पन्न है वह विनष्ट हो सकता है। यह अन्तिम मत व्यास-भाष्य द्वारा किए गए योग के विवेचन से बिलकुल भिन्न है। सैद्धान्तिक रूप से यह न्यायदर्शन के अधिक निकट है। यदि वात्स्यायन का कथन सही माना जाता है तो यह प्रतीत होता है कि सृष्टि रचना के पीछे कोई उद्देश्य निहित है यह धारणा साख्य ने योग से ली है। इस सूत्र पर उद्योतकर का विवेचन किसी भेद की ओर सकेत नही करता किन्तु उसमे इस बात पर ऐकमत्य का उल्लेख अवश्य मिलता है कि इन्द्रिय अभौतिक हैं इस दृष्टिकोण को साख्य और योग दोनो मानते है।

योग से सम्बन्धित उपनिषदो जैसे शाडिल्य, योगतत्व, ध्यान बिन्दु, हस, अमृतनाद, वराह, मडल, ब्राह्मण, नादबिंदु और योगकुंडली आदि की समीक्षा से स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रणालियों मे योग की प्रक्रियाएँ परिवर्तित होती गई है किन्तु उनमे सांख्य की दार्शनिक विचारधारा की ओर कोई प्रवृत्ति नही पाई जाती। शैव और शाक्त सिद्धान्तों के अनुरूप भी योगप्रक्रियाएँ विकसित होती गई और मत्रयोग के नाम से अनेक रूप लेती गई। योग की प्रक्रियाओ ने एक अन्य रूप भी धारण किया, हठयोग के रूप मे, जो विभिन्न जटिल नाडियो के विभिन्न योगो के निरन्तर अभ्यास द्वारा अनेक रहस्यात्मक और जादुई चमत्कार पैदा कर देने वाला योग माना जाता था, जिससे निरोग कर देने वाले तथा अन्य चमत्कार तथा ऐसी ही अतिमानुष शक्तियाँ सम्बन्धित थी। योगतत्वोपनिषद् कहती है कि योग के चार प्रकार है, मत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग।[1] कभी-कभी इन यौगिक अभ्यासो के साथ वेदान्त के समन्वय का प्रयत्न भी हमे मिलता है। योग की प्रक्रियाओ का तान्त्रिक तथा अन्य पूजा प्रकारों के विकास मे भी बहुत प्रभाव पाया जाता है, किन्तु इन सबका विवेचन हम यहाँ नही करेंगे क्योकि उनका कोई दार्शनिक महत्व नही है और इस प्रकार वे हमारे क्षेत्र के बाहर है।

सांख्य के पातजल दर्शन का अर्थात् योग के उस प्रकार का जिसका हम विवेचन कर रहे है पतजलि ही सम्भवत सबसे महत्वपूर्ण विवेचक था क्योकि उसने न केवल योग की विभिन्न प्रक्रियाओ का सकलन ही किया और योग से सम्बन्धित विभिन्न विचारधाराओ को एकत्र कर उनका सम्पादन किया अपितु उस सबको सांख्य के तत्व-दर्शन से समन्वित करके भी प्रमाणित किया और उसे वह रूप दिया जिसमे इस दर्शन को हम आज पाते है। वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु (व्यासभाष्य के दो महान् टीकाकार) हमारे इस कथन का समर्थन करते है कि पतजलि योगदर्शन का जन्म दाता नही बल्कि सपादक था। पातजल सूत्रो के विश्लेषणात्मक अध्ययन से भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि इनमे कोई मौलिक स्थापना नही है किन्तु एक उच्चस्तरीय और प्रणालीबद्ध सकलन ही है जिसके साथ समुचित मौलिक विवेचन जुड़े हुए है। पहले तीन

आश्चर्य की बात है कि वात्स्यायन अपने भाष्य मे (१-२-६) व्यासभाष्य से एक उक्ति उद्धृत की है (३-१३) और उसे स्वविरोधी (विरुद्ध) बताया है।

[1] योग के एक दार्शनिक जैगीषव्य ने 'धारणाशास्त्र' लिखा जिनमे तन्त्र की शैली मे योग का वर्णन है, पतजलि द्वारा वर्णित दार्शनिक शैली मे नही। उसने स्मृति के केन्द्रों के रूप मे शरीर के पाँच केन्द्रो का वर्णन भी किया है (हृदय, कण्ठ, नासाग्र, तालु, ललाट, सहस्रार) जिन पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। देखे, वाचस्पति की तात्पर्य टीका अथवा वात्स्यायन का न्यायसूत्रो पर भाष्य ३-२-४३।

अध्यायों में जिनमें परिभाषा और वर्गीकरण के रूप में बहुत ही वैज्ञानिक विवेचन मिलता है यह पता चलता है कि उनकी सामग्री पहले से ही विद्यमान थी, पतंजलि ने उसे केवल वैज्ञानिक और प्रणालीबद्ध रूप दिया। उसके विवेचन में कोई धार्मिक उत्साह या आग्रह नहीं दिखलाई देता, अन्य दर्शनों के सिद्धान्तो के खंडन का विशेष प्रयत्न भी नहीं। प्रसंगवश जहां अपने दर्शन को समझाने के लिए वैसा करना आवश्यक ही हो तो बात अलग है। पतंजलि इस दर्शन की स्थापना करने का उद्देश्य लेकर चला हो सी बात नही लगती। वह तो उन तथ्यों को जिन्हें उसने बिखरा पाया, व्यवस्थित करने मे भी रुचि रखता है। बौद्धो के खडन के प्रसंग भी अधिकांशत: अन्तिम अध्याय में मिलते है। प्रथम तीन अध्यायों मे योग के सिद्धान्त बतलाए गए है और इन्हे हम अन्तिम अध्याय से बिलकुल अलग थलग सा पाते है जिसमें बौद्धो का खडन है। तीसरे अध्याय के अन्त मे 'इति' शब्द के लिखने से भी यही स्पष्ट होता हैकि योग सम्बन्धी संकलन समाप्त हो गया। चौथे अध्याय के अन्त में भी एक 'इति' शब्द प्रयुक्त है जो सम्पूर्ण ग्रन्थ की समाप्ति का द्योतक है। इससे यह अनुमान पूर्णत: युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि चतुर्थ अध्याय पतजलि से इतर किसी लेखक की रचना है जो परवर्ती था और जिसने योग दर्शन के समर्थन मे कुछ अन्य तर्क जो छूट गए थे, इसमे जोड देना आन्तरिक दृष्टि से और बौद्ध दर्शन के समर्थको के संभावित विरोधो से बचाने हेतु उसे अधिक सबल बनाने की दृष्टि से उचित समझा। अन्तिम अध्याय की शैली में भी कुछ परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित होता है। ऐसा या तो इसलिए हो सकता है कि वह बाद मे लिखा गया हो या इसका प्रमाण हो सकता है कि वह किसी अन्य लेखनी द्वारा प्रस्तुत है।

अन्तिम अध्याय के तीस से चौंतीस तक के सूत्र दूसरे अध्याय मे कही गई बातो की पुनरुक्ति से प्रतीत होते है। इस अध्याय के कुछ विवेचित विषय ऐसे भी है जो पूर्व के अध्यायों में विवेचित विषयों से इतने सम्बद्ध है कि उनके साथ ही उनका विवेचन अधिक उचित होता। इस अध्याय का कलेवर भी इतना छोटा है जो अन्य अध्यायों से मेल नही खाता। इसमे केवल चौंतीस सूत्र हैं जबकि अन्य अध्यायों मे औसतन ५१ से ५५ तक सूत्र हैं।

अब इस प्रसिद्ध योगशास्त्री पतजलि के सम्भावित समय पर विचार करेंगे जो बहुत विवादस्पद विषय है। वेबर ने पतजलि को शतपथ ब्राह्मण[१] के "काप्य पतजल" से अभिन्न सिद्ध किया है; कात्यायन के वार्तिक में पतजलि का नाम आता है जिसे परवर्ती टीकाकारो ने इस प्रकार व्युत्पन्न माना है "पतंत: अंजलयो यस्मै" (जिसके लिए श्रद्धा से अजलियाँ बांधली जाएँ) किन्तु केवल नामसाम्य से ही किसी निश्चित

---

[१] वेबर कृत 'हिस्ट्री आव इन्डियन लिटरेचर,' पृ० २२३ (टिप्पण)।

निर्णय पर पहुँच जाना बहुत कठिन है। इसके अतिरिक्त एक मत यह भी है कि पाणिनि के सूत्रों पर सुप्रसिद्ध महाभाष्य लिखने वाला ही साख्ययोगदर्शनकार पतंजलि है। इस मत को अनेक पाश्चात्य लेखकों ने भी सम्भवतः कुछ भारतीय टीकाकारों के आधार पर मान लिया है जिन्होने इन दोनों को एक ही व्यक्ति बताया है। इनमें से एक तो है 'पतजलि-चरित' के रचयिता रामभद्र दीक्षित जो १८वीं सदी से पहले के नहीं हो सकते। दूसरी कृति है वासवदत्ता पर शिवराम की टीका जिसे आफ्रेक्ट ने १८वीं शताब्दी का बताया है। दो अन्य लेखक हैं धार का राजभोज और चरक का टीकाकार चक्रपाणिदत्त जो ११वी शताब्दी का था। चक्रपाणिदत्त कहता है कि 'वह उस अहिपति को नमस्कार करता है जिसने पातजल महाभाष्य और चरक के भाष्य (पुनर्लेखन) की रचना कर मन, वचन और कार्य के दोषों का अपनोदन कर दिया।' भोज कहता है, 'उस महामनीषी सम्राट रणारगमल्ल के वचनों की जय हो जिसने पातजल पर टीका लिखकर तथा राजमृगाक नामक आयुर्वेद ग्रन्थ लिखकर सर्पधारी शिव की भाँति मन, वचन और कार्य के दोष नष्ट कर दिए।' व्यास का स्तोत्र भी (जिसे पुराने विद्वान भी प्रक्षिप्त मानते है) इसी परम्परा पर आधारित है। इसलिए यह असम्भव नही है कि परवर्ती भारतीय टीकाकारो ने भी व्याकरणकार पतजलि, योगदर्शन का पतजलि और पातजलतन्त्र के लेखक आयुर्वेदकार पतजलि (जिसका उद्धरण चक्रदन्त से टीकाकार शिवदास ने धातुओ के तापन के प्रसग मे दिया है), इन तीनो पतञ्जलियो में घपला कर दिया हो।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे० एच० वुड्स का यह मत तो उचित प्रतीत होता है कि केवल इन टीकाकारो के साक्ष्य के आधार पर ही व्याकरणकार और दर्शनकार पतंजलि को एक नही माना जा सकता। यह ध्यान देने योग्य बात है कि व्याकरण के महान् लेखक जैसे भर्तृहरि, कैयट, वामन, जयादित्य, नागेश आदि ने ऐसी बात कही नही लिखी। इसी से परवर्ती कुछ लोग और आयुर्वेद के टीकाकारो द्वारा इन दोनो को एक मानने के विरोध मे पर्याप्त प्रमाण मिल जाता है। यदि इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण भी मिल जाते है तो हम व्याकरणकार और योग-दर्शनकार पतजलि को कभी भी एक नही मान सकते।

अब हम यह देखे कि क्या पतजलि के महाभाष्य मे कोई ऐसी सामग्री मिलती है जिससे वह योग-दर्शनकार से भिन्न सिद्ध होता है। प्रो० वुड्स का मानना है कि द्रव्य की परिभाषा मे इन दोनो पतजलियो का मतभेद है अत उन्हे एक नही माना जा सकता। वुड्स कहते हैं कि व्यास भाष्य मे एक जगह द्रव्य को सामान्य-विशेषात्मक बतलाया गया है जबकि महाभाष्य मे कहा गया है कि द्रव्य जाति भी तथा विशिष्ट गुणों का भी बोधन कराता है और ऐसा जिस पक्ष पर बल देना चाहा गया हो उसके अनुसार होता है। मैं नहीं समझता कि ये दो परिभाषाएँ एक दूसरे से विरुद्ध किस

प्रकार हुई ? इसके अतिरिक्त हम जानते हैं कि यही दो विचार व्याडि और वाजप्यायन के थे (व्याडि का मत था कि शब्द का अर्थ है गुण अथवा द्रव्य जबकि वाजप्यायन शब्द का अर्थ जाति मानता था)।[1] पाणिनि तक ने इन दोनों विचारों को संकेतित किया है, 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' तथ्य 'सरूपाणाम् एकशेषमेकविभक्तौ।' महाभाष्यकार पतंजलि ने इन दोनो विचारो का समन्वय किया। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह व्यास भाष्य वाले मत का विरोधी है, यद्यपि यह भी साथ ही समझ लेना चाहिए कि यदि यहाँ विरोध भी होता तो उससे सूत्रकार पतंजलि के भाष्यकार से अभिन्न होने न होने पर कोई फर्क नहीं पड़ता। पुनश्च, जब हम पढ़ते हैं कि महाभाष्य में द्रव्य को एक ऐसे पदार्थ के रूप मे परिभाषित किया गया है जो विभिन्न अशो का एक सयोग हो जैसे एक गाय पूँछ, खुर, सीग आदि का सयोग है (यत् सास्नालांगूलककुद, खुर-विषाण्यर्थ रूपम्) तो हमे व्यासभाष्य की यह परिभाषा उसके बिलकुल समान लगती है कि परस्पर सम्बद्ध भागो का समूह द्रव्य है (अयुतसिद्धावयवभेदानुगत. समूहो द्रव्यम्)। जहाँ तक मैंने महाभाष्य के अध्ययन पर ध्यान दिया, मुझे कही ऐसी कोई चीज नही मिली जिससे दोनो पतजलियो के एक होने के विरुद्ध कोई प्रमाण मिलता हो। अनेक मतभेद अवश्य है किन्तु वे सब प्राचीन वैयाकरणो के पारम्परिक मतों के खडन से ही सम्बद्ध है, उनके आधार पर इस व्याकरणकार का कोई व्यक्तिगत मत निकाल लेना और निर्णय ले लेना बहुत अयुक्तिगत होगा। मुझे तो यह विश्वास है कि महाभाष्यकार को साख्ययोग दर्शन के अधिकाश महत्वपूर्ण सिद्धान्तो का ज्ञान था। कुछ उदाहरणो के रूप मे हम उल्लेख कर सकते है गुण-सिद्धान्त का (१ २ ६४,४.१ ३), शून्यात्शून्यमुदच्यते वाले साख्य के सिद्धान्त का (१.१.५६), समय सम्बन्धी विचारो का (३ २ ५,३ २ १२३) समानो के रूप मे लौटने के सिद्धान्त का (१.१ ५०), विकार को गुणातराधान मानने के सिद्धान्त का (५ १ २,५ १ ३) तथा इन्द्रिय और बुद्धि मे विभेद के सिद्धान्त का (३ ३-१३३)। इसके अलावा स्फोटवाद के सम्बन्ध मे महाभाष्य योग के सिद्धान्त से सहमत है जो कि भारतीय दर्शन की किसी अन्य शाखा द्वारा नही माना गया है। इसके अलावा एक यह समानता भी पाई जाती है कि ये दोनो ग्रन्थ एक ही प्रकार से प्रारम्भ होते है, योगसूत्र प्रारम्भ होता है 'अथ योगानुशासनम्' से और महाभाष्य प्रारम्भ होता है 'अथ शब्दानुशासनम्' से।

इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रोफेसर वुड्स ने योगसूत्र की रचना का समय ३०० तथा ५०० ई० सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिए है वे बिलकुल ही अधूरे और कमजोर है। प्रथम तो, यदि दो पतजलियो को एक सिद्ध नहीं किया जा सकता तो उसका अर्थ यह नही है कि योगसूत्रकार पतंजलि निश्चय ही परवर्ती

[1] पतजलि का महाभाष्य (१/२/६४)।

होगा। दूसरे, तथाकथित बौद्ध[1] संदर्भ चतुर्थ अध्याय में मिलता है जो कि प्रक्षिप्त और परवर्ती है जैसा हम ऊपर बतला चुके है। तीसरे, यदि वे पतजलि द्वारा भी लिखे गए हों तो उससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि चूंकि वाचस्पति ने विरोधी विचारधारा को विज्ञानवादी विचारधारा बतलाया है अतः हम इस सदर्भ को वसुबधु या नागार्जुन का सकेत करने वाला मान लें, क्योंकि ये विचारधाराएँ जिनका सूत्रो मे खण्डन किया गया है नागार्जुन से बहुत पहले ही विकसित होती रही थी।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि कुछ परवर्ती टीकाकारो द्वारा मानी हुई यह परम्परा कि दोनो पतजलि एक ही है कोई बडा प्रामाणिक आधार नही मानी जा सकती, फिर भी योग सूत्रों और महाभाष्य के समीक्षात्मक अध्ययन से ऐसा कोई निष्कर्ष भी नही निकलता कि योग सूत्रो का रचयिता पतजलि व्याकरणकार पतजलि से परवर्ती होगा।

योगसूत्रकार पतजलि के बारे मे इस विचार के बीच मे ही मै एक अन्य पुस्तक का जिक्र भी करना चाहूंगा जिसके बारे मे अलबरूनी ने काफी लिखा है, मुझे खेद है चाहे इससे कुछ और चपला बढ जाए किन्तु यह एक विचारणीय और महत्वपूर्ण बिन्दु है, यह पुस्तक है 'किताब पातजल।' अलबरूनी इसे बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ मानता है और इसका अनुवाद कपिल द्वारा लिखित 'साक' (साख्य) नामक एक अन्य पुस्तक के साथ ही वह करता है। यह पुस्तक गुरु और शिष्य के बीच सवाद के रूप मे लिखी गई है। यह स्पष्ट है कि यह पतजलि के वर्तमान योगसूत्रों से भिन्न है, यद्यपि इसका उद्देश्य भी वही है, मोक्ष की प्राप्ति का उपाय और आत्मा का ध्यान के विषय के साथ तादात्म्य। अलबरूनी ने इसे 'किताब पातजल' कहा है यानि पातजल की किताब। एक अन्य स्थान पर भी फारसी मे जो कहा गया है उसका मतलब होता है पातजल की किताब का लेखक।

उस समय इस पुस्तक पर कोई विस्तृत भाष्य भी उपलब्ध था जिससे अलबरूनी ने अनेक उद्धरण दिए है किन्तु उसने उसके लेखक का नाम नही बताया है। पुस्तक मे ईश्वर, आत्मा, बन्धन, कर्म, मुक्ति आदि का विवेचन है जैसाकि योग सूत्रो मे भी है, किन्तु जिस प्रकार इनका प्रतिपादन किया गया है (और यह प्रतिपादन अलबरूनी द्वारा उद्धृत अनेक उद्धरणो मे हमे मिल जाता है) उससे यह लगता है कि आज योग सूत्रो मे जो विचार निबद्ध है उनसे इस अनुवाद तक आते-आते बहुत परिवर्तन हो गया था।

---

[1] यहाँ यह उल्लेख भी महत्वपूर्ण होगा कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण बौद्ध सन्दर्भ "न चैक-तन्त्रात्मक वस्तु तदप्रमाणक तथा किं स्यात्" (४/१६) सम्भवतः व्यासभाष्य की ही पंक्ति है क्योकि भोज जिसने, अपनी भूमिका मे लिखे अनुसार अनेक टीकाओ का अध्ययन किया था, इसे सूत्र के रूप मे नही मानता।

ईश्वर के सिद्धान्त के बारे में अलबरूनी कहता है कि उसे कालातीत, मुक्त सत्ता माना गया है किन्तु उसे वेदों का जन्मदाता तथा योगमार्ग का प्रतिपादक कहा गया है जिससे कि मनुष्य ज्ञान द्वारा जो उसका दिया हुआ है, प्राप्तव्य को पा सके। ईश्वर की सिद्धि इस प्रकार होती है कि जिस चीज का नाम मौजूद है वह चीज भी अवश्य मौजूद होगी। ऐसी कोई चीज नहीं है जिसका नाम मौजूद हो और चीज नहीं हो। आत्मा द्वारा ही उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, ज्ञान द्वारा उसके गुणो को जाना जाता है। ध्यान ही उसकी पूजा का एकमात्र उपाय है और उसका अभ्यास निरतर करने के कारण मनुष्य उसमे पूर्णतः विलीन हो जाता है और सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है।

आत्मा का सिद्धान्त वही है जो हमे योगसूत्र में मिलता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी उसी प्रकार है। ईश्वर के एकत्व पर ध्यान लगाने के पहले चरण मे आठ सिद्धियो का वह उल्लेख करता है। इसके बाद चार अन्य स्थितियाँ आती है जो योग सूत्र मे वर्णित स्थितियो के ही समान है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए वह चार मार्ग बतलाता है। पहला है, अभ्यास (पतजलि के मत वाला) इस अभ्यास का विषय है ईश्वर से एकत्व।[1] दूसरा मार्ग है वैराग्य, तीसरा है मोक्ष की प्राप्ति हेतु ईश्वर का अनुग्रह पाने के लिए उसकी पूजा (योगसूत्र १.२३ तथा १.२९ के समान) चौथा मार्ग है, रसायन, यह नया प्रतीत होता है। जहां तक मोक्ष का सम्बन्ध है उसका प्रतिपादन उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार योगसूत्रो २/२५ और ४/३४ मे किया गया है किन्तु मुक्ति की दशा को एक जगह ईश्वर मे विलय या उसके साथ एकत्व बतलाया गया है। ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों की तरह ऊर्ध्व मूल और अधःशाख अश्वत्थ के समान किया गया है, उसकी ऊपरी जड शुद्ध ब्रह्म है, तना वेद है, शाखाएँ विभिन्न सिद्धान्त और प्रणालियाँ है, पत्ते विभिन्न व्याख्याएं है। तीन शक्तियो से यह वृक्ष जीवन प्राप्त करता है। साधक का कर्तव्य है कि वह पेड पर ध्यान न दे और जड तक पहुँचे।

योग सूत्र की प्रणाली से इस प्रणाली मे यह अन्तर है कि (१) इस प्रणाली मे ईश्वर की अवधारणा को इतना अधिक महत्व दिया गया है कि वही ध्यान का एक मात्र केन्द्र माना गया है, उसमे लय हो जाना चरम ध्येय बन गया (२) यम[2] और नियम का महत्व इसमे बहुत कम है (३) योग सूत्र मे, ईश्वर से सम्बन्धित धारणाओ के अतिरिक्त, मुक्ति की प्राप्ति के एक स्वतत्र साधन के रूप मे योग का जो महत्व है वह

---

[1] तुलनीय योग सूत्र २/१।

[2] अलबरूनी ने साख्य की पुस्तक के अपने वर्णन मे साधनो की एक सूची दी है जो व्यावहारिक रूप में बिल्कुल यम और नियम जैसे ही हैं किन्तु कहा यह गया है कि उनके द्वारा मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती।

इसमे नजरन्दाज कर दिया गया है। (४) मोक्ष और योग को ईश्वर मे लय हो जाने के रूप मे परिभाषित किया गया है। (५) ब्रह्म की अवधारणा इसमे है (६) चित्त-वृत्ति निरोध के रूप मे योग का महत्व नजरन्दाज हो गया है (७) रसायन को भी मोक्ष का एक मार्ग बताया गया है।

इससे हम आसानी से अनुमान लगा सकते है कि यह योग सिद्धान्त का पतंजलि के योग सूत्र पर आधारित और वेदान्त एव तत्र की दिशा मे एक नया रूपान्तर था। इस प्रकार यह एक ऐसे सक्रमण काल के बीच की कडी के रूप मे माना जा सकता है जिसमे योग सूत्रो का योग सिद्धान्त एक नई प्रणाली मे इस प्रकार परिवर्तित हो जाता है कि परवर्ती वेदान्त, तत्र एवं शैवसिद्धान्तो के परवर्ती विकास के साथ उसे स्पष्ट जोडा जा[1] सकता है। चूंकि लेखक ने रसायन को मोक्ष का एक मार्ग बताया है अत. यह सम्भव है कि वह नागार्जुन के बाद हुआ हो और वही व्यक्ति हो जिसने पातजल तन्त्र लिखा और जिसका उद्धरण रसायन सम्बन्धी प्रसगो मे शिवदास ने दिया है। और जिसे नागेश ने 'चरक पतजलि.' लिखा है। हम यह भी अनुमान मोटे रूप मे लगा सकते हैं कि इसी व्यक्ति को लेकर चक्रपाणि और भोज ने इस पुस्तक के लेखक और महाभाष्य के लेखक को एक ही मान लिया। यह भी बहुत सम्भव है कि चक्रपाणि अपने शब्द "पातजल महाभाष्य चरकप्रति सस्कृतै" द्वारा इसी पुस्तक की ओर सकेत करता है, इसे पातजल कहा जाता था। इसके टीकाकार ने लोको, द्वीपो और सागरो का जो वर्णन दिया है वह व्यास भाष्य (३/२६) मे दिए गए वर्णनो से विरुद्ध पडता है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते है कि यह ग्रन्थ उस समय लिखा गया होगा जब या तो व्यास-भाष्य था ही नही या उसे महत्व नही दिया जाता था। अलबरूनी ने भी लिखा है कि यह पुस्तक उस समय बहुत प्रसिद्ध थी। भोज और चक्रपाणि ने भी शायद उसे व्याकरणकार पतजलि समझ लिया था। इससे हम यह भी अनुमान कर सकते है कि यह पातजल ग्रन्थ सम्भवत किसी अन्य पतजलि द्वारा ३००-४०० ईस्वी के बीच लिखा गया होगा अत यह असम्भव नही कि व्यास भाष्य (३/४४) इतिपतजलि: लिखकर इसी पतजलि का सदर्भ देता है।

मैत्रायणी उपनिषद् मे योग का जो वर्णन मिलता है उसमे उसके प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि, ये छ अग बताए[2] गए है। इस सूची को योगसूत्र की सूची से मिलाने पर यह ज्ञात होता है कि योग सूत्रो मे दो नए अग और जुड गए है और तर्क का स्थान आसन ने ले लिया है। ब्रह्मजाल सुत्त मे दिए गए

[1] तुलनीय सर्वदर्शन सग्रह मे किया गया पाशुपत दर्शन का विवेचन।

[2] प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क, समाधि, षडग इत्युच्यते योगः (मैत्रा० ६/८)।

बासठ विधर्मों के वर्णन से ज्ञात होता है कि कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो तीन स्तरों के ध्यान से या तर्क के बल पर वह विश्वास करते थे कि बाह्य जगत् और जीव सभी अनादि है। इस सिद्धान्त के साथ समाधि अथवा ध्यान के सिद्धान्त को एक शाश्वतवादी चितको का सिद्धान्त मानकर और तर्क को समाधि वाले अंग मे अतर्भावित करके हम यह कल्पना कर सकते है कि मैत्रायणी उपनिषद् मे दी हुई अगो की सूची योगदर्शन की सबसे पुरानी, उस समय की, सूची है जब साख्य और योग समन्वय की प्रक्रिया मे चल रहे थे और जब चिन्तन का सांख्याधारित सिद्धान्त योग से पृथक् स्वतंत्र दर्शन के रूप मे विकसित नही हुआ था। पतजलि की सूची मे तर्क के स्थान पर आसन का आ जाना सूचित करता है कि योग ने साख्य से पृथक् अपनी स्थिति बनाली थी। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का यम के रूप मे तथा शौच, सतोष का नियम के रूप मे, एक ऐसे नैतिक सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार जिसके बिना (सर्वप्रथम योग सूत्रो मे) योग को असम्भव बताया गया है, उस समय का सूचक है जब हिन्दुओ और बौद्धो मे विवाद इतना उग्र नही था। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा का शामिल किया जाना भी उतना ही महत्वपूर्ण है क्योंकि मोक्ष से सम्बन्धित बिन्दुओं के किसी भी साख्य मे उन्हे इतने स्पष्ट एव महत्वपूर्ण तरीके से उल्लिखित नही पाया जाता। आचाराग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, सूत्रकृतागसूत्र इत्यादि से लेकर उमास्वाति के तत्वार्थाधिगम सूत्र से होते हुए हेमचन्द्र के योगशास्त्र तक आते-आते हम पाते है कि जैन अपना योगदर्शन प्रमुखत. ऐसी दार्शनिक प्रणाली पर आधारित करते जा रहे थे जो यमो द्वारा परिभाषित थी। अलबरूनी के पातजल में व्यक्त यह विचार कि यमो से मोक्ष नही मिलता, हिन्दुओ व जैनो से हुए इस परवर्ती मतभेद का प्रमाण है। योग का एक अन्य महत्वपूर्ण लक्षण है उसका निराशावादी स्वर। योग के उद्देश्य एव प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे उसमे किया हुआ दुःख का विवेचन उसी प्रकार का है जिस प्रकार बौद्धो ने चार महान् सत्यो अर्थात् दुःख, दुःख का कारण, दुःख का निवारण तथा दुःखनिवारण के उपाय, का विवेचन[1] किया है। इसके अलावा, ससार चक्र का वर्णन दुःख, जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म आदि के रूप मे उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार पूर्ववर्ती बौद्ध दर्शन मे कारण चक्र का वर्णन मिलता है। इस सूची मे सबसे ऊपर अविद्या रखी गई है किन्तु यह अविद्या शाकर वेदान्त वाली अविद्या नही है, यह अविद्या बौद्ध दर्शन की सी अविद्या है, यह सासारिक माया जैसी शक्ति नही है न कोई सहज पातक के रूप मे रहस्यात्मक तत्व हैं, यह पार्थिव, संवेद्य यथार्थ की सीमा मे आती है। यौगिक अविद्या

---

[1] योगसूत्र २-१५, १६-१७, यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगो रोगहेतुः आरोग्य, भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्र चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा, संसारः ससारहेतुः, मोक्ष, मोक्षोपाय.। दुःख-बहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः सयोगो हेयहेतुः संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। व्यासभाष्य २/१५।

चार महान् सत्यों का अज्ञान ही है। योग सूत्र मे आता है "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिदुःखात्म ख्यातिरविद्या।" (२/५)

हमारे अस्तित्व का आधार हमारी जिजीविषा है जिसे अभिनिवेश कहा गया है। "हमारा यही पातक है कि हम होना चाहते है, हम, हम होना चाहते है, हम मूर्खतावश अपने अस्तित्व को अन्य अस्तित्वो के साथ मिश्रित करना और उसका विस्तार करना चाहते हैं। होने की इच्छा का निषेध, कम से कम हमारे लिए अस्तित्व को काट देता है।"[1] यह बात बौद्ध दर्शन के साथ भी उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार योग के अभिनिवेश के साथ जो एक ऐसा शब्द है जो योग दर्शन मे पहली बार और सम्भवतः बौद्ध दर्शन की उक्त धारणा के साथ मेल खाने के लिए गढा गया होगा और योगदर्शन मे ही नही जहाँ तक मैं जानता हूं अन्य भारतीय साहित्य मे भी अन्यत्र कहीं इस अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। जिस अध्याय मे इन सब बातो को बतलाने मे मेरा उद्देश्य यह है कि यह स्पष्ट कर दिया जाय कि मूल योग-सूत्र (पहले तीन अध्याय) ऐसे समय में बने होंगे जब बौद्ध दर्शन के परवर्ती प्रकार विकसित नही हुए थे और जब हिन्दुओ और बौद्धो एवं जैनो का विवाद उस स्थिति तक नही पहुचा था कि वे एक दूसरे के विचारों का आदान-प्रदान करना भी बुरा समझे। ऐसी स्थिति पूर्ववर्ती बौद्ध दर्शन के काल में ही थी, इसीलिए मेरा यह विचार बनता है कि योग सूत्र के प्रथम तीन अध्यायो का समय ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के आसपास ही होना चाहिए। चूंकि ऐसा भी कोई प्रमाण नही मिलता जिससे व्याकरणकार पतजलि को योग-सूत्रकार पतजलि मानना असम्भव हो जाय, इसलिए मेरा विचार है कि उन्हे एक ही मान लेना चाहिए।

सांख्य एवं योग का आत्मा अथवा पुरुष का सिद्धान्त[2]

साख्य दर्शन जैसा आज उपलब्ध है दो तत्वो को मानता है, जीव और प्रकृति, द्रव्य की आधारभूत शक्ति। जीव अनेक है जैसा जैन मानते है, किन्तु वे गुणरहित हैं और अशरीरहित है। छोटे या बड़े शरीर को धारण करने के कारण वे विस्तृत या सकुचित नही होते किन्तु हमेशा सर्व व्यापी रहते है और उन्ही शरीरों तक सीमित नही

[1] ओल्डनबर्गकृत 'बुद्धिज्म'।

[2] देखे एस० एन० दास गुप्ता योग फिलोसफी इन रिलेशन टू अदर इण्डियन सिस्टमस आव थाट (अध्याय २)। इन दोनो को एक मानने के पक्ष मे सर्वाधिक महत्व-पूर्ण बात यह लगती है कि इन दोनो पतजलियो ने अन्य भारतीय दार्शनिकों के विपरीत स्फोटवाद को मान्यता दी है, जिसे साख्य तक मे नही माना था। स्फोटवाद पर देखें मेरा ग्रन्थ स्टडी आव पतंजली (परिशिष्ट-१)।

रहते जिनके रूप में वे अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु शरीर अथवा शरीर मे स्थित मन तथा जीव अथवा आत्मा का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का है कि मानसिक विश्व में जो भी घटित होता है उसे आत्मा का ही अनुभव माना जाता है। आत्माएँ अनेक हैं, यदि ऐसा न होता तो (साख्य के अनुसार) एक आत्मा के जन्म के साथ समस्त आत्माएँ जन्म जाती और एक आत्मा की मृत्यु के साथ समस्त आत्माएँ मर जाती।[1]

जीव का वास्तविक स्वरूप समझना बहुत मुश्किल है किन्तु साख्य दर्शन को पूर्णत: समझने के लिए उसका समझ लेना बहुत जरूरी है। जीवो की जैन धारणा के विपरीत जो कि जीव को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य मानते है, साख्य जीव को समस्त लक्षणो से रहित मानता है और उसे शुद्ध चित् स्वरूप मानता है। साख्य का वेदान्त से यहाँ यह मतभेद है कि प्रथमत वेदान्त जीव को शुद्ध चित् और आनन्द-स्वरूप नही मानता।[2] साख्य मे आनन्द केवल सुख जैसे अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है और एतावता वह प्रकृति का ही गुण है आत्मा का नही। दूसरे, वेदान्त के अनुसार समस्त जीव एक आत्मा के अथवा शुद्धचित् या ब्रह्म के ही रूप है किन्तु साख्य के अनुसार वे भी वास्तविक और अनेक है।

वेदात की तरह साख्य का भी एक महत्वपूर्ण विवेच्य विषय है ज्ञानमीमासा। साख्य के अनुसार हमारा ज्ञान केवल वस्तुओ के वैचारिक चित्र अथवा प्रत्ययात्मक बिम्बस्वरूप है। बाह्य वस्तुएँ वास्तविक है किन्तु ऐन्द्रियज्ञेय और मानसिक बिम्ब, जिनके आवर्तन प्रत्यावर्तन को ही ज्ञान कहा गया है, भी एक तरह से वास्तविक और द्रव्यात्मक है, क्योकि वे भी बाह्य वस्तुओ के समान स्वरूपत सीमित है। ऐन्द्रिय ज्ञान एव बिम्ब आते और जाते है। वे बाह्य वस्तुओ के प्रतिरूप या चित्र होते है, इस दृष्टि से उन्हे किसी कदर द्रव्यात्मक कहा जा सकता है किन्तु वह द्रव्य जिससे वे बन है अत्यत सूक्ष्म है। ये मानसिक बिम्ब चैतन्य के स्वरूप भासित नही होते यदि चैतन्य के विभिन्न सिद्धान्त नही होते जिनके सम्पर्क से समस्त चैतन्य क्षेत्र एक व्यक्ति की अनुमति के रूप मे परिभाषित किया जा सकता।[3] हमने देखा है कि उपनिषदे आत्मा को शुद्ध एव अनन्त चित् स्वरूप मानती है; ज्ञान और प्रत्ययों के भेदो से एव बिम्बो से परे मानती है। हमारे दैनिक मानसिक विश्लेषण के प्रयत्नो मे हम नही जान पाते कि ज्ञान के विभिन्न रूपो की तह मे एक ऐसा भी तत्व छिपा है जिसमे कोई परिवर्तन नही

---

[1] कारिका, १८।

[2] देखें चित्सुखकृत तत्वप्रदीपिका।

[3] तत्वकौमुदी ५; योगवार्तिक ४/२२, विज्ञानामृतभाष्य पृ० ७४, योगवार्तिक एवं तत्व-वैशारदी १-४,११-६,१८,२० व्यासभाष्य १,६-७।

होता, जो अरूप है और जिसमे वह आलोक है जो निर्जीव चित्रो या बिम्बो को जो मन में बनते है, आलोकित करता है। यही आलोक आत्मा है। हम सब आत्मा शब्द जानते है किन्तु उसका मानसिक चित्र हमारे मस्तिष्क मे नही बनता जैसाकि अन्य बाह्य वस्तुओ का बनता है किन्तु हमारे समस्त ज्ञान के मूल मे हम आत्मा का अनुभव करते से लगते हैं। जैनो ने कहा था कि आत्मा कर्मद्रव्य से आवृत रहती है और प्रत्येक ज्ञान के अनुभव के साथ वह आवरण आशिक रूप से हट जाता है। साख्य कहता है कि आत्मा ज्ञान से नही प्राप्त हो सकती, वह पृथक् और चरम सिद्धान्त है जो ज्ञान के सूक्ष्म स्वरूप से भी परे है। हमारे सज्ञान को बिम्ब अथवा आकृति के रूप है एक सूक्ष्म मानसिक तत्व की ही निर्मितियाँ या सयोग है, वे अधकार में डूबे हुए चित्रित फलक की भाँति है, जैसे-जैसे बाहरी चित्र उस पर छपते जाते है और जैसे-जैसे वह प्रकाश के सामने आता जाता है वे चित्र एक-एक करके आलोकित होते जाते है और प्रकट होते जाते है। यही बात हमारे ज्ञान के साथ है। आत्मा का यह विशिष्ट लक्षण है कि वह प्रकाश स्वरूप है। उसके बिना समस्त ज्ञान अधा है, अधकारित है। आकार और गति द्रव्य के गुण है। जब तक ज्ञान केवल सीमित आकार और गति के रूप मे ही रहता है तब तक वह द्रव्य के समान ही है। किन्तु एक अन्य तत्व भी है जो ज्ञान के इन रूपो मे चेतना डालता है, जिसके कारण वे चेतन हो जाते है। यह चित् तत्व यद्यपि अलग से अपने आप मे अनुभूत होता हो या उसका प्रत्यक्ष किया जाता हो सो बात नही है किन्तु इस तत्व का हमारे ज्ञान के समस्त स्वरूपो और प्रकारो मे अस्तित्व अनुमान द्वारा स्पष्टत सकेतित होता है। इस चित् तत्व मे न कोई गति है न रूप, न गुण, न अशुद्धि।[1] इसी के सम्पर्क के कारण समस्त ज्ञान गतिशील होता है, उस ज्ञान के द्वारा यह चित् आलोकित हो जाती है और तब सुख और दुख की अनुभूतियाँ और ज्ञान के परिवर्तन इसमे भासित होते है। ज्ञान की प्रत्येक इकाई, चूँकि वह किसी प्रकार का बिम्ब या चित्र है, एक प्रकार से सूक्ष्म ज्ञानात्मक पदार्थ है जो चित् तत्व द्वारा आलोकित होता है, इसके साथ ही चूँकि ज्ञान की प्रत्येक इकाई मे चित् की जागृति या चेतना भी निहित है अत वह चित् तत्व की अभिव्यक्ति भी कही जा सकती है। ज्ञान का अनावरण आत्मा के किसी विशेष अश का अनावरण या आवरण निवृत्ति नही है जैसा कि जैनो का विश्वास था। इसे आत्मा का उद्घाटन केवल इस अर्थ मे कहा जा सकता है कि ज्ञान शुद्ध जागृति है, शुद्ध चेतना है, शुद्ध चित् है।

---

[1] यह ध्यान देने योग्य बात है कि साख्य मे ज्ञान की प्रक्रिया से सबद्ध दोनो पहलुओ को दो शब्दो द्वारा व्यक्त किया गया है–ज्ञान का अहसास वाला तत्व चित् कहा गया है तथा वह तत्व जो ऐन्द्रिय ज्ञेय को मन मे प्रतिबिम्बित करता है और बिम्ब बन जाता है वह समूचा बुद्धि कहा गया है। चित् के बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने की प्रक्रिया ही ज्ञान की प्रक्रिया है।

जहाँ तक ज्ञान अथवा बिम्ब के पदार्थ का प्रश्न है वह आत्मा का अनावरण नहीं है, वह केवल अन्धकारित ज्ञानात्मक पदार्थ मात्र है।

बौद्धो ने ज्ञान को उसके विभिन्न घटकों मे विश्लेषित किया था और उनकी मान्यता थी कि उन सब घटको का समन्वय ही चेतन स्थितियों को जन्म देता है। यह सयोग या समन्वय उनके अनुसार आत्मा की मायात्मक या भ्रमात्मक धारणा का ही बिन्दु था क्योकि यह समन्वय स्थायी नही किन्तु एक क्षणिक स्थिति है। परन्तु साख्य के अनुसार शुद्ध चित् न तो मायामय है न भ्रमात्मक, न एक अमूर्त धारणा। यह ठोस है किन्तु अनुभवातीत है। इसके सम्पर्क से ज्ञान के सूक्ष्म अणुओ या घटको की गति को एक प्रकार की एकता या समन्वय प्राप्त हो जाता है, वह नही होती तो वे सब घटक निरुद्देश्य और निश्चेतन रहते। उसके सम्पर्क से ही उनमे बौद्धिक चेतना आती है जिससे वे व्यवस्थित एव सुसगत वैयक्तिक अनुभवो के रूप मे निरुक्त हो सकते सकते है और उन्हे प्रज्ञानात्मक कहा जा सकता है। प्रज्ञानात्मक से यहाँ तात्पर्य होता है ज्ञान की विभिन्न घटनाओ और अभिव्यक्तियो का किसी एक व्यक्ति की चेतना से सम्बन्धित करना जिससे कि उन्हे एक व्यवस्थित आनुभविक शृंखला कहा जा सके। चेतना के इस तत्व को ही पुरुष कहा गया है। साख्य मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए पृथक् पुरुष माना गया है जो शुद्ध बुद्धि या चित् स्वरूप है। वेदान्त की आत्मा साख्य के पुरुष से इन अर्थों मे विभिन्न है कि वह केवल एक है और शुद्ध चित् स्वरूप है, सत् स्वरूप है और शुद्ध आनन्द स्वरूप है। वही एकमात्र सत्य है, भ्रमात्मक माया के कारण वह अनेक भासित होता है।

विचार एवं द्रव्य

एक प्रश्न स्वभावत उठता है। यदि ज्ञान का स्वरूप किसी ऐसे ही पदार्थ द्वारा निर्मित है जिस प्रकार का वस्तुगत पदार्थ द्रव्य के विविध प्रकारो मे पाया जाता है तो फिर ऐसा क्यो है कि पुरुष ज्ञान के इस पदार्थ को तो आलोकित करता है और भौतिक द्रव्यो को नही ? इसका उत्तर साख्य इस प्रकार देता है कि ज्ञानात्मक पदार्थ या तत्व भौतिक बाह्य पदार्थों से इस अर्थ मे निश्चित ही विभिन्न है कि वह कही अधिक सूक्ष्म है, उसमे एक विशिष्ट गुण का (अणुत्व या लघुत्व) जिसे सत्व कहा गया है, आधिक्य होता है जो पुरुष के आलोक से बहुत कुछ समान होने के कारण उसके प्रतिबिम्ब या प्रतिफलन का वहन एव ग्रहण करने के पूर्णत: योग्य एव अनुरूप होता है। बाह्य स्थूल भौतिक पदार्थों के दो प्रमुख गुण होते है द्रव्यमान एवं ऊर्जा। किन्तु इसका एक लक्षण और है कि वह हमारे मस्तिष्क द्वारा अपने मे प्रतिबिम्बित किया जा सकता है। द्रव्य का यह वैचारिक चित्र एक अन्य गुण भी रखता है, वह इतना बिम्बग्राही अथवा

संवेदनशील (सत्वयुक्त) होता है कि वह अपने में चित् का, जो अतिसत्व-शाली अनुभवातीत बौद्धिक तत्व है, प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकता है। बाह्य स्थूल भौतिक द्रव्य का मूल लक्षण उसका द्रव्यमान है, ऊर्जा स्थूल द्रव्य में और सूक्ष्म वैचारिक पदार्थ में समान रूप से विद्यमान है। वैचारिक पदार्थ मे द्रव्यमान बहुत कम या नगण्य होता है किन्तु उसमें बौद्धिक तत्व या जिसे सत्वगुण या सूक्ष्म संवेदनशीलता कहा जा सकता है सर्वाधिक होती है। यदि स्थूल द्रव्य मे इस बौद्धिक तत्व या सत्वात्मक लक्षण का कोई भी अंश जो कि वैचारिक तत्व मे होता है, बिल्कुल नही होता तो यह विचार का भाजन या विषय नही बनता क्योंकि विचार अपने आपको उस वस्तु के जो उसका विषय है आकार, प्रकार, रग और अन्य समस्त लक्षणो मे ढाल लेता है। विचार मे उस पदार्थ या वस्तु का चित्र या प्रतिबिम्ब नहीं बन सकता था यदि उस वस्तु या पदार्थ मे उसके कुछ गुण नहीं हो जिसका उनमे प्रतिबिम्ब बनता है। किन्तु यह सत्व गुण जो विचार मे सर्वाधिक मात्रा मे है, द्रव्य मे अत्यन्त नगण्य मात्रा मे होता है। ठीक इसी प्रकार विचार मे द्रव्यमान बिल्कुल दिखाई नही देता किन्तु ऐसी धारणाएँ जो द्रव्यमान मे निहित है विचार मे भी दृष्टिगोचर हो सकती है। विचार के बिम्ब सीमित, पृथक्, गतिशील तथा थोडे बहुत स्पष्टाकारक होते हैं। बिम्ब अवकाश नही घेरते किन्तु वे अवकाश का प्रतिनिधित्व कर सकते है। विचार का सत्व गति के रज के साथ सम्बद्ध होकर समस्त पदार्थों के एक साथ पूर्ण उद्घाटन करने मे समर्थ हो जाता किन्तु स्थूल द्रव्यमान या प्रतिरोध के गुण अर्थात् तम के कारण ज्ञान बिम्ब से बिम्ब तक क्रमिक रूप से जाता है और वस्तुओ का क्रम से ज्ञान होता है। बुद्धि (विचार द्रव्य या वैचारिक पदार्थ) मे समस्त ज्ञान अंधकार मे डूबा हुआ (निहित) रहता है, पुरुष के आलोक के प्रतिफलन से जब अंधकार या पर्दा उठता है तो वास्तविक ज्ञान हमे बुद्धिगोचर होता है। ज्ञान का यह लक्षण कि इसका समस्त भंडार अंधकारावृत रहता है और एक समय मे एक ही चित्र या विचार उसकी गोचरता प्राप्त करता है या उसके पर्दे पर आता है यह प्रकट करता है कि ज्ञान मे भी कोई प्रतिबंधक लक्षण है जिसकी अभिव्यक्ति अपने पूरे रूप मे स्थूल द्रव्य मे स्थित द्रव्यमान मे देखी जा सकती है। इस प्रकार विचार और स्थूल द्रव्य दोनो तीन तत्वों से बने हैं बौद्धिक गुण या सत्व, ऊर्जात्मक गुण या रज, और द्रव्यगुण या तम जो प्रतिबन्धक तत्व है। इन तीनो मे अन्तिम दो स्थूल द्रव्य मे प्रमुख रहते है और प्रथम दो विचार मे।

भाव, अन्तिम सारतत्व के रूप में[1]

इसी संदर्भ मे एक अन्य प्रश्न यह उठता है कि द्रव्य और प्रत्यय (विचार) के

[1] कारिका १२ : गौडपाद और नारायण तीर्थ।

विश्लेषण के प्रसंग मे भाव का स्थान क्या है। साख्य का मत है कि उन तीन लक्षणात्मक घटको मे से जिनका हमने ऊपर विवेचन किया है, सभी भाव (भावना) के ही प्रकार है। भाव हमारी चेतना का सबसे दिलचस्प पहलू है। भावो के स्वरूप मे ही हम यह एहसास करते हैं कि हमारे विचार 'हमारे' अग है। यदि हम किसी भी प्रत्यय को, उसके उद्भव के पहले ही क्षण मे इस रूप में विश्लेषित करते है कि वह किन कच्चे अविकसित सवेदनो से निर्मित हुआ है तो हमे वह एक बिम्ब के रूप मे नही बल्कि एक झटके के रूप मे प्रतीत होगा, हमे लगेगा कि यह एक भावनात्मक पिण्ड है, बजाय एक बिम्ब के। हमारे दैनिक जीवन मे भी ज्ञानात्मक व्यापार के जन्मदाता, पूर्ववर्ती तत्व केवल भावात्मक ही होते है। जब हम उद्विकासात्मक प्रक्रिया की कडियो मे और नीचे जाते है तो पाते है कि द्रव्य के अनेक स्वय-चल व्यापार और सम्बन्ध भावों की कच्ची अभिव्यक्तियो के रूप मे ही होते है जो ज्ञान के रूप मे कभी विकसित नही हो पाते। विकास की दशा या तराजू जितनी नीची होगी, भावनाओ की तीव्रता उतनी ही कम होगी, अन्तत: एक नीचे की दशा ऐसी भी आएगी जबकि द्रव्यात्मक सघन भावनात्मक प्रतिक्रिया को जन्म ही नही देते, केवल भौतिक प्रतिक्रियाएँ ही पैदा करते है। इस प्रकार भावनाएँ चेतना के सर्वादिम पथ की सूचक है—चाहे हम उद्विकास की प्रक्रिया के दृष्टिकोण से देखे चाहे सामान्य जीवन मे चेतना के उद्भव के दृष्टिकोण से। जिन्हे हम द्रव्य सहतियाँ कहते है, वे एक निश्चित दशा पर पहुचकर भाव सहतियाँ बन जाती है और जिन्हे हम भाव-सहतियाँ कहते है वे एक निश्चित स्थिति तक जाते-जाते केवल द्रव्य-सहतियाँ रह जाती है जिनकी प्रतिक्रिया द्रव्यात्मक ही होती है। इस प्रकार भाव ही अपने आप मे पूर्ण वस्तु है। वे ही वह अन्तिम तत्व है जिससे कि चेतना और स्थूल द्रव्य दोनो निर्मित होते है। सामान्यतया ऊपर से देखने पर भावो का ही अन्तिम तत्व मानने मे, जिससे स्थूल द्रव्य और विचार दोनो निकले हो कुछ कठिनाई लग सकती है क्योकि हम भावो को केवल विषयिनिष्ठ समझने के अधिक आदी हो गए हैं। किन्तु यदि हम साख्य के विश्लेषण पर ध्यान दे तो पाएँगे कि उसके अनुसार विचार और द्रव्य एक विशिष्ट सूक्ष्म तत्व के ही दो विभिन्न प्रकार है जो साररूप मे भावात्मक इकाइयो के ही तीन भेद सिद्ध होते है। विचार और द्रव्य के तीन मुख्य लक्षण जिन्हे हमने पूर्ण भाव मे विवेचित किया है, भावात्मक तत्वो के ही तीन प्रकार हैं। एक वर्ग भावो का है जिसे हम दु खात्मक कहते है दूसरा जिसे हम सुखात्मक कहते है, तीसरा न सुखात्मक है न दु.खात्मक वह अज्ञानात्मक या विषादात्मक है। इस प्रकार इन तीन अभिव्यक्तियो के प्रकारों, सुख-दु.ख और विषाद, के अनुरूप तथा भौतिक रूप से प्रकाश, प्रवृत्ति और नियम के रूप में तीन भावात्मक तत्वो के ही प्रकार है जिन्हे वह अन्तिम सारतत्व मानना चाहिए जिससे स्थूल द्रव्य के विभिन्न प्रकार और विचार की विभिन्न श्रेणियाँ बनती हैं।

गुण[1]

सांख्य दर्शन मे अन्तिम सूक्ष्म सत्ताओं के इन तीन प्रकारो को दार्शनिक भाषा मे गुण कहा गया है। संस्कृत मे गुण के तीन अर्थ होते है (१) धर्म या लक्षण (२) रस्सी या डोरा (३) प्रमुख नही किन्तु गौण। ये सभी तत्व है, केवल लक्षण नही किन्तु इस प्रसंग मे यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सांख्य दर्शन मे गुणो का (धर्मों का) कोई पृथक् अस्तित्व नही है। उसके अनुसार गुण की प्रत्येक इकाई एक पदार्थ या तत्व की इकाई है। जिसे हम गुण कहते है एक सूक्ष्म सत्ता की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति होती है। वस्तुएँ गुणों को धारण नही करतीं, गुण केवल उस प्रकार का वाचक है जिसके रूप मे उस पदार्थ की प्रतिक्रिया होती है। जिस किसी पदार्थ को हम देखते है वह कुछ गुणो को धारण करता हुआ दिखलाई देता है किन्तु सांख्य के अनुसार प्रत्येक गुण की नई इकाई के पीछे, चाहे वह कितनी भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्यो न हो, उसी के अनुरूप एक सूक्ष्म इकाई है जिसकी प्रतिक्रिया को ही हम उसका गुण कहते है। यह बात न केवल बाह्य पदार्थों के गुणो पर ही लागू होती है बल्कि बौद्धिक गुणों पर भी यही बात लागू होती है। इन अन्तिम इकाइयो को गुण का नाम शायद इसलिए दिया गया कि वे ऐसी सत्ताएँ है जो अपने विभिन्न प्रकारो मे अपने आपको गुणो या धर्मों के रूप मे अभिव्यक्त करती है। इन सत्ताओ को इस अर्थ मे भी गुण कहा जा सकता है कि इन रस्सियो के द्वारा ही आत्मा विचार और द्रव्य, दोनो मे बधा, सम्पृक्त होता रहता है। इन्हे गुण (गौणमहत्व की चीज) इसलिए भी कहा जा सकता है कि स्थायी एव अविनाशी होने के बावजूद गुण अपने समूहनो और पुन समूहनो द्वारा निरन्तर रूपान्तरित और परिवर्तित होते रहते है। वे पुरुष या आत्मा की तरह प्राथमिक और अपरिवर्ती रूप मे नैरन्तर्य नही रखते। दूसरे, सृष्टिक्रम का उद्देश्य यही है कि पुरुषो या आत्माओ को आनन्द या मोक्ष प्राप्त हो इसलिए द्रव्य सिद्धान्त स्वभावत. प्राथमिक न होकर गौण हो जाता है। किन्तु चाहे किसी भी दृष्टिकोण से हम गुण शब्द का निर्वचन कर औचित्य सिद्ध करना चाहे, हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि वे भौतिक इकाइयाँ और सूक्ष्म द्रव्य है, अमूर्त धर्म नही। गुण असख्य है किन्तु उनके तीन प्रमुख लक्षणो के दृष्टिकोण से उन्हे तीन वर्गों मे वर्गीकृत किया गया है सत्व (बौद्धिक तत्व), रज (ऊर्जातत्व) एव तम (द्रव्यतत्व)। सूक्ष्म द्रव्यो के रूप मे स्वय-प्रकाश और लचीले गुण तत्व कहलाते है। गति और ऊर्जा के तत्व वाली इकाइयाँ रजोगुण कहलाती है। प्रतिरोध करने वाली, द्रव्यात्मक स्थूल भौतिक इकाइयाँ तमोगुण कहलाती है। ये गुण विभिन्न मात्राओ और परिमाणो मे मिश्रित हो सकते है।

---

[1] योगवार्तिक २-१८, भावागणेश की तत्व याथार्थ्यदीपिका पृ० १-३ विज्ञानामृतभाष्य पृ० १००, तत्वकौमुदी १३, गौडपाद एवं नारायणतीर्थ १३।

(उदाहरणार्थ किसी इकाई मे सत्वगुण का प्राचुर्य और रज अथवा तम की कम मात्रा हो सकती है, किसी मे तामस गुण बडी संख्या मे हो सकते है, रज और सत्व के तत्व बहुत कम, इस प्रकार अनेक मिश्रण होते है) इसके फलस्वरूप विभिन्न गुणो से युक्त विभिन्न पदार्थ पैदा होते है। विभिन्न मात्राओ मे मिश्रित होने के कारण गुण परस्पर सपृक्त रहते है और वे एक दूसरे पर पारस्परिक प्रतिक्रिया भी करते रहते है। उन प्रतिक्रियाओं के विभिन्न परिणामों से नए लक्षण, धर्म, गुण और पदार्थ पैदा होते रहते है। केवल एक ही ऐसी स्थिति आती है जिनमे ये गुण विभिन्न मात्राओ मे नही होते। इसस्थिति मे प्रत्येक गुण तत्व दूसरे गुण तत्वों के विरुद्ध पड जाता है और इस प्रकार समान परस्पर विरोध के कारण एक सतुलन-सा पैदा हो जाता है जिसकी वजह से इन गुणो के कोई भी लक्षण अभिव्यक्त नहीं होते। यही वह दशा है जो नितान्त निर्लक्षण और निर्गुण होती है, वह पूर्णत: असमन्वित, अनिर्धारित, अनिर्वचनीय स्थिति होती है। वह स्थिति गुण रहित समानता और साम्य की स्थिति होती है। वह दशा अस्तित्व और अनस्तित्व दोनो के प्रति समान और उदासीन दशा है। पारस्परिक सतुलन की इस स्थिति को प्रकृति कहते है।[१] यह वह स्थिति है जो किसी उद्देश्य की पूर्ति नही करती। अस्तित्व भी उसे नही कहा जा सकता, अनस्तित्व भी नही किन्तु धारणात्मक रूप से यह दशा सब पदार्थों की जननी है। यह आदिम दशा है, जिससे वैषम्य होकर बाद मे समस्त रूपान्तर जन्म लेते रहते हैं।

प्रकृति एवं उसका उद्विकास

साख्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व इसी प्रकार की गुण रहित दशा थी, एक ऐसी दशा जिसमे गुणो के मिश्रण एक वैषम्य की स्थिति मे आ गए थे और परस्पर विरोध के कारण सतुलन की स्थिति अर्थात् प्रकृति बन गई थी। बाद मे प्रकृति मे विकार उत्पन्न हुआ और उसके फलस्वरूप विभिन्न मात्राओ मे गुणो के विषम मिश्रण बनने लगे जिससे विविध प्रकार की सृष्टि पैदा हुई। इस प्रकार गुणो के पूर्ण साम्य और परस्पर विरोध की स्थिति अर्थात् प्रकृति उद्विकसित होकर धीरे-धीरे निश्चित नियत, विभेदीकृत विषमजातीय और ससक्त होती गई। गुण हमेशा मिश्रित पृथग्भूत और पुनर्मिश्रित होते रहते है।[२] विभिन्न मिश्रित वर्गों के रूप मे तत्व (सत्व), ऊर्जा और द्रव्यमान के विभिन्न मात्रात्मक गुण एक दूसरे पर प्रतिक्रिया करते है और उनकी पारस्परिक अन्त:क्रिया और परस्पर निर्भरता के कारण निर्गुण अनिर्धारित स्थिति से सगुण निर्धारित और नियत स्थिति जन्म लेती है। कार्य जगत् की सृष्टि के लिए

---

[१] योगवार्तिक २/१९ तथा प्रवचनभाष्य १/६१।

[२] कौमुदी १३-१६; तत्ववैशारदी २-२०,४-१३,१४; योगवार्तिक ४-१३-१४।

परस्पर सहयोगी होने के बावजूद ये विभिन्न गुणों वाले विभिन्न क्षण कभी संयुक्त नहीं होते। इस प्रकार दृश्य जगत् के पदार्थों मे जो भी कोई ऊर्जा है वह केवल रजोगुण के कारण ही है। समस्त द्रव्य, प्रतिरोध, स्थिरता केवल तमोगुण के कारण ही है। समस्त चिदात्मक अभिव्यक्ति सत्व गुण के कारण है। वह विशिष्ट गुण जो किसी सवृति मे प्रधान होता है उसमे स्पष्टत अभिव्यक्त दिखलाई देता है, अन्य गुण अनभिव्यक्त रहते हैं, उनके कार्यों द्वारा उनका अनुमान अवश्य ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, एक स्थिर पिण्ड मे द्रव्य स्पष्ट परिलक्षित है, ऊर्जा अनभिव्यक्त है और चिदात्मक अभिव्यक्ति का विभव अथवा क्षमता और भी अनभिव्यक्त, सुप्त है। एक गतिशील पदार्थ मे जो गुण-प्रधान है, द्रव्य गौण हो जाता है। गुणों के ये सभी रूपातरण जो विभिन्न मात्राओं के कारण होते है अपने आदम बिन्दु के रूप मे प्रकृति से ही जन्मे माने जाते है। इसी स्थिति मे चिदात्मक अभिव्यक्ति की प्रवृत्तियाँ और गत्यात्मक शक्तियाँ जडत्व या स्थूल भौतिकता के द्वारा पूर्णतः विप्रतिरुद्ध होती है, उस समय सृष्टि के उद्विकास की प्रक्रिया पूर्णत अवरुद्ध निश्चेष्ट होती है। जब यह सन्तुलन एक बार नष्ट हो जाता है तो यह माना जाता है कि सात्विक पदार्थों के अपने समगुणी पदार्थों के लिए सवर्षण होने के कारण, राजस पदार्थों के अपने ही समान धर्मा अन्य तत्वो के आकर्षक होने के कारण और इसी प्रकार तामस पदार्थों के द्वारा अन्य तामस पदार्थों का आकर्षण किए जाने के कारण विभिन्न क्षेत्रो मे सत्व, रज और तम का वैषम्य पूर्ण समवाय हो जाता है। जब किसी एक विशिष्ट संस्थिति में एक गुण बहुत प्रभावी हो जाता है तो अन्य गुण उसके सहकारी रहते है। प्रकृति मे सबसे पहली हलचल पैदा होने से लेकर समस्त सृष्टि के रूप मे इस प्रपच परिणति की होने तक यह उद्विकास की प्रक्रिया एक सुनिर्धारित विधान के अनुसार चलती है। डाक्टर[1] बी० एन० सीयाल के शब्दो मे "सृष्टि के उद्विकास की प्रक्रिया साम्यावस्था मे से वैषम्य की अवस्था की ओर, अविशेष मे से विशेष की ओर तथा अयुतसिद्ध मे से युतसिद्ध की ओर विकास की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का क्रम अश या अवयव से अशी या अवयवी की ओर नही है, न ही अवयवी से अवयव की ओर बल्कि अपेक्षा कृत कम विषय से अधिक विषय, कम विशेष से अधिक विशेष और कम युतसिद्ध से अधिक युतसिद्ध अवयवी अथवा समग्र की ओर बढता है।" इस उद्विकास का तात्पर्य यह है कि गुणो की उद्विकसित होने वाली संस्थितियो के रूप मे समस्त परिवर्तन और रूपान्तरण प्रकृति के कलेवर मे ही होते है। प्रकृति अनन्त पदार्थों से बनी होने के कारण अनन्त है। उसमे हलचल होने का तात्पर्य यह नही है कि वह सम्पूर्ण रूप से विचलित और असतुलित हो गई है या प्रकृति मे रहने वाले गुण समग्र रूप से सतुलन की स्थिति ही

---

[1] डा० बी० एन० सियाल कृत 'पाजिटिव साइन्सेज आव द एन्शेन्ट हिन्दूज', १९१५ पृ० ७।

खो बैठे हैं। उसका तात्पर्य केवल यह होता है कि विचार और द्रव्य के विश्वों को बनाने वाले गुणो की एक महती संख्या असतुलित हो गई है। जब एक बार ये गुण संतुलन खो देते है तो उसके बाद ये अपना समूहन पहले एक रूप मे करते हैं, फिर दूसरे रूप मे, फिर अन्य रूप मे, इस प्रकार यह क्रम चलता है। किन्तु समूहो के निर्माण मे यह जो परिवर्तन होता है वह इस प्रकार का नही समझा जाना चाहिए कि एक समूह बनने के बाद उसकी जगह दूसरा बनता हो और जब वह बन जाता हो तो पहला समूह पूरा नष्ट हो जाता हो। सच तो यह है कि एक स्थिति दूसरे के बाद आती है और पहली स्थिति के कुछ तत्वों के नए समूहन के परिणाम स्वरूप दूसरी स्थिति पैदा हो जाती है। पहली स्थिति से दूसरी स्थिति मे नए समूह बनने मे जो कमी जनित होती है वह प्रकृति से नए तत्व लेकर पूरी हो जाती है। इस प्रकार दूसरी स्थिति क पदार्थो मे से निकलकर समूहन की तीसरी स्थिति बनती है और दूसरी स्थिति के पदार्थों मे आई कमी पहली स्थिति से कुछ हिस्सा लेकर तथा प्रकृति की पूर्वतर स्थिति से कुछ हिस्सा लेकर पूरी हो जाती है। इस प्रकार पुनर्भरण के इन क्रमो से उद्‌विकास की प्रक्रिया आगे बढती है और धीरे-धीरे उसकी चरम सीमा आती है जब कोई नया तत्व विकसित नही होता केवल पहले से उद्‌भूत पदार्थों मे रासायनिक और भौतिक गुणात्मक परिवर्तन मात्र होते हैं। उद्‌विकास को साख्य मे तत्वान्तर-परिणाम कहा गया है जिसका तात्पर्य है सृष्टि के पदार्थों का विकास, केवल तत्वो के गुणो मे (भौतिक, रासायनिक, जैविक अथवा बौद्धिक) परिवर्तन मात्र नही। इस प्रकार परिणमन की प्रत्येक स्थिति सत्ता की एक निश्चित और स्थायी तत्व रहता है, वह अगली स्थितियों मे अधिकाधिक विशिष्ट और गुतमिद्ध समूहों को अवसर देता है। यह कहा जाता है कि परिणमन की यह प्रक्रिया पूर्व स्थितियों मे ससक्त दशाओ मे से नई स्थितियो का विशकलन करने की प्रक्रिया (जिसे समृष्ट विवेक कहा गया है) मानी जाती है।

प्रलय एवं प्रकृति संतुलन में विचलन

अब, प्रकृति मे किस प्रकार और क्यो विचलन होता है, यह साख्य का एक बड़ा जटिल विषय है। यह माना जाता है कि प्रकृति अथवा गुणो का पूर्ण-सघात पुरुषो के साथइस प्रकार सम्बद्ध है तथा निर्जीव प्रकृति मे इस प्रकार की एक अन्तर्निहित प्रायोजन-वत्ता अथवा अनिर्धारित उद्देश्य विद्यमान है कि विभिन्न पुरुषो के लिए उसका परिणमन और रूपान्तरण होने लगता है, उससे सुखो और दुखो का भोग अनुभवो के द्वारा होता है और अन्तत. वे पूर्ण मुक्ति को प्राप्त हो पाते है। प्रकृति की उस प्रलय दशा मे विविध प्रकार के इस सृष्टि प्रपच का लौट जाना तब घटित होता है जब समस्त पुरुष समस्त अनुभवो की अस्थायी समाप्ति तक पहुँच जाएँ। उस क्षण में गुणो के

समूह धीरे-धीरे विघटित हो जाते है और प्रतिगमन या प्रतिसचार होने लगता है और अन्ततः गुण अपनी प्राथमिक विघटित स्थिति को पहुँच जाते हैं जबकि उनका पारस्परिक विरोध उनमे सतुलन पैदा करता है। यह सतुलन केवल एक निष्क्रिय स्थिति नही है बहुत तनाव की स्थिति है, बहुत तीव्र क्रिया की स्थिति है किन्तु यहाँ यह क्रिया नए पदार्थों और गुणों को जन्म नही देती याने विसदृश-परिणाम पैदा नही करती। वह परिणाम स्थगित रहता है, सतुलन की वही स्थिति याने सदृश-परिणाम दोहराई जाती रहती है जिससे कोई परिवर्तन या नया उत्पादन नही होता। इस प्रकार प्रलय दोनों की प्रयोजनवत्ता अथवा उद्देश्य का स्थगन नही है न ही वह गुणो के उद्विकास के क्रम मे पूर्ण निरोध है। प्रलय की स्थिति तो एक प्रकार से ससारचक्र की स्थितियो का ही एक क्रम है क्योंकि पुरुषो के सचित कर्मों की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए पुरुष उत्पन्न होता है और उस स्थिति मे भी गुणो की एक गतिविधि इस दृष्टि से चलती रहती है कि वे उत्पादन को स्थगित रखते है। अवश्य ही मुक्ति की दशा (मोक्ष) इससे बिलकुल विभिन्न है क्योंकि उस स्थिति मे गुणो के समस्त व्यापार हमेशा के लिए बद हो जाते है जहाँ तक उस मुक्त आत्मा का सम्बन्ध है। अब यह प्रश्न तो फिर भी वही रहता है कि सतुलन स्थिति कैसे टूटती है ? साख्य इसका यह उत्तर देता है कि ऐसा पुरुष के अनुभवातीत (यान्त्रिक नहीं) प्रभाव से होता है।[1] इसका अर्थ कुछ इस प्रकार है कि गुणो मे इस प्रकार की प्रयोजनवत्ता अन्तर्निहित रहती है कि उनके समस्त व्यापार और रूपान्तरण इस प्रकार हो कि उससे पुरुषो का उद्देश्य सिद्ध हो। जब पुरुषो के कर्मों ने यह अपेक्षा की कि समस्त अनुभवो का स्थगन हो जाय तो एक कालावधि के प्रलय हो गया। उसके बाद यही प्रकृति की अन्तर्निहित प्रयोजनवत्ता पुरुषो के अनुभवो के लिए उपयुक्त एक ससार की रचना करने के लिए उसे पुन जगाती है और उससे वह निश्चलता की स्थिति विचलित होती है। यह प्रकृति की अन्तर्निहित प्रयोजनवत्ता की मीमासा का एक दूसरा मार्ग है जो यह अपेक्षा करती है कि प्रलय की स्थिति समाप्त हो और सृष्टि की रचना की प्रक्रिया की स्थिति पुन शुरू हो। चूँकि गुणो मे एक उद्देश्य है जो उन्हे सतुलन की स्थिति मे लाता है यह सतुलन की स्थिति भी निश्चय ही यह अपेक्षा करती है कि जब उस उद्देश्य की ऐसी अपेक्षा हो तो वह स्थिति टूट जाय। इस प्रकार प्रकृति का अन्तर्निहित उद्देश्य ही प्रलय की स्थिति लाता है और वही सृष्टि के लिए पुन उसे तोडता है। प्रकृति मे यही नैसर्गिक परिवर्तन दूसरे शब्दो मे पुरुषो का अनुभवातीत प्रभाव कहा जा सकता है।

---

[1] योग का उत्तर कुछ दूसरे प्रकार का है। उसका विश्वास है कि प्रकृति के सतुलन मे विचलन और उसके कारण नई सृष्टि का उद्भव ईश्वरेच्छा से होता है।

महत् एवं अहंकार

प्रकृति मे सत्व के आधिक्य द्वारा सर्वप्रथम विकास जन्मता है। वस्तुतः यही सर्वादिम स्थिति है जिससे समस्त सृष्टि उद्भूत होती है, यह वह स्थिति है, जब सत्व की मात्रा प्रमुख होती है। इस प्रकार प्रलय के दौरान जो पुरुषों की बुद्धियाँ नष्ट हो गई थी वे उस स्थिति मे अन्तर्निहित रहती हैं। पुरुषो की अपेक्षा को पूरा करने हेतु प्रकृति के विकास का पहला कार्य इस प्रकार अभिव्यक्त होता है कि वह प्रत्येक पुरुष की बुद्धियो अथवा मनो को जो अपने आप मे विशिष्ट अविद्या को निहित रखते हैं प्रत्येक पुरुष के साथ पृथक् कर देती है जिससे कि प्रलय के पूर्व अनादिकाल मे वह बुद्धि सम्बद्ध रही होती है। विकास की इस स्थिति को जिसमे समस्त पुरुषो की सचित बुद्धियाँ एक साथ होती है, बुद्धितत्व कहा जाता है। यह वह स्थिति होती है जिसमे समस्त व्यक्तियो की बुद्धियाँ गर्भित होती है। व्यक्ति–पुरुषो की व्यक्ति बुद्धियाँ एक ओर तो इस बुद्धि तत्व मे समाई होती है और दूसरी ओर अपने अपने विशिष्ट पुरुषो के साथ जुडी होती है। जब बुद्धियाँ प्रकृति से पृथक् होने लगती है तब बुद्धियो के विकास की क्रिया प्रारम्भ होती है। दूसरे शब्दो मे, हम यो समझें कि पुरुषो की सेवा के लिए जब बुद्धियो का रूपातरण होता है तो प्रकृति मे से जो भी अन्य सीधे रूपातरण होते है वे सभी एक ही दिशा मे होते है अर्थात् कुछ बुद्धियो के पृथक्करण द्वारा जब सत्व की प्रमुखता या आधिक्य हो जाता है तो प्रकृति के अन्य परवर्ती रूपातरणो मे भी वही सत्व का प्रामुख्य रहता है, उन रूपान्तरणो मे भी उन प्रथम बुद्धियो के समान ही तत्व रहते है। इस प्रकार प्रकृति का पहला रूपान्तरण बुद्धि रूपान्तरण होता है। बुद्धियो की यह स्थिति एक तरह से सबसे अधिक व्यापक स्थिति कही जा सकती है जिसमें समस्त व्यक्तियो की बुद्धियाँ गर्भित रहती है और बिम्ब रूप मे, बीज रूप मे यह समस्त द्रव्य रहता है जिससे स्थूल जगत् बनता है। इस दृष्टिकोण से यह सबसे व्यापक और सृष्टि की महान सत्ता कही जा सकती है, अत. इसे महत् कहा गया है। इसे लिंग भी कहा गया है क्योकि अन्य परवर्ती सत्ताएँ अथवा विकास हमे इसकी सत्ता के अनुमान का आधार देती है और इस प्रकार यह प्रकृति से विभिन्न है क्योकि प्रकृति अलिंग है अर्थात् जिसका कोई लक्षण निर्धारित न हो।

जब महत्तत्व का उद्भव होता है तो उसके बाद के रूपान्तरण तीन दिशाओ मे तीन विभिन्न धाराओ के द्वारा होते हैं जो सत्व प्राधान्य, रजः प्राधान्य और तमः प्राधान्य का प्रतिनिधित्व करते है। वह स्थिति जब महत् तीन समानातर प्रवृत्तियों अर्थात् तम, रज और सत्व के प्राधान्य द्वारा विचलित होता है। इन तीन प्रवृत्तियों को क्रमश. तामसिक अहकार अथवा भूतादि, राजसिक अहकार अथवा तेजस और

वैकारिक अहंकार कहा जाता है। राजसिक अहंकार अपने स्वयं का प्राधान्य सूचित नहीं करता, वह सत्वप्रधान रूपांतरण और तम.प्रधान रूपान्तरण मे सहकारी ही होता है। तत्व प्रधान विकास बुद्धि के अधिकाधिक निश्चित अथवा नियत लक्षण की मान्यता ही सिद्ध करता है क्योंकि जैसा ऊपर बताया गया बुद्धि स्वयं सत्व प्रधान रूपान्तरण का परिणाम है। सात्विक विकास की दिशा में रज की सहायता से आगे विकास तभी हो सकता है जब बुद्धि मन की तरह अपने आपको विशिष्ट मार्गों में नियत और निर्धारित करे। इस दिशा मे बुद्धि का परम विकास सात्विक अथवा वैकारिक अहकार कहा जाता है। यह अहंकार बुद्धि के अहंता या ममता की चेतना के विकास का प्रतिनिधि है, वह बुद्धि वाली पहली स्थिति से इस दृष्टि से विभिन्न है कि उस स्थिति का कार्य केवल ज्ञान अथवा सत्ता का जानना है।

अहंकार (अभिमानद्रव्य) सामान्य चेतना की वह विशिष्ट अभिव्यक्ति है जो किसी अनुभव को मेरा बनाती है। अहकार का कार्य इसीलिए अभिमान (स्वयं की मान्यता) कहा जाता है। इससे, तदनतर, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ आती है–चक्षु, स्पर्श, घ्राण, रसना और श्रवण। पाँच कर्मेन्द्रियाँ आती हैं–वाणी, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। फिर प्राण (मन पेशीय शक्ति) जो ज्ञान और कर्म दोनों को प्रेरणा देता है। ये सभी जीवन के बौद्धिक व्यापार के पक्ष है। व्यक्तिगत अहकार और इन्द्रियाँ व्यक्ति बुद्धियों से सम्बद्ध रहती है, वे उन सत्व-निर्धारणों के विकास का फल है जिनसे वे जन्म लेती है। प्रत्येक बुद्धि मे अपने अहकार और इन्द्रियो के विकास निहित है और इस प्रकार वे एक सूक्ष्म विश्व है जो अन्य बुद्धियो के सूक्ष्म विश्वों से अलग-अलग स्थित होते हैं। जहाँ तक ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष तथा अहकार का विषय होता है वह प्रत्येक व्यक्ति मे विभिन्न होता है किन्तु एक सामान्य बुद्धि (कारण बुद्धि) भी होती है जो ऐन्द्रिय ज्ञान से पृथक् होती है, उसमे समस्त बुद्धियाँ निहित होती है, वह बुद्धितत्व है किन्तु उसमें भी अपनी-अपनी अविद्याओ से सम्बद्ध होने के कारण प्रत्येक बुद्धि अलग इकाई के रूप मे भी स्थित होती है। बुद्धि एव उसके सात्विक परिणाम अर्थात् अहकार और इन्द्रियाँ उस प्रकार सम्बद्ध है कि वे अपने व्यापारो में पृथक् होते हुए भी बुद्धि में स्थित है और उसके ही आंशिक परिणाम एव प्रकार हैं। इस सन्दर्भ मे यहाँ हमे पुनर्भरण वाला सिद्धान्त फिर याद रखना होगा। जब बुद्धि अहकार को जन्म देने के कारण कुछ खाली हो जाती है तो उसकी क्षतिपूर्ति प्रकृति द्वारा कर दी जाती है, अहकार इन्द्रियों को जन्म देने के कारण जब कुछ खाली हो जाता है तो उसकी क्षतिपूर्ति बुद्धि द्वारा कर दी जाती है। इस प्रकार परिवर्तन और क्षति की प्रत्येक स्थिति में उससे ऊपर वाले तत्व द्वारा क्षतिपूर्ति कर दी जाती है और अन्ततः प्रकृति समस्त क्षतिपूर्ति करती है।

तन्मात्र एवं परमाणु[1]

तम की प्रवृत्ति मुक्त रज और अहंकार की सहायता से प्राधान्य प्राप्त करती है; तभी तम सत्व की प्रवृत्ति पर जो बुद्धि मे प्रमुख होता है, विजय प्राप्त करके, भूतादि के रूप मे अभिव्यक्त होता है। इस भूतादि से रज की सहायता से तन्मात्र पैदा होते हैं जो स्थूल द्रव्यों के जनक कारण हैं। इस प्रकार भूतादि एक बीच की स्थिति है जो महत् मे तामस पदार्थों के विभिन्न वर्गों और समूहनों का प्रतिनिधित्व करती है जिससे कि तन्मात्रों का जन्म होता है। इस बात पर सांख्य और योग के बीच कुछ मतभेद हैं कि तन्मात्र महत् से जन्मते है या अहंकार से। हम इस स्थिति को यों समझ सकते हैं कि यहाँ उद्विकास का तात्पर्य उद्भव या जन्म लेना नही है किन्तु एक विकासमान तत्व के अन्दर समन्वित रूप से किसी वर्ग विशेष की वृद्धि या विशिष्ट को ही वहाँ उद्विकास कहा गया है। तामस पदार्थों के पुन समूहन से ऐसी विशिष्टि महत् मे जन्म लेती है किन्तु उसका माध्यम भूतादि होता है। भूतादि पूर्णत समरूप और निश्चल होता है, सिवा द्रव्यमान के उसमे कोई भौतिक या रासायनिक लक्षण नही होता। अगली स्थिति अर्थात् तन्मात्र सूक्ष्म द्रव्य का प्रतिनिधित्व करती है जो कम्पमान, व्याघातक, विकिरणशाली और अन्तर्निहित ऊर्जा से युक्त होता है। ये विभव (अन्तर्निहित ऊर्जाएँ मूल द्रव्य इकाईयो के विभिन्न मात्राओ मे असम वितरणो और रज की (ऊर्जा) विभिन्न मात्राओं के सयोग से उद्भूत होते है। तन्मात्रो मे केवल द्रव्यमान और ऊर्जा ही नही होती, उनमे कुछ भौतिक लक्षण भी होते है, कुछ में भेदनीयता, कुछ मे परिमाण, कुछ मे ताप, कुछ मे स्नेहन आदि गुण होते है।[2]

इन भौतिक लक्षणो से सम्बद्ध रहते हुए उनमे बीजरूप में शब्द, स्पर्श, रग, रस और गध भी होते है, किन्तु सूक्ष्म द्रव्य होने के कारण उनमें स्थूल द्रव्यो के वे रूप नही होते जो अणुओ परमाणुओ या उनके संयोगों मे बाद मे दिखते है। दूसरे शब्दो मे, बीज रूप मे उनमे जो विभव निहित है उन्हे स्थूल द्रव्य के रूप मे हमारे इन्द्रियगम्य होने के लिए आगे और कुछ विशिष्ट पुन.समूहन या रूपांतरण की स्थितियो से गुजरना होता है, उनमे द्रव्यो के इन्द्रियगम्यता गुण अनुद्भूत नही होते है, अतीन्द्रिय होते है।[3]

---

[1] इस परिच्छेद में तथा अगले परिच्छेद मे मैंने डा० सियाल द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद की अनेक अंग्रेजी संज्ञाएँ सस्कृत की दार्शनिक सज्ञाओ के अनुवाद के रूप मे यो की यो ग्रहण की हैं। रायकृत हिन्दू केमिस्ट्री मे दिए गए अनुसार इस विषय के स्पष्ट विवेचन के लिए में डा० सियाल का आभारी हू। मूल ग्रन्थो के आधार पर सांख्य दर्शन की भौतिकी की व्याख्या का श्रेय पूर्णतः उन्ही को जाना चाहिए।

[2] डा० सियाल कृत 'पाजिटिव साइन्सेज आव द एन्शेन्ट हिन्दूज'।

[3] वही।

तन्मात्रो मे से शब्द अथवा आकाश-तन्मात्रा भूतादि से सीधे जन्म लेती है, उसके बाद स्पर्श अथवा वायु तन्मात्र आता है जो भूतादि के तम की एक इकाई के साथ आकाश तन्मात्र के सयोग से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार भूतादि के तम के संयोग से रूपतन्मात्र रसतन्मात्र अथवा अप्तन्मात्र पैदा होता है। इस अप्तन्मात्र मे तम के सयोग से गंधतन्मात्र अथवा क्षिति-तन्मात्र निकलता है।[1] तन्मात्रों और परमाणुओं मे यह भेद है कि उनमे केवल इन्द्रिय-गम्यता की अन्तर्निहित बीजशक्ति ही होती है, इन्द्रियगम्य होने के लिए उन्हे सत्ता की नई स्थिति मे पुन. समूहन द्वारा गुजरना होता है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यहाँ स्थूल विषयों का क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम के रूप मे वर्गीकरण, रासायनिक विश्लेषण पर आधारित नही है किन्तु पाँच इन्द्रियो के दृष्टिकोण से उन्हे इन पाँच वर्गों मे रखा गया है जिनसे कि हम उनका ज्ञान प्राप्त करते है। हमारी पाँच इन्द्रियो में से प्रत्येक एक विशिष्ट गुण का ही ग्रहण कर सकती है इसलिए पांच तत्वो को उन पांच इन्द्रियो के गुणो के रूप मे वर्गीकृत कर दिया गया। उन पाँच तत्वो की सत्ता को मान लेने पर उनको जन्म देने वाली पाँच अन्य आधारभूत विभवात्मक स्थितियो को भी मानना पड़ा जिन्हें तन्मात्र नाम देकर पाँच स्थूल द्रव्यों की आधारभूत स्थितियाँ बतलाया गया।

तन्मात्रो से परमाणुओ के पांच वर्ग इस प्रकार उद्भूत हुए — शब्द तन्मात्र द्वारा भूतादि से आधारभूत द्रव्य के सयोग से आकाश परमाणु पैदा हुआ। स्पर्श तन्मात्र द्वारा शब्द तन्मात्र के द्रव्य के सयोग से वायु परमाणु पैदा किया गया। प्रकाश और ताप के तन्मात्रो के साथ स्पर्श और शब्द तन्मात्रो के सयोग से तेजस् परमाणु पैदा हुए। प्रकाश और ताप के तत्वों के साथ रस तन्मात्रो के सयोग से अप् परमाणु हुए और उनके साथ गन्ध तन्मात्रो के सयोग से क्षिति परमाणु। आकाश परमाणु मे अवकाश या भेदनीयता होती है, वायु परमाणु मे दाब, तेजस् परमाणु मे विकिरणशाली ताप एव प्रकाश, अप् परमाणु मे श्यान आकर्षण तथा क्षिति परमाणु मे सयोजी आकर्षण होता है। जैसा ऊपर बताया गया आकाश भूतादि से तन्मात्र तक तथा तन्मात्र से परमाणु उत्पादन तक परिवर्तन की शृंखला की बीच की सीढ़ी का काम करता है अतः इसका विशेष विवेचन उचित होगा। सांख्य कारण आकाश और कार्य आकाश के बीच भेद करता है। कारण आकाश (जो सर्व-व्यापी है परमाणु वाला नही) निराकार तम ही है जो प्रकृति मे द्रव्यमान या भूतादि है। यह सब जगह रहता है, यह केवल अभावात्मक नही है इसमे केवल आवरणाभाव अथवा शून्यता है। जब ऊर्जा इस तामस

---

[1] सांख्येतर वाङ्मय मे भी विभिन्न प्रकारों से तन्मात्रो और परमाणुओं के उद्भव का वर्णन दिया हुआ है। डा० सियाल कृत पाजिटिव साइन्सेज आव द एन्शेन्ट हिन्दूज मे इसका कुछ विवेचन उपलब्ध है।

तत्व से सर्व प्रथम संयुक्त होती है तो उससे शब्द तन्मात्र पैदा होता है, आणविक आकाश भूतादि में से प्राथमिक द्रव्यमान इकाइयों के साथ इसी शब्द तन्मात्र के संयोग या समन्वय का परिणाम है। ऐसे आकाश परमाणु को कार्याकाश कहा जाता है। यह सर्वत्र स्थित रहता है और मूल कारण आकाश में वायु परमाणुओं के विकास के माध्यम के रूप में अवस्थित रहता है। आणविक होने के कारण यह बहुत कम स्थान घेरता है।

अहकार को तथा पाँच तन्मात्रो को दार्शनिक भाषा में अविशेष कहा गया है क्योकि सत्ता की नई इकाइयों के निर्माण के लिए उनके आगे और विशेषीकरण या विभेदीकरण सम्भव है। ग्यारह इन्द्रियों और पांच अणुओ को विशेष कहा गया है क्योकि उनके आगे भेद या पदार्थ अथवा सत्ता की नई इकाइयाँ नही बनती। इस प्रकार प्रकृति मे विकास की जो प्रक्रिया शुरू होती है वह एक ओर इन्द्रियो की उत्पत्ति के साथ और दूसरी ओर परमाणुओं की उत्पत्ति के साथ चरम सीमा तक पहुँचती है। परमाणु जनित पदार्थों मे परिवर्तन अवश्य होते हैं किन्तु वे परमाणुओं की आकाश मे अवस्थिति के अनुसार गुणों मे परिवर्तन ही है अथवा नए परमाणुओ और उनके नए सगठन के कारण हुए परिवर्तन हैं। इन्हे कोई नया पदार्थ नही कहा जा सकता जो कि पारमाणविक सयोगो से अलग कोई चीज हो। पदार्थो के पारमाणविक घटन मे जो परिवर्तन होते है उसका विवेचन अवश्य किया जाएगा किन्तु उसके पूर्व कार्य-कारण-भाव के उस सिद्धान्त का विवरण देना उचित होगा जिसके आधार पर साख्य-योग दर्शन की सृष्टि-रचना-प्रक्रिया ठीक तरह समझी जा सके।

कारणता सिद्धान्त एवं शक्ति संरक्षण का सिद्धान्त[1]

यह प्रश्न उठता है कि प्रकृति मे अपने एक विकार अथवा विकासज पदार्थ की उत्पत्ति के कारण जो कमी आ जाती है और उनसे हुए अन्य विकासो के कारण जो कमी आती है उसका पुनर्भरण कैसे होता है? महत् से तन्मात्र के उद्‌भव से अथवा तन्मात्रो से परमाणु के उद्‌भव से महत् मे और तन्मात्रो में जो क्षति हुई प्रकृति उसकी पूर्ति कैसे करती है?

दूसरे क्षेत्र मे परमाणु की स्थितियों में जो परिवर्तन होते है जैसे दुग्ध जैसे स्थूल पदार्थ में दही बनते समय जो रूपान्तर होता है उसके पीछे क्या सिद्धान्त है? साख्य कहता है कि 'सृष्टि की उत्पत्ति के समय ऊर्जा का कुल परिमाण अपरिवर्तित रहता है, कार्य और कारण इसी परमशक्ति के अन्दर होने वाले विकास या परिवर्तन हैं। कारणों में कार्य बीज रूप में रहते हैं। उनका समूहन अथवा संस्थिति ही बदलती है, उससे

[1] व्यासभाष्य एवं योगवार्तिक ४-३; तत्ववैशारदी ४-३।

गुणों की कुछ सुषुप्त शक्तियाँ अभिव्यक्त हो जाती है, किसी नई चीज का उद्भव नहीं होता। जिसे हम समवायि कारण कहते है वह केवल वह शक्ति होती है जो उत्पत्ति का निमित्त बनती है अथवा शक्ति का वाहक ही कारण कहा जाता है। यह शक्ति ऊर्जा का अनभिव्यक्त रूप है जो कार्य में आकर अभिव्यक्त (उद्भूत-वृत्ति) हो जाता है। किन्तु कुछ सहकारी शक्तियाँ उस कारण को कार्य रूप मे परिणत करने की प्रक्रिया चलाने मे सहयोग देती हैं'।[1]

कार्य की उत्पत्ति (जैसे मूर्तिकार की कला द्वारा संगमरमर में एक मूर्ति की अभिव्यक्ति) अनभिव्यक्त अवस्था से वास्तविक अभिव्यक्ति की अवस्था मे आने की प्रक्रिया ही है। सहकारी शक्ति अथवा निमित्त कारण (जैसे मूर्तिकार की कला) इस प्रक्रिया या रूपान्तरण मे केवल यान्त्रिक अथवा साधनात्मक सहायता देती है।[2] इस प्रकार 'प्रकृति से पुनर्भरण' के सिद्धान्त का तात्पर्य यही है कि प्रकृति की अन्तर्निहित प्रयोजनवत्ता के कारण तत्वो का इस प्रकार सगठन होता है कि वे महत् के रूप मे परिवर्तित हो जाते है तथा महत् के तत्वो का ऐसा सगठन होता है कि वे भूतादि अथवा तन्मात्रो मे अभिव्यक्त हो जाते हैं।

योग ने इस प्रक्रिया का विवेचन सुषुप्त अथवा बीज भूत शक्ति के मुक्त होने और उसके रूपान्तरण के आधार पर अधिक स्पष्टता से किया है। भौतिक कारणो में वह शक्ति बीज रूप मे रहती है जो कार्य के रूप मे अभिव्यक्त होती है। जब किसी सस्थिति मे भौतिक कारणो के साथ निमित्त कारण का सयोग होता है तो एक ऐसी प्रवर्तकता प्रतिबन्ध की निवृत्ति मे प्रेरक होती है जो निष्क्रिय संतुलन मे हलचल पैदा करती है और शक्ति को मुक्त कर देती है, साथ ही नई सस्थिति को भी पैदा कर देती है (गुण संनिवेशाऽविशेष)। जैसे एक खेत का स्वामी पास वाले दूसरे खेत मे भरा पानी अपने खेत मे लाने के लिए बीच में बनी हुई मिट्टी की डोली (बाड़) को हटा देता है जिससे पानी अपने आप खेत मे बहता चला आता है उसी प्रकार असमवायि कारण या निमित्त कारण (जैसे मूर्तिकार की कला) वे विघ्न दूर कर देते हैं जो एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे परिवर्तित होने के प्रतिबन्धक होते हैं ताकि शक्ति उस स्थिति से उसी के अनुरूप बह निकलती है और दूसरी स्थिति का निर्माण करती है। जो शक्ति दुग्ध अणुओ के रूप मे स्थित होकर दुग्ध का निर्माण करती है वह दुग्ध रूप मे प्रतिबंधित हो जाती है। जब गर्मी अथवा अन्य कारणो से वह प्रतिबन्ध दूर हो जाता है तो वह शक्ति दिशा बदल कर उसी के अनुरूप दही के परमाणुओं के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ठीक इसी प्रकार प्रकृति से, ईश्वर की इच्छा के कारण जब प्रतिबन्ध

[1] रे कृत हिस्ट्री आव हिन्दू केमिस्ट्र पृ० ७२।
[2] वही, पृ० ७३।

दूर हो जाते हैं तो प्रकृति में संतुलन की स्थिति मे स्थित तत्व प्रतिबन्ध-हीन होकर महत् आदि के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

परिवर्तन अर्थात् नई संस्थितियों का निर्माण

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि किसी पदार्थ को बनाने वाले परमाणुओं की संस्थिति तब तक परिवर्तित नही होती जब तक उसके अन्तर्निहित प्रतिबन्ध अथवा वर्तमान सस्थिति के निर्माण द्वारा कारित प्रतिबन्ध किसी बाहरी निमित्त द्वारा हटाए नहीं जाते। समस्त द्रव्य, क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम के पाँच परमाणुओं के संयोग से बने होते है। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य में जो भेद होता है वह केवल इसलिए कि उनमे परमाणुओ के सयोग या समूहन या सस्थितियों की मात्राओं का भेद होता हैं। एक सयोग के निर्माण के बाद परिवर्तन का एक नैसर्गिक प्रतिबन्ध रहता है जो परिवर्तन मे प्रतिबन्धक होता है और उस संस्थिति को सतुलित रखता है। स्वभावत ऐसे अनन्त प्रतिबन्ध विश्व के अनन्त पदार्थों मे रहते है। वह प्रतिबन्ध जहाँ कहीं से हट जाता है तो शक्ति उसी दिशा से बह निकलती है और तदनुरूप अन्य पदार्थ के निर्माण मे सहायक होती है। प्रतिबन्धको के निवारण के द्वारा किसी भी पदार्थ का इस प्रकार अन्य पदार्थ मे परिवर्तन हो सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि योगी लोग ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं जो किसी भी प्रतिबन्धक का निवारण कर सकती है और इस प्रकार वे किसी भी पदार्थ को किसी भी पदार्थ मे परिवर्तित कर सकते है। सामान्यत तो परिवर्तन का यह क्रम एक निर्धारित नियम के अनुसार चलता है जो बदला नहीं जा सकता (परिणाम क्रम नियम)। दूसरे शब्दो मे कुछ ऐसे नैसर्गिक प्रतिबन्ध होते हैं जो हटाए नही जा सकते। परिणमन का क्रम उन्हे छोडकर अन्य दिशाओ मे ही जाता है। केसर कश्मीर मे ही हो सकती है, बगाल मे नही। यह देश का प्रतिबन्ध है (देशापबन्ध)। कुछ धान वर्षा मे ही होते है, यह काल का प्रतिबन्ध है (कालापबन्ध)। हिरण आदमी को जन्म नही दे सकता, यह आकार का प्रतिबन्ध है (आकारापबन्ध)। दही दूध से ही बन सकता है, यह कारण का प्रतिबन्ध है (निमित्तापबन्ध)। सृष्टि का नियम इस प्रकार उसी दिशा मे परिणाम पैदा करता है जहाँ मार्ग मे कोई प्रतिबन्ध नही है।[1]

परिवर्तन सर्वत्र होता रहता है। अणु से लेकर महान् तक छोटे से लेकर बड़े तक। परमाणु और तत्व निरन्तर सृजनशील रहते हैं, प्रत्येक पदार्थ मे परिवर्तित होते रहते हैं। प्रत्येक क्षण मे समस्त जगत् परिवर्तित होता रहता है। परमाणुओं का संयोग अगले क्षण वह नहीं रहता जो पहले क्षण था। जब ये परिवर्तन प्रत्यक्ष करने

---

[1] व्यास भाष्य, तत्ववैशारदी एवं योगवार्तिक ३-१४।

योग्य होते हैं तो हमें धर्म या गुण में परिवर्तन (धर्म परिणाम) दिखलाई देता है। किन्तु प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष, परिवर्तन सदा होता रहता है। यह परिवर्तन एक दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर वर्तमान या भूत के रूप में या नए अथवा पुराने के रूप में भी दिखलाई देते है, तब इन्हें क्रमशः लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम कहा जाता है। हर क्षण हर पदार्थ विकास अथवा परिवर्तन द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य, नया, पुराना या अजन्मा के रूप मे बदलता रहता है। जब पतिवर्तन बीज रूप मे होता है तो उसे भविष्य कहते हैं, अभिव्यक्त रूप मे वह वर्तमान होता है, जब वह पुनः सुषुप्त हो जाता है तो उसे भूत कहते हैं। इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान पदार्थ अव्यक्त, बीज और व्यक्त के रूप मे होने वाले परिणाम या परिवर्तन ही है।[1]

कार्यकारण भाव सत्कार्यवाद् के रूप में (कारण द्वारा जनित होने के पूर्व बीज रूप में कार्य की सत्ता का सिद्धान्त)

ऊपर के विवेचन के साथ ही हम साख्य दर्शन के कार्य कारण भाव सिद्धान्त के एक महत्वपूर्ण विषय 'सत्कार्यवाद' पर आते है। साख्य का मत है कि ऐसी कोई भी चीज पैदा नही हो सकती जो पहले से ही विद्यमान न हो। कार्य की उत्पत्ति का मतलब केवल यह है कि कारण मे योगो के परिवर्तन से ऐसा गुण व्यक्त हो गया है जो बीज रूप मे पहले से ही विद्यमान था। कार्य की उत्पत्ति कारण में परमाणुओ के सयोगो का आन्तरिक परिवर्तन ही है जो ऐसे परिवर्तन के प्रतिबन्धक होने की वजह से नही हो रहा था, प्रतिबन्ध हटते ही नया सयोग अर्थात् कार्य उत्पन्न हो गया। इस सिद्धान्त को सत्कार्यवाद कहते हैं अर्थात् कार्य पहले भी सत् (अस्तित्व मे) था, कार्योत्पत्ति की क्रिया के शुरू होने के पूर्व भी। इस दृष्टि से सरसो में तेल पहले से विद्यमान है, पत्थर मे मूर्ति, दूध मे दही। कार्यव्यापार उसे, जो पहले तिरोहित था, आविर्भूत मात्र कर देता है।[2]

---

[1] यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि साख्य योग, न्यायवैशेपिक के समान समय को एक अलग पदार्थ नही मानता। समय केवल क्षणों के उस क्रम का प्रतिनिधित्व करता है जिनमे मन जगत् प्रपच मे हो रहे परिवर्तनों को अनुभूति करता है। इसलिए यह बुद्धि की ही उपज (बुद्धि निर्माण) है। अणु अपने परिमाण मे देश काल मे स्पदित होने मे जो समय लेता है उसे क्षण कहा जाता है—जो समय की एक इकाई है। विज्ञान भिक्षु ने गुणो या पदार्थों के स्पन्दन की एक इकाई को क्षण माना है। जब विद्या के कारण गुणो का अपने यथार्थ स्वरूप मे परिज्ञान हो जाता है तो देश और काल के सम्बन्ध में समस्त भ्रमात्मक धारणाएँ समाप्त हो जाती है (व्यासभाष्य, तत्ववैशारदी, योगवार्तिक ३-५२ तथा ३/१३)।

[2] तत्त्वकौमुदी, ६।

बौद्ध भी परिवर्तनवादी थे, किन्तु परिवर्तन का मतलब नई उत्पत्ति ही मानते थे। प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता है, उसके साथ धर्म दूसरे क्षण ही बदल जाता है। वे परिवर्तनशील धर्म और आकार एवं गुण ही मानते थे, कोई स्थायी धर्म या पदार्थ उनके मत में नहीं है। सांख्य भी धर्मों मे परिवर्तन बतलाता है पर उसके अनुसार ये धर्म स्थायी पदार्थों की बदलती हुई स्थितियों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। संयोग और संस्थितियाँ प्रतिक्षण बदलती रहती हैं किन्तु तत्व अपरिवर्तित हैं। बौद्धों के अनुसार कार्य भी अनित्य है, वह एक क्षण के लिए पैदा होता है और फिर नष्ट हो जाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर तथा शून्य वादी होने की दृष्टि से उन्हें वेदान्ती वैनाशिक (विनाशवादी) कहते है। उस सिद्धान्त को सांख्य के सिद्धान्त से विपरीत, असत्-कार्यवाद कहा जाता है। जैनों के मत में दोनों सिद्धान्त किसी न किसी दृष्टि से ठीक हैं। एक दृष्टि से सत्कार्यवाद ठीक है दूसरी दृष्टि से असत्कार्यवाद। सांख्य का यह मत कि कारण अपने आप को कार्य के रूप में निरन्तर परिणत करता रहता है "परिणामवाद" कहा जाता है, वेदान्तियों का मत विवर्तवाद कहा जाता है क्योंकि वे मानते है कि कारण सदा वही रहता है, उसमे जो कार्य दिखलाई देते है वे केवल नाम और रूप के मिथ्या आभास है, माया मात्र है।[1]

सांख्य अनीश्वरवाद और यौगिक ईश्वरवाद

यह तो मान लिया कि तत्वों की अनन्त सख्या मे स्थितियों के पारस्परिक परिवर्तन से समस्त जगत् और उसके परिणाम उत्पन्न हुए किन्तु जगत् का नियत विधान, कार्य कारण का नियम, कारण के कार्य बनने मे प्रतिबन्धको का निर्धारित नियम अथवा प्रकृति के सतुलन में सर्व-प्रथम विचलन कहाँ से आता है ? सांख्य इस प्रसग मे ईश्वर का अथवा किसी बाहरी सत्ता का अस्तित्व नही मानता। उसके अनुसार तत्वो मे स्पदन अथवा गति की प्रवृत्ति अन्तर्निहित है। यह प्रवृत्ति अथवा प्रयोजन-वत्ता यह अपेक्षा करती है कि तत्वो मे इस प्रकार की गति हो जिससे आत्माओ अथवा पुरुषो का भुक्ति या मुक्ति की दिशा मे कोई प्रयोजन सिद्ध हो। इसी नैसर्गिक प्रवृत्ति से प्रकृति

---

[1] बहुधा सांख्य और वेदान्त दोनो के कार्य कारण सिद्धान्त को सामान्य भाषा मे सत्कार्यवाद कह दिया जाता है। किन्तु सही मायनों मे, जैसाकि कुछ प्रबुद्ध टीका-कारों ने स्पष्ट किया है वेदांत के कारण-सिद्धान्त को सत्कारणवाद कहना चाहिए क्योंकि उसकी मान्यता है कि केवल कारण ही सत् (विद्यमान) है, कार्य तो केवल कारण के ही मायात्मक आभास है। सांख्य के मतानुसार कार्य कारण के अन्दर विद्यमान रहता है और बीज रूप में कारण में कार्य की सत्ता होने से वह भी सत् है।

में विचलन पैदा होता है गुण दो दिशाओं में विकसित होते हैं, बौद्धिक क्षेत्र में चित्त और इन्द्रिय तथा भौतिक क्षेत्र मे महाभूत। इसी प्रवृत्ति की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए बौद्धिक परिवर्तन विषयिगत अनुभवो के रूप मे होते हैं और दूसरी ओर भौतिक पदार्थों मे अनन्त प्रकार के परिवर्तन। पुरुषो के प्रयोजन की यही प्रवृत्ति जिसे पुरुषार्थता कहा गया है, तत्वों की समस्त गतियों का नियमन करती है, अव्यवस्था को रोकती है, जगत् को अनुभव का विषय बनाती है और वही उन्हे जगत् से वैराग्य पैदा करवाकर प्रकृति के साहचर्य से मुक्ति के प्रति प्रयत्नशील बनाती है।

योग यहाँ शका करता है कि अचेतन प्रकृति की यह अन्धी प्रवृत्ति इस व्यवस्था और जगत् की नियति को कैसे बनाती है। यह कैसे निर्धारित करती है कि कौनसा क्रम पुरुषो के अर्थ की सिद्धि करेगा ? वह स्वय अपने प्रतिबन्धक कैसे हटाती है और प्रकृति के साम्य मे स्वय कैसे विचलन द्वारा सृष्टि पैदा करती है ? उसकी यह नैसर्गिक प्रवृत्ति या स्वभाव जगत् की ऐसी व्यवस्था कैसे बनाता है कि लोगो को उनके बुरे कर्मों का बुरा फल या दुख मिले और अच्छे कर्मों का अच्छा फल या सुख मिले ? इस सबके लिए कोई चेतन पुरुष अवश्य होना चाहिए जो सृष्टि के क्रम को इस प्रकार नियन्त्रित करे कि एक व्यवस्था बनी रहे। यही चेतन पुरुष ईश्वर है। ईश्वर वह पुरुष है जो अज्ञान, क्लेश और आशयो से असपृक्त है। वह शुद्ध सत्त्वस्वरूप है जिसमें अविद्या का कभी स्पर्श नहीं हो सकता। वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। उसकी एक स्थायी इच्छा होती है जिससे वे प्रतिबन्धक हट जाते हैं जो गुणो के परिणाम मे बाधक होते है, तभी तो उनसे पुरुषो के अर्थ की सिद्धि भोग और अपवर्ग दोनों के रूप मे हो पाती है। ईश्वरेच्छा से प्रतिबन्धो का निवारण और पुरुषार्थता की सिद्धि हेतु गुणो द्वारा एक नियत क्रम का अनुगमन सम्भव हो पाता है। ईश्वर प्रकृति को जन्म नहीं देता, वह प्रकृति के साम्य को निष्क्रियता की अवस्था से विचलित कर देता है और बाद मे एक ऐसी चेतन व्यवस्था के अनुगमन मे उसका सहायक होता है जिससे कि कर्मों के फल ठीक तरह विभाजित हो सके और सृष्टि मे व्यवस्था रहे। योग मे ईश्वर की यह मान्यता और साख्य द्वारा उसे न मानना ही इन दोनो को सेश्वर साख्य (योग) और निरीश्वर साख्य (साख्य) के रूप मे विभेदित करता है।[1]

बुद्धि एवं पुरुष

यह प्रश्न पुनः उठता है कि पुरुष शुद्ध बुद्धि स्वरूप है, गुण अबौद्धिक सूक्ष्म तत्व है, तब फिर गुणो से पुरुष का सयोग कैसे होता है ? इसके अलावा, पुरुष शुद्ध निष्क्रिय

---

[1] तत्ववैशारदी ४-३, योगवार्तिक १-२४, प्रवचनभाष्य ५/१-१२।

बुद्धि है, तब उसे गुणों की सहायता की आवश्यकता क्या है ? इस शका का समाधान सांख्य ने पहले से ही यह कहकर कर दिया है कि गुणो में से एक सत्व गुण ऐसा है जो पुरुष के समान ही शुद्ध है और बुद्धि के भी अनुरूप है इसलिए वह पुरुष की बुद्धि या चेतना को प्रतिफलित कर सकता है और उसके अबौद्धिक अचेतन परिणामों को चेतन के समान भासित करा सकता है। हमारे विचार, भावना और इच्छात्मक व्यापार सत्व-प्रधान बुद्धि या चित्त के अबौद्धिक रूपान्तरण है किन्तु बुद्धि मे पुरुष के प्रतिफलन के कारण वे बौद्धिक या चेतन से दिखते हैं। आत्मा (पुरुष), साख्य योग के अनुसार, आत्म चेतना द्वारा सीधे अभिव्यक्त नही होता। उसका अस्तित्व प्रयोजन के आधार पर तथा नैतिक दायित्व के आधार पर अनुमेय होता है। आत्मा को बुद्धि के परिणमनों से अलग करके हम सीधे नही देख सकते। अनादि अविद्या के कारण भ्रम (माया) फैला है जिससे बुद्धि की परिवर्तनशील स्थितियाँ चेतन मान ली जाती हैं। इन बौद्धिक परिवर्तनों को पुरुष के बुद्धि में पड़े प्रतिबिम्ब के साथ इस तरह संपृक्त कर दिया जाता है कि उन्हे पुरुष के अनुभव के रूप मे निरुक्त किया जाता है। बुद्धि का बुद्धि मे पड़े पुरुष के प्रतिबिम्ब के साथ सम्पर्क इस प्रकार की विशिष्ट योग्यता रखता है कि उसे पुरुष का अनुभव माना जाता है। वाचस्पति के इस विवेचन का विज्ञानभिक्षु ने खडन किया है। विज्ञानभिक्षु कहता है कि बुद्धि के पुरुष के प्रतिबिम्ब के साथ सम्पर्क से हम किसी वास्तविक व्यक्ति के व्यावहारिक अनुभव का आधार नही ले सकते। इसलिए यह माना जाता है कि जब बुद्धि पुरुष के प्रतिबिम्ब द्वारा चैतन्य कर दी जाती है तो वह पुरुष मे आरोपित कर ली जाती है और तब यह धारणा बनाली जाती है कि वह एक अनुभूति वाला स्थायी व्यक्ति है।[1] हम चाहे जो भी स्पष्टीकरण दे यह स्पष्ट लगता है कि पुरुष के साथ बुद्धि का सयोग कुछ रहस्यात्मक ही है। बुद्धि पर चित् के इस प्रतिबिम्ब के फलस्वरूप और बुद्धि के आरोपण के फलस्वरूप पुरुष यह नही समझ पाता कि बुद्धि के परिणमन उसके अपने नहीं है। बुद्धि शुद्धता मे पुरुष के समरूप है और पुरुष अपने आप को बुद्धि के परिणामो से अलग नही कर पाता। इस अभेद के फलस्वरूप पुरुष बुद्धि से बध जाता है, यह नही जान पाता कि बुद्धि एव उसके बिकार पूर्णत बाहरी हैं, असम्बद्ध है, उसके अपने नहीं है। पुरुष का जो स्वयं बुद्धि का ही एक स्वरूप है, बुद्धि के साथ यह अभेद ही सांख्य में अविद्या कहा गया है और वही सारे अनुभवों और दु.खो की जड़ है।[2]

---

[1] तत्ववैशारदी एव योगवार्तिक १-४।

[2] यह सांख्य दर्शन मे भ्रम की प्रकृति के विश्लेषण की ओर इगित करता है। दो पदार्थों में भेद की प्रतीति का अभाव (जैसे सर्प और रज्जु मे भेद की अप्रतीति) ही भ्रम का कारण होता है। इस दृष्टि से इसे 'अख्यातिवाद' कहा गया है (भ्रम की भेदाप्रतीतिरूप व्याख्या) जो अन्यथाख्याति से भिन्न है (जिसमे एक पदार्थ मे अन्य

योग का मत इससे कुछ भिन्न है। वह मानता है कि पुरुष न केवल अपने आप में और बुद्धि मे भेद नही कर पाता बल्कि वह बुद्धि के परिणामों को निश्चित रूप से अपना ही स्वरूप समझता है। यह भेद का अनवभास मात्र नहीं है बल्कि स्पष्ट ही मिथ्या ज्ञान है, पुरुष को हम वह समझते हैं जो वह नहीं है (अन्यथा ख्याति)। वह परिवर्तमान, अशुद्ध, दु खात्मक तथा विषयात्मक प्रकृति अथवा बुद्धि को अपरिवर्तनशील शुद्ध और सुखात्मक विषयी समझता है। वह अपने आप को बुद्धि स्वरूप समझता है और उसे शुद्ध, नित्य तथा सुख देने मे समर्थ समझने की गलती भी करता है। यही योग की अविद्या है। पुरुष के साथ सम्बद्ध-बुद्धि ऐसी अविद्या से आच्छन्न रहती है और जब जन्म-जन्मान्तर तक वही बुद्धि उसी पुरुष के साथ सबद्ध रहती है तो वह इस अविद्या से आसानी से छुटकारा नही पा सकती। किन्तु यदि इसी बीच प्रलय हो जाता है तो बुद्धि प्रकृति मे विलीन हो जाती है और अविद्या भी उसी मे सो जाती है। अगली सृष्टि के प्रारम्भ मे जब पुरुषो से सबद्ध व्यष्टिगत बुद्धियाँ फिर उद्भूत होती हैं तो उसी के साथ वे ही अविद्याएँ पुन जागृत हो जाती है। बुद्धियाँ उन्ही पुरुषो से सम्बद्ध हो जाती है जिनसे वे प्रलय से पूर्व सम्बद्ध थी। इसी प्रकार ससार का क्रम चलता है। जब किसी व्यक्ति की अविद्या सत्यज्ञान के उदय द्वारा विनष्ट हो जाती है तो बुद्धि पुरुष से सबद्ध नही हो पाती; वह उससे सदा के लिए वियुक्त हो जाती है; यही मुक्ति की दशा है।

ज्ञान की प्रक्रिया एवं चित्त के लक्षण

यह कहा जा चुका है कि बुद्धि और उसके आन्तरिक उद्भव पुरुष के अनुभव को सम्भव बनाने हेतु ही जन्म लेते है। इस अनुभव की प्रक्रिया क्या है ? सांख्य (जैसा वाचस्पति ने व्याख्यात किया है) का मत है कि बुद्धि इन्द्रियो के माध्यम से बाह्य विषयो के सम्पर्क मे आती है। इस सम्पर्क के प्रथम क्षण मे एक अनिर्धारित चेतना बनती है जिसमे उस पदार्थ के समस्त विवरण प्रत्यक्ष नही किए जा सकते। इसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहा गया है। दूसरे क्षण मन के सकल्प और विकल्प के व्यापार द्वारा उस पदार्थ का समस्त लक्षणों और विवरणो सहित प्रत्यक्ष हो जाता है। मन इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ऐन्द्रिय अनुभव को विभेदीकृत, समन्वित और संपृक्त करता है और इस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष को सम्भव बनाता है, वह जब पुरुष से सम्बद्ध होकर चैतन्य प्राप्त करता है तब वह उस व्यक्ति के अनुभव के रूप मे हमारे सामने आता है। इन्द्रियों के अहकार के और बुद्धि के व्यापार कभी क्रमिक रूप मे और कभी-कभी

पदार्थ का भ्रम हो जाता है) यह योग के अनुसार भ्रम का सिद्धान्त है (रज्जु को सर्प के रूप मे देखना)। योगवार्तिक १/८।

(जैसे अचानक भय के समय) एक साथ काम करते हैं। विज्ञानभिक्षु वाचस्पति से इस बात मे सहमत नही है। वह मन की इस संकल्पात्मक क्रिया का खण्डन करता है और कहता है कि इन्द्रियो के माध्यम से बुद्धि सीधे पदार्थों के सम्पर्क मे आती है। सम्पर्क के पहले क्षण मे प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है किन्तु दूसरे ही क्षण वह स्पष्ट एव सविकल्पक हो जाता है।[1] स्पष्ट है कि इस मत मे मन का महत्व बहुत कम रह जाता है और उसे केवल इच्छा संदेह और कल्पना की वृत्ति के रूप में ही स्थान दिया गया है।

बुद्धि को जिसमे अहकार और इन्द्रियाँ सम्मिलित है योग मे बहुधा चित्त भी कहा गया है। वह दीपक की लौ के समान सदा परिवर्तमान रहती है। वह शुद्ध सत्व-प्रधान तत्वो से बनी है और अपने आपको एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप मे परिवर्तित करती रहती है। ये बिम्ब बुद्धि और पुरुष के दोहरे प्रतिबिम्ब के कारण निरन्तर चैतन्य होते रहते है और उन्हे हम व्यक्तियो के अनुभवो के रूप मे जानते है। चेतना के आलोक को समझाने के लिए तथा अनुभवो और नैतिक प्रयत्नो की व्याख्या करने के लिए पुरुष का अस्तित्व मानना पडता है। बुद्धि समस्त शरीर मे व्याप्त रहती है, उसके व्यापार के कारण ही शरीर मे जीवन रहता है। साख्य शरीर मे जीवन के आधार के रूप मे अलग से प्राण-वायु की सत्ता नही मानता। वेदान्त मे जिन जैव प्रेरक शक्तियो को वायु कहा गया है उन्हे साख्य बुद्धि तत्व के विभिन्न व्यापार प्रकार ही मानता है जो जीवन मे समस्त शरीर मे विचरण करता है और शरीर के समस्त जैव और इन्द्रिय क्रिया-कलापो को परिचालित करता है।

---

[1] चूंकि बुद्धि का बाह्य पदार्थो से सम्पर्क इन्द्रियो के माध्यम से होता है रग इत्यादि विषय इन्द्रियो द्वारा परिवर्तित कर दिए जाते है यदि उनमे कोई दोष हो तो। वस्तुओ के दैशिक गुण इन्द्रियो द्वारा सीधे प्रत्यक्षीकृत होते है किन्तु कालक्रम चित्त अथवा बुद्धि की ही देन है। सामान्यत योग की मान्यता है कि बाह्य विषय बुद्धि मे पूर्णत सही सही प्रतिबिम्बित हो जाते है जैसे जलाशय मे वृक्ष।

"तस्मिश्च दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टय.।
इमास्ता· प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमा·॥"

(योगवार्तिक १-४)।

बुद्धि उसी पदार्थ के रूप मे परिणत हो जाती है जिसका प्रतिबिम्ब उसमे इन्द्रियों के माध्यम से पडता है, बल्कि यो कहे कि चित्त इन्द्रियो के माध्यम से बाहर जाकर उन पदार्थों पर पडता है और उनके प्रतिबिम्ब के रूप मे परिणत हो जाता है। "इन्द्रियाण्येव प्रणालिका चित्तसचरणमार्ग· तै. संयुज्य तद्गोलकद्वारा बाह्यवस्तुषूपरक्तस्य चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामो भवति।" (योगवा· १-४-७) तत्वकौमुदी मे कुछ विभेद है २७ एव ३०।

बुद्धि, योग के शब्दो मे चित्त, प्रत्यक्ष और जीवन के व्यापारों के संचालन के अलावा अपने आप मे संस्कारों[1] को तथा पूर्व-जन्मो की वासनाओं को भी समाहित रखता है। उचित वातावरण और प्रेरणा पाकर ये सस्कार जागृत हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति पूर्व जन्मों मे मनुष्य के रूप मे या पशु के रूप मे अनेक जीवन बिता चुका होता है। इन सभी जीवनो मे वही चित्त उसके साथ रहता है। चित्त मे उन समस्त

---

[1] पाणिनि ने जो सम्भवतः बुद्ध से पूर्ववर्ती था, संस्कार शब्द का प्रयोग तीन विभिन्न अर्थों में किया है–(१) किसी नए गुण का उत्पादन न होकर विद्यमान तत्वो में ही उत्कर्ष पैदा करना (सत उत्कर्षाधान सस्कार; काशिका ४-२-१६) (२) समूहन अथवा समवाय (३) सजाना (पाणिनि ४.१ १३७-१३८)। पिटकों मे 'संखार' शब्द को विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त किया गया है, जैसे निर्माण, उत्पादन, तैयारी, निष्पादन, शोभाजनन, समूहन, द्रव्य, कर्म, स्कन्ध (चिल्डर्स द्वारा सकलित)। वस्तुत सखार उस किसी भी बात के लिए प्रयुक्त हो सकता है जिसके लिए अस्थापिता का कथ्य विधेय हो। किन्तु इन सब विभिन्न अर्थों के बावजूद मैं यह मानने का पक्षपाती हू कि इन सब अर्थों मे प्रधान अर्थ है समवाय वाला अर्थ (पाणिनि द्वारा प्रयुक्त समवाय)। "सस्करोति" शब्द कौषितकि (२-६, छान्दोग्य ४-१४ २-३-४-८, ८-५) और बृहदारण्यक (४ ३ १) उपनिषदो मे प्रयुक्त है जिसका तात्पर्य उत्कर्षाधान है। (२) वाले अर्थ में इस शब्द को सस्कृत के अभिजात साहित्य मे प्रयुक्त मैंने नही देखा। हिन्दू दर्शन मे सस्कार का अर्थ बिलकुल दूसरा ही है। उसका तात्पर्य है अनुभूत विषय या वस्तुओ के चित्त पर पडे प्रतिबिम्ब (जो बीज रूप मे अवचेतन मन मे निहित रहते है। हमारे समस्त अनुभव चाहे वे सज्ञानात्मक हो, भावनात्मक या क्रियात्मक, अवचेतन रूप मे विद्यमान रहते है और अनुकूल स्थितियाँ पाकर स्मृति के रूप मे उद्भूत हो जाते हैं। 'वासना' शब्द (योगसूत्र ४-२४) परवर्ती प्रतीत होता है। पूर्ववर्ती उपनिषदो मे इसका कोई उल्लेख नही पाया जाता और जहाँ तक मेरा परिज्ञान है, पाली पिटकों मे भी नही। मोग्गल्लान की अभिधानप्पदीपिका मे यह उल्लिखित है और मुक्तिकोपनिषद् मे भी यह है। यह 'वस' (निवासार्थक) धातु से निष्पन्न शब्द है। इस शब्द को बहुधा शिथिल भाषा मे सस्कार के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। व्यासभाष्य (४-६) मे इन दोनो को एक माना गया है। किन्तु वासना से तात्पर्य पूर्व जन्मो की उन प्रवृत्तियो से है जो चित्त मे सुषुप्त स्थिति मे रहती है। केवल वे ही अभिव्यक्त हो पाती है जिन्हे इस जीवन मे अनुकूल अवसर मिलता है जबकि सस्कार वे अवचेतन वृत्तियाँ हैं जो हर बार अनुभव के कारण उद्भूत होती रहती है। वासनाएँ वे सहज सस्कार है जो इस जीवन मे नही आए हैं (देखें व्यासभाष्य, तत्ववैशारदी और योगवार्तिक ११ १३)।

पूर्वजन्मों की प्रवृत्तियाँ और वासनाएँ संस्कार रूप में निहित रहती है। जिस प्रकार जाल में अनेक गाठें होती हैं उसी प्रकार चित्त मे वासनाएँ गुथी रहती है। यदि किसी जन्म मे मनुष्य कुत्ते की योनि मे जन्म लेता है तो उसमें वे वासनाएँ जो उसके अनन्त पूर्व जन्मो मे से किसी एक जन्म मे कुत्ते के रूप मे रही होगी, जागृत हो जाती है और उसकी प्रवृत्तियाँ कुत्ते के अनुरूप हो जाती हैं। वह पूर्वजन्म के अनुभवों को भूल जाता है और कुत्ते के रूप मे ही जीवन का भोग करने लगता है। प्रत्येक जन्म के अनुरूप वासनाओ के पुनर्जागरण के कारण ही वासनाओ मे सघर्ष नहीं होता अन्यथा यह स्थिति आ जाए कि मनुष्य जन्म मे कुत्ते की सी प्रवृत्तियाँ आ जाएँ और कुत्ते मे मनुष्य की वासनाएँ आ जाएँ।

संस्कार वे बीज हैं जिनके कारण जीवन की कोई आदत या प्रवृत्ति या कोई आनन्द जिसका अनुभव व्यक्ति ने किसी समय किया हो अथवा भावनाएँ जो उसमे प्रबल रही हो, पुनर्जागृत हो जाती है, चाहे वे उस समय अनुभूत नही हो रही हो फिर भी वे प्रवृत्तियाँ चित्त मे इस प्रकार रहती है कि कभी भी अनायास स्वतः प्रकट हो सकती है क्योकि वे पहले की अनुभूतियाँ है और संस्कार रूप मे चित्त मे विद्यमान है। किसी अवाछनीय विचार या प्रवृत्ति के पुनर्जारण से बचने के लिए यह आवश्यक है कि सस्कार के रूप मे उसके जो बीज बचे हो उन्हे निरन्तर अभ्यास द्वारा नष्ट कर दिया जाए और सद्विचारों के निरन्तर ध्यान द्वारा उनका बीज इतना दृढ़ कर लिया जाए कि असद् विचारो के संस्कार जागृत न होने पाएँ।

इसके अतिरिक्त चित्त मे चेष्टा भी विद्यमान रहती है जिसके कारण इन्द्रियाँ अपने विषय-भूत बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आ पाती हैं। चित्त में वह शक्ति भी निहित होती है जिससे वह अपना विरोध कर सके, अपनी दिशा बदल सके अथवा एक दिशा मे ही बढता चला जाए। ये लक्षण चित्त मे अन्तर्निहित हैं और इन्ही के आधार पर योग के विभिन्न अभ्यास और परिकर्म वर्णित है जिनसे कुछ चित्त-वृत्तियों का निरोध और कुछ का दृढीकरण किया जा सके।

चित्त मे ही उसकी प्रवृत्तियों के रूप मे पुण्य और पाप रहते है जो उसकी वृत्तियो को परिचालित करते हैं और उनके अनुसार सुख और दुःख का भोग करवाते है।

दुःख एवं उसका निवारण[1]

साख्य एव योग, बौद्धो के समान ही, यह मानते हैं कि समस्त अनुभव दुःखात्मक होते है। जैसे ऊपर बताया गया, तम दुःखात्मक ही है। चूंकि तम किसी न किसी

[1] तत्ववैशारदी एवं योगवार्तिक ११/१५ ता तत्वकौमुदी १।

अंश में समस्त संयोगों में विद्यमान रहता है इसलिए समस्त बौद्धिक व्यापार दुःखात्मक भावना से किसी न किसी अंश में अनुविद्ध रहते हैं। यहाँ तक कि अस्थायी सुख के समय भी उसके पूर्व क्षण मे दुःख रहता है क्योंकि हम सुख चाहते हैं; जिस समय हम सुख भोग रहे होते हैं उस समय भी इस भय का दुःख रहता है कि हम उस सुख को खो न दें। कुल मिलाकर दुःखो के क्षण सुखो की बजाय कहीं ज्यादा होते है और सुख दुःख की तीव्रता को बढाते ही है। ज्यो-ज्यो मनुष्य समझदार होता है त्यों-त्यों वह अनुभव करता जाता है कि ससार और उसके अनुभव दुःखात्मक ही है। जब तक मनुष्य इस महान् सत्य को नही समझ लेता कि यह सब दुःखात्मक है और सासारिक सुख और वैदिक यज्ञादि द्वारा प्राप्त स्वर्गिक सुख सभी अस्थायी हैं और दुःख के स्थायी निवारक नहीं हो सकते तब तक वह मुक्ति के लिए और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रवृत्त नही होगा। उसे समझना चाहिए कि समस्त सुख दुःखो के मार्ग है। सुख भोगो द्वारा उनके निवारण का प्रयत्न व्यर्थ है, सासारिक और स्वर्गिक सुखो से निवृत्ति ही दुःखो का निवारण कर सकती है। वैदिक यज्ञादि का अनुष्ठान चाहे हमे सुख देदे किन्तु उनमे पशु बलि आदि से जो पातक होगा उससे फिर दुःख होगा अतः वह भी उपादेय नही कहा जा सकता। सुखो से पूर्ण वैराग्य के बाद ही दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय सूझ सकता है। दर्शन बतलाया है कि दुःख कितना व्यापक है, वह क्यो होता है, उसकी निवृत्ति का उपाय क्या है और उसके बाद क्या होता है। दुःख के निवारण का इच्छुक व्यक्ति उसके उपायार्थ ही दर्शन का आश्रय लेता है।

दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति का साख्य दर्शन का व्यावहारिक लक्ष्य है।[1] समस्त अनुभव दुःखात्मक है अतः उन्हे (अनुभवो को) पूर्णतः रोकने का कोई उपाय खोजना चाहिए। मृत्यु से भी ऐसा नहीं हो सकता क्योकि मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होता है। जब तक चित्त और पुरुष साथ है, दुःख भी रहेगे। चित्त को पुरुष से अलग करना होगा। साख्य के अनुसार चित्त अथवा बुद्धि पुरुष के साथ इसलिए सम्बद्ध है कि वह अपने आप को उससे अभिन्न समझता है।[2] इसलिए यह आवश्यक है कि बुद्धि मे पुरुष के स्वरूप की वास्तविक धारणा हम पैदा कर सकें। जब पुरुष का ज्ञान बुद्धि को हो जायगा तो

---

[1] योग इस विचार को कुछ परिवर्तित स्वरूप मे लेता है। उसका लक्ष्य है जन्म और पुनर्जन्म के चक्र या ससार चक्र से मुक्ति जो दुःख से पूर्णतः सम्बद्ध है (दुःख बहुलः संसारः हेयः)।

[2] चित्त शब्द योग दर्शन की सज्ञा है। इसका नाम यह इसलिए पड़ा कि यही समस्त अवचेतन वृत्तियो का निधान है। साख्य ने सामान्यतः बुद्धि शब्द का प्रयोग किया है। दोनो शब्द एक ही तत्व-मन को इंगित करते हैं किन्तु ये दोनों उसके दो अलग-अलग पहलुओ को बतलाते हैं। बुद्धि का तात्पर्य है प्रज्ञा।

वह अपने आपको उससे भिन्न पृथक् और असम्बद्ध समझेगी, तब अज्ञान नष्ट हो जाएगा फलस्वरूप बुद्धि पुरुष से निवृत्त हो जाएगी, उसे अनुभवो से नही बांधेगी जो कि दु.खात्मक है। तब पुरुष अपने सही रूप में रहेगा। सांख्य के अनुसार पुरुष की मुक्ति का यही मार्ग है। जब पुरुष और प्रकृति के इस भेद की बुद्धि उदित हो जाती है तो प्रकृति, जो जन्म-जन्मातर से हमे अनुभवों के चक्र से गुजारती रहती है, अपनी चरम स्थिति को पहुँच जाती है और उसके बाद फिर वह पुरुष को बन्धन-बद्ध नही कर सकती, क्योकि उसके बारे में उसे सम्यक् ज्ञान हो जाता है। अन्य पुरुषो के लिए बन्धन उसी प्रकार बने रहते है और वे एक जन्म से दूसरे जन्म तक अनुभवो के अनन्त चक्र से गुजरते रहते है।

इसके विपरीत योग का यह मत है कि केवल दर्शन ही पर्याप्त नही है। मुक्ति के लिए यही पर्याप्त नही है कि पुरुष और बुद्धि के भेद का ज्ञान हो जाए, यह आवश्यक है कि बुद्धि के अनुभवो की समस्त प्रवृत्तियाँ और उसके सस्कार सदा के लिए विनष्ट हो जाएँ। उस दशा मे बुद्धि अपनी पूर्ण शुद्ध स्थिति मे परिवर्तित हो जाती है और पुरुष के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करती है। यह सत्ता की केवल स्थिति (कैवल्य) होती है जिसके बाद समस्त सस्कार और अविद्या के निवारण के बाद चित्त पुरुष से ससक्त नही रहता और पर्वताग्र से गिरे हुए पत्थर की भाँति प्रकृति मे आकर ही ठहरता है।[1] पूर्व सस्कारो के नाशार्थ केवल ज्ञान पर्याप्त नहीं है, एक क्रमबद्ध अभ्यास आवश्यक है। अभ्यास का यह क्रम इस प्रकार व्यवस्थित होना चाहिए कि जीवन की उच्चतर और उन्नत वृत्तियो को जीने का अभ्यास किया जाय, मन को सूक्ष्मतम दशाओ मे स्थिर किया जाए ताकि सामान्य जीवन की प्रवृत्तियाँ निवारित हो सके। योगी ज्यों-ज्यो आगे बढता है त्यों-त्यो वह उच्च स्थिति से उच्चतर स्थिति की ओर जाने का प्रयत्न करता है। इस क्रम से वह उस स्थिति को पहुँच जाता है जब बुद्धि चरम पूर्णता और शुद्धता को प्राप्त हो जाती है। इस स्थिति मे बुद्धि पुरुष का सारूप्य प्राप्त कर लेती है और मुक्ति हो जाती है।

योग मे कर्मो को चार वर्गों मे विभाजित किया गया है (१) शुक्ल अर्थात् पुण्य जो सुख देते है (२) कृष्ण, पाप जो दु ख देते है (३) शुक्ल-कृष्ण (पुण्य-पाप जैसेकि हमारे अधिकाश सामान्य कर्म होते है जो कुछ पुण्यात्मक कुछ पापात्मक होते है,

---

[1] सांख्य और योग दोनो मे इस मुक्त स्थिति को कैवल्य कहा गया है (केवल एक रह जाना)। सांख्य का यहाँ अभिप्राय यह है कि सारे दु.ख पूर्णत. निवृत्त हो गए है जो पुन: कभी उद्भूत नही होगे। योग का अभिप्राय यह है कि पुरुष इस स्थिति मे अकेला यो रह जाता है कि बुद्धि से उसका कोई सम्पर्क नही रहता। देखें सांख्य-कारिका ६८ तथा योगसूत्र ४-३४।

उदाहरणार्थ उनसे कुछ जीवों का नाश होता है) और (४) अशुक्ल कृष्ण (आत्मसंयम, ध्यान आदि के आन्तरिक कर्म, जिनसे कोई सुख या दुःख पैदा नही होते और उनके फल के भोग का प्रश्न नही उठता)। समस्त बाह्य व्यापारो मे कोई न कोई पातक निहित रहता है। वैसे भी संसार मे किसी भी कर्म में जीव-जन्तुओ का, किसी प्राण का नाश अवश्य होता है।[1] समस्त कर्म पच क्लेशों द्वारा जनित होने है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये ५ क्लेश है।

हमने ऊपर विवेचन किया है कि अविद्या मे क्या तात्पर्य है। सामान्यत अविद्या के कारण बुद्धि को ही चैतन्य (चित्) समझा जाता है, उसे स्थायी और सुखजनक समझ लिया जाता है। यह मिथ्या ज्ञान इस रूप मे रहते हुए ही अपने आपको फिर अस्मिता आदि आदि चार अन्य रूपों मे अभिव्यक्त करता है। अस्मिता से हमे यह धारणा उत्पन्न होती है कि भौतिक द्रव्य और हमारे अनुभव हमारे है। 'मेरा' और 'मैं' की भावना उन पदार्थों मे हो जाना जो वस्तुत गुण अथवा गुणो के परिणाम है, अस्मिता है। उसके फलस्वरूप सुखो और पदार्थों मे मोह हो जाना ही राग है। प्रतिकूल पदार्थों के प्रति घृणा या शत्रुता ही द्वेष है। जीवन के प्रति इच्छा, जीवन का मोह ही अभिनिवेश है। हम कार्यों मे प्रवृत्त इसलिए होते हैं कि अनुभवों को हम अपना समझते है, हमारे शरीर को अपना समझते है, हमारे परिवार को अपना समझते है, सम्पत्ति को अपना समझते हैं, क्योकि हमे इनसे मोह है, क्योकि इनके विरुद्ध हुई किसी भी बात को हम द्वेष की दृष्टि से देखते है, क्योकि हमे जीवन से प्यार है और उसे विपत्ति से बचाना चाहते है। स्पष्ट है कि, यह सब इसलिए होता है कि हम मे अविद्या रहती है अर्थात् हम बुद्धि को गलती से पुरुष से अभिन्न समझ लेते है। ये पाच क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हमारी बुद्धि पर छा जाते हैं। वे ही हमे कर्म करने को बाध्य करते हैं जिससे हमे दुःख भोगना पड़ता है। ये क्लेश और उनके साथ किए हुए कर्म, जो बुद्धि के साथ उसके अग के रूप मे अन्तर्निहित रहते हैं, एक जन्म से दूसरे जन्म तक बुद्धि के साथ लगे रहते हैं और उनसे मुक्ति पाना बहुत कठिन है।[2] बुद्धि मे उसके रूप या विकार के रूप मे जो कार्य करते हैं उन्हे कर्माशय कहा जाता है (कर्म का वह आसन या स्थान जिसमें पुरुष रहता है)। बुद्धि के क्लेशो द्वारा प्रेरित होकर हम कर्म करते हैं। इस प्रकार किया हुआ कर्म बुद्धि पर अपना निशान या परिणाम छोडता है। ईश्वर की स्थायी इच्छा के अनुरूप प्रकृति के उद्विकास के मार्ग मे आए विघ्नो के निवारण के क्रम मे तथा प्रकृति की प्रयोजनवत्ता के विधान के तहत ऐसा विहित है कि प्रत्येक दुष्कर्म दुःख में परिणत होता है और सत्कर्म सुख के फल भोग को जन्म देता है।

---

[1] व्यासभाष्य और तत्त्व वैशारदी, ४.७।

[2] व्यासभाष्य और तत्त्व वैशारदी, २. ३-६।

वर्तमान जन्म में किए गए कर्म सचित होते जाते हैं और जब उसके फल भोग का समय आता है तो उस व्यक्ति के लिए उसी प्रकार का जन्म विहित किया जाता है, प्रकृति के उद्विकास के क्रम के अनुरूप उसे उसी प्रकार की योनि मिलती है जिस प्रकार के सुखों का या दु.खों का भोग उसे करना होता है। इस प्रकार इस जन्म में किए हुए कर्म ही उसके लिए भविष्य का जन्म (मनुष्य या पशु के रूप में) निर्धारित करते हैं, वे ही उसकी आयु की अवधि तथा उस जन्म मे उसे सुख या दुःख क्या भोगता है इसका निर्धारण करते हैं। कभी-कभी बहुत अच्छे कर्म या बहुत बुरे कर्म अपना फल इस जन्म मे भी देते है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी मनुष्य ने बुरे कर्म किए जिनका फल भोगने के लिए उसे कुत्ते की योनि मे जन्म लेना चाहिए और अच्छे कर्म भी किए जिनके फलस्वरूप उसे मनुष्य जन्म मिलना चाहिए तो ऐसी स्थिति मे अच्छे कर्मों का फल स्थगित रह जाए और पहले कुत्ते के जीवन द्वारा उसे दुःख भोग करना पड़े, तदनन्तर पुन. वह मनुष्य रूप मे जन्म ले और फिर अपने सत्कर्मों का अच्छा फल भुगते। किन्तु यदि हम पूर्णतः अविद्या और क्लेशों का नाश कर सके तो जितने भी अभुक्तपूर्व' कर्म है वे सब नष्ट हो जाएँगे और फिर कभी उत्पन्न नही होगे। तब केवल उसे उन्ही कर्मों का फल भोगना होगा जिनका पहले ही परिपाक हो चुका है। यही जीवन्-मुक्ति की दशा है, जब योगी को ब्रह्म ज्ञान हो जाता है किन्तु वह जीवन मे अवस्थित रहता है और पहले से परिपक्व कर्मो का ही परिणाम भोग करता रहता है (तिष्ठति सस्कार-वशात् चक्रभ्रमिवद धृतशरीरः)।

चित्त

योग शब्द का, जो कि वैदिक साहित्य मे इन्द्रिय सयम के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, पतजलि ने अपने योगसूत्र मे चित्तवृत्तियो के पूर्ण या आशिक निरोध अथवा स्थिरीकरण के अर्थ मे प्रयोग किया है। कभी-कभी तीव्र सवेगो द्वारा भी चित्त स्थिर या केन्द्रित होने की स्थिति मे आ जाता है जैसे कि शत्रु से युद्ध करते समय या अज्ञान-जनित मोह की स्थिति मे। प्रथम प्रकार की स्थिरता के चित्त को क्षिप्त कहा जाता है और दूसरे प्रकार के चित्त को प्रमूढ (अज्ञानी)। एक अन्य प्रकार का चित्त भी होता है जिसमे क्षणिक या स्थायी स्थिरता संभव होती है, मन कुछ समय के लिए किसी एक चीज पर स्थिर हो जाता है, फिर वहाँ से उचट कर किसी दूसरी चीज पर चला जाता है और उसमे रम जाता है। उस स्थिति को विक्षिप्त (अस्थिर) चित्त-भूमि कहा गया है। इन सबसे भिन्न एक ऐसी स्थिति होती है जिसमे चित्त लम्बे समय तक किसी वस्तु पर केन्द्रित रह सकता है। उसे एकाग्र स्थिति कहते है। यह उच्चतर स्थिति होती है। उससे भी ऊँची एक स्थिति है जिसमे चित्त पूर्णतः नियन्त्रित होता है, चित्तवृत्तियाँ रुक जाती है। यह स्थिति मुक्ति से ठीक पहले की स्थिति है। इसे चित्त की निरोध-दशा कहते है। योग का लक्ष्य है इन दो अन्तिम उच्च स्थितियों को प्राप्त करना।

चित्तों की पाँच वृत्तियाँ होती है (१) प्रमाण[1] (सत्यज्ञान की स्थितियां जैसे प्रत्यक्ष अनुमान और शब्दप्रामाण्य द्वारा उद्भूत स्थिति (२) विपर्यय (मिथ्या ज्ञान, भ्रम इत्यादि) (३) विकल्प (ऊहापोह तथा कल्पना की विभिन्न वृत्तियाँ) (४) निद्रा (मन की शून्यता की स्थिति जिसमें तम का ही प्राधान्य होता है) और (५) स्मृति।

चित्त वृत्तियाँ द्वारा ही हमें आन्तरिक अनुभव होता है। जब चित्त वृत्तियाँ हमे संसार-चक्र मे खीचकर ले जाती हुई वासनाओं और उनकी पूर्तियो मे लग जाती है तो उन्हे क्लिष्ट (क्लेश की ओर ले जाने वाली या क्लेशयुक्त) कहा जाता है। जब वे हमें मुक्ति की ओर ले जाती है तो उन्हे अक्लिष्ट कहा जाता है। हम किसी भी दिशा मे जाएँ ससार की ओर या मुक्ति की ओर, चित्त वृत्तियाँ ही काम देती है। कभी ये वृत्तियाँ अच्छी होती है, कभी बुरी; जो वृत्तियाँ हमे अन्तत. मुक्ति की ओर ले जाएँ उन्हे ही अच्छी कहना चाहिए।

इससे हमे चित्त का एक महत्वपूर्ण लक्षण स्पष्ट होता है। वह यह कि कभी वह हमे अच्छी दिशा मे (मुक्ति) और कभी बुरी दिशा में (ससार) ले जाता है। व्यास भाष्य के अनुसार वह एक ऐसी नदी है जो दोनो ओर बहती है; पाप की ओर तथा अच्छाई की ओर। प्रकृति की प्रयोजनवत्ता की यह अपेक्षा है कि मनुष्य मे वह संसार और मुक्ति दोनो की प्रवृत्तियाँ जगाती है।

---

[1] साख्य की मान्यता है कि ज्ञान का प्रामाण्य या अप्रामाण्य स्वय ज्ञान की दशा पर ही निर्भर रहता है, बाह्य पदार्थों या तथ्यो से सवाद या असवाद पर नहीं (स्वतः प्रामाण्यं स्वत अप्रामाण्यम्)। अनुमान-सिद्धान्त को साख्य की देन क्या रही है यह अब तक ज्ञात नही हुआ है। वाचस्पति ने जितना सा कुछ इस विषय पर लिखा है वह सब वात्स्यायन से ही लिया हुआ है, जैसे, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान के तीन भेद। इनका विवेचन हमारे न्यायदर्शन वाले अध्याय से अथवा वाचस्पति की तात्पर्य टीका से अधिक स्पष्टता से जाना जा सकता है। साख्य का अनुमान सात प्रकार के सम्बन्धो के आधार पर, विशेष से विशेष का, होता था ऐसा लगता है। इसलिए वे अनुमान के सात भेद मानते है।

"मात्रा-निमित्त-सयोगि-विरोधि-सहचारिभिः।
स्वस्वामिवध्य-घावताद्यैः साख्याना सप्तधानुया।"

—तात्पर्य टीका, पृ० १०९।

साख्यो के अनुमान की परिभाषा, जैसी कि उद्योतकर ने की है, इस प्रकार है—

"सबन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्।"

—उद्योत १-१-५।

इस प्रकार इसी के अनुसार अनेक बुरे विचारों और बुरी आदतों के बीच अच्छी नैतिक अभिलाषा और अच्छे विचार आते हैं और अच्छी आदतों और विचारों के बीच बुरे विचार और दुष्प्रवृत्तियाँ भी आती है। इसलिए अच्छा बनने की अभिलाषा मनुष्य मे कभी समाप्त नही होती क्योंकि ऐसी अभिलाषा भी, सुख के उपभोग की इच्छा के समान, उसमें उतनी ही तीव्रता से निहित रहती है। यह एक महत्वपूर्ण बात है क्योंकि इसमे योग के नैतिक पक्ष का वह मूलभूत आधार निहित है जो बतलाता है कि मुक्ति की इच्छा किसी आनन्द वाली, सुख के आकर्षण से जनित नही है, वह दुःख की निवृत्ति का प्रयत्न भी नही है, बल्कि मन की एक सहज प्रवृत्ति है जो उसे मुक्ति के मार्ग मे प्रवृत्त करती है।[1] दुःख की निवृत्ति भी इस मार्ग के अनुसरण का एक सहगामी परिणाम है, किन्तु इस मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा एक सहज और अदम्य मानसिक वृत्ति के कारण ही होती है। मनुष्य के चित्त मे यह शक्ति संचित है। उसे इस शक्ति का इस प्रकार उपयोग करना चाहिए कि उसकी यह सत् प्रवृत्ति क्रमशः अधिक बलवती होती जाए और अन्ततः अन्य प्रवृत्तियों को समाप्त कर दे। वह इसमे सफल हो जाता है क्योंकि प्रवृत्ति को अपना चरम परिणाम मुक्ति मे ही प्राप्त होता है।[2]

योग के परिकर्म (शुद्धि-अभ्यास)

योगाभ्यास का उद्देश्य है चित्त को मोक्ष की दिशा मे निरन्तर वर्धमान विचार-प्रक्रियाओं के प्रति स्थिर करना जिससे असत् प्रवृत्तियाँ निरन्तर क्षीण होकर समाप्त हो जाएँ। किन्तु चित्त को इस महान् अभ्यास के योग्य बनाने हेतु यह आवश्यक है कि उसे सामान्य अशुद्धियों से मुक्त किया जाए। इसलिए योगी को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के अलावा किसी चीज का सचय न करना) का अभ्यास करना चाहिए। इन्हे सामूहिक रूप से 'यम' कहा जाता है। शुद्धि के इन उपायों के साथ योगी को बाह्य शुद्धि का भी अभ्यास करना होता है। शरीर और मन की शुद्धि, सतोष, शीतोष्ण आदि समस्त कष्टों के सहन का अभ्यास, शरीर को निश्चल और वाणी को सयत रखने का अभ्यास (जिन्हे 'तप' कहा गया है),

---

[1] किन्तु सांख्य के अनुसार हमारे समस्त पुरुषार्थ का उद्देश्य तीन प्रकार के दुःखों की पूर्ण और आत्यन्तिक निवृत्ति ही है। त्रिविध दुःख है, आध्यात्मिक (शरीर की व्याधि या मन की असन्तुष्ट वृत्तियों या इच्छाओं द्वारा आन्तरिक रूप से जनित) आधिभौतिक (अन्य मनुष्यों या पशुओं आदि के द्वारा बाह्य रूप से आए ताप, चोट या नुकसान और आधिदैविक (राक्षसों या भूत प्रेतपिशाचादि द्वारा पहुँचाया जाने वाला नुकसान या दुःख)।

[2] देखें, मेरा निबन्ध 'योग साइकोलोजी' (क्वेस्ट अक्टूबर १९२१)।

शास्त्रों का अध्ययन (स्वाध्याय) तथा ईश्वर का ध्यान (ईश्वर प्रणिधान), ये सब 'नियम' भी उसे पालने होते है। इनके साथ कुछ अन्य अनुशासन भी विहित हैं जैसे प्रतिपक्ष-भावना, मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। प्रतिपक्ष भावना का तात्पर्य है कि जब भी कोई असद् विचार (जैसे स्वार्थ भावना आ जाए तो उसके विपरीत सद्-विचार (जैसे परमार्थ-भावना) का अभ्यास करे ताकि कुविचार न पनपें। हमारे अधिकाश दोष हमारे संगी साथियो के प्रति उपजे द्वेष के कारण पैदा होते हैं। इनके निवारणार्थ केवल सयम पर्याप्त नही होता, इसलिए चित्त को समस्त मनुष्यो के प्रति मैत्री भाव रखने हेतु अभ्यास करना चाहिए। मैत्री का तात्पर्य है समस्त प्राणियो को मित्र समझना। यदि हम इसका निरन्तर अभ्यास करलें तो उनसे हमें द्वेष कभी नहीं होगा। इसी प्रकार दुःखी प्राणियो के लिए करुणा रखनी चाहिए, समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए हमेशा मुदिता याने प्रसन्नता की भावना रखनी चाहिए तथा दूसरो के दोषो के प्रति उपेक्षा की भावना रखनी चाहिए। इसका तात्पर्य है कि योगी दुष्टों के दोष नही देखना।

जब चित्त सासारिक सुखो से विरक्त हो जाता है और यज्ञादि के अनुष्ठान से मिलने वाले स्वर्गादि फलों से भी वैराग्य हो जाता है, साथ ही चित्त अशुद्धियो से रहित और योगाभ्यास के योग्य हो जाता है तो योगी निरन्तर अभ्यास, श्रद्धा, वीर्य (निष्पादन और उद्देश्य की शक्ति) एवं प्रज्ञा के क्रमों से गुजरता हुआ मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

योगाभ्यास

जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो वाह्य प्रभावो से उसके विचलित होने की सम्भावनाएँ बिल्कुल कम हो जाती है। इस स्थिति मे योगी दृढ आसन जमाता है और किसी विषय को चुन कर उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। वैसे, यही अच्छा समझा गया है कि वह ईश्वर पर ध्यान केन्द्रित करे क्योंकि तब ईश्वर प्रसन्न होकर उसके मार्ग के विघ्नो को दूर कर देगा और सफलता अधिक सरल हो जाएगी। किन्तु इस बात मे उसे छूट है कि वह अपनी समाधि लगाने के लिए किसी भी विषय को चुन सकता है। ध्यान केन्द्रित करने (समाधि) की चार स्थितियां बताई गई है वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। इनमे वितर्क और विचार प्रत्येक के दो दो भेद है, सवितर्क, निर्वितर्क और सविचार, निर्विचार।[1] जब चित्त विषयो पर इस तरह ध्यान केन्द्रित करता है कि उनके नाम और गुण भी ध्यान मे रहते है तो उसे सवितर्क समाधि कहा

[1] वाचस्पति का मत है कि आनन्द और अस्मिता के भी दो दो भेद है किन्तु इसका भिक्षु ने खडन किया है।

जाता है। जब पाँच तन्मात्रों पर, उनके गुणो सहित ध्यान लगाते हैं तब सविचार और जब केवल तन्मात्रों पर ध्यान रहता है, गुणों पर नहीं तब निर्विचार समाधि होती है। आनन्द और अस्मिता की स्थितियाँ इनसे ऊपर है। आनन्द की स्थिति मे मन बुद्धि पर इस तरह केन्द्रित होता है कि ऐन्द्रिय व्यापार से आनन्द विद्यमान रहे। अस्मिता की दशा में बुद्धि, निर्गुण, निराकार शुद्ध तत्व पर केन्द्रित होती है। इन सभी स्थितियो मे ज्ञेय विषयो पर मन चेतन रूप मे केन्द्रित होता है इसलिए इन सबको सप्रज्ञात समाधि (विषयो के ज्ञान सहित) कहते है। इसके बाद समाधि की अन्तिम स्थिति असप्रज्ञात समाधि अथवा 'निरोध समाधि' आती है जिसमे कोई विषय नही होता। इस स्थिति मे अधिक समय रहने पर निरोध दशा के निरन्तर अभ्यास के कारण पुराने समस्त संस्कार जो विषय जगत् के सासारिक अनुभवो अथवा आन्तरिक वैचारिक अनुभवों के कारण उद्भूत होते हैं, नष्ट हो जाते है। तब ब्रह्मज्ञान हो जाता है, बुद्धि पुरुष के समान शुद्ध हो जाती है और चित्त पुरुष को बन्धन मे न रख पाने के कारण पुन. प्रकृति मे लीन हो जाता है।

इस समाधि[1] के अभ्यास के लिए योगी को बहुत शान्त स्थान पर्वत की गुफा या निर्जन जगल मे बैठना चाहिए जिससे कोई व्याघात न हो। सबसे बडा विघ्न, इसमें, होता है हमारी श्वास प्रणाली। इसका नियमन ही प्राणायाम द्वारा किया जाता है। श्वास को चढाने, उसे अन्दर रोकने और फिर छोड़ने की क्रिया को प्राणायाम कहते है। अभ्यास से श्वास को निरन्तर कई घन्टो, दिनों महिनो और वर्षों तक रोका जा सकता है। जब सास लेने या छोड़ने की आवश्यकता नही रहती और उसे लम्बे समय तक स्थिर रखा जा सकता है तो यह प्रमुख विघ्न दूर हो जाता है।

ध्यान लगाने की प्रक्रिया स्थिर आसन मे बैठकर, प्राणायाम से श्वास का निरोध कर, समस्त विचारो को अन्य विषयो से हटाकर एक विषय पर लगाकर (धारणा) शुरू की जाती है। पहले एक विषय पर स्थिरता कठिन होती है, इसलिए बार बार उस विषय का ध्यान किया जाता है। इसे 'ध्यान' कहते है। पर्याप्त अभ्यास के बाद मन स्थिरता की शक्ति अर्जित कर लेता है तब वह विषय के साथ एकाकार हो जाता है और परिवर्तन या दोहराव नही होता। विषय की चेतना भी नही रहती, चिंतन नहीं रहता, चित्त स्थिर और एकाकार हो जाता है। इसे समाधि कहते है। हमने समाधि की छ. स्थितियाँ ऊपर बतला दी हैं। जब समाधि की एक स्थिति मे योगी सफल हो जाता

---

[1] समाधि शब्द का कोई सही पर्याय नही हो सकता। कन्सेन्ट्रेशन या मेडिटेशन आदि शब्द अपर्याप्त है। योग के तात्पर्यानुसार समाधि एक ऐसी अवस्था है जिसमें मन अविचलित भाव से एक विषय से एकाकार हो जाता है, कोई अस्थिर वृत्तियाँ उसमें नहीं आती।

है तो वह क्रमश. आगे की स्थितियो मे जाता है। ज्यो-ज्यो वह आगे बढ़ता है उसे चमत्कारिक शक्तियाँ (विभूतियाँ) प्राप्त हो जाती है। योगाभ्यास मे श्रद्धा और आशा बढ जाती है। विभूतियो के कारण कई प्रलोभन आते है किन्तु योगी अपने लक्ष्य में दृढ़ रहता है और चाहे उसे इन्द्रासन का लोभ दिलाया जाए तो भी वह विचलित नही होता। उसकी प्रज्ञा प्रत्येक चरण पर बढती जाती है। प्रज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञान के समान स्पष्ट ज्ञान है किन्तु यह भेद है कि प्रत्यक्ष स्थूल पदार्थों और कुछ स्थूल गुणो को ही ग्रहण कर[1] सकता है जबकि प्रज्ञा कि कोई ऐसी सीमाएँ नही है। वह सूक्ष्मतम पदार्थों, तन्मात्रो और गुणों को स्पष्ट रूप से उनकी समस्त स्थितियो और धर्मों[2] सहित ग्रहण कर सकती है। जब प्रज्ञा के सस्कार स्थिर हो जाते है तो सामान्य ज्ञान जनित सस्कार क्षीण हो जाते है, तब योगी प्रज्ञा मे स्थित हो जाता है। प्रज्ञा की यह विशेषता है कि वह मोक्ष की ओर ही ले जाती है और ससारिक बन्धन मे नही बाँधती। मोक्ष की ओर ले जाने वाली प्रज्ञाएँ सात प्रकार की होती है–

(१) मैंने ससार को दु खो और कष्टो के मूल के रूप मे जान लिया है, मुझे इसका अब कुछ और नही जानना।
(२) ससार के मूल और आधार पूर्णत उन्मूलित हो गए है, अब कुछ उन्मूलित होना बाकी नही रहा।
(३) निरोध समाधि के द्वारा मुक्ति सीधे ज्ञान का विषय हो गई है।
(४) पुरुष और प्रकृति में भेद के रूप मे सत्य ज्ञान का साधन प्राप्त हो गया है। अन्य तीन स्थितियाँ मनस्तात्विक (मानसिक) न होकर दार्शनिक प्रक्रिया से सम्बद्ध है। वे इस प्रकार है–

---

[1] प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमाएँ कारिका मे वर्णित है। वहाँ इस प्रकार के व्याघातक बतलाए है जैसे बहुत दूरी (आकाश मे बहुत ऊँचा उडने वाला पक्षी), बहुत निकटता (जैसे स्वय आख मे लगा हुआ अजन) इन्द्रिय विरह (आँख का अन्धा हो जाना), ध्यान का अभाव, विषय का अत्यन्त सूक्ष्म होना (जैसे परमाणु) मध्यवर्ती किसी पदार्थ द्वारा व्याघात (जैसे बीच मे दीवार का आ जाना), अपने से अधिक प्रकाशमान वस्तु की विद्यमानता (जैसे तारे सूर्य की उपस्थिति मे नही दिखते) तथा अपने सजातीय अन्य पदार्थ मे व्यामिश्र हो जाना (जैसे जल झील मे डाल दिए जाने पर अलग से प्रत्यक्षीकृत नही हो सकना)।

[2] यद्यपि समस्त पदार्थ गुणो के ही परिणाम है तथापि इन्द्रियों के ज्ञान द्वारा गुणों का वास्तविक स्वरूप कभी ज्ञात नही किया जा सकता। इन्द्रियों को जो प्रतिभास होता है वह इन्द्रजाल के समान मायात्मक धर्मों का ही होता है–
"गुणाना परम रूप न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथ प्राप्त तन्मायेव सुतुच्छकम्।"
(व्यास भाष्य ४/१३)।

इस प्रकार गुणो का वास्तविक स्वरूप प्रज्ञा से ही ज्ञात हो सकता है।

(५) बुद्धि के दोनों उद्देश्य, भोग और अपवर्ग प्राप्त हो गए है।

(६) पर्वताग्र से गिरे हुए पत्थरों की भाँति विघटित गुण अपनी लयात्मक प्रवृत्ति के कारण आपस में विलीन होने लगे है।

(७) बुद्धि के समस्त घटक विघटित हो गए है और गुण प्रकृति मे लीन होकर सदा के लिए उसी मे रह गए है। गुणों के बन्धन से मुक्त होकर पुरुष अपने शुद्ध चित् स्वरूप मे चमकने लगता है। सांख्य योग की मुक्ति में आनन्द का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि समस्त भावनाएँ और अनुभव प्रकृति के ही स्वरूप माने गए है। मुक्ति तो शुद्ध चित् की स्थिति है। जिस उद्देश्य को सांख्य ज्ञान मार्ग से प्राप्त करना चाहता है उसे योग मन के सम्पूर्ण अनुशासन तथा चित्त वृत्तियों के पूर्ण मानसिक नियंत्रण द्वारा प्राप्त करता है।

——∞——

अध्याय ८

न्याय-वैशेषिक दर्शन

न्याय दृष्टिकोण से बौद्ध और सांख्य दर्शन की आलोचना

बौद्ध दर्शन के मतानुसार सभी संन्निवेश (द्रव्य समुच्चय) क्षणिक एवं अस्थायी है। एक समुच्चय के नाश की पृष्ठभूमि मे दूसरे समुच्चय की उत्पत्ति होती है। इस सिद्धांत ने साधारण व्यावहारिक बुद्धि पर आधारित, द्रव्य और गुण, कारण-कार्यभाव, एवं वस्तुओ के स्थायित्व की सारी धारणाओं को हिला दिया था। परन्तु बौद्ध दर्शन में वर्णित क्षणिकत्व सिद्धान्त न्याय दर्शन के मतानुसार युक्ति-संगत नही दिखाई देता। जब यह कहा जाता है कि दूध को बनाने वाले तत्वो से दही तत्व-पुंज उत्पन्न हो गए तब बौद्ध व्याख्या के अनुसार कारण-तत्वों की सम्मिलित प्रक्रिया के फलस्वरूप यह क्रिया होती है जिसकी कार्य विधि को हम नही समझ पाते। परन्तु कारण-तत्व स्वतन्त्र रूप से कार्य की उत्पत्ति नही कर सकते। कारण-तत्व पुंजो की स्वतंत्र क्रिया से कार्य-तत्व पुंज की उत्पत्ति हमारे अनुभव और साधारण ज्ञान के विपरीत है। कारण-रूप के विशेष तत्व कार्य तत्व पुंज मे भी पाए जाते है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि एक क्षण मे ही पहला पदार्थ नष्ट हो गया और दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति हो गई। उदाहरण के लिए दूध (कारण तत्व) मे जो श्वेत तत्व है वह दही मे भी पाया जाता है। इसी प्रकार लोहे के कणों मे जो काला रग, कड़ापन और अन्य गुण पाए जाते है, वे उससे निर्मित लोहे के गोले मे नही पाए जाएँगे, यह नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि कारण तत्व पुंजो का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। स्वतन्त्र रूप से वे किसी कार्य स्थिति का प्रादुर्भाव नही कर सकते। यदि एक तत्व-पुंज, क्षण मे ही समाप्त हो जाता है, तो कारण तत्व-पुंज द्वारा जो द्रव्य कार्य रूप मे उत्पन्न किया जाता है उसमे पूर्व वस्तु के गुणो का समावेश नही हो सकता। पुनः यदि यह क्षणिकत्व सिद्धान्त मान भी लिया जाए और यह कहा जाए कि सारे कारण-तत्व एक साथ, सम्मिलित रूप मे एक ही क्षण में (प्रभाव रूप से) कार्य तत्व पुंज की उत्पत्ति करते है, तो फिर विभिन्न कारणो मे किसी प्रकार का अन्तर करने की आवश्यकता ही नही रह जाएगी। 'उपादान' निमित्त और 'सहकारी' कारण सब एक ही हो जाएँगे। जैसे घड़े के निर्माण मे मिट्टी (जिससे वस्तु बनती है) उपादान कारण है, कुम्हार, चक्र और दंड ये सब निमित्त कारण हैं और चक्र दंड आदि का रंग-रूप सहकारी कारण हैं। पर यदि

कारण-तत्व समुच्चय किसी अज्ञात प्रक्रिया से सयुक्त रूप से कार्य-प्रभाव की सृष्टि करते है तो फिर इन उपादान, निमित्त आदि कारणो की कोई आवश्यकता नही है ।

पुन: जब कारण-तत्व समूह का आविर्भाव होता है, तब वह तत्काल, उसी क्षण मे कार्य तत्वो की उत्पत्ति नही कर सकता । कम से कम एक और क्षण की आवश्यकता होगी जिसमे वह कार्य तत्व-समूहों की उत्पत्ति कर सके । इस स्थिति मे जो वस्तु उत्पन्न होने वाले क्षण मे ही विनिष्ट हो जाती है, वह दूसरी वस्तु को कैसे उत्पन्न कर सकती है । क्योकि इसकी कार्य-क्षमता के लिए कम से कम एक और क्षण तो चाहिए जिसमे वह प्रभावशील हो सके । सत्य यह है कि विभिन्न कारण तत्व पहले से ही विद्यमान रहते है और जब उनका उचित अवस्था और अनुपात मे सयोग होता है तब नए द्रव्यो की उत्पत्ति होती है । जीवन के व्यावहारिक अनुभव से भी हम देखते है कि विभिन्न वस्तुएँ पहले से चली आ रही है, ये पूर्व काल मे भी थी और वर्तमान मे भी है । पूर्व काल को हम भूत काल के रूप मे, इस समय को वर्तमान और आगे आने वाले काल को भविष्यत् के रूप मे देखते है और साथ ही यह भी देखते है कि भूतकाल से अनेक वस्तुएँ उसी रूप मे चली आ रही हैं और भविष्यत् मे भी उनकी स्थिति कुछ काल तक तो अवश्य ही रहेगी । अत यह सिद्धान्त कि वस्तुओं का अस्तित्व केवल एक क्षणमात्र के लिए ही है, युक्ति-सगत नही लगता ।

साख्य दर्शन की मान्यता है कि कार्य केवल विभववान कारणो की कार्यान्विति मात्र है । कारण-स्थिति मे भविष्य मे सम्पन्न होने वाले सारे कार्यों की अनुगुप्त स्थिति होती है । विभव रूप से कारण मे कार्य की स्थिति निहित है । कारण के गतिशील होने के पूर्व ही उसमे सारे कार्यों का विभव होता है यह सिद्धान्त भी न्याय के अनुसार आधारहीन दिखाई देता है । साख्य कहता है कि तिल मे तेल पहले से ही विद्यमान है पर पत्थर मे नही है । अत. तिल से तेल उत्पन्न होता है, पत्थर से नही होता । निमित्त कारण का केवल इतना ही योग है कि जो मूल कारण मे पहले ही से विभव रूप मे विद्यमान है उसको प्रकट करे अथवा उसकी कार्यान्विति कर दे । यह सब असगत है । मिट्टी का पिण्ड कारण कहा जाता है और घडा कार्य । यह कहना हास्यास्पद है कि मिट्टी के पिड मे घडा विद्यमान है क्योंकि मिट्टी के पिंड से हम जल नही भर सकते । घडा मिट्टी से बनाया जाता है पर मिट्टी घडा नही है । इस कथन से क्या अर्थ है कि घडा अव्यक्त (सूक्ष्म) रूप से मिट्टी मे स्थित था जो अब व्यक्त रूप मे प्रकट हो गया । विभव स्थिति का कथन भी अर्थहीन है । घडे की विभव स्थिति, इसकी वास्तविक स्थिति से कोई संगति नही रखती । सरल शब्दो मे घडा विद्यमान ही नही था । उसका कोई अस्तित्व नही था । मिट्टी का पिंड मिट्टी के रूप मे है । जब तक इससे घडा नही बनाया जाता, घड़े की कोई स्थिति नहीं है । अगर यह कहा जाए कि घडे का निर्माण करने वाले परमाणु वही हैं जो मिट्टी को बनाते है तो इसे स्वीकार करने में

कोई आपत्ति नही है। पर इससे यह अर्थ नही निकलता कि घडा इन परमाणुओ में विद्यमान है मिट्टी की यह योग्यता है कि वह कुम्हार के द्वारा अन्य साधनो के योग से घड़े के रूप मे परिवर्तित की जा सकती है। पर यह योग्यता कार्य-अभाव नही है योग्यता को कार्य नही कहा जा सकता। यदि यह मान लिया जाए तो इसका अर्थ होगा कि घडे से घडे की उत्पत्ति हुई। साख्य का यह मत भी कि द्रव्य और उसके गुण एक ही तत्व है, उचित प्रतीत नही होता। यह तो साधारण अनुभव से ही सिद्ध है कि गति और गुण द्रव्य के धर्म है, गुण के नही। साख्य का यह मत भी बडा हास्यास्पद है कि बुद्धि और चेतना (चित्) अलग-अलग है। बुद्धि को अचेतन या चेतना हीन मानना अर्थहीन है। फिर इस व्यर्थ की कल्पना से क्या लाभ है कि बुद्धि के गुण-तत्व से 'पुरुष' प्रकाशित होता है और फिर यह अपना प्रकाश बुद्धि को देता है। हमारे सारे अनुभवो के आधार पर यह स्पष्ट दिखाई देता है कि आत्मा (आत्मन) ज्ञान को प्राप्त करता है, सवेदना और सकल्प भी आत्मा का विषय है। इस साधारण तथ्य को साख्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि सवेदना, सकल्प और ज्ञान तीनो बुद्धि के धर्म हैं। फिर अनुभव की व्याख्या के लिए साख्य को दुहरे परावर्तन (प्रतिबिम्ब) की कल्पना का आश्रय लेना पडा। साख्य की कल्पना मे प्रकृति 'चित्' रूप मे नही है, जड है। 'पुरुष' इस प्रकृति के पाश मे बधा हुआ मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस बात का क्या प्रमाण है कि यह जड प्रकृति पुरुष को अपने बन्धन से मुक्त कर देगी और इसका भी कैसे विश्वास किया जाए कि प्रज्ञावान् पुरुष को यह प्रकृति पुन अपने बन्धन में नही जकड लेगी और सदैव के लिए मुक्त कर देगी। पुन यह आश्चर्य है कि यह बुद्धिमान् चेतन 'पुरुष' इस जड प्रकृति के बन्धन में कैसे बध जाता है। प्रकृति का उपभोग अनेक 'पुरुष' कर रहे है। क्या प्रकृति कोई सुकोमल अभिजात किशोरी है जो, 'पुरुष' को उसके नग्न स्वरूप का पता लगते ही लजा कर छोड जाएगी। फिर सुख, दु ख और मोह, आत्मा की संवेदनात्मक अनुभूतियाँ है, इनको साख्य ने किस प्रकार भौतिक तत्वो के रूप मे मानने का दु साहस किया है। इसके अतिरिक्त सृष्टि रचना के सिद्धान्त मे 'महत्', 'अहकार', 'तन्मात्रा' आदि की कल्पना का कोई ठोस, युक्ति-सगत आधार नही है। यह केवल प्रमाणहीन मानसिक कल्पना है जिनको अनुभव या किसी प्रत्यक्ष आधार पर सिद्ध नही किया जा सकता। यह सब तथ्यहीन भ्रान्तियाँ है। अनुभव के यथार्थ रूप को जानने के लिए यह आवश्यक है कि युक्तियुक्त और व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसका समुचित विवेचन किया जाए क्योकि यह विवेचन अन्य मतो मे नही मिलता (न्याय मजरी पृ० ४५२–४६६ और ४६०–४६६ देखिए)।

न्याय और वैशेषिक सूत्र

सम्भवत. 'न्याय' शब्द की उत्पत्ति अनेक विद्वानों के द्वारा वेदविषयक वार्ताओ

और विवादादि के संदर्भ में हुई होगी अथवा उस समय अनेक मत मतान्तर, शाखा-प्रशाखाएँ ऐसी थीं, जो दूसरों को हराकर अपनी मान्यता स्थापित करवाने के लिए विशेष रूप से शास्त्रार्थ किया करती थी। यह भी सम्भव हो सकता है कि इन शास्त्रार्थों के लिए एक युक्ति-संगत विधि निर्माण करने के प्रसंग में न्याय ने जन्म लिया हो। यह जानकारी हमको उपलब्ध है कि उपनिषदों के अर्थादि विषयों को लेकर शास्त्रार्थ हुआ करते थे और शास्त्रार्थ की विधि का अध्ययन करना एक विशेष विद्या मानी जाती थी। सम्भवतः यह 'विद्या' उस समय 'वाको वाक्य' की सज्ञा से जानी जाती थी। बुहलर साहब के मतानुसार श्री आपस्तब नाम के विद्वान् का कार्य-काल इसी से तीन शताब्दी पूर्व होना चाहिए। श्री बोडास महोदय का कथन है कि आपस्तंब ने 'न्याय' शब्द का प्रयोग मीमासा के रूप मे किया है।[1] इस शब्द 'न्याय' की उत्पत्ति सस्कृत की 'नी' धातु से हुई है। इसके अर्थ की विवेचना करते हुए यह कहा जाता है कि इसी के द्वारा शब्दो और वाक्यो के निश्चित अर्थों का बोध होता है। इस न्याय के आधार पर ही वैदिक शब्दो का उच्चारण निश्चित किया जाता है। इस उच्चारण और स्वर-बल के आधार पर संस्कृत शब्दो के सन्धि-विच्छेद मे सहायता मिलती है जिससे इन सन्धिगत शब्दो के सही स्वरूप का निरूपण हो सके। अत वैदिक शब्दों के उच्चारण को भी 'न्याय' की सज्ञा दी जाती थी।[2] कौटिल्य ने 'विद्याओं (विज्ञान) की सूची मे 'आन्वीक्षिकी' (प्रत्यक्ष और शास्त्रीय ज्ञान की विविध परीक्षाओ द्वारा सत्या सत्य विवेचन का विज्ञान) २. त्रयी (तीनो वेद) ३. वार्ता (कृषि एव पशुपालन विज्ञान ४. दड नीति (राजनीति) इन चार विद्याओ का वर्णन दिया है। दर्शनो मे उन्होने 'साख्य', 'योग', 'लोकायत' और आन्वीक्षिकी इन चार दर्शनो का उल्लेख किया है। इसके आधार पर प्रोफेसर जैकोबी ऐसी कल्पना करते है कि ईसा से ३०० वर्ष पूर्व कौटिल्य के समय तक न्याय सूत्र का निर्माण नही हुआ था।[3] कौटिल्य ने न्याय के लिए आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग किया है। अत. प्रोफेसर जैकोबी को उपर्युक्त भ्रान्ति हुई है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय तक न्याय शब्द का प्रचलन कम हो पाया था। इसी प्रकार उनको वात्स्यायन के कथन को समझने मे

---

[1] 'आपस्तंब' ग्रन्थ की भूमिका श्री बुहलर द्वारा अनुवाद मे इन्ट्रोडक्शन पेज xxxvii देखिए। साथ ही श्री बोडास का लेख, बाम्बे शाखा के जे० आर० ए० एस वाल्यूम xix में 'हिस्टोरिकल सर्वे आफ इन्डियन लौजिक' देखिए।

[2] कलिदास के कुमारसम्भव मे कहा है 'उद्घाटो प्रणवो यासाम् न्यायैसत्रिभिरूदीरणम्।'
(इस पर मल्ली नाथ की टीका भी देखिए)।

[3] प्रोफेसर जैकोबी द्वारा लिखित पुस्तक "दि अरली हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी" एन्टीक्विटी १९१८ देखिए।

भी भ्रांति हुई है। वात्स्यायन कहते है न्याय वही विद्या है जो कौटिल्य के समय में आन्वीक्षिकी के नाम से प्रसिद्ध थी। न्यय सूत्र I.1.I प्रोफेसर जैकोबी ने इसका अर्थ यह समझा कि वात्स्यायन इन दोनो मे भेद बतलाते है। प्रोफेसर जैकोबी ने यह अनुमान किया कि 'आन्वीक्षिकी' का अर्थ तर्कशास्त्र से है और न्याय का विषय तर्क-शास्त्र और आध्यात्मिक दर्शन दोनो हैं। वात्स्यायन इसके विपरीत निश्चित रूप से न्याय और आन्वीक्षिकी एक ही विद्या मानते है कि केवल तर्कशास्त्र के कुछ अंगों को निश्चित रूप देकर उनको अलग से स्थापित करना चाहते है जैसे सशय (शका) आदि। साधारण रूप से ये पारिभाषिक शब्द 'प्रमाण' (संज्ञान के साधन) और 'प्रमेय' (सज्ञान के विषय) मे सम्मिलित हैं। श्री वात्स्यायन का मत है कि जब तक इन परिभाषात्मक शब्दो को निश्चित रूप नही दिया जावेगा न्याय शास्त्र, भी 'अध्यात्म विद्या' मे परिवर्तित हो जाएगा। इस हेतु न्याय के विशिष्ट शब्दों की एव उप शाखाओ की पृथक् स्थापना अत्यन्तावश्यक है। 'न्याय' का प्राचीन अर्थ है 'उचित अर्थों का निश्चय करना' इससे वात्स्यायन भी सहमत हैं। श्री वाचस्पति मिश्र ने भी अपनी 'न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका' (I iv) मे इस अर्थ को स्वीकार किया है।

वाचस्पति 'न्याय' शब्द का अर्थ, तर्क एव प्रमाण के आधार पर किसी वस्तु का परीक्षण करना बतलाते है–'**प्रमाणैरर्थ परीक्षणम्**।' इस अर्थ की तुलना मैं आन्वीक्षिकी शब्द के धातुगत अर्थ से करते है 'आन्वीक्षिकी का धातुगत अर्थ प्रत्यक्ष और शास्त्रो से प्राप्त ज्ञान का यथार्थ परीक्षण करना है। वात्स्यायन साथ ही यह कहते है कि न्याय के तार्किक अग का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। सारे प्राणी, उनकी सारी क्रियाओ और सारी विद्याओ का अध्ययन तर्कशास्त्र द्वारा किया जा सकता है।[1] कौटिल्य का उद्धरण देते हुए वे कहते है कि न्याय की इस क्षमता से सारी विद्या मे प्रकाशित होती है और सारे शास्त्रो का आधार न्याय है अध्यात्म दर्शन के समुचित निरूपण और सत्य के स्वरूप को जानने मे इससे जो सहायता मिलती है, उसके कारण यह मोक्ष का साधन है। प्रोफेसर जैकोबी का यह मत है कि अध्यात्म, न्याय मे आरम्भ मे सम्मिलित नही था, अपितु बाद मे जोड़ा गया है। यह मत बहुत अशो मे सच हो सकता है। वात्स्यायन

---

[1] '**येन प्रयुक्ता : प्रवर्तन्ते तत् प्रयोजनम्**' (जिसके द्वारा प्रेरित प्राणी कर्म करता है वह प्रयोजन (प्रयोजनम्) है यमर्थम् अभीप्सन जिहासन् वा कर्म आरभते तनो नेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या . तदाश्रयश्च न्याय. प्रवर्तते' (जिस अर्थ से मनुष्य अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म करता है अथवा जिससे प्रेरित कार्म का आरम्भ होता है वह 'प्रयोजन' है, अत. मनुष्य के सारे क्रिया व्यापार और सारी विद्या प्रयोजन के क्षेत्र में आती है। ये सारे प्रयोजन 'न्याय', का विषय है।

—वात्स्यायन भाष्य।

स्वयं भी तर्कशास्त्र की पृथक् शाखा "पृथक्-प्रस्थान" के रूप मे उल्लेख करते हैं पर इन सब से यह अर्थ नही निकलता कि कौटिल्य के समय मे न्याय की स्थापना हुई थी अथवा अध्यात्म, कौटिल्य के काल मे न्याय का अग नही था। वात्स्यायन ने तर्क पर विशेष बल दिया है। उसका कारण स्पष्ट है। अध्यात्म के महत्व को सभी स्वीकार करते थे पर तर्क शास्त्र के महत्व को वह स्थान प्राप्त नही था। इसका प्रतिपादन वेद, धर्म-शास्त्र उपनिषद के आधार पर नही किया जा सकता था। अत. वात्स्यायन को कौटिल्य की सहायता लेनी पड़ी। कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी को विद्याओ में ही सम्मिलित नही किया है पर दर्शन की सूची मे भी पुन: 'आन्वीक्षिकी' का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य इसको अत्यन्त महत्वपूर्ण विद्या और दर्शन मानते थे। इससे यह भी धारणा बनती है कि सम्भवत. 'न्याय' की उस समय दो शाखाएँ होंगी। एक शाखा 'अध्यात्म' और दूसरी शाखा 'तर्क' का निरूपण करती होगी। यह भी सम्भव है कि तर्कशास्त्र के साथ अध्यात्म का अग बाद मे जोडा गया हो जिसका उद्देश्य न्याय के नीरस विषय को अधिक रुचिकर और न्याय बनाने का रहा हो। इन दोनो अगों का सगठन कुछ शिथिल-सा है जिससे उपर्युक्त कथन को और भी बल मिलता है। प्रसिद्ध विद्वान् महा महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने "जनरल ऑफ दि बगाल एशियाटिक सोसायटी १८०५" मे एक लेख मे कहा है कि वाचस्पति ने न्याय सूत्रो का सकलन करने के लिए दो प्रयत्न किए है। पहले प्रयत्न मे उसने 'न्याय सूची' ग्रन्थ की रचना की और दूसरे मे 'न्याय सूत्रोद्धार' ग्रन्थ की। ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति के समय मे वह स्वय भी निश्चित रूप से नही कह सकता था कि इनमे कौन से सूत्र मूल न्याय शास्त्र के न होकर क्षेपक मात्र है। इसका भी निश्चित प्रमाण मिलता है कि अनेक सूत्र क्षेपक के रूप मे 'न्याय सूत्र' मे सम्मिलित कर दिए गए है। श्री हरप्रसाद शास्त्री इस प्रसग मे जापान और चीन की बौद्ध परम्परागत किवदन्ती का वर्णन करते है जिसकी यह मान्यता है कि श्री मिरोक ने 'न्याय और योग' दोनो को भ्रान्तिवश सम्मिलित कर दिया है। उनके अनुसार न्याय सूत्रो के दो सस्करण, एक किसी बौद्ध के द्वारा और दूसरा किसी हिन्दू के द्वारा सम्पादित किए गए होंगे। हिन्दू सम्पादक ने बौद्धो के विचारो का खडन करते हुए हिन्दू-मत की पुष्टि की है। श्री शास्त्री के मत में काफी सत्य हो सकता है। परन्तु हमारे पास ऐसा कोई आधार नही है जिससे हम क्षेपको के समय का निर्धारण कर सके। इस तथ्य से कि न्याय सूत्र मे अनेक क्षेपक है, इसके रचना काल का निश्चय करना और भी कठिन हो जाता है। बौद्ध उद्धरणो से भी कोई सहायता नही मिलती। प्रो० जैकोबी ने बौद्ध शून्यवादी उद्धरणों के आधार पर इसके रचना काल का निश्चय करने का जो प्रयत्न किया है, उसका भी उपर्युक्त सदर्भ के प्रकाश में कोई महत्व नही रह जाता। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि शून्यवादी प्रसग के कारण 'न्याय सूत्र' की रचना श्री नागार्जुन के बाद

हुई होगी। पर इसको भी निश्चित रूप से नही माना जा सकता क्योंकि नागार्जुन से पूर्व लिखे हुए महायान-सूत्रो मे भी शून्यवादी प्रसगो का उल्लेख मिलता है।

स्वर्गीय डा० विद्याभूषण द्वारा जे० आर० ए० एस० १९१८ मे लिखे एक लेख में ऐसा उल्लेख करते हैं कि न्याय का पूर्व भाग गौतम ने ५५० ईसवी पूर्व लिखा है और श्री अक्षपाद के द्वारा न्याय सूत्र की रचना सन् १५० (ई० पश्चात्) की गई होगी। 'महाभारत' I. I. ६७ १ ७०. ४२-५१ मे 'न्याय' शब्द का प्रयोग तर्क के अर्थ मे किया गया है। श्री विद्याभूषण के मतानुसार इसे क्षेपक समझना चाहिए। इस धारणा के लिए वे कोई प्रमाण प्रस्तुत नही करते है। उनके विषय विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी प्रकार यह सिद्ध करना चाहते थे कि श्री अक्षपाद ने अरिस्टोटल से प्रभावित होकर 'न्याय सूत्र' की रचना की और इस हेतु उन्होने अक्षपाद द्वारा न्याय सूत्र रचना काल का निर्धारण १५० ईसवी पूर्व किया है। उनकी इस कपोल कल्पना का कोई विशेष प्रतिपाद करने की आवश्यकता प्रतीत नही होती। परन्तु हमारा ध्येय 'न्याय सूत्र' की रचना काल का वास्तविक समय निर्धारण करना है जिस पर उपर्युक्त विवाद से कोई निश्चित प्रकाश नही पड़ता।

श्री गोल्ड-स्टुकर के मतानुसार पतजलि (१४० ई० पू०) और कात्यायन (ई० पू० चौथी शताब्दी) दोनो को न्याय सूत्र का ज्ञान था।[1] हम ये भी जानते है कि कौटिल्य भी न्याय को आन्वीक्षिकी के रूप मे जानते थे और उनका काल ३०० ई० पू० है। अतः इन आधारो पर यह कहा जा सकता है कि न्याय सूत्र की रचना ईसा मसीह के ४०० वर्ष पूर्व हुई होगी। परन्तु कुछ अन्य कारणो के आधार पर लेखक का मत है कि न्याय सूत्र के प्रस्तुत सूत्रो मे से कुछ अवश्य ही दूसरी शताब्दी मे लिखे गए है। श्री बोडास का कथन है कि बादरायण सूत्रो मे जो सकेत मिलते है वे वैशेषिक दर्शन के प्रसग मे है और न्याय से उनका कोई सम्बन्ध नही है। इस आधार पर उनका विचार है कि वैशेषिक सूत्रो की रचना बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के पूर्व हुई है और न्याय सूत्र तत्पश्चात् लिखे गए है श्री चन्द्रकात तर्कालकार भी अपने वैशेषिक दर्शन के सस्करण मे ऐसा अभिमत प्रकट करते है कि वैशेषिक सूत्र न्याय से पूर्व लिखे गए है। लेखक के अनुसार यह पूर्ण निश्चित है कि वैशेषिक सूत्रो की रचना चरक (८० ई० पश्चात्) के पूर्व हुई है क्योकि चरक ने स्थान-स्थान पर वैशेषिक सूत्रो के उद्धरण दिए है और उसकी चिकित्सा मे सम्पूर्ण औषध-शास्त्रीय भौतिक विज्ञान का आधार वैशेषिक दर्शन मे वर्णित भौतिकी है।[2] 'लकावतार सूत्र' भी इस परमाणु विज्ञान का उल्लेख करता है और क्योकि इसका उद्धरण अश्वघोष ने किया है अत यह निश्चित रूप से ८० ई०

---

[1] गोल्ड स्टकर—'पाणिनि' पृष्ठ १५७।

[2] चरक 'शरीर' ३९।

से पूर्व का ग्रन्थ होना चाहिए। कुछ ग्रन्थ भी ऐसे महत्वपूर्ण प्रमाण पाए जाते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैशेषिक सूत्रों की रचना बौद्धकाल के पूर्व हुई है।[1] यह भी निश्चित है कि न्याय के तर्क भ्रम की रचना के पूर्व भी अन्य दर्शनों व मतों में तर्क के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार की विवेचनाएँ की हैं। इस प्रकार स्वयं वात्स्यायन, न्याय सूत्र के ३२वे सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते है कि यह सूत्र जिसमे हेत्वनुमान के पांच आधार वाक्यों (अवयवों) का उल्लेख किया है, उन लोगो की धारणा का खंडन करने के लिए लिखा है जो ये मानते हैं कि हेतुमद अनुमान मे दस अवयव होते हैं।[2] वैशेषिक सूत्र में भी अनुमान के प्रारम्भिक विवेचन के प्रसंग मिलते है, परन्तु इन प्रसंगों मे 'न्याय' अनुमान सिद्धान्त की जानकारी नही दिखाई देती।[3]

क्या मीमांसा का प्राचीन दर्शन ही वैशेषिक दर्शन है ?

वैशेषिक दर्शन का न्याय के साथ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि साधारणतया यह कल्पना करना असम्भव-सा लगता है कि यह मीमासा के प्राचीन दर्शन का ही स्वरूप है और 'मीमासा सूत्र' से भी पूर्व के किसी दर्शन का निरूपण करता है। परन्तु ध्यानपूर्वक विवेचन करने पर यह अनुभव होता है कि सम्भवतः उपर्युक्त बहुत कुछ मच हो सकता है। चरक ने स्थान-स्थान पर 'वैशेषिक सूत्रो' के उद्धरण दिए हैं। उसके ग्रन्थ--'सूत्र स्थान' (३५.३८) का अध्ययन करने से स्पष्ट पता चलता है कि वैशेषिक दर्शन के किसी ग्रन्थ यथा 'भाषा परिच्छेद' आदि का अध्ययन इस ग्रंथ को लिखने से पूर्व किया गया है। चरक सूत्र या कारिका (I.i. ३६) मे उल्लेख है कि 'गुण' वे है, जो सूची मे 'गुरुत्व' (भारीपन) आदि से प्रारम्भ होते है, इसके अलावा बुद्धि (संज्ञान) और वे सब गुण भी जो सम्मिलित है 'पर' (व्यापक) से प्रारम्भ होकर सार्थ (इन्द्रिय चेतना के गुण) और प्रयत्न पर समाप्त होते हैं। इससे पता चलता है कि यह किसी ऐसी प्रख्यात गुण सूची की ओर सकेत है जो उस समय काफी प्रचलित होगी। लेकिन यह सूची वैशेषिक सूत्र मे नही मिलती है (I.i. ६)। इसमे इन षट (छै) गुणों का उल्लेख नही है। 'गुरुत्व' (भारीपन), 'द्रवत्व' (तरलता), 'स्नेह' (चिकनापन), 'संस्कार' (परिणातियोग्यता, लचीलापन) 'धर्म' (विशिष्ट योग्यता) 'अधर्म' (अयोग्यता)। 'सूत्र' के एक भाग में एक सूची 'पर' से प्रारम्भ होती है और 'प्रयत्न' पर समाप्त होती

---

[1] अगला अनुभाग देखिए।

[2] न्याय सूत्र, I.i ३२ पर वात्स्यायन भाष्य। यह संकेत 'दश वैकालिक निर्युक्ति' मे वर्णित जैन दृष्टिकोण की ओर है जैसा हम पहले देख चुके है।

[3] न्याय सूत्र I.i ५ और वैशेषिक सूत्र XI.ii.I-२, ४-५ और III.i. ८-१७।

है जिसमे 'बुद्धि' (संज्ञान) भी सम्मिलित है। पर चरक में 'बुद्धि' इस सूची में शामिल नही है और अलग से इसका उल्लेख किया गया है। इससे ऐसा विश्वास होता है कि चरक ने अपने सूत्रो की रचना ऐसे समय में की होगी जब वैशेषिक द्वारा छोड़े हुए छः गुणों को मान्यता मिल गई थी और कोई ऐसा ग्रन्थ बन गया था जिसमें इन षट् गुणों की गणना की गई थी। 'भाषापरिच्छेद' जो वैशेषिक दर्शन का उत्तर-कालीन ग्रन्थ है, कुछ अत्यन्त प्राचीन कारिकाओ का संग्रह है जिनके सम्बन्ध में श्री विश्वनाथ ने कहा है कि ये कारिकाएँ अत्यन्त प्राचीन चिरन्तन उक्तियों का सकलन है 'अति सक्षिप्त चिरन्तनोक्तिभि:'।[1] चरक के द्वारा 'सामान्य' और 'विशेष' की व्याख्या से भी यह पता चलता है कि उस समय तक इनको भिन्न वर्गों में नही माना गया था, जैसाकि उत्तरकालीन न्याय वैशेषिक सिद्धान्तों मे माना गया है। चरक की 'सामान्य' और 'विशेष' की व्याख्या मे इस वैशेषिक व्याख्या से विशेष अन्तर नही पाया जाता कि 'सामान्य' और 'विशेष' मे सापेक्ष सम्बन्ध है।[2] इस प्रकार चरक-सूत्र की रचना उस समय हुई होगी जब वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तो मे परिवर्तन हो रहे थे और इस दर्शन पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखने की प्रक्रिया चल रही थी।

वैशेषिक सूत्र मे बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का कोई उल्लेख नही मिलता है। जहाँ आत्मा के अस्तित्व के ऊपर विवेचन किया गया है, वहाँ आत्मा के न होने का कोई प्रसग नही है। यहाँ सारा तर्क इस तथ्य पर किया गया है कि आत्मा का बोध 'अनुमान' से होता है अथवा 'अहम्' के स्वत. ज्ञान से होता है। इन विवेचनों में किसी अन्य दर्शन का भी कोई उल्लेख या प्रसंग नही पाया जाता।

केवल प्राचीन मीमासा सिद्धान्तो का अथवा कही-कही सांख्य का प्रसग अवश्य मिलता है। यह विश्वास करने का भी कोई आधार नही मिलता कि जिन मीमासा-सिद्धान्तो के सकेत इस सूत्र मे मिलते हैं वे जैमिनि के 'मीमासा सूत्र' के आधार पर दिए गए है। अनुमान की जो व्याख्या दी गई है उससे पता चलता है कि 'पूर्ववत्' और 'शेषवत्' की न्याय-शब्दावली का ज्ञान उस समय नहीं था। 'वैशेषिक सूत्र' अनेक स्थानो पर ऐसा उल्लेख करते है कि काल ही आदि और अन्तिम महाकारण है।[3] हमको यह भी मालूम है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में उन दार्शनिकों का प्रसग

---

[1] जे. ए. एस. बी. १९०८ मे प्रो. वनमाली वेदान्त तीर्थ का लेख देखिए।

[2] चरक (I. 1. ३३) का कथन है कि 'सामान्य' वह है जो एकत्व उत्पन्न करता है और 'विशेष' वह है जो विच्छिन्न करता है। वी. एस. II. II ७.। सामान्य और विशेष हमारे चिन्तन की दृष्टि पर निर्भर है कि हम किसी विषय को संयुक्त रूप मे देखते हैं या अन्यथा।

[3] वैशेषिक सूत्र (II.ii ६) और V.ii. २६।

आता है जो काल को आदि कारण मानते हैं, लेकिन किसी भी दर्शन ने इस प्राचीन दृष्टिकोण को मान्यता नहीं दी है।[1] इन सारे कारणों से और शैली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये सूत्र बौद्ध-दर्शन से पूर्ववर्ती और वैशेषिक दर्शन पर प्राचीनतम उपलब्ध सूत्र हैं।

'वैशेषिक सूत्र' का प्रारम्भ इस उक्ति के साथ होता है कि इस सूत्र का उद्देश्य 'धर्म' की व्याख्या करना है। इस प्रकार की व्याख्या करना वास्तव में 'मीमांसा' का काम है और हम यह भी जानते हैं कि जैमिनि अपने मीमांसा सूत्र का प्रारम्भ धर्म की परिभाषा से करते हैं जो अन्य दर्शन-ग्रन्थों की विधि नहीं है। यह प्रथम दृष्टि में अप्रासंगिक लगता है कि वैशेषिक दर्शन जिसका क्षेत्र पदार्थ की व्याख्या करना है, धर्म व्याख्या ग्रन्थ का प्रारम्भ करता है।[2] वैशेषिक दर्शन में धर्म की परिभाषा के सम्बन्ध में कहा है कि धर्म वह है जिससे अभ्युदय और 'निश्रेयस्'। (कल्याण) की प्राप्ति होती है क्योंकि वेदों के आदेश पालन से 'अभ्युदय' और निश्रेयस् की प्राप्ति होती है, अत. वेद को प्रमाणिक मानाना चाहिए। पुस्तक के अन्त में कहा है कि वैदिक कर्म अज्ञात रूप से मनुष्य की समृद्धि में सहायक होते है। साधारण वैदिक कृत्य जिनको हम नित्य किसी कामना के बिना ही करते रहते है, उनसे भी ससारिक वृद्धि, अभ्युदय आदि प्राप्त होते है यद्यपि हमको यह सूत्र साधारण बुद्धि से समझ में नही आता है। अतः वेदो को प्रामाणिक मान कर उसकी आज्ञाओ का पालन करना चाहिए।[3] वैशेषिक सूत्र (दर्शन) का प्रारम्भ इस कथन के साथ होता है कि इस सूत्र मे धर्म की व्याख्या की जावेगी। लेखक फिर द्रव्य, गुण, तत्वो के स्वरूप, कर्म आदि का विवेचन करता है। वैदिक कृत्यो के करने से धर्म मे गति होती है, धर्म से (अदृष्ट) फलो की प्राप्ति होती है। 'अदृष्ट' फल वे है जो धर्म कार्य करने से अज्ञात रूप से हमको प्राप्त

---

[1] श्वेताश्वतर I. I. २।

[2] 'कल्प व्याकरण' के प्राचीन भाष्य मे एक श्लोक मिलता है जिसमे कहा गया है कि कणाद के द्वारा अपने 'वैशेषिक सूत्र' में धर्म की व्याख्या करने का मन्तव्य प्रकट करने के पश्चात् षट्गुणो की व्याख्या करना अप्रासंगिक है। जैसे यह ऐसा ही है। कहा जावे कि हम हिमालय की ओर प्रस्थान करेंगे और फिर समुद्र की ओर चल दिया जावे। 'धर्मम् व्याख्यातु कामस्य सत्पदार्थो पवर्णनम्–हिमवद्गन्तु कामस्य सागर गमनोयमम्।'

[3] उपस्कार ने वैशेषिक सूत्र–'तद्वचनाद आम्नायस्य प्रामाण्यम्' की व्याख्या इस प्रकार की है–वेद का ईश्वरीय ज्ञान (वचन) होने से मान्य समझना चाहिए। परन्तु उपरोक्त वाक्य मे ईश्वर शब्द का उल्लेख न होने से इस वैशेषिक वाक्य का अर्थ न्याय आधार पर करने का प्रयत्न है। सूत्र X ii. ८ सूत्र VI. ii. I.की पुनरावृत्ति-मात्र है।

होते हैं। पुस्तक के अन्त मे कणाद मुनि कहते हैं कि वैदिक कर्मों के दृष्ट और अदृष्ट दो प्रकार के फल होते है। कुछ फलों का लाभ तत्काल दिखाई देता है। कुछ कर्म ऐसे होते है जिनका फल हमे अदृष्ट रूप से मिलता है। कणाद का तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण, तत्व आदि भौतिक क्रियाओं से धर्म के अनेक अंगों की व्याख्या की जा सकती है और उसके प्रकाश मे सारी घटनाओं के कारण आदि को समझा जा सकता है, परन्तु धर्म का एक अज्ञात अदृष्ट रूप भी है। जो व्यापार साधारण बुद्धि के समझ मे नहीं आते वे धर्म के अदृष्ट फल हैं। तत्व मीमासा इस अर्थ में प्रासगिक है कि भौतिक नियमों के आधार पर संसार की अनेक क्रियाओ को समझने में सहायता मिलती है साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक को भी केवल भौतिक सिद्धान्तों के आधार पर ही नहीं समझा जा सकता। कुछ व्यापार इन्द्रियातीत हैं। ये तथ्य वैदिक कर्मों के करने से उपार्जित कर्म के अदृष्ट फल के आधार पर ही समझे जा सकते है। सूचिका का चुम्बक के प्रति आकर्षण (वै० सू० v i. १५) वनस्पति में जल का संचार (v.ii ७), अग्नि की उर्ध्व दिशा मे गति (आग की लपटों का ऊपर आकाश की ओर उठना), वायु का यत्र-तत्र सचरण अणुओ की वह गति जिनसे अनेक सयोगो के कारण विभिन्न द्रव्य बनते हैं (v. ii १३, iv ii ७) और बुद्धि की (प्रारंभिक) गति, यह सब अदृष्ट का फल है। इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र के अनुसार मृत्यु के अनन्तर आत्मा की गति और स्थिति, अन्य शरीर वयोनियो मे आत्मा का प्रवेश, खाने पीने की क्रिया मे भोजन और पेय का सम्यक् पाचनादि, अन्य प्रकार के संयोग, (गर्भ मे भ्रूण का स्वस्थ विकास 'उपस्कार' के अनुसार), यह भी अदृष्ट है। अदृष्ट के नाश होने से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। अदृष्ट के नाश होने से सारे ससर्गों से और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति मिलती है। वैशेषिक 'दृष्ट' और अदृष्ट के भेद को विशेष रूप से स्पष्ट करता है। वे सारे कर्म जो सासारिक अनुभव के आधार पर समझे जा सकते है जिनकी ज्ञात तथ्यो और घटना क्रम के सादृश्य से व्याख्या की जा सकती है 'दृष्ट है। जो हमारे सासारिक अनुभव और ज्ञान से परे है जो इन्द्रियातीत हैं, जहाँ व्यावहारिक बुद्धि की गति नही है वह अदृष्ट हैं। समस्त वनस्पति और पशुओ मे जीवन-प्रक्रिया अणुओ परमाणुओ की स्थिति और सृष्टि पिंडों की रचना, अग्नि और वायु की गति और प्रवाह, मृत्यु और जन्म (vi ii. १५), हमारे भाग्य को प्रभावित करने वाली सारी भौतिक घटनाएँ (v ii २) यह सब 'अदृष्ट' का ही फल है। कणाद के दर्शन मे, हमारे अनुभव के आधार पर जिन द्रव्य गुण और कर्मों की व्याख्या नही की जा सकती वे सब 'अदृष्ट' के रूप में ही माने गए हैं। पर प्रश्न यह है कि 'अदृष्ट' का हेतु क्या है ? 'अदृष्ट' किस प्रकार बनता है इसके उत्तर में कणाद ऋषि पाप, पुण्य आदि की व्याख्या नहीं करते, शुभ और अशुभ का भी उल्लेख नही करते। वे वैदिक कर्मों का महत्व स्थापित करते हैं। स्नान, व्रत, ब्रह्मचर्य (पवित्र विद्यार्थी जीवन), 'गुरुकुलवास', 'वानप्रस्थ' (वन मे संसार से विरक्त होकर निवास करना) 'यजन' (यज्ञ) 'दान' शुभ

मुहूर्त और शुभ वेला में यज्ञादि अनुष्ठान करना, मन्त्रपाठ आदि करने योग्य वैदिक कर्म है (v ii २) जिनसे 'अदृष्ट' भाग्य का निर्माण होता है।

कणाद मुनि ने पवित्र और अपवित्र भोजन का वर्णन किया है। यज्ञ में हविष्य के रूप में अर्पित किया हुआ यागपूत अवशिष्ट भोजन पवित्र है, उसे खाने से अदृष्ट के द्वारा अभ्युदय प्राप्त होता है (vi. ii १५)। साथ ही वह यह भी संकेत करते हैं कि अदृष्ट के द्वारा ही मोह, ममता और रागादि की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक सूत्र के vi, i के अधिकांश भाग मे दान की महिमा, किन अवस्थाओ मे दान सार्थक होता है, और दान कब किस प्रकार और किससे ग्रहण करना चाहिए, इसका वर्णन किया गया है। मीमासाकार द्रव्य, गुण आदि के अधिकाश सिद्धान्तों से सहमत है। केवल इन विषयों में मीमांसा का वैशेषिक से मतभेद है (१) वेद स्वत. प्रमाण हैं, इन्हें किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है (२) वेद अनादि अनन्त है। (३) किसी सृष्टा या परमात्मा में अविश्वास (४) शब्द अनन्त है (५) कुमारिल के मतानुसार अहम् की भावना मे स्वात्म का प्रत्यक्ष बोध। उपर्युक्त विषयो में से प्रथम दो के ऊपर वैशेषिक ने किसी प्रकार का विचारविमर्श नही किया है। ईश्वर का वैशेषिक मे कही भी उल्लेख नही किया गया है और क्योंकि अदृष्ट की उत्पत्ति वैदिक कर्मों के करने से ही मानी गई है अत: हम यह स्वीकार कर सकते है कि इन बिन्दुओ पर वैशेषिक का मीमासा से कोई विशेष मतभेद नही है किसी प्रकार का मतभेद इन सूत्रो मे नही पाए जाने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवत. इन सूत्रो के रचना काल तक कोई विशेष मतभेद उत्पन्न नही हुआ था। यह सम्भव है कि कणाद का यह विश्वास रहा हो कि वेदों की रचना विशिष्ट प्राप्त उच्च पुरुषों के द्वारा अथवा ब्रह्मर्षियो द्वारा की गई है (II. I. 18 III. 1-1-ii)। क्योंकि मीमासाकारो मे इस विषय पर किसी प्रकार का सघर्ष अथवा विचार भेद नही पाया जाना*इससे यह स्पष्ट है कि वेद 'अपौरुषेय' है किसी पुरुष के द्वारा नही लिखे गए। यह मत वैशेषिक सूत्रो की रचना के पश्चात् स्थापित हुआ होगा। इन सूत्रो में ईश्वर का वर्णन न होने से और वैदिक कर्मों के करने से सारे फलो की प्राप्ति अदृष्ट के हेतु से होने से यह कहा जा सकता है कि वैशेषिक दर्शन है जिसमे किसी देवता की या ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही किया गया है। 'शब्द' शाश्वत अनन्त है अथवा नहीं इस पर वैशेषिक न्याय, और मीमासा दार्शनिकों मे उत्तरकाल में तीव्र मतभेद रहा है। इस विषय में कणाद ने (II. 11, 25-30) प्रारम्भ में कहा है कि 'शब्द' शाश्वत नही है परन्तु II ii ३३ के पश्चात् अध्याय की समाप्ति तक उन्होंने यह सिद्ध किया है कि शब्द अनन्त और शाश्वत है यह मीमांसा दर्शन का दृष्टिकोण है जैसा हमको उत्तरकालीन मीमासा लेखको से पता चलता है।[1]

---

[1] श्री सु दा. गुप्ता के अनुसार श्री शंकर मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'उपस्कार' मे अन्तिम दो

दूसरा मुख्य विषय 'आत्मा' के अस्तित्व के प्रमाण का है। न्याय का दृष्टिकोण यह रहा है कि आत्मा के अस्तित्व को अनुमान से जाना जाता है। क्योंकि आत्मा ही सुख, दुख और संज्ञान का केन्द्र है। वैशेषिक का भी परम्परागत दृष्टिकोण यही माना जाता है। परन्तु वैशेषिक सूत्र III मे आत्मा के अस्तित्व का अनुमान पहले इसकी क्रिया और सुख-दुःख कष्ट आदि की अनुभूति के आधार पर किया है। पुनः III में इस अनुमान का खडन करते हुए कहा है कि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सारी क्रिया या कर्म आत्मा के द्वारा सम्पन्न होता है। कर्म आत्मा का धर्म है या शरीर का। फिर III ८ में सुझाव दिया है कि क्या शास्त्र (आगम) के प्रमाण के आधार पर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। अन्तिम रूप से वैशेषिक दर्शन ने आत्मा के अस्तित्व को यह कह कर सिद्ध किया है कि हम जब 'अहम्' भावना का अनुभव करते है, जब हम 'मैं' कहते है तो शरीर से भिन्न किसी वस्तु की ओर सकेत करते हैं। यह अहम् ही हमारी शरीर स्थित आत्मा है जिसका हम प्रत्येक क्षण प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। इसमें किसी शास्त्र के प्रमाण की आवश्यकता नही है। इसके अस्तित्व का अनुमान से सिद्ध होना इसकी स्थिति का एक और प्रमाण है (III और) अन्यथा यह हमारे अहम् के प्रत्यक्ष बोध से स्वयं सिद्ध है।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वैशेषिक दर्शन मीमांसा दर्शन की ही एक शाखा होनी चाहिए जो वैदिक दर्शन का मडन और पुष्टि करता है।

वैशेषिक सूत्रों का दर्शन पक्ष

वैशेषिक दर्शन का प्रारम्भ 'धर्म' की व्याख्या से होता है। 'धर्म' वह है जिससे 'अभ्युदय' (सासारिक उन्नति) और निश्रेयस। (आत्मिक कल्याण) की प्राप्ति होती है। वेद इस अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति का उपदेश करते है और इनकी सहायता से निश्रेयस मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत: यह प्रामाणिक है। पुन दूसरे सूत्र मे वैशेषिक दर्शन यह मत प्रकट करता है कि सत्य ज्ञान से ही 'निश्रेयस' की प्राप्ति सम्भव है। सत्य ज्ञान, उत्तम धर्म के पालन से उपलब्ध होता है। इसके साथ ही सत्य ज्ञान के लिए 'द्रव्य', 'गुण', 'सामान्य' (जाति-विचार) 'विशेष' (विशिष्ट वस्तु विचार) और

सूत्र IIii. ३६-३७ की व्याख्या गलत की है। IIii. ३६ मे 'अपि' शब्द को जोडने से अर्थ बदल गया है और IIii. ३७ मे सधिविच्छेद ठीक नही किया गया है। 'साख्या-भाव' का विच्छेद सख्या और 'भाव' किया जबकि यह सख्या और अभाव होना चाहिए था। इस प्रकार श्री शकर ने इन सूत्रों का अर्थ शब्द के शाश्वतन होने के पक्ष में किया है जो उत्तरकालीन न्याय वैशेषिक दृष्टिकोण है।

'समवाय' (अन्तर्निहित सम्बन्ध–व्याप्ति सम्बन्ध) का भी उत्तम विवेक आवश्यक है।[1] द्रव्यों मे–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, स्थान, आत्मा और बुद्धि की गणना की गई है। 'गुण' निम्न प्रकार हैं–रग, रस, गन्ध, स्पर्श परिमाण (सख्या) मात्रा वियुक्ति (अलग अलग होना) संयुक्ति जाति अथवा किसी जाति विशेष से सम्बन्ध होने का गुण।[2] 'कर्म' गति है। ऊर्ध्व गति अधोगति सकोचक गति (अन्तर्गति) प्रसारक गति (I) (बाह्य गति) और सम स्तरीय गति (II) यह कर्म की विभिन्न गति है। द्रव्य, गुण और कर्म तीनों मे समान रूप से लक्षण निम्न है। इनका अस्तित्व है, ये अशाश्वत (अस्थायी) है सारभूत (I) है कारण और कार्य हैं और सामान्य विशेष लक्षणों से मुक्त है। द्रव्यो से अन्य द्रव्यों की और गुण से अन्य गुण की उत्पत्ति होती है परन्तु कर्म से अन्य कर्म की उत्पत्ति आवश्यक नहीं है। द्रव्य इसके कारण कार्य को विनष्ट नही करता है पर गुण कारण और कार्य रूप में नष्ट हो जाते है। कर्म से कर्म का नाश होता है। द्रव्य मे गुण और कर्म दोनो का ही समावेश होता है और यह कार्य का समवायिकारण कहा जाता है। गुण द्रव्य में व्याप्त रहते है, अन्य गुणो को धारण करने में स्वयं असमर्थ है और ये संयोग या वियोग के कारण नही हो सकते। कर्म मे गुण की स्थिति नही है। कर्म (गति) एक समय मे एक ही वस्तु मे नियोजित या स्थित होता है। द्रव्य मे ही इसकी व्याप्ति है और यह सयोग और विभाग स्वतन्त्र कारण है। द्रव्य (v) सजात द्रव्य, गुण और कर्म का (vi) समवायि कारण है। गुण-द्रव्य, गुण और कर्म का असमवायि कारण है। कर्म (गति) सयोग, वियोग और अवस्थितित्व (vii) का सामान्य कारण है। कर्म (viii) द्रव्य का कारण नही है क्योंकि द्रव्य, कर्म के बिना भी उत्पन्न हो सकता है।[3] द्रव्य, द्रव्य द्वारा ही सामान्य (ix) रूप से उत्पन्न होता है अर्थात् द्रव्य, द्रव्य का ही सामान्य प्रभाव है। कर्म गुण से इस दृष्टि से भिन्न है कि कर्म स्वयं कर्म को उत्पन्न नही करता। एक, दो, तीन

---

[1] 'उपस्कार' के मतानुसार 'विशेष' से यहाँ अर्थ वस्तुओ के विभेद करने से है, वस्तुओं की जातियो मे भेद से नही है। [इस मत का एक विशेष सिद्धान्त यह है उसी तत्व के अविभाज्य परमाणुओ मे से प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणु से अपनी विशेषता अथवा स्वरूप के अनुसार भिन्न है।

[2] इस विवेचन मे, 'गुरुत्व' (भारीपन) द्रव्यत्व (तरलता) स्नेह (चिकनापन तेल) सस्कार (लोच) धर्म (अच्छापन) अधर्म आदि प्रसिद्ध गुणों का कोई उल्लेख नही किया गया है। उत्तरकालीन वैशेषिक ग्रन्थों और भाष्यो मे इनकी भी गणना की गई है। वैशेषिक में 'गुण' लक्षण गुणों के अर्थ में प्रयोग किया गया है, और सांख्य की 'तन्मात्रा'।

[3] यदि कर्म का संयोग, एक से अधिक वस्तु से होता तो एक की गति से हम यह अनुभव करते कि कई वस्तुओं में गति हो रही है।

आदि मात्राएँ, पृथकत्व संयोग विभाग एक से अधिक द्रव्यों के प्रभाव से सम्भव होती है। कर्म (गति) का सम्बन्ध एक ही द्रव्य से होने से उसकी उत्पत्ति एक से अधिक वस्तु से नही होती (१) द्रव्य अनेक परमाणुओं के संयोग का फल है। एक वर्ण (रग) अनेक वर्णों के संयोग से भी बन सकता है। ऊर्ध्व गति, गुरुत्व (I) प्रयत्न और संयोग का फल है। संयोग और विभाग भी कर्म का फल है। कर्म के कारण रूप को न मानने का अर्थ यह है कि कर्म द्रव्य और कर्म का कारण नहीं है।[1]

कणाद प्रथम सर्ग के द्वितीय अध्याय में कहते हैं कारण के बिना कार्य सम्भव नही है परन्तु कार्य की स्थिति के बिना या उसके पूर्व भी कारण की स्थिति हो सकती है। पुन: वे कहते हैं कि 'सामान्य' (जाति) और 'विशेष' (iii) (जाति की इकाई) दोनों बुद्धि सापेक्ष्य है अर्थात् जिस दृष्टि से विचार किया जावे उसी दृष्टि से सामान्य और विशेष रूप को समझा जाता है। किसी वस्तु का अस्तित्व या 'भाव' उसके सातत्य या निरन्तरता का निर्देश करता है अत यह सातत्य उस वस्तु के सामान्य भाव का द्योतक है। द्रव्य गुण और कर्म का सार्वत्रिक या व्यापक भाव सामान्य और विशेष दोनों हो सकते हैं परन्तु 'विशेष' वस्तुओ मे (परमाणु) भिन्नता के अन्तिम तथ्यों के रूप मे सदैव स्थित रहता है। इसकी स्थिति [पर्यवेक्षक (देखने वाले) की अपेक्षा नही रखती वह स्वतन्त्र रूप से स्थित है। अन्तिम अथवा [सर्वव्यापक जाति सत्ता है अन्य सारी जाति, उपजाति, वर्ग आदि इस 'सत्ता' के अग या उससे सम्बन्धित माने जा सकते है 'सत्ता' का अपना विशेष वर्ग है क्योकि यह द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न है और फिर भी उनमे स्थित है। इसका कोई वंश या उप वश 'सामान्य' या विशेष नही इस तथ्य से यह कल्पना सजीव होती है कि 'भाव' या 'सत्ता' का एक विशेष प्रकार है जो सबसे भिन्न है क्योकि इसका अपना कोई विशेष लक्षण नही है, यह समान रूप से द्रव्य, गुण कर्म में स्थित है और फिर भी इसकी व्याप्ति के कारण किसी विशेष लक्षण या धर्म की उत्पत्ति नही होती। 'द्रव्यत्व' 'गुणत्व' और कर्मत्व रूपी विशिष्ट व्यापक भाव (सामान्य रूप) भी भिन्न वर्ग है जो 'सत्ता' से भिन्न है, इनकी भी कोई अलग से सामान्य जाति नही है और फिर भी एक दूसरे मे इनका अन्तर जाना जा सकता है। परन्तु 'भाव' या 'सत्ता' इन सब मे समान रूप से व्याप्त है।

(अपनी द्वितीय पुस्तक के प्रथम अध्याय मे) द्वितीय खड के प्रथम अध्याय मे कणाद मुनि द्रव्यों की व्याख्या करते है। पृथ्वी तत्व मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श होता है। जल में रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व (तरलता) और स्निग्धता (स्निग्ध) होती है। अग्नि मे रूप, रंग एव स्पर्श, वायु मे स्पर्श होता है पर आकाश में इनमें से कोई भी गुण

---

[1] यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'कर्म' शब्द का अर्थ सामान्य रूप मे प्रयुक्त कर्म शब्द से भिन्न है जिसके शुभ-अशुभ होने से मोक्ष अथवा पुनर्जन्म का फल मिलता है।

नहीं पाया जाता। तरलता जल का विशेष गुण है क्योंकि मक्खन, लाख, मोम, सीसा लोहा, चाँदी और स्वर्ण गर्म किए जाने पर तरल बनते हैं, पर जल स्वयमेव तरल होता है।[1] वायु को देखा नहीं जा सकता परन्तु इसकी स्थिति का अनुमान स्पर्श से किया जा सकता है जैसे गाय की जाति के सामान्य गुणों यथा सींग, पूँछ आदि की तुलना में गाय होने का अनुमान किया जाता है। वायस का अनुमान स्पर्श से होता है, इसमें गति और गुण दोनों है और यह अन्य वस्तु में व्याप्त नहीं है। अत. वायु को द्रव्य के रूप मे स्वीकार किया गया है।[2] कुछ ज्ञात लक्षणों से वायु का अनुमान उन वस्तुओं के अनुमान का उदाहरण है जो स्थूल रूप से नहीं देखी जा सकती। इन ज्ञात सामान्य लक्षणों के आधार पर अनुमान को 'सामान्यतो दृष्टा' कहा है। 'वायु' नाम शास्त्रों से लिया गया है। हमसे भिन्न अन्य वस्तुओं की भी स्थिति है, 'अंस्मदविशिष्ट नाम' अर्थात् हमसे अन्य विशिष्ट वस्तुओं का भी अस्तित्व है इसको 'संज्ञा कर्म' या अन्य वस्तुओं का नामकरण करने के लिए स्वीकार करना आवश्यक है और इसे स्वीकार करना चाहिए क्योंकि नामकरण की पद्धति पहले से चली आ रही है।[3] हमने इसका प्रचलन नहीं किया है। गति एक समय में एक ही वस्तु मे स्थापित होती है इसके अनुसार कोई भी वस्तु किसी भी रिक्त स्थान मे गति कर सकती है और उस स्थान को घेर सकती है पर इस तथ्य से आकाश की स्थिति का अनुमान नहीं करना चाहिए। 'आकाश' वह काल्पनिक तत्व है जिसमे शब्द गुण की व्याप्ति है। शब्द किसी स्थूल वस्तु का गुण नहीं है जिसको स्पर्श किया जा सके क्योंकि शब्द स्वय एक गुण है, द्रव्य नहीं है अत उस द्रव्य का होना आवश्यक है जिसका शब्द गुण है। वह द्रव्य आकाश है। आकाश द्रव्य है और वायु के समान शाश्वत है। जैसे 'भाव' या 'सत्ता' एक है उसी प्रकार आकाश भी एक है।[4] दूसरी पुस्तक के दूसरे अध्याय मे कणाद मुनि ने यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी द्रव्य का विशेष गुण गन्ध है। अग्नि विशेष गुण ताप और जल का विशेष गुण शीतलता है। काल वह है जो युवाजनों को यौवन की

---

[1] इस व्याख्या मे पारद (पारा) का कहीं उल्लेख नहीं आया है। यह ध्यान देने योग्य है क्योंकि पारे का ज्ञान चरक के पश्चात् हुआ ऐसा समझा जाता है।

[2] द्रव्य वह है जिसमे गुण और गति (क्रिया) है। लेखक ने II i. १३ मे 'अद्रव्यवत्वेन' शब्द का अर्थ 'अद्रव्यवत्वेन' के रूप में लिया है।

[3] लेखक 'संज्ञाकर्म' की व्याख्या मे 'उपस्कार की व्याख्या' से सहमत नहीं है। उपस्कार इस शब्द की व्याख्या द्वन्द समास के रूप मे करते है और लेखक इसकी व्याख्या सम्बन्धकार के रूप मे करते हैं। उपस्कार की व्याख्या प्रासंगिक नहीं प्रतीत होती वह इसको परमात्मा की सत्ता के तर्क के रूप में उपस्थित करना चाहते है।

[4] यह व्याख्या शंकर मिश्र की 'उपस्कार' भाष्य के आधार पर है।

भावना प्रदान करता है, जो समकालिकता और त्वरा (ii) की कल्पना को उत्पन्न करता है। 'भाव' (iii) या 'सत्ता' के समान यह भी एक है। काल ही सारी अस्थायी और अशाश्वत वस्तुओं मे काल की कल्पना का अभाव होता है। जो अनन्त है, उसमे काल की गति का कोई महत्व नही है। स्थान (i) से एक वस्तु से दूसरी वस्तु का अन्तर स्पष्ट होता है। भाव या सत्ता के समान स्थान भी एक है सूर्य की गति को आधार मानते हुए हम जब इस अनन्त आकाश को देखते है तो एक स्थान का सम्बन्ध अनेक स्थानो से अनेक प्रकार का दिखाई देता है। 'शब्द' अनन्त है या नही इसका विवेचन करते हुए वह पहले संदेश का विवेचन करते हैं। सदेश क्या है ? किसी वस्तु के बारे मे सन्देश उस दशा मे होता है जब हम उसको सामान्य दृष्टि से देखते है। उस वस्तु की विशेषताओ को जब हम निकट से नही देख पाते अथवा हम स्मृति के बल पर उन विशेषताओ का पुन अवलोकन करते हैं या कोई गुण अथवा विशेषता किसी अन्य वस्तु मे देखी विशेषता से साम्य रखती है, अथवा जब कोई वस्तु पूर्वकाल मे किसी अन्य कोण से देखी गई थी और अब वह किसी अन्य कोण या वातावरण मे दिखाई देती है तो हम उसके स्वरूप को पूर्णरूपेण ग्रहण न करने के कारण उसके सबध मे सदेह करने लगते है। इस व्याख्या के पश्चात् कणाद मुनि पहले 'शब्द' के अशाश्वत और अस्थायी होने के तर्कों को प्रस्तुत करते है और फिर अन्तिम रूप से यह सिद्ध करते है कि 'शब्द' शाश्वत और अनन्त है।

तीसरी पुस्तक के प्रथम अध्याय मे आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे व्याख्या की गई है। इन्द्रियो के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है उसका स्थायी न्यास करने के लिए कोई पदार्थ होना चाहिए। इन्द्रियाँ प्राप्ति की माध्यम है, जो प्राप्त करता है वह अन्य पदार्थ होना चाहिए। यह पदार्थ ही आत्मा है, जो ज्ञान को इन्द्रियो के माध्यम से ग्रहण करती है।

इन्द्रियों के जो विषय है, (इन्द्रियार्थ.) उनके ज्ञान के अनुरूप ही हम अन्य विषयो की कल्पना करते है। जिन पदार्थों को हम इन्द्रिय ज्ञान से प्रत्यक्ष रूप मे देखते है उसी के आधार पर अन्य उनके समान अथवा असमान पदार्थों का अनुमान करते है। कई प्रकार के अनुमान की विवेचना की गई है। जैसे (१) कुछ पदार्थों के अस्तित्व के आधार पर अन्य वस्तुओं की अस्तित्वहीनता का अनुमान। 'भाव' (सत्ता) से अभाव (२) कुछ पदार्थों के अभाव से अन्य वस्तुओ के होने की अथवा उनकी सत्ता का अनुमान-अभाव से भाव' का अनुमान (३) कुछ वस्तुओ के अस्तित्व के आधार पर अन्य वस्तुओ के भी अस्तित्व का अनुमान, भाव से भाव का अनुमान इन सारे अनुमानो में यह आवश्यक है कि अनुमान के आधार का आधेय से, अथवा जिसका अनुमान किया जाता है उससे कोई सम्बन्ध होना चाहिए। एक-दूसरे से सम्बन्ध होना अनुमान के लिए

आवश्यक है—'प्रसिद्धिपूर्वकत्वात् अपदेशस्य ।'[1] जब इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता तो अनुमान मे हेत्वाभास (i) 'अनपदेश' या 'सदिग्ध' (सन्देहपूर्ण हेतु) (ii) दोष होता है। यदि कहा जावे कि यह घोड़ा है क्योकि इसके सीग है अथवा यह कहा जावे कि यह गाय है क्योकि इसके सींग है तो यह दोनो वाक्य सदोष (iii) तर्क के उदाहरण हैं। इन्द्रिय विषय, इन्द्रियाँ और आत्मा के सयोग से सज्ञान उत्पन्न होता है और इस सज्ञान के आधार पर आत्मा की स्थिति के अनुमान मे किसी प्रकार का हेत्वाभास नही है यह अनुमान युक्ति-सगत है, इसमे कोई दोष नही है। इसी प्रकार, जैसे अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार यह अनुमान भी सहज ही किया जा सकता है कि अन्य व्यक्तियो मे भी आत्मा का अस्तित्व है। आत्मा के होने का एक आधार गति माना जा सकता है।[2] दूसरे अध्याय मे कहा गया है कि आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रिय विषय) इन तीनो के सम्पर्क से ससार की उत्पत्ति होती है इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'मानस' है। यह मानस एक द्रव्य है और शाश्वत है। इसके अस्तित्व का प्रमाण यह है कि सज्ञान की प्राप्ति के साथ ही मानवीय प्रयत्न का प्रारम्भ नही हो जाता। यह सज्ञान मानस मे निक्षिप्त रहता है और आवश्यक समय, स्थान और अवस्था मे इसका उपयोग किया जाता है, यह भी आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि प्रत्येक प्राणी का अपना एक मानस है।

श्वास-प्रश्वास से, नेत्रो की चमक, जीवन, मानस की गति। इन्द्रिय विषय, सुख, दुःख, सकल्प, घृणा और प्रयत्न से भी आत्मा का अनुमान किया जा सकता है। यह आत्मा एक द्रव्य है और शाश्वत है इसकी तुलना वायु से की जा सकती है। इस सम्बन्ध मे जिज्ञासु यह शका कर सकते है कि जब मैं किसी मनुष्य को देखता हू तो उसकी आत्मा को नही देखता। आत्मा के अस्तित्व का अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान है अर्थात् सुख दुःख सज्ञान के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि इन सबको प्राप्त करने वाला या अनुभव करने वाला कोई अस्तित्व होना चाहिए और वह आत्मा है। परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि सुख-दुःख जिसका विषय है वह आत्मा ही है। वैशेषिक दर्शन का उत्तर यह है कि ऐसा और कोई तत्व नही है जिसको 'अहम्' से सम्बोधित किया जाता है। यह 'मैं' जिसके लिए प्रयोग किया

---

[1] इस प्रसग में तर्क दोष (i) अथवा तर्काभास का भी सूक्ष्म रूप से विवेचन किया गया है। इस विवेचन मे श्री गौतम की शब्दावली का उल्लेख नही किया गया है। किसी सिद्धान्त की भी व्याख्या नही की गई है केवल अनुमान के विशिष्ट प्रकारों का संकेत किया गया है।

[2] कणाद के द्वारा अनुमान के स्वरूप की जिस ढंग से व्याख्या की गई है उससे ऐसा प्रकट होता है कि उनको सम्भवतः गौतम की शब्दावली का परिचय नहीं था।

जाता है वही आत्मा है। इसके लिए किसी शास्त्र के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस पर पुनः यह तर्क किया जाता है कि यदि प्रत्यक्ष रूप से आत्मा का बोध इस अनुभव के आधार पर किया जाता है कि 'मैं देवदत्त हूं' या 'मैं यज्ञदत्त हूं' तो फिर इस सम्बन्ध में अनुमान की क्या आवश्यकता है। इसके उत्तर मे कहा जाता है कि यद्यपि आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है पर अनुमान प्रमाण के इस तथ्य की सत्यता को और भी अधिक बल मिलता है। यह इसकी पुष्टि का ही प्रमाण है। जब हम यह कहते है कि 'देवदत्त जाता है' या यह कहते हैं कि 'यज्ञदत्त जाता है' तो यह सदेह होता है कि क्या इस सम्बोधन से शरीर मात्र का संकेत या शरीर के अतिरिक्त भी कोई अन्य वस्तु है जो जाती है, देखती है, सुनती है। परन्तु जिसके लिए 'मैं' शब्द का प्रयोग किया जाता है वह शरीर नही है वह शरीर से भिन्न कोई वस्तु है, वह आत्मा है। पुन. सुख, दुःख ज्ञान आदि का अनुभव सभी मनुष्य समान रूप से करते हैं अत यह स्पष्ट है कि सभी प्राणियो मे आत्मा समान है, एक रूप है। सब मे एक ही आत्मा का निवास है। पर साथ ही यह व्यक्ति से सीमित होकर अनेक-रूपा है। प्रत्येक व्यक्ति मे आत्मा सीमित होने से यह अनेक है। यह भी शास्त्र से सिद्ध है।[1]

चतुर्थ पुस्तक के प्रथम अध्याय मे यह कहा गया है कि जिस वस्तु का अस्तित्व है पर जिसका कारण नही है उसे 'नित्य' शाश्वत मानना चाहिए। यह कार्य से अथवा उसके प्रभाव से अनुमान लगाना चाहिए। कोई भी कार्य, कारण के अभाव मे सम्भव नही है। जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध मे यह कहते हैं कि यह अनित्य है तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि यह 'नित्य' का निषेधात्मक या नकारात्मक रूप है। अत यह सिद्ध होता है कि कोई न कोई वस्तु नित्य अवश्य है। यहाँ अभाव से भाव की सिद्धि है। 'अविद्या'[2] (अज्ञान) अनित्य है। सयुक्त और 'महत्' मैं 'रूप' (वर्ण) होता है। वायु मे कोई रूप रग नही होता, यद्यपि यह 'महत्' है और अनेक अगो से बनी हुई है। वायु मे 'रूप सस्कार' नही है (वायु के अव्यक्त रूप मे ही रूप होता है)। विशेष अवस्था और गुण के होने पर ही रूप दृष्टिगोचर होता है।[3] इसी प्रकार रस, गन्ध

---

[1] 'उपस्कार' मे दिए हुए अर्थ से लेखक सहमत नही है। इस सम्बन्ध मे तीन सूत्र दिए गए है–(१) 'सुख दुःख ज्ञान निष्पत्य विशेषादैकात्म्यम्' (२) 'व्यवस्थातो नाना' और (३) 'शास्त्र सामर्थ्यात् च' इन तीनो सूत्रो का अर्थ मूल रूप में यही था कि आत्मा एक है यद्यपि व्यक्ति की सीमा मे निबद्ध और शास्त्रानुसार धार्मिक क्रियाओ के करने के निमित्त, यह अनेक मानी जाती है।

[2] इस स्थान पर भी लेखक का 'उपस्कार' से मतभेद है। उपस्कार के अनुसार 'अविद्या' सूत्र का अर्थ है कि हम ऐसा कोई कारण नही जानते जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि परमाणु अनित्य हैं।

[3] उत्तरकालीन विवेचन मे–'उद्भूतरूपवत्व' और 'अनुद्भूतरूपवत्व' का यही अर्थ प्रतीत

और स्पर्श की व्याख्या की गई है। मात्रा (संख्या, परिमाण पृथक्त्व, सयोग विभाग उच्च और निम्न स्थान या वर्ग मे होने का गुण और क्रिया ये सब यदि ऐसे पदार्थों से सम्बद्ध है जिनका कोई रूप (i) है तो यह नेत्रो से दिखाई देता है अन्यथा जहाँ रूप-रग नहीं है वहाँ दृष्टि कार्य नही कर सकती। दृष्टि रूप को ही देख सकती है। परन्तु 'भाव' (1) (अस्तित्व) और गुणत्व (गुणो की व्याप्ति) का बोध सारी इन्द्रियों के द्वारा होता है। उदाहरण के लिए रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि इन्द्रियो के द्वारा सुख, दु ख ज्ञान आदि मानस' के द्वारा और मात्रा आदि दृष्टि और स्पर्श चेतना से जानी जाती है।[1]

चतुर्थ पुस्तक के दूसरे अध्याय मे कहा है कि पृथ्वी आदि के अस्तित्व के तीन स्वरूप है, शरीर, इन्द्रिय और पदार्थ पच तत्त्व का कोई योग या मिश्रण नही हो सकता परन्तु यदि इन तत्त्वो का निर्माण करने वाले परमाणुओ मे से कोई परमाणु केन्द्रीय मूलाकुर के रूप मे कार्य करे जिसे 'उपष्टम्भक' कहा है तो अन्य तत्वो के परमाणुओ का सयोग हो सकता है। पिण्ड दो प्रकार के होते है। एक वे जो अडाशय से उत्पन्न होते है, दूसरे वे जो परमाणुओ के योग से अपने विशेष धर्मों के साथ उत्पन्न होते है। विशेष धर्मों के अनुकूल ही परमाणुओ के योग से पिंडो का निर्माण होता है। प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना धर्म (गुण) है और उसी के अनुसार उसका प्रयोग है कतिपय अति-सासारिक पिण्डो का भी अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है सम्भवत: इनका नाम-करण भी ऐसे व्यक्तियो द्वारा किया गया होगा जो दिव्य है अथवा यदि इनका आधार वेद-सम्मत है तो यह प्रमाणरूपेण स्वीकार करना पडेगा।

पाँचवी पुस्तक के प्रथम अध्याय मे 'कर्म' की व्याख्या की गई है। धान को कूटने का उदाहरण देते हुए यह बताया गया है कि हाथ आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर गति

होता है। वैशेषिक दर्शन मे 'सस्कार' अनेक अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ—अचलता (iii) लचीलापन, एकत्र करना (समवाय) उत्पन्न होना (उद्भव) और किसी से अभिभूत नही होना (अनभिभाव) है।

[1] यह सदर्भ शकर मिश्र के 'उपस्कार' से लिया गया गया है जो कणाद के वैशेषिक सूत्र पर लिखा गया है। इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि वैशेषिक मे मात्रा की कल्पना बुद्धि की अपेक्षा पर है जिसे अपेक्षा बुद्धि-जन्य कहा है। परन्तु यह मानसिक अपेक्षा की प्रक्रिया का प्रारम्भ जब होता है जब उस वस्तु को देखा जाता है या स्पर्श किया जाता है और इस अर्थ मे यह कहा गया है कि मात्रा या सख्या की कल्पना दृष्टि या स्पर्श चेतना पर निर्भर करती है। अर्थात् जो सख्या चक्र क्रम आँखो से नही देखा जा सकता अथवा जिसको स्पर्श से नही जाना जा सकता, वह पृथक्-पृथक् नहीं दिखाई देने से एक ही रहेगी और उसमें एक से अधिक होने की भी कल्पना नही की जा सकती।

करता है। परन्तु जब मूसल ओखली में चोट देकर वापस उछलता है तो यह हाथ की प्रेरणा से नही उछलता और मूसल को पकड़े हुए हाथ जब ऊपर उठता है तो वह आत्मा के प्रयत्न और प्रेरणा से ऊपर नही उठता। यदि हाथ मूसल को छोड दे तो वह गुरुत्व के कारण वापस गिरेगा। वस्तुओं मे ऊपर की ओर अथवा पार्श्व की ओर गति विशेष कार्य-प्रेरणा (नोदन विशेष) से होती है। निद्रावस्था मे विशेष प्रयत्न के बिना भी शरीर थोडी गति कर सकता है। चुम्बक की ओर लोहे की सुई का आकर्षण अज्ञात कारण से (अदृष्ट-कारणक) होता है। विशेष दिशा मे प्रेरित किया हुआ बाण पहले उस दिशा में गति प्राप्त करता है फिर यह गति अवस्थितत्व बल के कारण स्थिर रहती है अर्थात् यह बाण 'वेग-संस्कार' के कारण कुछ समय तक उसी दिशा मे गति करता रहता है और इस सस्कार की समाप्ति पर गुरूत्वाकर्षण से भूमि पर गिर जाता है।

दूसरे अध्याय में भौतिक घटनाओं की व्याख्या की गई है जिनका कोई दार्शनिक महत्व नही है। प्रकृति के अनेक व्यापार जो साधारण बुद्धि से समझ मे नही आते हैं उनके लिए कहा गया है कि वे अदृष्ट कारणो से (अदृष्ट करितम्) होते है। इस अदृष्ट के स्वरूप की कोई व्याख्या नही की गई है। यह अवश्य कहा गया है कि 'अदृष्ट' के अभाव मे आत्मा और शरीर का सम्पर्क नहीं होता, पुनर्जन्म नही होता और मोक्ष की प्राप्ति होती है। आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषयो के सयोग से सुख, दु ख होते है। 'योग' वह है जिसमे चित्त (मन) केवल आत्मा स्थित हो जाता है, चित्त स्थिर होकर निर्विषय हो जाता है, शरीर के दुःखो की समाप्ति हो जाती है। स्थान, काल, आकाश निष्क्रिय तत्व है।

छठी पुस्तक मे दान और श्रोत्र (वेद सम्मत) कर्मो की व्याख्या की गई है। दान दया से नही पर शास्त्रो के आदेशानुसार योग्य पात्रो को कर्त्तव्य समझ कर देना चाहिए। फिर इस पुस्तक में वेद विहित क्या कर्त्तव्य है इनका उल्लेख है। उन कर्त्तव्यों का निर्देश है जिससे 'अदृष्ट' की प्राप्ति होती है। शुभ और अशुभ कर्म, शुचिता और अशुचिता की व्याख्या है। कभी-कभी रागादि अदृष्ट से भी उत्पन्न होता है। धर्म और अधर्म से जीवन और मृत्यु और आत्मा के प्रयत्न से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सातवी पुस्तक मे उल्लेख है कि शाश्वत वस्तुओ के गुण भी शाश्वत होते है और अनित्य वस्तुओ के गुण भी अनित्य होते है पृथ्वी तत्व मे ताप से गुण परिवर्तन कारण-रूप अणुओ के परिवर्तन से होता है। परमाणु रूप अदृश्य होता है पर महन् आकार दिखाई देता है। अनेक कारणो से होने के कारण ही द्रव्य दृश्यमान होता है या यह कहना चाहिए कि अनेक कारणो से निर्माण के कारण ही द्रव्य मे दृश्यता (॥) का गुण होता है (१) परमाणु पहदाकार वस्तुओ से भिन्न है। यह सूक्ष्म और अदृश्य है। एक ही वस्तु को दृष्टि की अपेक्षा से या तुलनात्मक दृष्टि से महत् और लघु कहा जा

सकता है। 'अणुत्व' और महत्व के आधार पर भी लघु और महत् की व्याख्या की जाती है 'परिमण्डल' (गोलाकार) का अनन्त गोलाकार रूप ही अणु का रूप है। 'आकाश' और 'आत्मा' को 'महान्' और 'परम महान' कहा जाता है। मानस महत् रूप नहीं है, यह अणु के समान सूक्ष्म रूप है। स्थान और काल का (iii) परिणाम भी 'परम्-महत्' कहा गया है। अणुरूप 'परिमंडल' मानस और पर परम महान् स्थान, काल, आत्मा और 'आकाश' नित्य एवं अनन्त माने गए हैं।

सातवी पुस्तक के द्वितीय अध्याय मे सयोग और पृथक्त्व अन्य गुणों से भिन्न माने गए है। गति और गुण मे मात्रा या सख्या नही होती। उनमे सख्या की कल्पना भ्रान्त है। कारण और कार्य न एक है न उनमे विशेष अलगाव (एक-पृथक्त्व) है एकत्व की कल्पना द्वैत की कल्पना का कारण है। सयोग या सस्पर्श एक दो या अधिक वस्तुओ की क्रिया से हो सकता है अथवा किसी अन्य सयोग के फलस्वरूप भी हो सकता है। इसी प्रकार विभाग के लिए भी समझना चाहिए। कारण और कार्य मे सयोग अथवा विभाग सम्भव नही है क्योकि कारण या कार्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है (युतसिद्धयभावात्)। आठवी पुस्तक मे यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा और मानस को प्रत्यक्ष नही देखा जा सकता। इन दोनो को इनके गुणों के आधार पर ही जाना जा सकता है। इनके गुणो का, क्रिया का, इनके सामान्य और विशेष धर्मों का भी प्रत्यक्ष बोध नही होता। इनका बोध इनके अन्य वस्तुओ के ससर्ग के कारण ही होता है। पृथ्वी तत्व से गन्ध का बोध होता है, जल, अग्नि और वायु से क्रमश रस (स्वाद) रूप (रग) और स्पर्श का बोध होता है।[1] इस सूत्र की नवी पुस्तक मे अभाव (i) (नकारात्मकभाव) की व्याख्या की गई है जिसका अस्तित्व नही है जो असत् है, उसमे न क्रिया सम्भव है न उसका कोई गुण हो सकता है वह क्रियाहीन और गुणविहीन है। जो सत् है जिसका अस्तित्व है वह असत् हो सकता है उसके अस्तित्व का लोप हो सकता है। जो एक प्रकार से सत् है वह दूसरे प्रकार से असत् भी हो सकता है। परन्तु इनके अतिरिक्त भी एक अन्य प्रकार का अभाव है जो ऊपर लिखे सत् असत्-भाव, अभाव से भिन्न है।[2] अभाव का प्रत्यक्ष बोध (ii) स्मृति (iii) के आधार पर होता है जो पहले देखी हुई वस्तु की स्मृति रखती है और उसका लोप होने पर

---

[1] उपस्कार की व्याख्यानुसार इन विशिष्ट तत्वो से तत् सम्बन्धी इन्द्रिय चेतना का उद्भव होता है पर सूत्रों में इस प्रकार का कोई अर्थ प्रकट नही होता।

[2] पहले तीन प्रकार के अभावो मे निम्न तीन वर्णन किया है-(१) प्रागभाव (v) (उद्भव के पूर्व ही अभाव) (२) ध्वंसाभाव (vi) (विध्वस के पश्चात् अभाव) (३) अन्योन्याभाव (एक दूसरे के द्वारा पारस्परिक अभाव)। चौथा अभाव (vii) सामान्यभाव है (व्यापक रूप से सामान्य अभाव)।

अभाव का बोध प्रदर्शित करती है। इस सम्बन्ध में योगियों की विशिष्ट ज्ञान दृष्टि का भी उल्लेख किया गया है। योगियो मे ऐसी दिव्य दृष्टि होती है कि वे अतीन्द्रिय (iv) रूप से विशेष बोध प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

दूसरे अध्याय में 'हेतु' (i) (कारण की व्याख्या की गई है। ऐसा कहा गया है कि कोई भी वस्तु का दूसरी वस्तु से सम्बन्ध, चाहे वह कार्य के रूप में हो या कारण के रूप मे सम्पर्क या पृथक्त्व रूप मे अथवा उससे विशेष सलग्नकता रूप मे हो उस वस्तु के लिंग (ii) के रूप में जाना जावेगा। जैसे अग्नि और धूम्र के सम्बन्ध मे, धूम्र, अग्नि के 'लिंग' के रूप मे जाना जाता है। मुख्य तथ्य यह है कि यह वस्तु इस वस्तु से सलग्न है, अथवा इनमे कारण कार्य सम्बन्ध है। तर्क वाक्यो (iii) के आधार पर हेतु की स्थापना करने के पश्चात् एक निश्चित हेत्वानुमान (iv) की रचना उपर्युक्त दशाओ को पूर्ण करने वाले तर्क वाक्यो के साथ की जा सकती है। मौलिक-संज्ञान (v) के लिए किसी अनुमान की आवश्यकता नही होती। असत्य ज्ञान (अविद्या) का कारण इन्द्रिय दोष, अथवा पूर्व-सस्कार के कारण भ्रान्त दृष्टि है जो अपनी इच्छा के प्रवाह के अनुसार ही घटनाओ को उनके मिथ्या रूप मे देखती है। इसका दूसरा विपरीत अग सत्य ज्ञान (विद्या) है। दसवें अध्याय मे कहा गया है कि सुख और दु.ख सज्ञान नही है क्योंकि इनका सदेह (सदिग्ध अवस्था) अथवा निश्चय से कोई सम्बन्ध नही है। अर्थ यह है कि सज्ञान मे वस्तु विशेष के विषय मे या तो निश्चयात्मक ज्ञान होता है अथवा उसके सम्बन्ध मे कोई सदेह होता है। क्योंकि सुख दु ख के विषय मे किसी निश्चय या सदेह की भावना का आधार नही है अत. यह सज्ञान नही हो सकता।

द्रव्य का उद्भव-कारण कभी-कभी कार्य का अन्तर्व्याप्ति (i) भी हो सकती है। ऐसी अवस्था मे कार्य की प्रभाव क्रिया अन्तर्निहित होने से दूसरी वस्तु के योग (ii) से प्रकाश मे आती है। सरल शब्दो में कभी-कभी अन्य वस्तु के योग से द्रव्य मे प्रभाव क्रिया उत्पन्न होती है क्योकि यह प्रभावी क्रिया दोनों वस्तुओ मे अन्तर्निहित होती है अत यह कहा गया है कि द्रव्य का कारण, क्रिया की अन्तर्व्याप्ति है। इसी प्रकार कर्म (गति) स्वय भी कारण है क्योकि इसमे कारण की व्याप्ति है, सयोग या सम्पर्क, कारण के व्याप्ति भाव से स्वय कारण रूप है। कारण के कारण (iii) मे व्याप्त सयुक्ति (iv) जब किसी कार्य के होने में सहायक होती है, तब भी यह कारण है। अग्नि का ताप रूपी विशेष गुण भी कारण है।

शास्त्रों के आदेशानुसार जो कार्य किए जाते है उनका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दिखाई देता परन्तु वे समृद्धि और अभ्युदय के कारण होते हैं क्योंकि ये कार्य वेदो के आदेश के अनुसार किए जाते है, अतः ये प्रामाणिक भी है।

न्याय-सूत्रों का दर्शन[1]

न्याय सूत्रो का प्रारम्भ सोलह पदार्थों के उल्लेख के साथ होता है जो इस प्रकार वर्णित है—(१) 'प्रमाण' (सत्यज्ञान) (२) प्रमाण का विषय 'प्रमेय' (३) 'संशय' (सन्देह) (४) 'प्रयोजन' (अर्थ कारण) (५) 'दृष्टान्त' (कथा आदि प्रसंग से समझाना) (६) 'सिद्धान्त' (जिन निष्कर्षों को स्वीकार कर लिया गया है) (७) 'अवयव' (अंग-तर्क के) (८) 'तर्क' (युक्तियाँ प्रस्तुत करना) (९) 'निर्णय' (निश्चय करना) (१०) 'वाद' (बहस या वार्तालाप करना) (११) 'जल्प' (विरोध करना, नही मानना), (१२) 'वितडा' (कटु आलोचना करना ध्वसात्मक दृष्टि से) (१३) हेत्वाभास' (सदोषतर्क) (१४) 'छल' (शब्दों के अर्थों मे द्वयर्थक बात करना) (१५) 'जाति' (तर्क से खडन करना) (१६) 'निग्रह स्थान' (विपक्षी को बांध देने वाले बिन्दु, ताकि उसकी हार सुनिश्चित हो जाए) इसके साथ ही न्याय सूत्र का कथन है कि इन विषयो का ज्ञान होने से 'निश्रेयस' कल्याण और मोक्ष की प्राप्ति होती है। दूसरे सूत्र मे पुन. कहा है कि इनके अध्ययन से 'अपवर्ग' की प्राप्ति (मोक्ष की प्राप्ति) होती है क्योकि शनै.-शनै 'मिथ्या ज्ञान' (भ्रान्तज्ञान) 'दोष' 'प्रवृति' (रागात्मकलगाव, 'जन्म' और 'दुःख का क्रमश विनाश होता जाता है। फिर प्रमाण की व्याख्या की गई है। प्रमाण चार प्रकार के होते है (१) प्रत्यक्ष (इन्द्रियो द्वारा स्पष्ट बोध) (२) अनुमान (परोक्ष कल्पना से अनुमान करना) (३) उपमान (किसी अन्य वस्तु के सादृश्य से सिद्ध करना) (४) शब्द (किसी आप्त व्यक्ति द्वारा कथन)। इन्द्रियो के द्वारा विषय-सम्पर्क से सुनिश्चित बोध जिसका नाम आदि मे कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। 'अनुमान' तीन प्रकार का होता है--कारण से कार्य का अनुमान (पूर्ववत्)-कार्य से कारण का अनुमान (शेषवत्) और सामान्य गुण धर्म के आधार पर अनुमान (सामान्य तो दृष्ट) 'उपमान' किसी ज्ञात वस्तु के साथ तुलना कर किसी वस्तु या तथ्य का विनिश्चयन है।

'शब्द' (आप्त) प्राप्त पुरुषो के वाक्य के आधार पर निश्चय करना है शब्द से

---

[1] यहाँ न्याय सूत्रो के आधार पर न्याय दर्शन का संक्षिप्त सा देने का प्रयत्न किया गया है जिसमे कहीं-कही वात्स्यायन के विचारो के आधार पर विशेष प्रकाश डाला गया है। वात्स्यायन ने न्याय सूत्र का भाष्य लिखा है। इस संक्षिप्त वृत को न्याय सूत्रो के विषय क्रम के अनुसार लिखा गया है और इसमे उत्तरकालीन न्याय व्याख्याओ का समावेश नही किया गया है। न्याय वैशेषिक के सयुक्त वर्णन में उत्तरकालीन लेखकों और भाष्यकारो की व्याख्या और मत का आधार लिया गया है।

अर्थ (आप्त) सम्माननीय व्यक्ति द्वारा जो अधिकारी एवं विशेषत माना जाता है उसके द्वारा किसी तथ्य का कथन है।[1]

ऐसा आप्त पुरुषो का कथन है कि हमको उन विषयो के सम्बन्ध मे, जो हमारे अनुभव के वृत मे आते है अथवा जो हमारे अनुभव के परे है, उचित ज्ञान दे सकते है। आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ (१), इन्द्रियार्थ (२) (इन्द्रियो के विषय) (३) 'बुद्धि' (४) 'मानस' (५) 'प्रवृत्ति' (६) पुनर्जन्म, आनन्द का उपभोग, और दु ख का भोग एव मोक्ष ज्ञान के विषय है। (७) कामना, घृणा, प्रयत्न, सुख और दुःख एवं ज्ञान आत्मा के अस्तित्व के द्योतक है। शरीर पिण्ड (८) वह है जो गति और इन्द्रियो को धारण करता है, जिसमे इन्द्रिय विषयक सुख और दु.ख की उत्पत्ति होती है, शरीर इन सबका माध्यम है।[2] पृथ्वी, अप, तेजम्, वायु और आकाश इन पचभूतो से पाँचो इन्द्रिय चेतना का प्रादुर्भाव होता है। गध, रम, रग, स्पर्श और शब्द, इन पाँचो तत्वों के गुण है। यहाँ पाँचो इन्द्रियों के विषय है। एक ही समय मे एक साथ अनेक वस्तुओ का संज्ञानात्मक बोध (४) नही होता इससे 'मानस' की स्थिति का पता चलता है। अर्थात् जिस ओर मन इन्द्रियो को नियोजित करता है उसी विषय पर इन्द्रियाँ केन्द्रित होकर उसका ज्ञान प्राप्त करती है। वाणी, शरीर और बुद्धि (या मन) से जो कुछ क्रिया की जाती है, वह 'प्रयत्न' (१) है। 'दोष' (राग द्वेष आदि) वे है जिमसे मनुष्य शुभ अथवा अशुभ कर्मों मे प्रवृत्त होता है। दु ख वह है जिससे कष्ट होता है।[3] दु.ख से अन्तिम निवृत्ति ही मोक्ष (अपवर्ग) है।[4] जब किसी विषय मे एक ही कई प्रकार के मत प्रकट किए जाते है अथवा जब एक दूसरे से भिन्न मत प्रस्तुत किए जाते है और जिज्ञासु इन विभिन्न मतों मे से एक निश्चित मत पर पहुँचना चाहता है तो 'सदेह' (संशय) की उत्पत्ति होती है, कि इनमे कौन सा विकल्प सत्य है। मनुष्य जब किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए अथवा उसके परित्याग के लिए किसी कर्म मे प्रवृत्त होता है तो वह उसका 'प्रयोजन' (३) कहलाता है। जिस अर्थ के लिए कार्य किया जावे वह अर्थ ही प्रयोजन है।

---

[1] वात्स्यायन कहते है कि 'आर्य', ऋषि अथवा म्लेच्छ (दूसरे देश का व्यक्ति 'आप्त' हो हो सकता है। यह कथन काफी रोचक है और विचारणीय है।

[2] यहाँ वात्स्यायन के मत के अनुसार वर्णन किया गया है।

[3] वात्स्यायन की व्याख्या के अनुसार, मनुष्य सारी वस्तुओ को दु ख का कारण मानकर दु ख से बचना चाहता है। जन्म से भी दु ख होता है अत वह जीवन के प्रति विरक्त हो जाता है और इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करता है।

[4] वात्स्यायन यह स्पष्ट करना चाहते है कि मोक्ष मे 'आनन्द' की स्थिति नही है केवल दु.ख से निवृति है। उस स्थिति में दुःख नही है।

'दृष्टान्त' (४) वह है जिसके सम्बन्ध मे साधारण मनुष्य और विशेषज्ञ (परीक्षक) दोनों एक मत है।

'सिद्धान्त' (१) (जिन निर्णयो को स्वीकार कर लिया गया है) के सम्बन्ध मे कहा है कि सिद्धान्त चार प्रकार के होते है। (१) (सर्व तंत्र सिद्धान्त) वे सिद्धान्त जो सारे मतों द्वारा स्वीकृत कर लिए गए है। (२) वे जिनको एक शाखा (मत) विशेष ही मानता है और अन्य इसका विरोध करते है, इनको 'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' कहते है। (३) वे सिद्धान्त जिनको स्वीकार करने के पश्चात् उनसे अन्य निष्कर्ष भी स्वतः स्वीकार करने होंगे इनको 'अधिकरण सिद्धांत' कहते हैं। (४) विपक्षी का वह मत जो वादी के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है और फिर उसी के आधार पर विपक्षी के मत का कुशलता से खडन किया जाता है, ऐसे स्वीकार किए हुए सिद्धान्त को 'अभ्युपगम-सिद्धात' कहते हैं।[1]

'अवयव' (२) (तर्कांग) पाँच प्रकार के होते है। (१) 'प्रतिज्ञा' जिस वस्तु को सिद्ध करना है उसका कथन। (२) 'हेतु' वह कारण या युक्ति जिसके द्वारा किसी वस्तु से तुलना या अन्तर कर अपने पक्ष की पुष्टि का निर्णय प्रस्तुत किया जाता है। (३) उदाहरण-पक्ष या विपक्ष की युक्ति की पुष्टि अथवा खडन के लिए किसी दृष्टान्त को प्रस्तुत करना (४) उपनय-दृष्टान्त के द्वारा पुष्टि (५) 'निगमन' सिद्ध किए हुए तथ्यो के आधार पर अन्तिम निष्कर्ष को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान आदि शब्दों की परिभाषाएँ दोहराई हैं जिनका उल्लेख प्रथम सूत्र मे किया गया है।

'दूसरी पुस्तक मे 'प्रमाण' (सत्य विद्या के साधनो के विरोध मे उठाई शकाओ का खडन किया गया है। विरोधियो द्वारा कहा जाता है कि 'सशय' के लिए कोई स्थान नही है क्योकि दो वस्तुओ मे जिनके सबध मे सदेह होता है सदैव ही कुछ न कुछ अन्तर होता है अतः उनके बारे मे सशय करना व्यर्थ है। इसके उत्तर में कहा गया है कि जब दो वस्तुओ के अन्तर उत्पन्न करने वाले विशिष्ट गुण, लक्षण व अन्य चिह्न (१) ध्यान पूर्वक मनन नही किए जाते तो उनके स्वरूप के संबध में सशय उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त कुछ विरोधी सम्भवत बौद्ध लोग 'प्रमाण' की सत्यता (२) पर शका करते हैं। उनके मत से प्रमाण को विश्वस्त नही माना जा सकता। विशेष रूप से इन्द्रियाँ ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष बोध का भी खंडन करते है। उनका मत है कि यदि वह बोध, इन्द्रियों के विषय के साथ सम्पर्क से पूर्व ही उत्पन्न होता है तो वह ज्ञान इन्द्रिय-चेतना के कारण नही हो सकता। यदि इन्द्रिय सस्पर्श (१) के पश्चात् यह ज्ञान उत्पन्न होता है तो इन्द्रियाँ, वस्तु विषय (२) के स्वरूप का निर्धारण नही कर सकती क्योकि

---

[1] उपर्युक्त वर्णन वात्स्यायन की व्याख्या के अनुसार है।

यही प्रथम अनुभूति है। यदि यह सज्ञान इंद्रिय सस्पर्श के साथ ही हो जाता है तो इसका अर्थ है कि हमारी सज्ञान की प्रक्रिया मे कोई क्रम, कोई पौर्वापर्य-व्यवस्था (३) नही है।

इस सम्बन्ध मे न्याय का उत्तर है कि यदि सत्य ज्ञान की प्राप्ति का कोई साधन नही है, तब शकालु के पास भी सत्य ज्ञान तक पहुँचने का कोई साधन नहीं है, उसके पास कोई प्रमाण साधन न होने से सत्य ज्ञान के प्रमाणों का खडन करने का भी साधन नही हो सकता। यदि विपक्षी का यह मत है कि वह किसी साधन या युक्ति के आधार पर सत्य ज्ञान तक पहुँच सकता है तो वह यह नही कह सकता कि सत्यज्ञान की संपुष्टि के लिए कोई प्रमाण, युक्ति अथवा साधन नही हो सकता। जैसे अनेक सगीत वाद्यों की सगीत ध्वनि से, विभिन्न प्रकार के सगीत वाद्यो के होने का अनुमान लगाया जा सकता है, उसी प्रकार अनेक पदार्थों के सम्बन्ध मे हमारे पूर्वज्ञान के आधार पर हम इन्द्रिय संस्पर्श से उन वस्तुओ के पूर्व अस्तित्व का अनुमान कर सकते है।[1]

सत्य ज्ञान के साधन जैसे इंद्रिय चेतना आदि जिनसे अन्य विषयों का उचित सज्ञान होता है स्वय भी सज्ञान के विषय हो सकते है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो ज्ञान के साधन है वे साध्य नही हो सकते। जो प्रमाण के साधन है उन्हें अन्य साधनो की आवश्यकता नही है। वे स्वय साधन भी है और ज्ञान का विषय भी हैं। उदाहरण के लिए जो दीपक अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है वह स्वयं भी अपने अस्तित्व को प्रकट करता है–अपने ही प्रकाश से वह स्वय भी प्रकाशित होता है।

प्रत्यक्ष बोध की परिभाषा की सत्यता की विवेचना मे कहा है कि इस परिभाषा मे आत्मा और चित्त के सम्पर्क की कल्पना की गई है।[2] फिर अवयव और अवयवा-भाव की विवेचना की गई है। कहा गया है कि यद्यपि हम एक भाग 'अवयव' को ही देख पाते है पर यह स्वय सिद्ध है कि यदि अवयव है, एक भाग है, तो 'अवयवा' अवश्य होगा जिसका भाग वह अवयव है। पुनः यह पूर्णता या अवयव केवल विभिन्न भागो का समूह मात्र नही है यदि ऐसा होता तो हम यह कहते कि हमने परमाणुओं

---

[1] यथा पश्चात् सिद्धेन शब्देन पूर्वं सिद्धम आतोधमनुर्भयते साध्यथि च आतोधम, साधनम् च शब्दा अन्तर्हिते हयातोर्थ स्वन्त. अनुमानम् भवतीति, वीणा: वाधते, वेणु: पूर्यंव इति: स्वनविशेषेन आतोधविशेषम् अतिपाद्यते तथा पूर्वं सिद्धम उपदब्धि विषयम, पश्चात्सिद्धेन उपलब्धि हेतुना प्रतिपाधते। [वात्स्यायन भाष्य ११ १ १५।

[2] इस प्रसंग मे दिए हुए सूत्र II.1 २०-२८ सम्भवतः प्रत्यक्ष की परिभाषा के शब्दों के प्रति आलोचना का निराकरण करने की दृष्टि से बाद में क्षेपक रूप मे सम्मिलित किए गए है। यह परिभाषा न्याय सूत्र में दी गई है।

को देखा है।[1] जैसे हम रेत के ढेर को देखकर किसी अन्य पूर्णता का अनुभव नही करते, केवल यह कहते है कि रेत का ढेर देखा है उसी प्रकार यह कह देते है कि हमने परमाणुओ की ढेरी देखी है अतः यह अवयव कि केवल अवयवो का समूह मात्र नही है, सम्पूर्ण अस्तित्व है। कुछ विपक्षी ऐसी शका करते है कि कार्य से कारण का अनुमान करना उचित नही है क्योकि एक कार्य की सम्पन्नता मे अनेक कारण होते हैं अत यह नहीं कहा जा सकता कि इस कार्य विशेष का यह विशेष कारण है। इस शका के समाधान मे न्याय कहता है कि प्रत्येक कार्य की अपनी एक विशेषता होती है इस विशेषता का ध्यानपूर्वक मनन करने से उस कार्य विशेष का विशिष्ट कारण सरलता से जाना जा सकता है।[2] जो काल की सत्ता को स्वीकार नही करते है और यह तर्क करते है कि काल की सत्ता अपेक्षाजन्य है उसके समाधान मे न्याय यह उत्तर देता है कि यदि वर्तमान की स्थिति नही होती तो इसका प्रत्यक्ष बोध भी सम्भव नही होता। यदि भूत और भविष्य नही है तो हम यह नही कह सकते कि यह कार्य भूतकाल मे या पहले प्रारम्भ किया गया था और अब भविष्य मे भी होगा। जब किसी कार्य के पहले होने का या भविष्य मे होने का बोध होता है, तो यह निश्चित है कि काल का भूत, वर्तमान और भविष्य है। इसके पश्चात् न्याय, ज्ञान के लिए 'उपमान' (साम्यानुमान सादृश्य) की प्रामाणिकता और वेदो की प्रामाणिकता की व्याख्या करता है इसके पश्चात् न्याय-सूत्र यह सिद्ध करते है कि इसके द्वारा वर्णित चार प्रकार के प्रमाण प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द किसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए पर्याप्त है, किसी अन्य प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नही है। प्रमाण के अन्य प्रकार व्यर्थ है। प्रमाण के अन्य प्रकार निम्न है—(१) अर्थापत्ति (अभिप्रेत अर्थ, लक्ष्यार्थ) (२) ऐतिह्य (परम्परा) (३) सम्भव (दीर्घ मे लघु की स्थिति को स्वीकार करना जैसे एक क्विंटल नाज यदि है तो यह निश्चित है कि उसमे एक मन नाज अवश्य होगा) (४) अभाव

---

[1] यह बौद्ध मत का खडन है जो 'अवयवों' या सम्पूर्ण की सत्ता को नही मानते। इनके सम्बन्ध मे पडित अशोक (नवी शताब्दी) द्वारा लिखा हुआ बौद्ध लेख 'अवयवी निराकरण' का अध्ययन प्रासगिक होगा। यह 'सिक्स बुधिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स' मे देखा जा सकता है।

[2] पूर्वोदक विशिष्ट खलु वर्षोदकं शीघ्रतरम् स्त्रोतसा बहुतर फेन फलपर्ण कष्टादि वहन चो पलभमानः पूर्णत्वेम नद्या उपरि वृष्टो देव इत्य अनुमिनोति नोदकवृद्धि मात्रेण। वात्स्यायन भाष्य II. १-३८। जब यह अनुमान किया जाता है कि नदी के ऊपर के भाग मे विशेष रूप से वर्षा हुई है तो यह अनुमान केवल जल की वृद्धि के आधार पर नही किया जाता वरन् नदी मे जल का पूर्वस्तर, जल के बढते हुए प्रवाह मे फल, फूल, पत्ते, फेन आदि वस्तुओ को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इस नदी के ऊपरी भाग मे अवश्य विशेष वर्षा हुई है।

(अस्तित्व हीनता) न्याय का मत है कि इन अन्य प्रकारो की कोई अलग स्थिति नही है यह विभेद करना व्यर्थ है। परम्परा या ऐतिह्य, 'शब्द' में सम्मिलित है और अर्थापत्ति, सम्भव और 'अभाव' अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत आ जाते है।

प्रमाण मे यद्यपि इनका महत्व स्वीकार किया गया है पर ये उप-प्रमाण प्रमाण के चार भेदो मे स्वत. ही आ जाते है, अत. अलग से गणना करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। फिर 'शब्द' नित्य है इस मत का खडन किया गया है और अनेक युक्तियो और प्रमाणो द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध की गई है। फिर यह बताया गया है सज्ञा शब्दो का अर्थ 'जाति', 'व्यक्ति' और आकृति को प्रकट करते है। आकृति के 'जाति' का विनिश्चयन होता है।

तीसरी पुस्तक मे आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे प्रमाण दिए गए है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय क्षेत्र है परन्तु इन इन्द्रियो के अतिरिक्त कोई अन्य अस्तित्व होना चाहिए जो इन इन्द्रियो द्वारा प्राप्त सारे बोध-बिबो को ग्रहण कर इन सबसे एक सम्पूर्ण बोधात्मक चित्र को निर्मित कर उससे पूर्ण विषय का अज्ञान प्राप्त करता है। यह कार्य आत्मा का है जो इन्द्रिय चेतना के विभिन्न क्षेत्रो मे समन्वय स्थापित करती है। यदि आत्मा का अस्तित्व नही होता तो किसी भी शरीर को क्षति पहुँचाने मे कोई पाप नही लगता, क्योकि आत्माविहीन शरीर अन्य वस्तुओ के समान ही जड वस्तु है। यदि आत्मा का स्थायी अस्तित्व न हो तो पहले देखी हुई वस्तुओ की स्मृति से नयी वस्तुओ को पहचानने वाली शक्ति कहाँ होती। यदि आत्मा का अस्तित्व न हो तो दोनो नेत्रो से देखी गई एक ही वस्तु के दो बिबो को एक रूप मे देखना भी सम्भव नही होता।[1] यदि कोई स्थायी अज्ञानात्मक शक्ति नही होती तो खट्टे फल को देखकर यह पहचानना भी सम्भव नही हो जाता कि यह फल खट्टा है। यदि ज्ञान चेतना केवल इन्द्रियो की होती तो किसी वस्तु के पहचान का प्रश्न ही नही उठता क्योकि एक इन्द्रिय की अनुभूति को दूसरी इन्द्रिय के द्वारा जानना असम्भव हो जाता। यदि यह कहा जावे कि इन्द्रिय चेतना का समन्वय 'मानस' (मन) के द्वारा किया जाता है, तो फिर यह 'मानस' वही कार्य करता है जो आत्मा करती है और फिर यह विवाद केवल नाम के ऊपर रह जाता है। चाहे इसे आत्मा कहा जावे या मानस कहा जावे यह एक ही बात होगी। पुन. जो जानने वाली शक्ति है, जो अज्ञान अथवा अभिज्ञान प्राप्त करती है, उसके पास कोई ऐसा साधन होना चाहिए जो इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त विभिन्न विषयो के अभिज्ञान मे सामजस्य और समन्वय स्थापित करता है,

---

[1] वात्स्यायन का मत है कि दोनो नेत्रो मे दो अलग-अलग इन्द्रिय चेतना है। उद्योतकर विपरीत मत रखते है कि दृश्य चेतना एक है पर दोनो के माध्यम से यह कार्य करती है।

जो संज्ञान की उत्पत्ति करता है। यदि मानस को आत्मा का साधन नहीं माना जावे तो सम्भवतः इन्द्रियों की क्रियाओं व अनुभूति को समझा जा सकता है, पर यह समझना कठिन होगा कि विचारविमर्श कौन करता है, कल्पना, चिन्तन और मनन कौन करता है। यह कार्य मानस का है जो आत्मा का साधन है। शिशु प्रारंभिक अवस्था में भी आनन्द और दुःख के चिह्न प्रकट करते है जो इस जन्म की अनुभूति के प्रकाश मे संभव नही है। अतः यह स्पष्ट है कि कोई ऐसी ज्ञानवान शक्ति है जो पिछले जन्म के अनुभवो के आधार पर बालक मे आनन्द और प्रसन्नता या कष्ट का प्रादुर्भाव करती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी कुछ कामनाओ के साथ उत्पन्न होता है, ऐसा कोई प्राणी नही है जो कामना के साथ उत्पन्न नही होता। यह कामना मोह आदि पिछले जन्म के मोह और अनुरक्ति के फलस्वरूप आत्मा के साथ ही दूसरे जन्म मे पुन. उत्पन्न होती है।

शरीर क्षिति तत्व से निर्मित है। दृष्टि-चेतना भौतिक है।[1] साथ यह भी असत्य है कि केवल त्वचा ही संवेदना का एकमात्र साधन है। पृथ्वी तत्व मे चार गुण हैं, जल मे तीन गुण है। अग्नि में दो और वायु व आकाश में एक एक गुण है। गन्ध, रस, रूप और स्पर्श क्रमशः पृथ्वी आदि तत्वो से निर्मित है और जिस स्थूल तत्व से इनका निर्माण हुआ है उसके स्वानुकूल ही विशेष गुण को विशेष रूप से ग्रहण कर सकते है। जैसे गन्ध पृथ्वी तत्व से निर्मित है। पृथ्वी के चार गुण है परन्तु घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी के गन्ध को ही ग्रहण कर सकने में समर्थ होती है अन्य गुणो को नही।

सांख्य की परम्परा के विपरीत न्याय 'बुद्धि' (संज्ञान शक्ति) और 'चित्त' (शुद्ध चेतना) मे कोई अन्तर नही मानता। इसके मतानुसार 'बुद्धि' जो ('चित्त') एक ही है। हमारे चेतना मे पार्थिव एवं अपार्थिव दो प्रकार के तत्व नही पाए जाते। चेतना सम्पूर्ण रूप से एक ही है। न्याय दर्शन सांख्य की इस 'ज्ञान-मीमांसा' को भी स्वीकार नही करता कि संज्ञान-प्रक्रिया मे 'अन्त.करण' अनेक रूप धारण कर लेता है। यह केवल मन का (मानस का) आत्मा, इन्द्रिय और विषयवस्तु से सम्पर्क मात्र है। सांख्य का एक और मत है कि जिस प्रकार कोई स्फटिक इसके पास पड़े हुए रंगीन वस्तुओ के विभिन्न वर्गों को प्रतिभासित करता है उसी प्रकार अन्तःकरण भी बाह्य पदार्थों के प्रतिबिंबित प्रकाश को ग्रहण करता है। बौद्ध दर्शन इसका प्रतिवाद करता है। उसका मत है कि यह सब एक क्षणिक प्रक्रिया है जिसमे एक क्षण के लिए स्फटिक के समान प्रकाश बिंब ग्रहण किया जाता है। कोई स्थायी तत्व स्फटिक के समान नही है जो

---

[1] सांख्य की यह मान्यता नही थी कि इन्द्रिय-चेतना भौतिक है जो स्थूल तत्वो से निर्मित है। परन्तु 'आत्रेय संहिता' (चरक भाष्य) मे प्रतिपादित मत के अनुसार, इन्द्रिय चेतना भौतिक और स्थूल तत्वो से निर्मित है। यह दूसरा मत सांख्य-योग का है।

संसार के बाह्य पदार्थों के प्रकाश बिंब को ग्रहण कर परावर्तित करता रहता है। न्याय दर्शन साख्य और बौद्ध दोनों मतो का खंडन करता है। न्याय का मत है कि यह नही कहा जा सकता कि सारी वस्तुएँ अथवा उत्पन्न पदार्थ क्षणिक हैं। अधिक से अधिक यह स्वीकार किया जा सकता है कि जो वस्तुएँ हमारे अनुभव मे या व्यवहार में क्षणिक दिखाई देती हैं वे सब क्षणिक हैं। जैसे दूध जब दही में बदलता है तो नए गुण विशेष रूप से उत्पन्न नही होते, न पुराने गुणो का लोप होता है। वास्तव में दूध का लोप होकर दही का निर्माण होता है। मानस का आत्मा के साथ सम्पर्क आन्तरिक है। यह सम्पर्क शरीर के बाहर स्थित किसी आत्मा से नही है। ज्ञान आत्मा का विषय है और उसी का धर्म है। यह इन्द्रिय या पदार्थ का धर्म नही है क्योकि उनके नष्ट हो जाने के पश्चात् भी ज्ञान बना रहता है। नए संज्ञान के साथ पुराने संज्ञान का लोप हो जाता है। कामना और विरक्ति दोनो आत्मा के विषय हैं। ये शरीर अथवा मन के धर्म नही हैं। मानस की अपनी कोई चेतना नही है क्योंकि यह अपनी चेतना के लिए आत्मा पर निर्भर है। फिर यदि यह मानस चेतन होता तो इसके द्वारा किए हुए कर्मों का फल आत्मा को भोगना पडता है और यह नियम विरुद्ध है कि किसी अन्य को भोगना पड़े। स्मृति के निम्न हेतु बतलाए गए है—(१) ध्यान (२) प्रसग (३) पुनरावृत्ति (४) सकेत (५) सपर्क (६) साम्य (७) स्वत्व रखने वाले और स्वत्व जिस पर है उनका सबध अथवा स्वामी सेवक सबध या स्थायी क्रमिक सबध (८) वियोग, जैसे—पति-पत्नी विच्छेद (९) साधारण कार्य (१०) विरोध (११) आधिक्य (१२) वह जिससे किसी वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। (१३) ढकने वाला और ढक जाने वाला पदार्थ (१४) सुख और दुःख जिसके द्वारा पूर्व स्मृति की जागृति होती है (१५) भय (१६) प्रार्थना (१७) कोई कर्म जिससे स्मृति उत्पन्न होती हो जैसे, रथ के द्वारा रथी का ध्यान जाना। (१८) प्रेम (१९) गुण और अवगुण। फिर यह कहा गया है कि ज्ञान शरीर का धर्म नही है और तत्पश्चात् अदृष्ट के कारण शरीर के जन्म की व्याख्या की गई है। पुन यह कहा गया है कि कर्म के विनाश से मानस की आत्मा से वियुक्ति या स्थायी सबध विच्छेद कारण 'अपवर्ग' (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।[1] 'दोष' परीक्षा के प्रसग मे चतुर्थ पुस्तक मे कहा गया है कि 'मोह' ही 'राग' और 'द्वेष' का मूल है। बौद्ध दृष्टिकोण के अनुसार किसी वस्तु की उत्पत्ति, विनाश से ही होती है। न्याय इसके विपरीत यह कहता है कि उत्पत्ति की प्रक्रिया मे विनाश एक क्रम मात्र है। फिर कहा है कि मनुष्य के द्वारा किए हुए कर्मों के फल ईश्वर की इच्छा से प्राप्त होते है। ईश्वर ही फल प्राप्ति मे मूल कारण है क्योंकि मनुष्य के कर्मों मे सदैव ही इच्छानुसार अथवा कर्मानुसार फल की प्राप्ति नही होती है। तत्पश्चात् उन दार्शनिको की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है जो यह कहते है कि संसार के सारे

[1] न्याय सूत्र III.ii. ४४।

पदार्थ बिना किसी कारण के उत्पन्न होते है। ससार बिना किसी कारण के 'अनिमित्त' उत्पन्न हुआ है। यह असम्भव है क्योकि इस आधार पर 'अनिमित्त' ही ससार का निमित्त होगा जो हास्यास्पद है।

फिर उन लोगो के मत का खडन किया गया है जो यह कहते है कि ससार मे सारी ही वस्तुएँ नित्य है। न्याय का कथन है कि यह व्यावहारिक बुद्धि और अनुभव के प्रतिकूल है क्योकि हम सदैव ही यह देखते है कि वस्तुएँ उत्पन्न होती है और नष्ट हो जाती है। इसके पश्चात् शून्यवादी बौद्धो के इस सिद्धान्त का खंडन किया गया है कि ससार मे सभी वस्तुओ की स्थिति, दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा से हैं अपना स्वतन्त्र अस्तित्व किसी वस्तु का नही है। इसके पश्चात् अन्य बौद्धो के इस सिद्धान्त का भी खडन किया गया है कि पदार्थों के गुण मात्र का अस्तित्व है, द्रव्य स्वय मे कुछ नहीं है और 'अवयवी' की या सम्पूर्ण की कोई स्थिति नही है 'अवयव'(भाग) मात्र की ही स्थिति है। कर्मफल के सम्बन्ध मे कहा गया है कि वृक्षो पर लगने वाले फलो के समान है जो पकने मे कुछ समय लेते है। फिर जन्म के सम्बन्ध मे कहा है कि यह सदैव दुःखमय है। यहाँ वहाँ थोडे से आनन्द के क्षण कदाचित् दिखाई देते है तो वह क्षणिक है। जीवन मे दुःख ही दुःख है। कभी-कभी प्राणी दुःख को ही सुख मान कर प्रसन्न हो लेता है। जैसे स्वप्नरहित प्रगाढ निद्रा मे दुःख की कोई स्थिति नही रहती इसी प्रकार 'अपवर्ग' प्राप्त करने पर 'क्लेश' से मुक्ति मिल जाती है।[1] इस स्थिति के प्राप्त करने पर सारी 'प्रवृत्तियो' की सदैव के लिए समाप्ति हो जाती है। यद्यपि प्रवृत्तियाँ अनादि काल से चली आ रही है परन्तु इनका अस्तित्व राग द्वेषादि के कारण है। अपने दोषो के ज्ञान से 'अहकार' का नाश हो जाता है। इसके पश्चात् अवयव और अवयवार्थ का विवेचन है और 'अणु' की व्याख्या की गई है जो अविभाज्य तत्व है। पुन विज्ञान-वादी बौद्धो के इस सिद्धान्त का प्रतिपाद किया गया है कि ससार मे कल्पना या विचार से भिन्न किसी वस्तु का अस्तित्व नही है अर्थात् सभी वस्तुएँ मनुष्य की कल्पना या विचार मे ही अवस्थित है उनका कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए 'योग' का भी प्रसग आया है।

पाँचवी पुस्तक मे विभिन्न प्रकार के 'निग्रह स्थान' (प्रतिवाद बिंदु) एव 'जाति' (व्यर्थ की युक्तियो) का वर्णन है।

चरक न्याय-सूत्र और वैशेषिक सूत्र

'न्याय सूत्र' की 'वैशेषिक सूत्रो' से तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि

[1] वात्स्यायन के अनुसार यह मोक्ष उस प्राणी का है जिसने 'ब्रह्म' को जान लिया है।
—वात्स्यायन iv १.६३।

न्याय सूत्रो मे दो तीन प्रकार की विचार धाराओं का समावेश हुआ है परन्तु वैशेषिक सूत्र प्रारम्भ से अन्त तक एक ही विषय को प्रतिपादित करता है। न्याय सूत्र मे अपने प्रतिद्वन्दी को हराने के लिए तर्क की प्रक्रियाओ की विशद व्याख्या की गई है। तर्क-शास्त्र को जीवन की एक व्यावहारिक कला के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस सबके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब सामग्री किसी अन्य प्राचीन तर्कशास्त्र से ली गई होगी जिसको हिन्दू और बौद्ध समान रूप से शास्त्रार्थ की सफलता के लिए अध्ययन करते थे।[1] चरक के द्वारा लिखे हुए आयुर्वेदविज्ञान के ग्रन्थ (४,५) मे 'जाति', 'छल' आदि तर्कशास्त्र के शब्दो की तुलना न्याय सूत्र मे पायी जाने वाली शब्दावली से करने पर उपर्युक्त मत की ओर भी अधिक सपुष्टि हो जाती है। प्रारभिक सस्कृत साहित्य मे न्याय सूत्र और चरक-सहिता के अतिरिक्त, और कोई ग्रन्थ ऐसे उपलब्ध नही होते जिसमे तर्कशास्त्र का इस प्रकार विवेचन किया गया हो। चरक मे दृष्टान्त, प्रयोजन, प्रतिज्ञा और वितण्डा की परिभाषा और तर्क के अगों का जो वर्गीकरण किया गया है वह न्याय सूत्र की व्याख्या से मिलता जुलता है। साथ ही दोनो ग्रन्थो मे 'जल्प', छल, निग्रह स्थान, आदि की परिभाषाओ मे काफी अन्तर भी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त चरक मे तर्क के कुछ ऐसे अगो या वर्गों की विवेचना की गई है जो न्याय सूत्र मे नही पाए जाते है। उदाहरण के लिए प्रतिस्थापन, जिज्ञासा व्यवसाय, वाक्यदोष, 'वाक्यप्रशसा', उपालभ, परिहार, अभ्यानुज्ञा आदि केवल चरक सहिता मे ही वर्णित है।[2] इसी प्रकार न्याय सूत्र मे 'जाति' और निग्रह स्थान की जो व्याख्या की गई है वह चरक मे नही पाई जाती है। कुछ शब्द या पद ऐसे हैं जो भिन्न रूपो मे है पर एक से अर्थ मे दोनो ग्रन्थो मे प्रयोग किए गए हैं। चरक के 'औपम्य' को न्याय सूत्र मे 'उपमान' कहा है। न्याय सूत्र के 'अर्थापत्ति' के अर्थ में, चरक ने अर्थ प्राप्ति पद का प्रयोग किया गया है। स्पष्ट ही है कि चरक को इस विषय में न्याय सूत्र नामक ग्रन्थ की जानकारी नहीं थी। चरक का विवेचन भी न्याय सूत्र से अधिक सरल और सुस्पष्ट है। यदि पाँचवी पुस्तक मे 'जाति' आदि के भेद की ओर ध्यान न दिया जावे तो चरक और न्यायसूत्र दोनो मे पर्याप्त साम्य पाया जाता है। इन दोनो ग्रन्थो मे चरकसहिता पहले लिखी गई है और न्याय सूत्र बाद में लिखा गया

---

[1] 'सुवर्ण प्रभास सूत्र' मे एक प्रसग मे ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षु शास्त्रार्थ मे स्वर को अधिक सशक्त बनाने के लिए विशेष प्रकार के योग (औषध) का सेवन करते थे। इन भिक्षुओ ने सरस्वती (विद्या की अधिष्ठात्री देवी) की भी उपासना करना प्रारम्भ कर दिया था जिससे शास्त्रार्थ के समय उनको प्रत्युत्पन्नमति बनाने मे सरस्वती देवी सहायता करें।

[2] वैशेषिक के समान ही चरक मे भी अनुमान के तीन भेद पूर्ववत, शेषवत और सामान्य दृष्टि का उल्लेख नही मिलता है।

है जब तर्क, खंडन मंडन और शास्त्रार्थ का विशेष प्रचलन हो गया था, और इसके कारण न्याय में तर्क के पदों और प्रक्रियाओं को और भी विशद रूप में वर्णन करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि न्याय सूत्र का यह भाग दूसरी शताब्दी से पूर्व लिखा हुआ नही होना चाहिए। न्याय सूत्र में दूसरी धारा तत्कालीन बौद्ध मत की सौत्रांतिक, विज्ञानवादी, शून्यवादी विचारधाराओं के प्रतिवाद से सम्बन्ध रखती है। इसके अतिरिक्त सांख्य, चार्वाक् व अन्य अज्ञात मतों का भी खंडन किया गया है। वैशेषिक सूत्र मे केवल मीमासा सिद्धान्तों से मतभेद प्रकट किया गया है और अन्त मे उनके कई सिद्धान्तों को अक्षत स्वीकार कर लिया गया है। न्याय सूत्र में भी वैशेषिक के समान ही मीमांसा के शब्द की 'नित्यता' सिद्धान्त पर तीव्र मतभेद मिलता है। उत्तर मीमासा और उत्तर न्याय मे मुख्य मतभेद मीमासा के 'स्वतः प्रामाण्यवाद' (ज्ञान का स्वय प्रमाण होना) और भ्रान्ति को 'अख्याति' सिद्धान्त के विषय मे पाया जाता है पर 'न्यायसूत्र' मे इसका कोई उल्लेख नहीं है। 'न्याय सूत्र' मे (IV ११.३८ ४२,४६) योग साधन प्रसग भी उसकी सामान्य विचार-धारा से साम्य नही रखता है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह बाद को क्षेपक रूप मे सम्मिलित किया गया है। जापान मे अनेक पीढियो से प्रचलित यह जनश्रुति की यह प्रसगश्री मिरोक (Mirok) ने बाद मे जोड दिया है, सत्य प्रतीत होता है जैसाकि महामहोपाध्याय श्री हरिहर प्रसाद शास्त्री ने सकेत किया है।[1]

वैशेषिक सूत्र ३.१.१८ और ३.११.१ के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति आत्मा इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषयो के सम्पर्क के कारण होती है। साथ ही इस सिद्धात का भी दृढतार्वपूक प्रतिपादन करते हैं कि रूप विशेष 'सस्कार' मे ही दिखाई दे सकता है। अर्थात् जब तक उचित प्रकार की अवस्थाओ का मेल नही होगा तब तक किसी स्वरूप या रूप को देखना सम्भव नही है। न्याय और वैशेषिक 'मानस' का अस्तित्व है इस अनुमान मे एक मत है। विभिन्न वस्तुओ का सज्ञान एक ही समय, एक साथ नही होता और न तत्काल प्रयत्न का प्रारभ होता है अतः यह स्पष्ट है कि अविक-सज्ञान क्रिया और मनन के पश्चात् प्रयत्न किसी ऐसे तत्व की स्थिति के कारण होना चाहिए जो इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान का सामजस्य निरूपण और मनन करता है यह कार्य आत्मा नही कर सकती। यह 'अयोगपाध' अत. यह स्पष्ट है कि आत्मा के अलावा मानस का भी अस्तित्व है। न्याय सूत्र, प्रत्यक्ष की शास्त्रीय व्याख्या करते है परन्तु वैशेषिक के समान 'सस्कार' या 'उद्भूतरूपत्व' का उल्लेख नही करते। न्याय सूत्र 'अनुमान' के तीन भेद 'पूर्ववत्' 'शेषवर्त' और 'सामान्यता दृष्टि' का उल्लेख करते हैं परन्तु इनकी कोई परिभाषा नही देते है। वैशेषिक मे इन भेदो का कोई वर्णन नहीं मिलता।

---

[1] जे० ऐ० एस० बी० १९०५।

इसमें केवल अनुमान के विभिन्न उदाहरण मात्र दिए गए हैं (v.s 3 1.7–17, ix II, 1.2.4-5) किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु से सम्बन्ध होने की स्थिति में ही 'अनुमान' किया जा सकता है अथवा उस अवस्था मे अनुमान प्रमाण कार्य मे लाया जाता है जब एक वस्तु की दूसरे में 'अन्तर्व्याप्ति' हो अथवा एक तीसरी वस्तु मे व्याप्ति हो। एक प्रभाव से या कार्य से भी किसी अन्य समान धर्माकार्य या प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। ये सब उदाहरण एक स्थान पर एकत्रित कर प्रस्तुत किए गए हैं पर इनसे किसी सामान्य सिद्धांत पर पहुँचने का प्रयत्न नही किया गया हैं। उत्तर न्याय में 'व्याप्ति' सिद्धात विशेष रूप से महत्वपूर्ण माना जाता है परन्तु 'हेतु' और 'साध्य' की सह-व्याप्ति के इस सिद्धांत का विशेष निरूपण न न्याय मे किया है और न वैशेपिक में। वैशेपिक सूत्र (III. १.२४) में हेतु और साध्य की व्याप्ति की बात को साधारण रूप से ('प्रसिद्धिपूर्वकत्वात् अपदेशस्य') स्वीकार कर लिया है परन्तु 'व्याप्ति' पद का कहीं उल्लेख नही है, न इसकी जानकारी ही दिखाई देती है। 'प्रसिद्धिपूर्वकत्वात्' पद का पारिभाषिक अर्थ भी वैशेषिक मे ऐसा नही प्रतीत होता जैसा उत्तरकालीन न्याय में स्पष्ट और शास्त्रीय हो गया है। इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र 'शब्द' को (शब्दो को) अलग से प्रमाण के रूप मे स्वीकार नहीं करते परन्तु वेदों को असंदिग्ध रूप से प्रामाणिक मानते है। न्याय सूत्र मे शब्द को प्रमाण माना है और शब्द प्रमाण न केवल वेदों के लिए प्रयुक्त हुआ है पर किसी भी प्राप्त पुरुष की वाणी या साक्ष्य को 'शब्द' प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया गया है। वात्स्यायन ने ऋषि, आर्य और म्लेच्छ तीन प्रकार के आप्त पुरुषो का वर्णन किया है। पुनः सज्ञान की सत्यता के प्रमाण के लिए न्याय ने 'उपमान' का विशेष महत्व माना है पर वैशेषिक मे इसकी कोई जानकारी नही दिखाई देती। इसी प्रकार न्याय सूत्रो मे 'अर्थापत्ति', 'सम्भव' और 'ऐतिह्य' का अन्य प्रमाणो के रूप मे उल्लेख आता है यद्यपि इन सब को प्रमाणों के स्वीकृत भेदो में ही सम्मिलित माना गया है। परन्तु वैशेषिक मे इनका कही भी प्रसंग तक नही आता।[1] जिस सस्थिति की ओर अभाव का सकेत है उसकी अपेक्षा से वैशेषिक सूत्र 'अभाव' के बोध को मान्य समझते हैं (ix, १-१०-१०)। इसके विपरीत न्याय का मत है (II, ११ १ २ ७ १२) कि 'अभाव' किसी वस्तु की अस्तित्वहीनता के रूप में प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है, जब कोई व्यक्ति किसी को यह कहता है कि वे वस्त्र उठा लाओ जिन पर कोई चिह्न नही है तो वह व्यक्ति, यह देखता है कि कुछ वस्त्रों पर कोई चिह्न नहीं है और उन्हे उठा कर ले आता है। अत न्याय का यह तर्क है कि 'अभाव' का बोध सीधा, प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है।[2] न्याय और वैशेषिक इस प्रकार 'अभाव'

---

[1] प्राचीन ग्रन्थों मे केवल चरक में इनका उल्लेख मिलता है परन्तु चरक 'सम्भव' की एक अन्य व्याख्या देते हैं और 'अर्थापत्ति' को अर्थपति की संज्ञा दी गई है।

[2] इस उदाहरण को वात्स्यायन भाष्य मे उद्धृत किया गया है।

की बोध स्थिति के सम्बन्ध में एक मत है। परन्तु इसके निरूपण और बोध प्रक्रिया के सम्बन्ध में मतभेद है। वैशेषिक दर्शन मे द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष और 'समवाय' के भेदों की विशद व्याख्या की गई है। परन्तु न्याय में इनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।[1] पुनः न्याय-सूत्र इन्द्रिये-चेतना को द्रव्य के रूप मे सिद्ध करने का विशेष प्रयत्न करते हैं पर वैशेषिक सूत्र इसको कोई महत्व नही देते। केवल एक स्थल पर इसका अत्यन्त स्वल्प प्रसग आया है (viii, ११ ५.६) जो पर्याप्त नही है। वैशेषिक 'ईश्वर' शब्द का कही भी प्रयोग नही किया गया है पर न्यायसूत्र ईश्वर के अस्तित्व को पिछले घटनाक्रम के आधार पर सिद्ध करने का अथक प्रयत्न करते हैं। न्याय सूत्र मे आत्मा के अस्तित्व सबधी कारणो मे इन्द्रिय-चेतनात्मक संज्ञान की एकरूपता और अभिज्ञान की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है जिस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। परन्तु वैशेषिक यह तर्क करता है कि आत्मचेतना ही ज्ञान का अंग है अर्थात् आत्मा प्रत्यक्ष रूप से बोध प्राप्त कर जिस चैतन्य को ग्रहण करती है वह आत्म चेतना ही सज्ञान है। न्याय और वैशेषिक दोनों ही अणुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं परन्तु उत्तरकालीन न्याय वैशेषिक मे पाए जाने वाले अणु के निर्माण और स्वरूप की व्याख्या का इस काल में नितान्त अभाव है। वैशेषिक मोक्ष को 'निश्रेयस' और न्यायसूत्र उसे 'अपवर्ग' कहते है। वैशेषिक मे मोक्ष देह के बन्धन से मुक्ति है तो न्याय मे अपवर्ग दुःखों से मुक्ति है।[2] उत्तरकाल मे न्याय और वैशेषिक मे विशेष मतभेद सख्या की कल्पना और रूप से मही के अणुओ मे रग परिवर्तन आदि के सम्बन्ध मे पाया जाता है। इस प्रकार वैशेषिक का मत है कि सख्या का बोध मस्तिष्क की एक विशेष प्रक्रिया के कारण होता है। सख्या के प्रत्यक्ष बोध मे पहले इन्द्रियो का वस्तु विशेष से सम्पर्क होता है फिर वस्तु एक है इसका बोध होता है फिर 'अपेक्षा बुद्धि' से 'द्वैत' और पुनः त्रेत आदि का बोध होता है। इसी प्रकार 'पीलुपाक' सिद्धान्त है जिसका अर्थ होता है अग्निसंयोग के द्वारा पृथ्वी के रूप मे परिवर्तन वैशेषिक का मत है कि अग्निसयोग के कारण पृथ्वी के परमाणुओ के गुणो मे अन्तर आ जाता है पर न्याय का मत है कि यह अन्तर अणुओ मे उत्पन्न होता है। वैशेषिक मत को नैयायिक मानने

---

[1] प्रसगवश न्यायसूत्र 'जाति' की परिभाषा करते हुए उल्लेख करते है कि 'समान प्रसवात्मिका जाति।' (II ii. 71)

[2] 'संक्षेप शकरजय' और 'भासर्वज्ञ' नौयाभिक लेखक (जे० ए० एस० बी० १९१४) से एक सदर्भ उद्धृत करते हुए श्री प्रो० वनमाली वेदान्ततीर्थ कहते है कि प्राचीन नैयामिक यह मानते थे कि मुक्ति मे एक प्रकार के सुख की भावना है परन्तु वैशेषिक इसको अस्वीकार करते थे। न्याय या वैशेषिक सूत्रों मे इस प्रकार का कोई उल्लेख नही मिलता है जब तक कि दुःख से निवृति को सुख नहीं मान लिया जावे।

को तैयार नहीं थे।[1] प्रारंभिक न्याय और वैशेषिक दर्शन में अन्तर समझना इसलिए कठिन है कि न्याय सूत्रों में इन सब उत्तरकालीन विवादो की कोई पृष्ठभूमि नहीं मिलती। क्योंकि न्याय सूत्र इन सब विषयो पर कोई प्रकाश नहीं डालते इसलिए इस पर कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मतभेद न्याय और वैशेषिक के भाष्यकारों और व्याख्या करने वालों मे प्रारम्भ हुए होगे। श्री प्रशस्तपाद भाय (छठी शताब्दी) के द्वारा प्रस्तुत वैशेषिक दर्शन और उद्योतकर द्वारा निरूपित न्याय दर्शन को लगभग एक से दर्शन के रूप मे ही स्वीकार किया जाता है जिनमे यत्र तत्र साधारण मतान्तर पाया जाता है। अत न्याय वैशेषिक का वर्णन साथ-साथ ही किया गया है। अत. इस अध्याय मे छठी शताब्दी के पश्चात् जो न्याय वैशेषिक दर्शन उपलब्ध होता है इसकी व्याख्या की गई है।

वैशेषिक और न्याय साहित्य

कणाद ऋषि ने वैशेषिक सूत्र की रचना की है। ये उलूक के पुत्र थे और इसलिए इनको औलूक्य भी कहा जाता है। वैशेषिक सूत्रों की रचना तिथि निश्चित करना कठिन है। परन्तु यह निश्चित है कि ये बौद्ध काल से पूर्व की रचना है 'वायुपुराण' के अनुसार इनका जन्म द्वारका के निकट प्रभास मे हुआ था और यह आचार्य सोम शर्मा के शिष्य थे। वैशेषिक सूत्रो पर श्री प्रशस्तपाद ने भाष्य लिखा है पर यह भाष्य अन्य भाष्यो से भिन्न है। अन्य भाष्यो मे पहले मूलसूत्र और उनके अर्थ दिए जाते हैं और उस पर टीका की जाती है जिसमे भाष्यकार अपना मत प्रकट करता है। परन्तु प्रशस्तपाद-भाष्य मे मूल सूत्रादि न देकर स्वतत्र रूप से वैशेषिक सूत्रो के दर्शन का आधार लेकर व्याख्या की गई है। यह व्याख्या एक प्रकार से स्वतत्र व्याख्या है।[2] दुर्भाग्यवश

---

[1] माधव रचित 'सर्व दर्शन सग्रह' औलूक्य दर्शन देखिए।

[2] श्री प्रशस्तपाद के भाष्य को कठिनाई से ही भाष्य की सज्ञा दी जा सकती है। वह स्वय भी इसको वैशेषिक भाष्य के रूप मे नही मानता है। वह अपने ग्रन्थ को पदार्थ के धर्मों की व्याख्या की सज्ञा देता है। उसने इसे 'पदार्थ धर्म सग्रह' का नाम दिया है। द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय, विशेष और सामान्य, पदो के विभिन्न भेदो पर अपना स्वतत्र मत प्रकट किया है। उत्तरकाल के न्याय वैशेषिक दर्शन के मुख्य सिद्धान्तो का उल्लेख पहली बार इस सग्रह मे पाया जाता है। उदाहरण के लिए सृष्टि रचना और प्रलय, सख्या का सिद्धान्त, अनेक परमाणुओ से अणु के परिमाण का विनिश्चयन, ताप से मही के वर्ण परिवर्तन का 'पीलुपाक' सिद्धात इन सबका वर्णन पहली बार इस ग्रन्थ मे ही पाया जाता है। वैशेषिक सूत्रो मे इनका कोई उल्लेख नही है। प्रशस्तपाद के जीवनकाल के सबध मे भी

श्री प्रशस्तपाद के जीवन काल का भी समय निश्चित करना कठिन है। प्रशस्तपाद भाष्य के अतिरिक्त वैशेषिक पर दो और भाष्य लिखे गए जिनका नाम 'रावणभाष्य' और 'भारद्वाज वृत्ति' है परन्तु ये दोनों ग्रन्थ सम्भवतः लुप्त हो गए हैं। रावणभाष्य का उल्लेख पद्मनाभ मिश्र की 'किरणावली भास्कर' और इसके अलावा 'रत्नप्रभा' (II २.२) मे भी पाया जाता है। प्रशस्तपाद भाष्य पर चार टीकाएँ और लिखी गई हैं जिनका नाम व्योमशेखराचार्य रचित 'व्योमवती' श्रीधर रचित 'न्याय कंदली' उदयन रचित किरणावलि (६८४, ए. डी) और श्रीवत्साचार्य रचित 'लीलावती' है। इनके अतिरिक्त नवद्वीप के श्री जगदीश भट्टाचार्य और शंकर मिश्र ने क्रमशः 'भाष्यसूक्ति' और 'कणादरहस्य' नाम की दो टीकाएँ और लिखी है। श्री शकर मिश्र ने (१४२५ ए डी) वैशेषिक सूत्र पर एक भाष्य लिखा है जो 'उपस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। इन सब ग्रन्थो मे श्रीधर रचित 'न्याय कदली' अपने प्रासाद गुण और विशद व्याख्या के कारण वैशेषिक दर्शन के जिज्ञासुओ के लिए श्रेष्ठतम टीका है। इसके लेखक श्रीधर बगाल (राघ) के भूरिरसृष्टि ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम बलदेव और माँ का नाम अच्चोका था। ग्रन्थ के अन्त मे दिए हुए संवत् के अनुसार उन्होने इस ग्रन्थ की रचना शकसंवत ६१३ (६६० ए. डी) मे की है।

न्याय सूत्र की रचना अक्षपाद ने की है जो गौतम के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके ऊपर सर्वप्रर्थम भाष्य श्री वात्स्यायन ने लिखा है जो 'वात्स्यायन भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। वात्स्यायन के काल के सम्बन्ध में भी कोई मत निश्चित नही हो सका है पर ऐसा विश्वास किया जाता है कि वह चतुर्थ शताब्दी के प्रथम भाग मे हुआ होगा। जैकोबी महोदय इसका समय सन् ३०० ईसवी निश्चित करते हैं न्याय सिद्धातो के प्रतिपादन के लिए और बौद्ध तर्काचार्य श्री दिननाग (५०० ईसवी) ग्रन्थ 'प्रमाण समुच्चय' मे दी आलोचनाओ का प्रतिवाद करने के लिए, श्री उद्योतकर ने (६३५ ई०) वात्स्यायन भाष्य के ऊपर एक 'वार्तिक' लिखा है। श्री वाचस्पति ने उद्योतकर के 'न्याय वार्तिक' पर एक टीका 'न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका' नाम से सन् ८४० मे लिखी है। इसका उद्देश्य उद्योतकर के न्यायवार्तिक की प्रतिष्ठा की पुनःस्थापना है जैसाकि लेखक ने कहा है कि अज्ञानपूर्ण कटु आलोचनाओ के कारण इस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा पकिल हो रही थी (दुस्तर्क निबन्ध पकमग्नानानाम्)। पुन: उदयन ने (१६४ ए डी) 'तात्पर्य टीका' पर एक उप टीका 'तात्पर्य टीका परिशुद्धि' नाम से लिखी है। इस पर वर्धमान ने सन् १२२५ ईसवी में एक उप टीका 'न्याय निबन्ध प्रकाश' नाम से लिखी

कोई निश्चित उल्लेख नही मिलता है। वैशेषिक दर्शन की प्रथम व्याख्या श्री प्रशस्तपाद ने ही की है और सम्भवतया इनका जीवन काल पाँचवी या छठी शताब्दी मे रहा होगा।

है। फिर इसके ऊपर एक उप टीका 'वर्धमानेन्दु' नाम से श्री पद्मनाभ ने लिखी है। इस पर श्री शंकर मिश्र ने एक और उप टीका 'न्याय तात्पर्य मडन' नाम की लिखी हैं। सत्रहवीं शताब्दी मे श्री विश्वनाथ ने न्यायसूत्र पर एक स्वतत्र टीका 'विश्वनाथ वृत्ति' नाम की लिखी और श्री राधामोहन ने न्याय सूत्र पर एक और टीका लिखी है जिसका नाम 'न्यायसूत्र विवरण' है। इनके अतिरिक्त भी न्याय दर्शन के ऊपर कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए हैं। इनमें से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'न्याय मजरी' है जिसकी रचना श्री जयन्त (८८० ए. डी.) ने की है। श्री जयन्त का काल श्री वाचस्पति मिश्र के पश्चात् है। श्री जयन्त ने न्यायसूत्रो के कुछ सूत्रों की व्याख्या करते हुए न्याय दर्शन का स्वतत्र ढंग से निरूपण किया है और अन्य मतों का खडन भी किया है। श्री वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्य-टीका' से यह अधिक सुस्पष्ट और विशद है। इसकी शैली भी सरल और विद्वतापूर्ण है। दूसरा सुन्दर ग्रन्थ उदयन रचित 'कुसुमाजलि' है जिसमे उसने 'ईश्वर' के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक का अध्ययन इसकी वर्धमान रचित (१२२५ ईसवी) टीका 'प्रकाश' और उसकी उपटीका 'मकरन्द' (१२७५ ई०) के साथ करना चाहिए। श्री उदयन ने बौद्ध दर्शन के आत्मा सबधी सिद्धातो का खडन करने के हेतु और न्याय के आत्मा सिद्धान्त की स्थापना करने के लिए 'आत्म तत्त्व विवेक' नाम का ग्रन्थ लिखा है। इनके अतिरिक्त भी न्याय दर्शन पर उत्तर मध्यकालीन युग मे कई सुन्दर और विद्वतापूर्ण ग्रन्थ लिखे गए है। प्रस्तुत प्रसग मे इनमे से कुछ मुख्य ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है—श्री विश्वनाथ रचित 'भाषा-परिच्छेद' उस पर 'मुक्तावली' 'दिनकरी' और 'रामरुद्री तर्क सग्रह' और उसकी टीका 'न्याय निर्णय' केशव मिश्र की तर्क भाषा और इसकी टीका न्याय प्रदीप, शिवदत्त रचित 'सप्तपदार्थी' वरदराज की 'तार्किकरक्षा' और उसकी मल्लिनाथ रचित टीका 'निष्कंटक' धार निवासी माधवदेव रचित 'न्याय सार' और श्री जानकीनाथ भट्टाचार्य द्वारा लिखी न्याय सिद्धात मंजरी' और उस पर श्री यादवाचार्य द्वारा लिखी टीका 'न्याय मजरी सार' और श्री शशधर रचित 'न्याय सिद्धात दीप' और शेषानन्ताचार्य द्वारा लिखी हुई टीका 'प्रभा' इस विषय के प्रसिद्ध ग्रन्थों में से है।

न्याय दर्शन की नयी शाखा जो 'नव्य न्याय' कहलाती है लगभग सन् १२०० ई० मे प्रारम्भ हुई। इसके प्रवर्तक मिथिला के गगेश उपाध्याय थे। न्याय द्वारा मान्य 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान' और शब्द इन चार प्रमाणो की ही व्याख्या श्री गगेश ने अपने नव्य न्याय मे की है। उन्होने न्याय के अन्य अध्यात्मिक तत्वो के विषय मे कुछ नहीं कहा है। परन्तु श्री गगेश के ग्रन्थ 'तत्वचिन्तामणि' ने नवद्वीप के विद्वानों का विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया और तत्पश्चात् अनुमान के निरूपण पर अनेक ग्रन्थ, टीकाएँ और उप टीकाएँ नवद्वीप (बगाल) के तार्किको द्वारा लिखी गई। इस प्रदेश मे इसके अतिरिक्त भी न्याय पर स्वतंत्र रूप से, अनेक ग्रन्थ लिखे गए यहां तक

कि कुछ शताब्दियों के लिए नवद्वीप नैयायिको का गढ़ माना जाने लगा। श्री रघुनाथ सिरोमणी (१५०० ई०) मथुरा भट्टाचार्य (१५८० ई०) गदाधर भट्टाचार्य (१६५० ई०) और जगदीश भट्टाचार्य द्वारा लिखी हुई टीकाएँ बगाल मे विशेष रूप से प्रचलित हैं इसके अलावा 'तत्व चिन्तामणि' पर शिरोमणि टीका पर भी अनेक उप टीकाओं की रचना हुई जो बगाल मे विशेष रूप से पढ़ी जाती हैं। नवद्वीप 'नव्यन्याय' का घर हो गया और नव्य न्याय पर इस प्रदेश मे विशाल साहित्य की रचना हुई।[1] नवद्वीप मे इस शाखा के प्रचलन की मुख्य विशेषता यह रही है कि इसमे अध्यात्मिक अथवा धार्मिक अगो पर कोई चर्चा नही की गई है। केवल तर्क की दृष्टि से भाषा के पदो को ऐसा परिष्कृत किया गया है कि किसी भी विचार को अथवा कल्पना को विशुद्ध निश्चित अर्थों मे प्रस्तुत किया जा सके और समझा जा सके।[2]

उदाहरण के लिए जब वे एक संकल्पना का दूसरी संकल्पना से सम्बन्ध और व्याप्ति का उल्लेख करना चाहते है (जैसे धूम्र और अग्नि की सहव्याप्ति) तो वे ऐसे स्पष्ट और निश्चित अर्थ वाले पारिभाषिक शब्दो और पदों का प्रयोग करेंगे जिससे इस व्याप्ति भाव की यही प्रकृति के समझने मे कोई संदेह नही रहे। इस न्याय साहित्य मे सूक्ष्म मार्मिक विश्लेषण पद्धति और निश्चयार्थ पारिभाषिक शब्दो का आश्चर्यजनक विकास हुआ है। इन शास्त्रीय पदों और पारिभाषिक शब्दों को सभी मतो ने तार्किक-वार्ताओ और शास्त्रार्थों के निमित स्वीकार कर लिया था पर अब सस्कृत भाषा के ह्रास के साथ ही इस विद्या का भी ह्रास हो गया है।

न्याय दर्शन मे तर्कशास्त्र की प्रथम विशद विवेचना श्री अक्षपाद ने की है, पर जैन और बौद्ध विद्वानो ने भी मध्य युग मे स्वतत्र रूप से न्याय के तर्क सिद्धान्तो की आलोचना प्रत्यालोचना कर अपने ढग पर नवीन तर्क प्रणालियो की स्थापना की है। जैन तर्क साहित्य मे भद्रबाहु रचित 'दशवैकालिक-नियुक्ति' (३५७ ईसापूर्व), उमास्वाति का 'तत्वार्थाधिगमसूत्र' ने गमसूत्र सिद्धसेन दिवाकर रचित 'न्यायावतार' (५३३ ईसवी) श्री माणिक्यनन्दी (८०० ई०) का 'परीक्षामुख सूत्र' और देवसूरि (११५६ ई०) रचित 'प्रमाणनय तत्वालोकालकार' और श्री प्रभाचद्र रचित 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' कुछ मुख्य

---

[1] बारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे न्याय की इस नवीन शाखा का उदय बिहार के मिथला प्रदेश मे हुआ—जहाँ इसका प्रचलन सोलहवी शताब्दी के तृतीय चरण तक रहा। फिर पन्द्रहवी शताब्दी से सत्रहवी शताब्दी तक बगाल का नवद्वीप प्रदेश नव्य-न्याय का घर रहा। जे० ए० एस० बी० १९१५ में श्री चक्रवती का शोधपत्र देखिए। प्रस्तुत वर्णन मे कुछ तिथियाँ उपरोक्त शोधपत्र से ही ली गई हैं।

[2] श्री रघुनाथ द्वारा लिखा हुआ ग्रन्थ 'ईश्वरानुमान' और 'परार्थतत्व निरूपण' ही इसके अपवाद है जिनमे अध्यात्मचर्चा भी की गई है।

रचनाएँ है। इसी प्रकार बौद्ध तर्कशास्त्र के मुख्य ग्रन्थ श्री दिङ्नाग (५०० ई०) रचित 'प्रमाण समुच्चय' और 'न्याय-प्रवेश' श्री धर्मकीर्ति द्वारा लिखे हुए (प्रमाण वार्तिक कारिका) और 'न्याय बिंदु है। 'न्याय बिंदु' पर श्री धर्मोतर की एक सुन्दर टीका भी उपलब्ध है। हिन्दू, बौद्ध और जैन न्याय के सूक्ष्म बिंदुओ और विभेदों पर प्रकाश डालना प्रस्तुत पुस्तक मे सम्भव नही है क्योंकि यह अपने आप मे ही एक स्वतन्त्र विशद विषय है। इस विषय मे एक रोचक तथ्य यह है कि 'वात्स्यायन-भाष्य' और उद्योतकर की 'वार्तिक' के बीच तर्कशास्त्र पर हिन्दू दर्शन में किसी भी उत्तम ग्रन्थ की रचना नहीं हुई। सम्भवत: इस अवधि मे तर्क का अध्ययन जैन और बौद्ध विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि के लिए विशेष रूप से अपना लिया था। श्री दिङ्नाग ने हिन्दू न्याय पर विशेष आक्षेप किये और उसका खडन करना प्रारम्भ कर दिया जब उद्योतकर ने हिन्दू न्याय के मडन के लिए 'वार्तिक' की रचना की। इसके अतिरिक्त उस समय में जैन दार्शनिको की पद्धति 'तर्क' को अध्यात्म और धर्म से अलग विषय मानने की थी। यह मत हिन्दू दार्शनिको को मान्य नही था। तर्क का अध्यात्म के एक अंग के रूप मे ही अध्ययन किया जाता था। मिथिला के श्री गंगेश ने ही इस प्रथा का प्रचलन नव्य-न्याय के प्रवर्तन के द्वारा किया जिसमे न्याय को केवल विशुद्ध तर्क विज्ञान के रूप में अध्ययन किया जाने लगा। बौद्ध शैली मे न्याय पर श्री भासर्वज्ञ रचित 'न्याय-सार' नाम का एक ही हिन्दू ग्रन्दू ग्रन्थ उपलब्ध है। अन्य हिन्दू न्याय ग्रंथों में 'अनुमान' आदि का अध्यात्म विषय के साथ ही विवेचन किया गया है।[1]

न्याय और वैशेषिक दर्शन के मुख्य सिद्धान्त

न्याय और वैशेषिक दर्शन ने बौद्ध 'क्षणिकत्व' के सिद्धान्त को अमान्य समझते हुए, वस्तुओ के अस्तित्व के सबध मे व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। इस दृष्टि-कोण के अनुसार वस्तुओ का स्थायी स्वतन्त्र अस्तित्व है। जब तक ऐसी परिस्थितियाँ नही हो जाती कि उन वस्तुओं का विनाश हो जाए उनकी स्थिति रहती हैं। जब तक इस प्रकार का सयोग नही बनता वस्तु का अस्तित्व भी स्थिर रहता है। घडा जब तक घड़े के रूप मे स्थित रहता है जब तक वह गिर कर अथवा किसी लकडी आदि के आघात से फूट न जाए। वस्तुओं की स्थिति हमारे ऊपर रहने वाले उनके प्रभाव तक

---

[1] प्रस्तुत पुस्तक मे इस अध्याय के लिखने मे न्याय वैशेषिक दर्शन की लगभग सभी मुख्य ग्रन्थों की सहायता ली गई है। इस विषय पर यदि और अधिक अध्ययन करना है तो श्री चक्रवती द्वारा लिखे हुए शोध-पत्र (बंगाल में नव्य-न्याय का इतिहास) "दि हिस्ट्री ऑफ नव्य न्याय इन बंगाल" का अध्ययन कोजिए जो जे० ए० एस० बी० १९१५ में छपा है।

नहीं रहती जैसाकि बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जब तक हमारे कार्य की सिद्धि करती है अथवा उस क्षण तक जब तक उसका प्रभाव रहता है विद्यमान रहती है। उस क्षण के पश्चात् उस वस्तु का विनाश हो जाता है। परन्तु न्याय के अनुसार हमारे मन अथवा बुद्धि की चेतना से स्वतंत्र, वस्तु की सत्ता है। सत्ता वस्तु का गुण है। इसके लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। देखने वाला या व्यक्ति विशेष रहे या न रहे, इससे वस्तु की सत्ता पर कोई प्रभाव नही पड़ता वस्तु का प्रभाव किसी व्यक्ति पर या उसके आसपास के वातावरण पर क्या पडता है यह भी महत्वहीन है। वस्तुओ का अस्तित्व या सत्ता उनका एक सामान्य गुण है। इसी गुण के आधार पर हम अपनी साधारण व्यवहार बुद्धि और अनुभव से उनकी सत्ता को मानते हैं।[1]

इसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव और व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर न्याय वैशेषिक दर्शन ने साख्य की सृष्टि रचना की कल्पना को अस्वीकार कर दिया। इसके स्थान पर चार तत्वो (भूत) 'क्षिति', 'अप्', 'तेजस' और 'मरुत' (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) के परमाणु सिद्धान्त को अपनाया। ये तत्व शाश्वत है। इनके अतिरिक्त पाँचवा तत्व आकाश है। जो व्यापक और नित्य शाश्वत है। आकाश शब्द के प्रसार और सचार का हेतु है। आकाश सर्वत्र व्यापक है और सभी मनुष्यों के कानो के सम्पर्क मे है परन्तु शब्द कर्ण कुहरो मे ही व्यक्त होता है अर्थात् यद्यपि शब्द की व्याप्ति सारे आकाश मे है पर यह कानो के ही द्वारा सुनाई देता है। श्रुति की यह अभि-व्यक्ति (सुनने वाले) श्रोता के स्वय के गुण पर निर्भर है। बधिर (बहरा) व्यक्ति के कर्ण कुहरो मे यद्यपि आकाश की व्याप्ति है जो श्रुति-चेतना का साधन है परन्तु बधिर अपने स्वय के अवगुण के कारण 'शब्द' नही सुन सकता।[2] इसके अतिरिक्त न्याय वैशेषिक दर्शन ने 'काल' के अस्तित्व को भी माना है। काल भूतकाल से चला आ रहा है, वर्तमान मे भी इसकी स्थिति है और इसका विस्तार अनन्त भविष्य है। यदि 'काल' का अस्तित्व नही होता तो हमको इसका कुछ भी ज्ञान नहीं होता, हमे समय की कोई कल्पना नही होती और न परिवर्तन के सम्बन्ध मे ही हम समय की गणना करते। साख्य ने काल को वास्तविक स्वतत्र अस्तित्व, के रूप मे स्वीकार नही किया है। साख्य के अनुसार एक परमाणु द्वारा जितना स्थान घेरा जाता है उतने

---

[1] न्याय और वैशेषिक दर्शन को एक ही दर्शन प्रणाली के रूप मे मान कर प्रस्तुत किया गया है। इन दोनों में प्रारम्भिक काल में कुछ अन्तर रहा है जिसकी विशद व्याख्या पूर्व पृष्ठों मे पहले ही की जा चुकी है। सन् ६०० ईसवी से ये दोनो दर्शन धाराएँ एक ही मानी जा रही है। इन दोनों दर्शनो के सिद्धान्त न केवल एक-दूसरे की पुष्टि करते हैं पर एक-दूसरे के पूरक भी है।

[2] न्याय कंदलि पृ० ५९-६४ देखिए।

स्थान को दूसरा परमाणु जितने समय में पार कर लेता है उतना समय काल की ईकाई परमाणुओं की गति से अलग काल का कोई अस्तित्व नहीं है। काल की कल्पना हमारी बुद्धि की अपनी कल्पना है जिसे 'बुद्धि निर्माण' की संज्ञा दी गई है। परन्तु वैशेषिक दर्शन मे काल को एक ऐसा तत्व माना है जिसकी स्वतंत्र सत्ता है। वस्तुओं के परिवर्तन से हमे काल की भूतकालिका, वर्तमान और भविष्य की सत्ता का ज्ञान होता है। सांख्या उधर 'काल' को प्रकृति विकास की विभिन्न व्यक्त अवस्थाओं में (अध्वन) वस्तुओ के निर्माण या सगठन मे, (भूत, भविष्य और वर्तमान) प्रक्रिया मात्र समझता है। अर्थात् काल क्रम से प्रकृति की सामान्य अवस्था मे विकृति होकर वस्तुओ का सगठन प्रारम्भ होता है और सृष्टि विकास का क्रम प्रारम्भ होता है इस व्यक्त प्रकृति के विकास की अवस्थाओ में वस्तुओं का संयोग, संगठन परमाणुओ के सन्निवेश से होता है। इस परमाणु सन्निवेश की प्रक्रिया ही 'काल' है, परमाणु की परमाणु-प्रदेश तक गति ही काल की इकाई है। ज्योतिर्विद इस 'काल' की उत्पत्ति ग्रहो की गति के कारण मानते है। परन्तु इन सबके विपरीत न्याय-वैशेषिक काल को सर्वव्यापक, सम्पूर्ण अवयवहीन तत्व मानता है जो इससे सम्बन्धित वस्तुओ में परिवर्तन की अपेक्षा से अनेक दिखाई देता है।[1]

सातवां तत्व दिक् (दिशा) है। यह वह तत्व है जिसके कारण हम वस्तुओ को दाएँ, बाएँ, पूर्व, पश्चिम मे या ऊपर, नीचे देखते है। काल के समान ही 'दिक्' तत्व भी एक है। परन्तु परम्परा के अनुसार इसके दस प्रकार माने जाते हैं जिनमे आठ प्रकार, आठ दिशाओ के परिचायक हैं और दो ऊर्ध्व (ऊपर) और ध्रुव (नीचे की दिशा) माने जाते है।[2] अठवां तत्व 'आत्मा' है जो सर्वव्यापक है। प्रत्येक पुरुष की आत्मा पृथक्-पृथक् है। ज्ञान, सुख और दुःख की अनुभूति, इच्छा आदि आत्मा के गुण हैं। 'मनस' नवां तत्व है। 'मनस' परमाणु के समान सूक्ष्म है और स्मृति का आधार है। ज्ञान, अनुभूति और सकल्प आत्मा मे मन के सयोग से उत्पन्न होते है। प्रत्येक बार जब मन का आत्मा के साथ सम्पर्क होता है तो आत्मा मे एक नवीन भावना या अनुभूति का प्रादुर्भाव होता है, इस प्रकार हमारे सारे मानसिक अनुभव और बौद्धिक चेतना एक क्रम मे उत्पन्न होती हैं, एक साथ ही अनेक अनुभूतियो का आविर्भाव नहीं हो सकता। इन सब तत्वो के ऊपर सर्वोपरि 'ईश्वर' की स्थिति है। द्रव्य की परिभाषा यह है कि इसकी स्वतन्त्र स्थिति है, परन्तु द्रव्येतर अन्य वस्तुएँ बिना किसी आधार के अपने आपको (व्यक्त) नही कर सकती जैसे गुण, कर्म सामान्य, विशेष

---

[1] 'न्याय कदलि' पृ० ६४-६६ और 'न्याय मंजरी' पृ० १३६-१३९ देखिए। वैशेषिक काल को परिवर्तनशील वस्तुओं का कारण मानता है पर नित्य शाश्वत वस्तुएँ काल की गति से परे हैं, ऐसा उल्लेख करता है।

[2] कंदलि' पृष्ठ ६६-६९ और न्याय मजरी पृ० १४० देखिए।

'समवाय' आदि द्रव्य की सहायता के बिना दिखाई नही दे सकते। इस प्रकार द्रव्य इस सब का 'आश्रय' है जिन पर ये वस्तुएँ 'आश्रित' हैं। 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, 'विशेष' और 'समवाय' वह मूल तत्व हैं जिनसे ससार के पदार्थ निर्मित हैं।[1] जब मनुष्य सत्यज्ञान के मार्ग मे प्रवृत्त होकर, दोषादि को जानकर उपर्युक्त तत्वों के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, तो वह बाह्य विषयों से विरक्त होकर, आत्मज्ञान के अभ्यास से बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[2] न्याय वैशेषिक एक बहुवादी दर्शन है जो अनुभव की विविधता को न एक सर्वव्यापी सिद्धान्त मे बाँधना चाहता है और न तर्क के प्रवाह मे व्यावहारिक सत्यो को छोड़कर काल्पनिक अभूत विचारों का प्रश्रय लेता है। जो तथ्य स्थूल रूप से प्रत्यक्ष, दृष्टिगोचर होते हैं, उन अनुभव सिद्ध तथ्यों की ओर से आँख मूंद लेना यह उचित नही समझता। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक प्रकार के बोध के पीछे निश्चित रूप से वह वस्तु मूर्त-रूप मे होनी चाहिए जिससे बोध प्रारम्भ होता है, जो इन्द्रिय बोध का आधार है। न्याय वैशेषिक ने अनुभव के प्रत्यक्ष और सकल्पना को कई प्रकारो मे (पदार्थ-प्रकार की अन्तिम इकाई) विभक्त किया है। ये द्रव्य, गुण आदि पदार्थ संख्या मे दस हैं। यदि हम प्रत्यक्ष का उदाहरण लेकर यह कहते है कि मैं एक लाल पुस्तक देखता हूँ तो यह स्पष्ट है कि पुस्तक की स्वतत्र सत्ता है जिसमे एकत्व की और लाली की सकल्पना का आश्रय है। अत पुस्तक एक द्रव्य है जो अन्य गुण सकल्पनाओ का आधार (आश्रय) है। द्रव्य वह है जिसमे 'द्रव्यत्व' हो। इसी प्रकार 'गुण' और कर्म की परिभाषा है। द्रव्य के भेद या प्रकार करते हुए भी उसी सिद्धान्त को अपनाया गया है। उदाहरण के लिए बौद्ध और साख्य के मतानुसार सवेदना की एक इकाई के पीछे वे एक सत् के अस्तित्व की कल्पना करते थे जैसे 'श्वेतता' की अनुभूति–सवेदना की प्रत्येक इकाई श्वेतता की इकाई के अस्तित्व की द्योतक है परन्तु न्याय वैशेषिक के अनुसार सम्पूर्ण श्वेत वस्तु की एक वस्तुपरक इकाई

---

[1] वैशेषिक सूत्रों मे 'अभाव' का आश्रय 'भाव' मे ऐसा उल्लेख आया है। परन्तु बाद को उदयन आदि लेखको ने 'अभाव' को पृथक् पदार्थ के रूप मे माना है। इसके विपरीत उदयन के समकालीन श्रीधर का मत है कि श्री प्रशस्तपाद ने 'अभाव' को पदार्थ के रूप मे नही माना है क्योंकि यह 'भाव' पर आश्रित है—अभावस्य पृथगनुपदेश भावपारतंत्रात् न त्वभावात। 'न्याय कंदली' पृ० ६ और 'लक्षणावलि' पृ० २।

[2] 'तत्वातो ज्ञातेषु बाल्याध्यात्मिकेषु विषयेषु दोषदर्शनात् विरक्तस्य समीहानिवृतो आत्मज्ञस्य तदार्थानि कर्माण्यकुर्वत. तत्परित्यागसाधनानि श्रुति स्मृत्युदितानि असकल्पित फलानि उपाददान्स्य आत्मज्ञानम अभ्यास्यत: प्रकृष्ट निवर्तक धर्मोपचये सति परिपक्वात्मज्ञानस्या त्यान्तिक शरीर वियोगस्य भावात्।'

'न्याय कंदलि व 'लक्षणावली'।

है जो श्वेत गुण उत्पन्न करने वाले परमाणुओं से बनी है।[1] यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि न्याय वैशेषिक ने जहाँ भी सामान्य नियम का व्यापक भाव देखा है, उन वस्तुओं का एक वर्ग अलग से निश्चित कर दिया है जिसे 'पदार्थ' की संज्ञा दी है। वस्तुओं की प्रकृति का निरूपण करते हुए जिस कल्पना को कई वस्तुओं को अन्तिम रूप से एक समान अनुभव करते थे वही इसके पंडित विश्लेषणात्मक पद्धति के अनुसरण मे नये पदार्थों का वर्ग स्थापित कर देते थे।

षट्-पदार्थ-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय,

'द्रव्य' की व्याख्या पूर्व प्रसग मे पहले ही की जा चुकी है। द्रव्य षट् पदार्थों में से एक है।[2] गुणो मे प्रथम 'रूप' है। 'रूप' का अर्थ वर्ण से है। 'रूप' वह है जो केवल नेत्रो से देखा जा सकता है और किसी इन्द्रिय से जिसका ज्ञान सम्भव नहीं है। रूप निम्न है—श्वेत, नील, पीत, लोहित, (लाल) बादामी और विविध वर्ण ('चित्र')। 'क्षिति' (पृथ्वी) 'अप्' (जल) और 'तेजस्' (अग्नि) मे ही वर्ण पाये जाते है। जल और अग्नि के वर्ण स्थायी ('नित्य') है पर क्षिति का वर्ण ताप से परिवर्तित होता है। श्रीधर के अनुसार ताप से परमाणु गठन मे परिवर्तन हो जाता है और इस कारण मट्टी का रग ताप मे बदल जाता है। ताप से द्रव्य के परमाणु-सन्निवेश में परिवर्तन के कारण, इसका पूर्व रंग विनष्ट हो जाता है और नये परमाणु सन्निवेश मे नवीन वर्ण का आविर्भाव हो जाता है, 'रूप' विशिष्ट रगों की सामान्य सज्ञा है। 'रूपत्व' सामान्य भाव है। इसका आधार या प्रश्रय 'रूप' गुण है। 'रूप' स्वय मूर्त है जिसको नेत्रों से देखा जा सकता है। 'रूपत्व' अमूर्त है यह भाववाचक है।

दूसरा गुण 'रस' है। 'रस' (स्वाद) वह है जो रसना (जिह्वा) से जाना जाता है। 'रस' मधुर, अम्ल (खट्टा) 'कटु' 'कषाय' (कसैला) और 'तिक्त' (चरपरा) है। 'क्षिति' और 'अप्' में ही रस होता है। अप् का स्वाभाविक रस (स्वाद) मधुर है। 'रूप' के समान ही रस भी 'रसत्व' के भाव को प्रकट करता है। 'रस' शब्द गुणवाचक और भाववाचक दोनो ही के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। विशिष्ट रस का और 'रसत्व' दोनों का जिह्वा से ही बोध होता है।

तीसरा गुण 'गन्ध' है। इस गुण का बोध नासिका से होता है। गन्ध केवल 'क्षिति' का गुण है। वायु या जल मे गन्ध क्षिति के प्रभाव से उत्पन्न होती है।

---

[1] ये प्रसग सौत्रांतिक बौद्ध दर्शन की ओर सकेत करता है, "ये यो विरुद्धाध्यासवान ना सावेका:।" पंडित अशोक की 'अवयविनिराकरण' 'सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स' में देखिये।

[2] 'पदार्थ' का वास्तविक अर्थ शब्द (पद) की व्याख्या है।

क्षिति के सूक्ष्मतत्व जब वायु या जल मे मिल जाते हैं, तो उनमें गन्ध उत्पन्न हो जाती है।

चौथा गुण 'स्पर्श' है। स्पर्श-बोध का साधन त्वचा है। स्पर्श तीन प्रकार का है, उष्णा, शीत और 'शतोष्णा'। क्षिति अप् तेजस् और वायु में स्पर्श गुण पाया जाता है। पाँचवा गुण शब्द है जो आकाश का गुण है। यदि आकाश नहीं होता तो शब्द भी नही होता। आकाश, शब्द का आधार है।

छठा गुण 'संख्या' है। सख्या वह गुण है जिसमे हम वस्तुओं की गणना करते हैं। वस्तुओ मे सख्या की कल्पना बुद्धि गति की अपेक्षा से है अथवा 'अपेक्षाबुद्धि' के कारण है। उदाहरण के लिए जब दो घडे दिखाई देते हैं तो हम सोचते है कि यह पहला घडा है और यह दूसरा है। यही 'अपेक्षाबुद्धि' है। घडों को पहली दृष्टि में देखने पर घड़ों मे 'द्वित्व' भाव की उत्पत्ति होती है, और फिर हमारी बुद्धि में अनिश्चयात्मक द्वैत कल्पना ('निर्विकल्प द्वित्व गुण') की जागृति होती है और फिर एक क्षण मे यह निश्चयात्मक बोध हो उठता है कि ये दो घडे हैं। इसी प्रकार अन्य सख्याओं का भी निर्विकल्प और सविकल्प क्रिया से बोध होता है।[1]

सातवां गुण 'परिमिति' है। यह वह गुणवता है जिससे हम वस्तुओ को बडे, छोटे स्वरूप मे देखते हैं और उनको तदनुसार सज्ञा देते है। अखड, अविभाज्य गोल परमाणुओ का माप 'परिमडल परिमाण' कहलाता है। यह 'परिमाण' नित्य शाश्वत है, इससे किसी अन्य परिमाण की उत्पत्ति नही हो सकती यह सूक्ष्मतम परिमाण है। जब दो परमाणुओ के मेल से 'द्वणुक' (दो परमाणुओ द्वारा बना द्रव्य) का निर्माण होता है तब परमाणु के परिमाण से इस 'द्वयणुक' के परिमाण की उत्पत्ति नही होती है। 'द्वयणुक' का परिमाण भिन्न प्रकार का है, यह परिमाण 'ह्रस्व' है। यदि 'परिमडल परिमाण' से 'द्वयणुक' परिमाण की उत्पत्ति होती तो यह परिमाण, आणविक परिमाण से भी छोटा होता।[2] दो अणु मिलकर एक 'द्वयणुक' का सृजन करते है पर इन दोनो के मिलने से एक अन्य प्रकार के परिमाण 'ह्रस्व' की उत्पत्ति होती है जब तीन द्वयणुक

---

[1] यह निश्चित रूप से वैशेषिक दृष्टिकोण है जिसका सूत्रपात प्रशस्तपाद ने किया है। श्री शकर मिश्र का 'उपस्कार' देखिये।

[2] ध्यान देने योग्य बात यह है कि आणविक माप के दो स्वरूप है, परमाणु मे यह नित्य शाश्वत परिमाण है और द्व्यणुक में यह अनित्य-अस्थायी है। 'परिमडल परिमाण' 'अणुपरिमाण' का एक प्रकार है। ये दोनो परिमाण द्वयाणुक परिमाण के दो परिमाण या बिमित्त है। जैसे 'त्र्यणुक' मे महत् और दीर्घ दो प्रकार के परिमाण है। —न्याय कंदलि पृ० १३३।

मिलकर एक 'त्र्यणुक' का निर्माण करते है तब उनकी सख्या 'महत्' परिमाण का कारण होती है। द्वयणुक के ह्रस्व परिमाण महत् का हेतु नही है। परन्तु जब हम इन स्थूल 'त्र्यणुक' से द्रव्यनिर्माण की कल्पना करते हैं तो इन 'त्र्यणुक के महत् परिमाण से अन्य स्थूल द्रव्यों के परिमाण भी महत् रूप ग्रहण करते है। जितने अधिक त्र्यणुक द्वारा एक वस्तु बनती है, उतना ही बड़ा स्वरूप (महत् परिमाण) उस स्थूल वस्तु का हो जाता है। इन 'त्र्यणुक' का माप केवल 'महत्' ही नही होता पर 'दीर्घ' (लम्बा) भी होता है। यह इसके परिमाप की दूसरी दिशा है। त्र्यणुक की सख्या जैसे किसी स्थूल सयोग में बढती जाती है वैसे ही उसकी 'परिमिति' दीर्घ या 'महत्' होती जाती है। क्योकि 'त्र्यणुक' अणुओ से बने है अत अणु के समूह से बनने के कारण इन स्थूल वस्तुओ का परिमाण इन अणुओ मे निश्चित रूप से महत् और दीर्घ होगा। परन्तु द्वयणुक का परिमाण जो ह्रस्व कहलाता है अपने आप मे भिन्न है, यह परिमाण का एक विशिष्ट प्रकार है जो महत् आदि से भिन्न है। उदाहरण के लिए स्थूल, महत् और दीर्घ तत्वो की वृद्धि होने पर और अधिक स्थूलता, महत्ता या दीर्घता में वृद्धि होती है, उसी आधार पर द्वयणुक जिनका परिमाण 'ह्रस्व' है, उनके समूह की वृद्धि से ह्रस्वता मे वृद्धि होनी चाहिए। यदि महत के योग से महत् की वृद्धि होती है तो उसी आधार पर ह्रस्व से ह्रस्व की वृद्धि होनी चाहिए। इस युक्ति से त्र्यणुक जो द्वयणुक से ही 'ह्रस्व' (छोटे) होने चाहिए। इसी प्रकार आणविक और 'परिमडल' (गोलाकार) परिमाण से द्वयणुक के परिमाण की उत्पत्ति होने से द्वयणुक का परिमाण और भी अधिक आणविक होना चाहिए। इस विरोधाभास से स्पष्ट है कि आणविक परिमाण को अन्य परिमाण मे भिन्न और विशिष्ट मानना चाहिए। यह समझना उचित नही है कि आणविक परिमाण की समूह वृद्धि से महतया दीर्घ परिमाणो की उत्पत्ति होगी। द्वयणुक और त्रयणुक अणुओ से निर्मित है पर अपने कारण के परिमाण गुण से भिन्न परिमाण गुण वाले हैं। अणु और द्वयणुक के परिमाण उनके कार्य रूप त्रयणुक के परिमाण की उत्पत्ति नही करते हैं। वास्तव मे उनकी सख्या से त्रयणुक का परिमाण विनिश्चित होता है। इनसे अणु परिमाण, दीर्घ-परिमाण का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आकाश, काल, दिक् और आत्मा जो सर्वव्यापक है, उनका परिमाण 'परममहत्' माना जाता है। अणु, आकाश, काल, दिक्-मानस और आत्मा का परिमाण नित्य (शाश्वत) माना जाता है। अन्य सब अनित्य वस्तुओ के परिमाण भी अनित्य माने जाते है।

आठवां गुण 'पृथक्त्व' है। इससे वस्तुओ की भिन्नता का ज्ञान होता है यथा यह वस्तु इससे भिन्न है। यह भिन्नता हमे निश्चित रूप से प्रतीत होती है। यह नकारात्मक गुण नही है–यह नही समझा जाता कि यह घडा वह घडा नहीं है। यह एक निश्चयात्मक स्थिति का बोध करता है कि यह घडा उस घड़े से 'पृथक्' है।

नवां गुण 'सयोग' है। इस गुण से वस्तुओं के सम्बन्ध या संयुक्ति का ज्ञान होता है।

दसवाँ गुण 'विभाग' है जो सम्बन्ध को नष्ट कर नियुक्ति कर देता है।

ग्यारवाँ और बारहवाँ गुण 'परत्व' और 'अपरत्व' है जिसके द्वारा हमें अधिक और कम समय और निकटता और दूरी का बोध होता है।

अन्य दूसरे गुण 'बुद्धि' (ज्ञान) सुख, दुख, 'इच्छा', 'द्वेश' और 'यत्न' है जो केवल आत्मा के गुण है।

'गुरुत्व' वह गुण है जिसके कारण वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती हैं। 'स्नेह' (तरलता) का गुण जल का है। 'सस्कार' गुण तीन प्रकार के होते हैं। पहला 'वेग' जिसके कारण विभिन्न वस्तुएँ विभिन्न दिशाओं मे गतिमान रहती है। दूसरा 'स्थिति-स्थापक' जिसके अनुसार कोई भी स्थूल द्रव्य स्थिति भंग होने के पश्चात् अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त होना चाहता है। तीसरा 'भावना' आत्मा का गुण है। यह वह गुण है जिससे जिन वस्तुओ का हम अनुभव करते है उनकी स्मृति रखते हुए उनको पुनः पहचानते हैं।[1] 'धर्म' वह गुण है जिससे आत्मा को आनन्द और मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2] 'अधर्म'

---

[1] श्री प्रशस्तपाद कहते है कि–'भावना' आत्मा का वह विशेष गुण है जिसके द्वारा आत्मा वस्तुओ को देखती है, उनकी स्मृति रखती है और फिर उनको पहचानती है। यह दुःख, ज्ञान आदि से भिन्न है। आशातीत दृश्य जैसे दक्षिण भारतीय द्वारा ऊँट को देखना, पुनरावृत्ति (पढ़ाई आदि मे) और प्रबलजिज्ञासा के कारण सस्कार प्रबल हो जाते है। देखिए 'न्याय कंदलि' पृ० २६७ 2-11 कणाद इस विषय पर मूक हैं। उनका केवल इतना ही कथन है कि बुद्धि एव आत्मा के सम्पर्क से और सस्कार के कारण 'स्मृति' उत्पन्न होती है।

[2] प्रशस्तपाद के अनुसार धर्म आत्मा का गुण है। इस पर श्रीधर यह संकेत करते है कि यदि यह सही है तो फिर धर्म को कर्म की सामर्थ्य मे अलग मानना पड़ेगा। (ना कर्म सामर्थ्यम्) श्री प्रशस्तपाद का मत है कि यज्ञ आदि 'धर्म' नही है क्योंकि ये कर्म क्षणिक हैं अत. इनसे उस प्रभाव की उत्पत्ति नही हो सकती जिसका फल भविष्य मे प्राप्त होगा। यदि कर्म समाप्त हो जाता है तो उसकी 'सामर्थ्य' स्थायी नही रह सकती। अत 'धर्म' गुण है जो कुछ शुभ कर्मों से आत्मा मे उत्पन्न होता है। स्थान-काल आदि के अवस्था सयोग से आनन्द की प्राप्ति होती है। श्रद्धा, अहिंसा, प्राणिमात्र का हितचिन्तन (परोपकार) पवित्र आहार, शास्त्रानुसार कर्त्तव्यों का पालन, वर्ण (जाति) और अवस्था के अनुसार अपने धर्म का पालन वे कर्त्तव्य है जिनको अपनाने से प्रशस्तपाद के अनुसार धर्म की उत्पत्ति होती है। जो व्यक्ति उपर्युक्त कर्त्तव्यो को जीवन का अंग बनाकर (पातंजलियोग के अनुसार) यम-नियमों का पालन करते हैं, जो षट् पदार्थों का ध्यान कर योग साधना करते हैं वे धर्म को प्राप्त कर, मोक्ष लाभ करते हैं। श्रीधर मोक्ष-प्राप्ति के लिए, 'सांख्ययोग' दर्शन

वह गुण है जिससे मनुष्य दुःख के बन्धन मे बधता जाता है। 'अदृष्ट' वस्तुओ और आत्मा का वह गुण है जिससे इस समस्त ब्रह्माण्ड की व्यवस्था की स्थापना होती है और जो आत्मा को उसके गुणानुसार भोग मे प्रवृत्त करती है। अर्थात् आत्मा अदृष्ट के कारण अपने कर्मों का फल भोगती है।

'कर्म' का अर्थ गति है। द्रव्य और गुण के समान इसकी भी स्वतंत्रता है। गति पाँच प्रकार की है (१) ऊर्ध्वगति (२) अधोगति (३) सकुचन (४) प्रसरण (५) सामान्य गति। गुणों के समान कर्म का भी आश्रय द्रव्य है, कर्म से ही द्रव्य मे गति उत्पन्न होती है।

'सामान्य' चौथा वर्ग है। इसका तात्पर्य है 'जाति' या अनेक वस्तुओं मे पाया जाने वाला समान भाव। एक से गुणों वाली वस्तुओं की एक जाति होगी। उदाहरण के लिए गायो के वर्ण अलग-अलग हो सकते है पर उन सब मे सामान्य रूप से एक से गुण पाए जाते है अतः उनको गौ जाति या गौ वंश के नाम से पुकारते हैं जिससे उस जाति के वर्ग का बोध होता है। इसी प्रकार अनेक प्रकार की विभिन्नता होने हुए भी वस्तुओ मे 'सत्ता' का सर्वनिष्ठ गुण पाया जाता है, अत इनको 'सत्' की सज्ञा दी है वह 'सत्' है जिसका अस्तित्व है। 'सत्' द्रव्य, कर्म और गुण तीनो मे पाया जाता है। उच्चतम जाति 'सत्ता' है जिसे 'पराजाति' कहते है, यह उच्चतम सार्वदेशिक, सार्वत्रिक स्थिति है। इसके पश्चात् बीच की मध्यम जाति है, जिसे 'अपरजाति' कहते है, द्रव्य, गुण, कर्म आदि इस 'अपरजाति' की श्रेणी मे आते हैं। इससे भी नीचे की श्रेणी मे अन्य जातियाँ है जैसे 'गोत्व जाति' (गाय की जाति) 'नीलत्वजाति' (नीलेपन की जाति) जिनसे एक सामान्य भाव का बोध होता है। यहाँ 'गोत्व' एक वर्ग परिवार के रूप मे दिखाई देता है परन्तु यह भी जाति है। एक दृष्टि से जो वर्ग है दूसरे से वही जाति है। इस प्रकार 'सामान्य' की एक स्वतन्त्र सत्ता है यद्यपि यह कर्म, गुण और द्रव्य मे पाया जाता है। बौद्ध 'सामान्य' की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नही करते थे। उनके अनुसार गाय का सामान्य अन्य प्राणियो का नकारात्मक स्वरूप है। गाय की सामान्य चेतना मे 'अगोत्व' का निषेध मात्र है। अत· निषेध के आधार पर किसी वस्तु की स्वतत्र सत्ता नही हो सकती। इस सामान्य का अस्तित्व यदि निषेध के ऊपर है तो इस तर्क के अनुसार किसी भी वस्तु की सत्ता हास्यास्पद के निषेध पर सत्ता को स्वीकार करता है वह अपने सर पर दो सीगों की भी सत्ता मान सकता है। अत सामान्य की अपनी कोई सत्ता नही हो सकती।[1] यह 'जाति' नित्य और अविनाभावी है क्योकि

मे वर्णित योग पद्धति का निदर्शन करते हैं। 'न्याय-कंदलि' पृ० २७२-२८०। बल्लभ रचित 'न्याय-लीलावती' पृ० (७४-७५) (बम्बई १९१५) भी देखिए।

[1] बौद्ध प. अशोक का कथन है कि विभिन्न व्यक्तियों मे कोई भी ऐसा गुण नही हो सकता

जाति विशेष की इकाई के नाश हो जाने पर भी उस जाति का नाश नही होता। इस प्रकार जाति शाश्वत है।[1]

'विशेष' से वस्तुओ मे भिन्नता का बोध होता है। बाह्य जगत् से प्राप्त प्रत्येक सवेदना अन्य सवेदनाओ से भिन्न होती है। जो वस्तुएँ इन सवेदनाओ का स्रोत है, निश्चय ही उनके परमाणुओ मे कुछ अन्तर होना चाहिए जिसके कारण इनमे यह भिन्नता उत्पन्न होती है। इन परमाणुओ मे ये विशिष्ट भेद शाश्वत है, चूँकि मुक्त आत्मा और बुद्धि की सत्ता शाश्वत है। इस 'विशेष' भेद के कारण ही योगी-गण अणुओं के अन्तर को सहज ही जान लेते है।

'समवाय' व्याप्ति-सम्बन्ध है। 'समवाय' के द्वारा दो विभिन्न वस्तुओ मे ऐसा सम्बन्ध स्थापित होता है जिसमे दोनो वस्तुएँ अविभाज्य दिखाई देती है।

जो सर्वनिष्ठ हो जिसके आधार पर 'सामान्य' की स्थिति की स्थापना की जा सके। यदि ऐसी कोई वस्तु होती तो हम रसोईये (पाचक) को देखकर बिना उसके कार्य को देखे ही तत्काल कह देते है कि यह पाचक है। 'सामान्य' उनके कर्म मे है। यदि रसोइयो के कार्य मे समानता है तो इस कर्म के सामान्य से रसोइयो की एक जाति नही हो सकती क्योकि सामान्य भाव रसोइयो मे न होकर अन्य वस्तु मे अर्थात् उनके कर्म मे है। यदि गाय की विशिष्टताओ मे कोई कोई एक सामान्य घटक (उपादान) के स्थापित करने की आवश्यकता है तो फिर इन घटको मे पुन एक सर्वनिष्ठ घटक की आवश्यकता होगी और फिर उनमे किसी सामान्य घटक को ढूंढना होगा। इस क्रिया का कोई अन्त नही होगा, यह केवल अनवस्था-दोष होगा। जो वस्तु बोधगम्य है और बोधित नही होती उसका अस्तित्व नही हो सकता। 'यद्यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तम् सन्नोपलभ्यते तत्तदसत्' क्योकि 'सामान्य' ऐसा है और वह बोधित नही होता अत. यह असत है इसका कोई अस्तित्व नही है। सामान्य की कोई सत्ता नही हो सकती। अस्तित्व और अनस्तित्व के पूर्व सस्कारो के कारण इस प्रकार की कल्पना की उत्पत्ति होती है जिसे बाह्य वस्तुओ मे आरोपित कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त सामान्य के किसी बाह्य स्वरूप का भी बोध नही होता। ('सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता' सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स मे देखिए) वेदान्त का भी यह मत है कि हम 'जाति' को एक स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप मे न 'प्रत्यक्ष' से और न 'अनुमान' से, स्वीकार कर सकते है। अत. यह भी 'जाति' को अस्वीकार करता है। इस विषय मे 'वेदान्त परिभाषा', 'शिखामणि', 'मणिप्रभा', पृ० ६०-७१ देखिये। श्री हर्ष का 'खडनखंडखाद्य' पृ० १०७९-१०८६ भी देखे।

[1] 'सादृश्य' को अतिरिक्त या पृथक् के रूप मे नही देखते है क्योंकि यह भिन्नता मे एकता है ('तदभिन्नत्वे सति तदगत भूयोधर्मवत्वम्')।

द्रव्य और उसके गुण मे, द्रव्य और कर्म (गति) मे, द्रव्य और सामान्य मे, कारण और कार्य मे, परमाणु और 'विशेष' मे, समवाय सम्बन्ध के कारण ऐसा दिखाई देता है कि ये एक ही हैं। इस सम्बन्ध का कारण एक विशेष प्रकार की लक्षणात्मक अन्त. व्याप्ति है जो सदैव, सर्वत्र, सर्वपरिस्थितियों मे अन्तर्निहित रहती है। वस्तु विशेष के नाश होने से भी व्याप्ति-भाव मे अन्तर नहीं आता। सयोग अथवा सम्पर्क से यह भिन्न है। सपर्क या संयोग के कारण दो वस्तुओ मे कुछ समय के लिए सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो पहले नही था जैसे लेखनी को मेज पर रख देने से इन दोनो का सयोग हो गया। ये पहले अलग-अलग थी फिर दोनो का सयोग ('युतसिद्ध') हुआ। सयोग यहाँ पर ऐसा गुण विशेष है जिसके कारण थोडे समय के लिए दोनो मे सम्बन्ध स्थापित होना दिखाई देता है। परन्तु समवाय के कारण भिन्न वस्तुएँ जैसे द्रव्य, गुण, कर्म एवं कारण और कार्य (मिट्टी और घडा) एक ही दिखाई देती है उनमे भेद नही दिखाई देता जिसे 'अयुतसिद्ध' की सज्ञा दी गई है। अतः यह सम्बन्ध एक भिन्न वर्ग का है। यह संयोग की तरह अस्थायी नही है। यह नित्य सम्बन्ध है क्योंकि इसका कारण नही है। वस्तु विशेष का नाश हो सकता है पर इस समवाय सम्बन्ध का नाश नही होता क्योकि समवाय सम्बन्ध किसी के द्वारा स्थापित नही किया गया। यह वस्तुओ मे प्रकृति रूप से पाया जाने वाला शाश्वत सम्बन्ध है। अतः समवाय (व्याप्ति) को नित्य मानते है।[1]

ये छै वर्ग 'षट् पदार्थों' के नाम से जाने जाते हैं। इनका बोध प्रत्यक्ष अनुभव से होता है और इनको दार्शनिक साहित्य मे स्वतत्र सत्ता के रूप मे स्वीकार किया गया है।

कारणवाद सिद्धान्त

न्याय वैशेषिक दर्शन का दृष्टिकोण जीवन के सामान्य अनुभवो और उनसे ज्ञात

---

[1] वेदान्ती दो भिन्न वस्तुओ मे (द्रव्य और गुण) समवाय सम्बन्ध को स्वीकार नही करते हैं। 'ब्रह्मसूत्र' मे शकराचार्य का कथन है कि यदि दो भिन्न वस्तुओं के सबध के लिए 'समवाय' को स्वीकार किया जाता है तो फिर इस समवाय और वस्तु विशेष के सम्पर्क के लिए कोई और समवाय ढूंढना पड़ेगा और फिर उस तीसरे को जोड़ने के लिए चौथा समवाय और इस प्रकार 'अनवस्था दोष' की उत्पत्ति होगी। न्याय इसको दोषपूर्ण नही मानता। भारतीय दर्शन प्रणाली मे दो प्रकार की अनवस्था का उल्लेख है। पहला 'प्रामाणिकी अनवस्था है जो प्रमाण के कारण मान्य 'अनवस्था' है और दूसरी 'अप्रामाणिकी अनवस्था' है जिसमे एक अन्तहीन शृंखला का क्रम चलता है।

सत्यों पर आधारित है। ये सत्य वे है जिनको हम साधारण रूप से नित्य प्रति के सामान्य अनुभव के द्वारा प्राप्त करते है और वाणी द्वारा प्रकट करते है। इस प्रकार न्याय वैशेषिक 'द्रव्य' 'गुण' 'कर्म' और 'सामान्य' को स्वीकार किया है। 'विशेष' को भी इस दर्शन ने परमाणुओ के विशेष सगठन के रूप मे स्वीकार किया है। परन्तु न्याय वैशेषिक ने इसे स्वीकार नही किया कि वस्तुओ मे सदैव परिवर्तन होता रहता है अथवा किसी भी वस्तु के परमाणु-सगठन या वयाक्रम में परिवर्तन करने से किसी भी अन्य वस्तु का निर्माण किया जा सकता है। न्याय वैशेषिक यह भी नही मानते कि कार्य की कारण मे पूर्व स्थिति है। इस दर्शन का मत है कि किसी भी कार्य की सिद्धि मे कुछ क्षमता, उपादान कारण मे (जैसे मिट्टी मे), और कुछ क्षमता नैमित्तिक कारणो मे (जैसे कुम्हार का चक्र, लकडी आदि) मे होती है। इन विभिन्न कारणो की सम्मिलित क्षमता मे कारण का लोप होकर नए कार्य की उत्पत्ति होती है। इस कार्य की पहले कोई स्थिति नही थी। यह सर्वथा नवीन अस्तित्व है। यह 'असत्कार्यवाद' कहलाता है। साख्य के सिद्धान्त से यह एकदम विपरीत है। साख्य के अनुसार जिसकी स्थिति है, जिसका अस्तित्व है उसका अनस्तित्व नही हो सकता। अर्थात् जो एक समय 'सत्' है वह 'असत्' नही हो सकता। 'नाभावो विद्यते सत.'। इसके साथ ही साख्य मतानुसार जिसका अस्तित्व नही है वह उत्पन्न नही किया जा सकता। 'नासतो विद्यते भाव'। जो नही है वह, जिसका अभाव है, स्थिति ही नही है वह फिर कैसे उत्पन्न हो सकता है। यदि यह मान लिया जाए कि जो 'असत्' है उसकी भी उत्पत्ति हो सकती है तो फिर खरगोश (खरहे) के सर पर सीग भी उत्पन्न हो सकते है। न्याय वैशेषिक का मत है कि उसका दृष्टिकोण यह नही है कि कोई भी वस्तु जिसका अस्तित्व नही है उत्पन्न की जा सकती है। दृष्टिकोण यह है कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है उसका पहले अभाव था।

मीमासा का कथन है कि कारण मे एक ऐसी अज्ञात क्षमता और शक्ति है जिससे कार्य सम्पन्न होता है। न्याय का मत है कि यह न तो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है न इसे किसी वैध प्रक्कल्पना के रूप मे ही स्वीकार किया जा सकता है। कारण की प्रक्रिया मे किसी इन्द्रियातीत तत्व की कल्पना अस्वाभाविक सी लगती है। क्योकि इन प्रक्रियाओं को आणविक क्रिया (परिस्पन्द) के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है कारण-कार्य के मध्य केवल स्थायी पूर्ववर्तिता और अनुवर्तिता सम्बन्ध है। परन्तु किसी कार्य के कारण के लिए केवल 'पूर्ववर्तिता' सम्बन्ध ही पर्याप्त नही है। यह अनन्य-पूर्ववर्तिता होनी चाहिए—"अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।" 'कार्य-कारण भाव' मे निरुपाधिता और स्थायी 'निरपवादिता' आवश्यक है। कार्य विशेष का कारण विशिष्ट एवं निश्चित होगा। इसमें न अपवाद का प्रश्न उठता है और न किसी प्रकार की अन्य उपाधि या शर्त का। किसी निश्चित पूर्ववर्ती कारण के साथ

अन्य छोटे-मोटे तत्व भी हो सकते है और ये भी एक प्रकार से उस कारण के समान ही निश्चित और अपरिवर्तनशील माने जा सकते हैं पर ये तत्व गौण और समपार्श्वी हैं पूर्ववर्तिता अन्य कारण पर निर्भर है, यह स्थिति स्वतन्त्र नही है (न स्वातन्त्र्येण)। कुम्हार की छड़ी घड़े के निर्माण मे निश्चित एवं अपरिवर्तनीय पूर्ववर्तिता स्थान रखती है। इसमे किसी अपवाद का स्थान नही है। घडे के निर्माण मे उसकी पूर्ववर्तिता निरपवाद एव निरूपाधि है। परन्तु यह बात उस छडी के रग अथवा आकार के लिए नही कही जा सकती। उसका रग या लम्बाई में अन्तर हो सकता है, वह किसी प्रकार की लकडी का दड हो सकता है, अतः यद्यपि इस दंड का रग-रूप गौण रूप से निर्माण मे सहायक हुआ है अथवा समपार्श्वी रहा है परन्तु यह रग या बनावट घडे के निर्माण का कारण नही हो सकती। इसी प्रकार पूर्ववर्ती कारणो के साथ कई प्रकार के सचारी भाव भी सलग्न हो जाते है और यह भी सम्भव है कि ये सचारी भाव भी अपरिवर्तनशील-पूर्ववर्तिता का रूप धारण करले पर ये स्वय निरुपाधिक नही हो सकते क्योकि ये भी अपनी स्थिति के लिए मुख्य भाव पर निर्भर है। उदाहरण के लिए घडे के निर्माण मे कुम्हार की छडी अथवा उसके चाक की ध्वनि उत्पन्न होती है, आकाश मे वायु के द्वारा इस ध्वनि का सचरण होता है। परन्तु यह ध्वनि, आकाश एव वायु घडे के निर्माण के कारण के रूप मे स्वीकार नही की जा सकती। इसी प्रकार कारण के कारणो को भी कारण के रूप मे स्वीकार करना उचित नही है। कुम्हार घडे का पूर्ववर्ती कारण है, परन्तु कुम्हार का पिता जो कुम्हार का कारण है, घडे के पूर्ववर्ती कारण के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। अत. यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ववर्तिता अपरिवर्तनशील और निरुपाधिक ही नही वरन् तात्कालिक भी होनी चाहिए। निश्चित रूप से उस कार्य विशेष की पृष्ठभूमि मे जिसकी प्रत्यक्ष एव तात्कालिक स्थिति है वही पूर्ववर्तिता कारण रूप मे स्वीकार की जा सकती है। वे सब तत्व जो बाह्य दृष्टि से पूर्ववर्ती दृष्टिगोचर होते है, परन्तु जिनको गौण मान कर छोडा जा सकता है, कारण-तत्वो के रूप मे अस्वीकार्य समझे जाने चाहिए।

डाक्टर सील इस सम्बन्ध की बडे सुन्दर शब्दो मे व्याख्या करते हुए कहते हैं—'इस तथ्य का निश्चय करने मे कि कौन सा तत्व किसी कार्य विशेष के कारण रूप मे स्वीकार करना चाहिए, और कौन से तत्व गौण, समपार्श्वी अनावश्यक, अपेक्षाधिक एवं अक्रिय माने जाने चाहिए, सबसे बडा परीक्षण शक्ति के व्यय का है। ऊर्जा के व्यय की इस कसौटी को न्याय स्पष्ट भौतिक दृष्टि से उस क्रिया के रूप मे देखता है जिसमे आणविक क्रिया के रूप मे ऊर्जा का व्यय होता है, जिसको न्याय ने परिस्पन्द क्रिया का नाम दिया है। न्याय किसी अन्य दैवी अथवा अतीन्द्रिय शक्ति को कारण तत्व के रूप मे स्वीकार नही करता। ('परिस्पन्द इव भौतिको व्यापारः करोत्यर्थ. अतीन्द्रियस्तु व्यापारो नास्ति।' जयन्त रचित मंजरी आह्निक)।'[1]

[1] डॉ पी. सी. राय 'हिन्दू कैमिस्ट्री' १९०० पृ० २४९-२५०।

न्याय के अनुसार ऊर्जा का स्रोत गति है अर्थात् सारी ऊर्जा गतिज है। किसी भी कार्य की सृष्टि मे, कारण क्रिया अवश्यभावी है। कारण क्रिया गतिज है अर्थात् यह एक भौतिक प्रक्रिया है जिसमे कार्य विशेष के लिए निश्चित आणविक आन्दोलन अथवा परिस्पन्द होता है। यह गति के रूप मे होता है, इस गति में ऊर्जा का व्यय होता है। इस प्रकार ऊर्जा का न्याय अथवा निश्चित गतिज प्रक्रिया ही किसी भी कार्य का हेतु बनती है। यह न्याय का निश्चित मत है। साख्य के द्वारा जिस उत्पादक शक्ति की एक अतीन्द्रिय कल्पना की गई है उसका न्याय विरोध करता है। किसी कार्य के पीछे किसी रहस्यमयी अथवा इन्द्रियातीत शक्ति की कल्पना न्याय के अनुसार बुद्धिसगत नही दिखाई देती। 'कारण-सामग्री' कई अपरिवर्तनशील, निरुपाधिक तत्व हो सकते है परन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक कार्य, पूर्ववर्ती परिस्थितियो की सम्मिलित क्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है।[1] प्रत्येक प्रभाव या क्रिया की पृष्ठभूमि मे कुछ सामान्य परिस्थितियाँ भी विद्यमान हो सकती है। उदाहरण के लिए 'दिक्' (दिशाएँ) काल ईश्वरेच्छा, अदृष्ट आदि सभी कार्यो मे सर्वनिष्ठ रूप से विद्यमान है। इनको 'कार्यत्व प्रयोजक' की सज्ञा दी गई है। ये 'साधारण कारण' के रूप मे है जो सभी कार्यों के लिए समान है। विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट कारण आवश्यक है। ये विशिष्ट कारण 'असाधारण कारण' के रूप मे जाने जाते है। न्याय के दृष्टि-कोण से प्रकृति के व्यापार मे किसी इन्द्रियातीत शक्ति का स्थान नही है परन्तु यह 'धर्म' को स्वीकार करता है। 'धर्म' प्रकृति की प्रक्रिया मे व्याप्त है। प्रकृति के क्रम मे धर्म के अनुसार गति होती है, प्रत्येक वस्तु का एक अपना नैतिक आधार है, इस नैतिक आधार के व्यवहार की पूर्ति प्रकृति की क्रिया के माध्यम से होती है।

जिस प्रकार वशानुक्रम से जातिविशेष मे विशिष्टता क्रम पाया जाता है उसी प्रकार कारण की व्याप्ति कार्य मे पायी जाती है जिसका विनिश्चयन कार्य विशेष मे भाव और प्रभावकी एकरमता के माध्यम से अपवादरहित अनुभूति के आधार पर सम्भव है। सरल शब्दो मे कारण मे जिस भाव अभाव की स्थिति है, कार्य मे उसका क्या स्वरूप है, इसके परीक्षण और अनुभव से व्याप्ति का विनिश्चयन हो सकता है। इस विशिष्ट व्याप्ति के आधार पर ही विशिष्ट कारण का ज्ञान होता है। किसी पूर्व निश्चित सिद्धान्त के आधार पर हम किसी सामान्य-निगमन प्रक्रिया द्वारा कारण को केवल तर्क कल्पना से सिद्ध नही कर सकते।[2]

---

[1] डॉ पी सी राय 'हिन्दू कैमिस्ट्री' १६०० पृ० २४६-२५०।

[2] इस प्रसग मे डाक्टर बी. एन. सील द्वारा लिखी हुई पुस्तक 'पाजिटिव साइन्सेज आव एनशिमेन्ट हिन्दूज' पृ० २६३-२६६ देखिए। इनके अतिरिक्त ये ग्रन्थ भी देखिए : बौद्ध मत पर 'सर्वदर्शन सग्रह', 'न्याय मंजरी', 'भाषा परिच्छेद', दिनकरी एवं

मट्टी के द्वारा घडे का निर्माण होता है। यह मिट्टी घड़े का 'समवाय कारण' कही जाती है। 'समवाय' का अर्थ विशिष्ट अन्त व्याप्ति सम्बन्ध है जो अपरिवर्तनीय है। कारण द्रव्य जब कार्य मे अपृथक रूप से पाया जाता है तो वह समवायी कारण कहलाता है। द्रव्य अथवा सामग्री के माध्यम से यदि किसी विशेष गुण का कार्य मे प्रादुर्भाव होता है तो यह असमवायी कारण कहलाता है। उदाहरण के लिए घडे के रग का कारण मिट्टी नहीं है। परन्तु मिट्टी के रग के कारण घडे के रंग का आविर्भाव होता है। मट्टी का रग अविभाज्य है। घडे का रग इस गुण का परिणाम है। मिट्टी का यह रंग घडे का असमवायी कारण कहा जाता है। समवायी कारण के जिस गुण विशेष के द्वारा कार्य मे गुण की उत्पत्ति होती है, वह असमवायी कारण के रूप मे जाना जाता है। 'निमित्त कारण' और 'सहकारी कारण' वे कहलाते है जिनके द्वारा उपादान कारण की द्रव्य विशेष के कार्य मे परिणति होती है। इस प्रकार मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार, उसका चाक छडी आदि निमित्त और सहाकारी कारण माने जाते है।

न्याय वैशेषिक कारण की गति-प्रक्रिया के पूर्व कार्य की स्थिति को स्वीकार नही करता है। परन्तु इस दर्शन की यह मान्यता अवश्य है कि कारण के गुणो द्वारा कार्य के गुणो का आविर्भाव होता है। मिट्टी के काले रग से घडे मे काला रग उत्पन्न होता है। अर्थात् घडे के काले रग का कारण मट्टी का काला रग है। पर अन्य अवस्थाओ और कारणो से इस रग मे परिवर्तन हो सकता है जैसे अग्नि के ताप से काला रग लाल रग मे बदल जाता है। दूसरा अपवाद द्वयाणुक और त्रसरेणु के परिमाण मे है जो अणु और द्वयणुक के परिमाण से निर्धारित नही होता। इस सवध मे हम पहले ही अध्ययन कर चुके है कि इनका परिमाण अणु और द्वयाणु की सख्या से निश्चित होता है।

प्रलय और सृष्टि

मीमासा के अतिरिक्त सभी हिन्दू-दर्शनो में प्रलय के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। न्याय वैशेषिक दृष्टिकोण के अनुसार ईश्वर सभी प्राणियो को शान्ति और विश्राम देने के लिए प्रलय की इच्छा करता है—'सहारेच्छो भवति'। इसके साथ ही सारी आत्माओ, शरीर, इन्द्रियादि स्थूल तत्वों मे निवास करने वाली अदृष्ट शक्ति का लोप हो जाता है, जिसे न्याय मे शक्ति प्रतिबन्ध कहा है। इस प्रकार उत्पत्ति का क्रम समाप्त हो जाता है। इसके साथ ही ईश्वर की इच्छा से प्रलय की प्रक्रिया का प्रारम्भ

मुक्तावली और तर्क-सग्रह। श्री गगेश के समय से ही अन्यथा सिद्धि के सिद्धान्त का सुचारु रूप से विकास हुआ था।

हो जाता है जिसमें सृष्टि की समस्त मुख्य और स्थूल वस्तुओं का आणविक विघटन होने लगता है। सारी पृथ्वी और सारी सृष्टि विघटित होकर अणुओं मे परिवर्तन हो जाती है। फिर ये अणु जल, तेजस और अन्ततः वायु के रूप मे स्थित हो जाते हैं। यह पार्थिव अणु और आत्मा तत्व धर्म, अधर्म और पूर्व संस्कारो के साथ निर्जीव अवस्था मे अवस्थित रहते है। आत्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति में निर्जीव, ज्ञानहीन एव चेतनाविहीन है। शरीर के साथ सम्बन्धित होने पर मानस के संयोग से ही आत्मा मे ज्ञान चेतना का उदय होता है। प्रलय की स्थिति मे आत्मा के अदृष्ट के कारण अणु सघटन नही होने पाता, अतः आत्मा विघटित रूप मे रहती है। प्रलय ईश्वर की क्रूरता का द्योतक नही है। वह प्रभु तो सासारिक प्राणियो को उनके दु.ख से छुटकारा देने के लिए थोड़े समय के लिए प्रलय की व्यवस्था करता है।

सृष्टि रचना के समय ईश्वर सृष्टि के निर्माण की इच्छा करता है। वह ईश्वरेच्छा सारी आत्माओ मे 'अदृष्ट' के रूप मे व्याप्त होकर एक नवीन स्पन्दन का प्रारम्भ करती है। इस अदृष्ट के स्पन्दन से सर्वप्रथम वायु के अणु प्रभावित होते है। आत्मा के साथ इन अणुओं का सयोग होता है। गतिज अदृष्ट ऊर्जा से अणु मिलकर द्वयाणुक और ये मिल कर त्र्यणुक की सृष्टि करते है, इनके द्वारा वायु का सचरण होता है। वायु के पश्चात् जलाणुओं के समुच्चय से जल और फिर तेजस् की सृष्टि होती है। इसके पश्चात् पृथ्वी तत्व का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार अणुओं के सयोग से जब इन चार तत्वो का निर्माण हो जाता है, तो फिर 'ईश्वर' सारे स्थूल ब्रह्माड और ब्रह्मा की सृष्टि करता है। ईश्वर द्वारा नियोजित ब्रह्मा, पुन सृष्टि-क्रम-सचालन का कार्यभार ग्रहण करता है। कर्मो के फलस्वरूप सुख, दुःख एव अन्य नियमो की व्यवस्था करता है। ईश्वर किसी स्वार्थ की दृष्टि से सृष्टि का निर्माण नही करता। वह सारे प्राणियो के हित के लिए, ज्ञान और आनन्द के लिए सृष्टि का निर्माण करता मनुष्य के धर्म और अधर्म के अनुसार ही वह सुख दुःख आदि भोगो की व्यवस्था करता है। जिस प्रकार एक स्वामी अच्छे और बुरे कर्मों के लिए पारितोषिक और दंड का विधान बनाता है। ईश्वर की अनादि अनन्त इच्छा से ही प्रलय और सृष्टि का क्रम चलता रहता है। जब वह प्रलय की इच्छा करता है तो सर्वभूत पंचतत्व आदि विलय होकर अनन्त आकाश मे लुप्त हो जाते है। स्थूल प्रकृति का क्षय हो जाता है। उसकी यह इच्छा ही आत्मा मे व्याप्त होकर अदृष्ट का रूप ग्रहण करती है। सृष्टि रचना मे 'अदृष्ट' ही नवीन उत्पत्ति मे सहायक होता है, और प्रलय काल में ईश्वरेच्छा से यहां अदृष्ट निष्क्रिय स्थिति मे रहता है। उस ईश्वर की महान् इच्छा पर ही सारी सृष्टि का क्रम निर्भर है।[1]

---

[1] देखिए, न्याय कदली, पृ० ४८ से ५४।

न्याय के अनेक विद्वान् ब्रह्मा की कल्पना को स्वीकार नही करते। मनुष्य के कर्मों के आधार पर ही प्रलय और सृष्टि का विधान नियमित होता है। सृष्टि और प्रलय उस परम ईश्वर की 'लीला' मात्र है। ईश्वर एक है। उसकी इच्छा से न केवल प्रलय और सृष्टि होती है वरन् ससार के सारे कार्य कलाप उसकी इच्छा पर ही आधारित हैं। हमारे कर्मों का फल सुख, दुःख, और बाह्य जगत् के सुव्यवस्थित नियमन और परिवर्तन सब मे उसी की इच्छा व्याप्त है। धर्म, अधर्म और मनुष्यों के कर्मों के अनुरूप ही बाह्य जगत् की व्यवस्था होती है। न्याय वैशेषिक मे यह ईश्वरेच्छा की कल्पना योग दर्शन मे वर्णित ईश्वरीय इच्छा के अधिक समतुल्य है।

ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण

साख्य का मत है कि प्रकृति का व्यवस्था क्रम स्वचालित है जिसका प्रत्येक अंग अपनी क्रियाओ मे आत्म निर्भर एव सशक्त है। इसके संचालन के लिए किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता नही है। मीमासक, बौद्ध, जैन और चार्वाक के अनुयायी सभी ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते है। न्याय का विश्वास है कि अनन्त शाश्वत अणुओं के उपादान से ईश्वर ने अपनी इच्छा शक्ति से विश्व का निर्माण किया है। प्रत्येक कार्य का कोई निमित्त कारण होना चाहिए। जैसे घडे की रचना कुम्हार के बिना नही हो सकती। इसी प्रकार इतनी विशद व्यवस्थित सृष्टि की रचना का भी कोई निमित्त कारण होना चाहिए। यह कारण 'ईश्वर' है। बौद्ध दृष्टि से यह ससार क्षणिक है पर वास्तव मे ऐसा नही है, अणु रूप मे यह विश्व शाश्वत है, अणु समुच्चय के रूप में यह, प्रभाव अथवा कार्य रूप है। घडे के समान ही यह अनेक तत्वो से निर्मित है। अतः यह निश्चित है कि इस कार्य रूपी विश्व का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। इस मत के विरोध मे यह कहा जाता है कि हमारे नित्य प्रति के अनुभव के अनुसार यह सत्य है कि प्रत्येक साधारण कार्य या प्रभाव का कोई कारण होता है, पर यह ससार इतना विशाल है कि नदियो, पहाडो और अनन्त समुद्रों वाले इस विश्व के लिए यह नियम सत्य नही हो सकता। यह हमारी अनुभूति और कल्पना का अतिक्रमण करता है ? इस कल्पनातीत विशद विश्व के लिए हमारे तुच्छ अनुभव पर आधारित साधारण नियम सत्य नही हो सकते। न्याय का उत्तर है कि जब हम दो वस्तुओ मे सह व्याप्ति के सिद्धान्त से किसी निष्कर्ष पर पहुँचते है तो हमे सह व्याप्ति के सामान्य तत्व को आधार बनाना चाहिए। उन वस्तुओ की अन्य विशिष्टताओं से भ्रान्ति मे नही पडना चाहिए। उदाहरण के लिए हम प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर अनुभव करते है कि धुएँ की अग्नि के साथ सहव्याप्ति है। इससे हमने सिद्धान्त बनाया कि जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि होनी चाहिए। क्या इसका अर्थ यह है कि छोटे आकार का धुआँ देख कर अग्नि की

कल्पना ही उचित है और यदि धुएँ के विशाल बादल दिखाई दें जो जगल की आग से उत्पन्न हुए हैं तो हमे इस धूम्र समूह को देखकर जगल मे लगी अग्नि का अनुमान नहीं करना चाहिए ? अत: हमारा निष्कर्ष यह कदापि नही हो सकता कि कारण-नियम केवल छोटी छोटी वस्तुओ मे ही लगता है और बड़ी क्रियाएँ कारण-नियम से मुक्त हैं। प्रत्येक कार्य की पृष्ठभूमि मे निश्चित रूप से अपरिवर्तनीय निरुपाधि कारण की स्थिति है, यह नियम सर्वनिष्ठ है। इस संसार की स्थिति है, यह कार्यरूप में स्थित है अत: इसका कारण अवश्यभावी है और यह कारण ईश्वर है। ईश्वर निराकार है, अकाय है अत हम उसे नही देख सकते। वह हमे दृष्टिगोचर नही होता इसका यह अर्थ नही कि उसका अस्तित्व ही नही है। कुछ लोगो का पक्ष है कि हम नित्य बीज से कोपलों और पत्तियो को अकुरित होते देखते है, यह प्रकृति की सामान्य प्रक्रिया है, इसमे ईश्वर का कोई स्थान नही है। न्याय का उत्तर यह है कि सृष्टि मे सारा व्यापार ईश्वर की ही इच्छा से होता है, बीज और फल सब उसकी इच्छा के बिना नही होते। उसकी इच्छा और शक्ति ही मूल कारण है, जब तक कोई अन्यथा सिद्ध नही करता इसके न मानने का कोई कारण नही है। वह महान् ईश्वर दयालु और अनन्त ज्ञानमय है। सृष्टि के प्रारम्भ मे उसने वेदो की रचना की। वह हमारे पिता के समान है जो बालको के हित-चिन्तन मे ही कार्यरत रहता है।[1]

न्याय वैशेषिक का भौतिकशास्त्र

जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु इनके परमाणु होते है, इस प्रकार चार प्रकार के परमाणु होते है। इन परमाणुओ मे द्रव्य मान सख्या, भार, तरलता या कठोरता, श्यानता (चिप-चिपापन) अश्यानता, वेग, विशिष्ट वर्ण, स्वाद, गन्ध, स्पर्श होता है। आकाश निष्क्रिय एवं सरचना-हीन है अर्थात् इसमे न गति है न इसकी कोई विशेष बनावट। आकाश में शब्द-तरग प्रवहमान होती है और वायु के माध्यम से ध्वनि प्रकट होती है। चार तत्वो के साथ ही आणविक सयोग सम्भव है। सृष्टिकाल मे परमाणु स्वतंत्र, असबद्ध अवस्था मे स्थित नही रह सकते। परन्तु ये परमाणु उच्चस्तरीय वातावरण मे असबध अवस्था मे अवस्थित रह सकते है।

दो परमाणुओ के मेल से द्वयणुक का निर्माण होता है। तीन व द्वयणुक के मेल से त्र्यणुक, चतुरणुक आदि का सघठन होता है।[2] इस साधारण रूप से प्रचलित मत के

[1] इस प्रसग मे देखिए श्री जयन्त रचित 'न्याय मजरी' पृ० १९०-२०४, उदयन रचित 'कुसुमांजलि प्रकाश' के साथ, और श्री रघुनाथ द्वारा लिखो 'ईश्वरानुमान'।

[2] 'कदाचित् त्रिभिरारभ्यते इति त्र्यणुकमित्युच्यते, कदाचित् चतुरभिराभ्यते कदाचित् पचभिरिति यथेष्टम् कल्पना।' 'न्याय कंदलि' पृ० ३२।

अतिरिक्त डाक्टर बी एन सील अपनी पुस्तक "पोजिटिव साइन्सेज ऑफ दि एन्शियेन्ट हिन्दूज" में एक अन्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करते है। वे लिखते हैं कि सूक्ष्म अध्ययन से यह मत मिलता है कि 'परमाणुओं' मे संघटित होने की स्वाभाविक क्षमता और रुचि है। और वे दो, तीन, चार के युग्म मे सम्मिलित होते हैं अथवा पूर्ववर्ती परमाणुओं की सख्या के योग मे एक और परमाणु के मेल से नया सन्निवेश या नया युग्म बनता है।[1] परमाणुओं के सम्बन्ध में धारणा है कि इनमें सतत स्पन्दन होता रहता है। इस संबंध मे यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि सारे व्यापार के पीछे अदृष्ट को नही भुलाया जा सकता। इस अदृष्ट के कारण ही परमाणु स्पन्दित होते है, उनमे गति होती है और उनके अनेक सन्विेश या युग्म बनते हैं। यह अदृष्ट, ईश्वर की इच्छा से प्रेरित हुआ ससार को नियमित रूप से धर्मानुकूल संचालित करता है, इस ऋत के अनुकूल ही विश्व की व्यवस्था का नियमन होता है। यह नियमन अथवा ऋत, कर्म फल के सामजस्य मे सृष्टि-प्रक्रिया को अनुचालित करता है। भौतिक दृष्टि से किसी भी परमाणु के सयोग से बने साधारण द्रव्य मे ताप के प्रभाव से गुणात्मक परिवर्तन हो सकता है। ताप के प्रभाव से द्व्यणुक मे परमाणु विघटन सम्भव है और इस विघटन के कारण और पुन. ताप के कारण उस युग्म के स्वभाव या गुण में परिवर्तन होता है। अणु विघटित होकर नए युग्म बना लेते है और इस प्रकार नए सन्निवेशों अथवा गुणो की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक का मत है कि ताप के कारण पहले किसी भी अणु युग्म का विघटन प्राथमिक परमाणुओ से होता है, फिर आणविक गुणों में परिवर्तन होता है और फिर अन्तिम सघटन होकर नवीन सन्निवेश का निर्माण होता है। इस सिद्धान्त को 'पीलुपाक' (अणु को ताप देना) सिद्धान्त कहते है। न्याय का मत है कि ताप से परमाणुओ का विघटन हो, यह आवश्यक नही है। केवल अणुयुग्मो के गुण स्वभाव मे आवश्यक परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार न्याय के अनुसार ताप परमाणुओ में किसी प्रकार का परिवर्तन न करते हुए अणु युग्मों को सीधा प्रभावित करता है और उनके गुण-स्वभाव मे परिवर्तन कर सकता है। ऊष्मा के सूक्ष्मकण द्रव्य के सरध्र पिंड मे प्रवेश कर उसमे वर्णपरिवर्तन कर देते हैं। इस प्रक्रिया में सारे द्रव्य का परमाणुओं मे विघटन नही होता क्योंकि अनुभव और परीक्षण से ऐसा नही पाया जाता। इस प्रक्रिया को 'पिठरपाक' (अणु को नरम करने की क्रिया) सिद्धान्त कहा जाता है। उत्तरकालीन न्याय दर्शन और वैशेषिक मे कुछ थोडे से ऐसे सन्दर्भों मे साधारण अन्तर पाया जाता है।[2]

---

[1] बृहत् सहिता' पर उत्पल भाष्य देखिए, II. ७।

[2] डॉ० पी. सी. राय द्वारा लिखी 'हिन्दू कैमिस्ट्री' पुस्तक में डॉ. बी. एन. सील का मत देखिए। पृ० १६०-१६१। 'न्याय मंजरी' पृ० ४३८ और उद्योतकर की 'वार्तिक' भी देखिए। न्याय और वैशेषिक सूत्र में उपर्युक्त दृष्टिकोण के अन्तर के सम्बन्ध मे

एक ही 'भूत' या अनेक 'भूतो' (पृथ्वी, जल आदि) के परमाणुओ से रासायनिक यौगिक बनाना सम्भव है। न्याय के दृष्टिकोण से एक ही भूत के परमाणुओं मे कोई अन्तर नहीं होता। एक ही भूत के यौगिको मे जो गुण स्वभाव का अन्तर पाया जाता है वह इन परमाणुओ के विभिन्न समूहात्मक सयोगक्रम के कारण दिखाई देता है। उद्योतकर का कथन है (३.१.४) कि जौ और चावल के दाने मे पाए जाने वाले परमाणुओं मे कोई अन्तर नही है क्योकि वह दोनों ही एक भूत पृथ्वी तत्व से निर्मित हैं। ताप के सतत प्रभाव के कारण परमाणुओं के स्वभाव में परिवर्तन होता रहता है। रग, रूप, वर्ण, सर आदि का एक ही भूत के परमाणुओं में जो परिवर्तन होता है, उसका एक मात्र कारण ताप है। ताप की मात्रा 'तेजस्' कणो के प्रकार और सम्पर्क में जाने वाले द्रव्यो के स्वभाव के अनुसार वर्णादि मे परिवर्तन होता है। परिपाक (तापक्रिया) से द्रव्य परमाणुओ मे खडित होकर नवीन रूप और गुण वाले द्रव्यो में परिवर्तित हो जाता हैं।

वैशेषिक के भाष्यकार श्री प्रशस्तपाद का मत है कि एक भूत के उच्चस्तरीय यौगिको मे आन्तरिक ऊष्मा (ताप) के कारण जो परिवर्तन होता है वह यौगिक अणुओं मे न होकर इसका निर्माण करने वाले घटक परमाणुओ मे होता है। जब दूध दही मे परिवर्तित हो जाता है तो दूध के परमाणु मे यह परिवर्तन होता है। आवश्यक नही है कि दूध के अणुओं का विघटन होकर उनका परिवर्तन मूलभूत परमाणुओ मे हो जाए। इस प्रकार परिवर्तन दुग्ध परमाणु मे होता है। दुग्धाणु की क्षिति परमाणु मे विघटित होने की आवश्यकता नही होती। इसी प्रकार ससेचित-अडाणु (ओवम्) मे, जीवाणु और अडाणु द्रव्य, सभागी क्षिति परमाणुओ मे विभाजित होकर शारीरिक ऊष्मा एव प्राणवायु के प्रभाव से नवीन रासायनिक यौगिक जीवाणु का ('कलाल') रूप धारण करते है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार जीवाणु एव अडाणु द्रव्य दोनो ही क्षिति के समवायी तत्व हैं जिसमे अन्य भूतो का भी समावेश है। जब जनन द्रव्य विकसित होने लगता है और अपना भोजन माँ के रुधिर से प्राप्त करने लगता है तो शारीरिक ऊष्मा जनन-द्रव्य के अणुओ को खडित कर घटक परमाणुओ मे बदल देती है। ये घटक जनन द्रव्य परमाणु आहार संरचक परमाणुओ के साथ रासायनिक मिश्रण द्वारा कोशिकाओ और ऊतको (टिशू) का निर्माण करते है।[1] परमाणुओ के इस योग को 'आरम्भ सयोग' कहते है।

कोई विशेष स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। वैशेषिक सूत्र (७ १) मे थोड़ा सकेत पाया जाता है पर न्याय सूत्र इस विषय पर सर्वथा मौन है। सम्भवतः सृष्टि रचना और आणविक सयोग से द्रव्य निर्माण सिद्धान्त का विकास वात्स्यायन के पश्चात हुआ होगा।

[1] डॉ० बी. एन. सील की 'पौजिटिव साइन्सेज' नामक पुस्तक पृ० १०४-१०८ और

बहु-भौतिक या द्वि-भौतिक यौगिकों में एक अन्य प्रकार का संयोग होता है जिसे 'उपष्तम्भ' योग कहते है। इस प्रकार तेल, घी, फलों के रस आदि मे पृथ्वी के परमाणु तब तक नही मिल सकते जब तक कि जल के परमाणु बीच में न हों। ये जल के परमाणु पृथ्वी के परमाणुओं को घेरे रहते है। ऊष्मा कणो के सघात से और अवपरमाणविक बल के कारण पृथ्वी के परमाणु विशिष्ट गुणों को धारण करते हैं। इसी प्रकार अन्य यौगिकों का भी निर्माण होता है जहां अप् (जल) तेजस् और वायु के परमाणु आन्तरिक मूलाकुर या केन्द्र के रूप मे अवस्थित होते है और पृथ्वी के कण उपस्तम्भक के रूप में आसपास स्पन्दित होते रहते है। पृथ्वी तत्व के जल मे मिले इस प्रकार के सम्मिश्रण या घोल भौतिक-मिश्रण कहलाते है।

श्री उदयन का मत है कि रासायनिक-प्रक्रिया के लिए आवश्यक सारी ऊष्मा का स्रोत सूर्य का ताप है। परन्तु परिपाक क्रिया में अन्तर है। ताप के सूक्ष्म कणों के सम्पर्क और ऊष्मा के प्रकार विभिन्न है। जिस पाक क्रिया से वर्ण परिवर्तन होता है और जिससे रस परिवर्तन होता है वे निश्चय ही एक दूसरे से भिन्न है।

ऊष्मा और प्रकाश की किरणे अत्यन्त सूक्ष्म कणो से बनी हुई होती है। ये तीव्र गति एव वेग से ऋजु रेखीय स्तर पर सारी दिशाओ में प्रवाहित होती है। ताप परमाणु सन्धि मे सहज ही प्रवेश कर जाता है जैसा 'तापचालन की क्रिया मे पाया जाता है। अग्नि पर पात्र मे जब जल गरम किया जाता है तो पात्र के परमाणुओ की सन्धि मे प्रवेश कर ताप जल तक सहज ही पहुँच जाता है। प्रकाश किरणें पारदर्शक पदार्थ में 'परिस्पन्द' के द्वारा परमाणु सन्धि से प्रवेश कर विक्षेप अथवा अपवर्तन की अवस्था को प्राप्त करती है जिसे 'तिर्यक्गमन' कहा है। अन्य अवस्थाओ मे उष्मा या प्रकाश की किरणे परमाणुओ से टकरा कर प्रत्यावर्तित हो जाती है।

ताप की विशेष क्रिया से अन्य अवस्थाओं मे परमाणु छिन्न भिन्न होकर विघटित हो जाते है। निरन्तर परिपाक से इन विघटित परमाणुओ के भौतिक रासायनिक

'न्याय कंदली' पृ० ३३-३४ देखिए—'शरीरारभे परमाणव एव कारणम् न शुक्र शोणित सन्निपात क्रियाविभागादिन्यायेन तयोर्विनाशे सति उत्पन्न पाकजैः परमाणुभिरारभात् न च शुक्रशोणितपरमाणुनाम् कश्चिदविशेष पार्थिवत्वाविशेषात्'''पितु शुक्रम् मातुः शोणितम् तयो सन्निपातानन्तरम् जठरानलसंबधात् शुक्र शोणितारंभकेषु परमाणुषु पूर्वरूपादिविनाशे समानगुणान्तरोत्पत्तौ द्वयणुकादिक्रमेण कललशरीरोत्पत्ति. तत्रान्तःकरण प्रवेशो तत्र पुनरजठरानल सबधात् कललारंभक परमाणुपु क्रिया-विभादिन्यायेन कललशरीरे नष्टे समुत्पन्नपाकजैः कललारंभकपरमाणुभिरदृष्टवसाद उपजातक्रियैराहारपरमाणुभिः सह सभूय शरीरान्तरमारभ्यते।"

गुणों मे परिवर्तन हो जाता है और इनका पुन सयोग सघटन होकर नवीन रासायनिक द्रव्यो का निर्माण हो जाता है।[1]

उत्तरकालीन न्याय लेखक श्री गोवर्धन का कथन है कि 'पाक' का अर्थ विभिन्न प्रकार की ऊष्मा का प्रभाव है। वह ऊष्मा जिससे फल के रग मे परिवर्तन होता है, उस उष्मा से भिन्न है जिसके द्वारा रस मे परिवर्तन होता है।

गाय के द्वारा खाया हुआ घास सूक्ष्म परमाणुओं मे बदल जाता है और फिर ऊष्मा प्रकाश के प्रभाव से उसके रस, रूप, गन्धादि मे अनेक रासायनिक परिवर्तन होते है जिससे वह दूध के रूप मे परिवर्तित हो जाता है।[2]

न्याय वैशेषिक दर्शन मे द्रव्य की अन्य द्रव्य पर क्रिया एक भौतिक गति क्रिया है। प्रयत्न और गति दोनो मे अन्तर है। साख्य की दृष्टि इसके विपरीत है। सांख्य के अनुसार 'पुरुष' के अतिरिक्त (चित्) अन्य सब पदार्थ सृष्टि के विकास के क्रम मे उत्पन्न होते है और उनमे स्वत स्पन्दन होता रहता है।

ज्ञान का मूल (प्रमाण)

भारतीय दर्शन मे ज्ञानबोध किस प्रकार होता है इस पर बड़ा विचार किया गया है। साख्य योग मे बुद्धि प्रत्यक्ष दर्शन की विषय वस्तु का स्वरूप ग्रहण कर लेती है और वह फिर निर्मल चित् (पुरुष) के प्रकाश से प्रकाशित होकर बोध ज्ञान के रूप मे ग्रहण की जाती है। जैन दर्शन मे सर्वज्ञानमयी स्वात्मा पर कर्म का अवगुण्ठन ज्ञान के दर्पण को मलिन किए रहता है। इस मलिनता के आवरण के हटते ही आत्मा मे ज्ञान का प्रकाश स्पष्ट हो उठता है।

न्याय वैशेषिक दर्शन मे प्रत्येक कार्य या प्रभाव की पृष्ठ-भूमि मे कारण सयोग है जो प्रभाव के पूर्ववर्ती है, जो आवश्यक और अपरिवर्तनशील है। अतः जिस सामग्री से ज्ञान की क्रिया होती है उसमे कुछ चेतन और कुछ अचेतन तत्व है। इन तत्वो के सम्मिलित प्रभाव से निश्चित ज्ञान की उपलब्धि होती है। यह सामग्री प्रमाण कहलाती है जो कि ज्ञान की प्राप्ति का या ज्ञानबोध का सुनिश्चित कारण है।[3]

---

[1] डा० सील रचित 'पौजिटिव साइन्सेज ऑफ हिन्दूज।'

[2] श्री गोवर्धन रचित 'न्यायबोधिनी' टीका पृ० ६.१० जो 'तर्क सग्रह' पर लिखी गई है।

[3] अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धार्थोपलब्धिम् विदधाति बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् 'न्याय मजरी' पृ० १२। उद्योतकर ने 'प्रमाण' को उपलब्धि हेतु (ज्ञान का कारण)

किसी एकांगी तत्व को मुख्य कारण नही समझा जा सकता क्योंकि सारे पूर्ववर्ती कारणो के संयोग से कार्य-प्रभाव सम्भव होता है। कभी-कभी एक तत्व के न होने से सारा प्रभाव या कार्य रुक जाता है। अत. कारण सामग्री के सारे तत्व मिलकर कार्य या प्रभाव विशेष की उत्पत्ति करते है। ज्ञान के प्रमाण मे भी यही बात सत्य है। इस सामग्री मे सारे बौद्धिक चेतना तत्व (उदाहरण के लिए सुनिश्चित प्रत्यक्ष बोध मे अनिश्चित बोध की प्राथमिक विशेषणात्मक क्रिया, अनुमान मे लिंग का ज्ञान, उपमान मे एकरूपता और शब्द मे ध्वनि का सुनना) के अतिरिक्त भौतिक सामग्री का भी यथोचित सामजस्य आवश्यक है। उदाहरणार्थ देखी जाने वाली वस्तु का सामीप्य, प्रकाश, इन्द्रिय क्षमता आदि सभी बाह्य तत्वो के उचित स्थिति मे होने पर, समुचित ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। बोध ज्ञानात्मक सभी चेतन और बाह्य भौतिक तत्व एक ही तल पर सम्मिलित रूप में जब क्रिया करते है, तब ये सब मिलकर ज्ञान के प्रमाण के रूप मे जाने जाते हैं।

न्याय, साख्य मत की आलोचना करता हुआ कहता है कि साख्य के अनुसार बुद्धि की एक विशेष अवस्था मे पुरुष के किसी अतीन्द्रिय प्रभाव से वस्तुबोध होता है। यह बात आसानी से समझ मे नही आती है। ज्ञान बुद्धि का विषय नही है क्योंकि बुद्धि चेतन नही है यद्यपि यह विषयवस्तु के स्वरूप और कल्पना को धारण करती है। पुरुष जो चेतना है, जिसको विषय ज्ञान होना चाहिए वह सदैव साख्य मत के अनुसार इन्द्रियातीत, शुद्ध, चेतन अवस्था मे रहता है, अत न यह सासारिक अर्थों मे सुनता है, न देखता है, न जानता है, न किसी अन्य प्रकार की ज्ञानानुभूति करता है। यदि इस चेतन पुरुष का बुद्धि के साथ सम्पर्क केवल एक प्रतिभा मात्र है, यह केवल एक प्रतिबिम्ब रूप माया है तो फिर सत्यज्ञान का कोई अस्तित्व ही नही है। यदि सारा ही ज्ञान मिथ्या है तो फिर साख्य मतावलम्बी सत्य ज्ञान-उत्पत्ति की कल्पना नही कर सकते।

कह कर समझाया है। यह दृष्टिकोण श्री जयन्त के दृष्टिकोण का विरोधी नही है। पर यह 'इन्द्रिय व्यापार' के पक्ष पर बल देता है। इन्द्रियो के सम्पर्क मे वस्तुओ के आने से ज्ञान की प्राप्ति होती है। वाचस्पति ने लिखा है—सिद्धमिन्द्रियादि प्रसिद्ध च तत् सन्निकर्षादि व्यापारयन्नुत्पादयन् करणएव चरितार्थं करणम् त्विन्द्रियादि तत्सन्निकर्षादि वा नान्यत्र चरितार्थमिति साक्षादुपलब्धावेव फले व्याप्रियते। तात्पर्य टीका पृ० १५। इस प्रकार ज्ञान बोध में इन्द्रियो की क्रिया प्रमाण है परन्तु यह बोध, वस्तु और वस्तु के सम्पर्क मे आने वाले अभाव मे नही हो सकता अत. कारण सामग्री या प्रमाण में इनको भी सम्मिलित किया गया है।

'प्रमातृ प्रमेययोः प्रमाणे चरितार्थत्वम् प्रमाणस्य तस्मात् तदेव फलहेतुः प्रमातृ प्रमेयेतु फलोद्देशेन प्रवृत्ते इति तदहेतु कथाचित्।' 'तात्पर्य टीका' पृ० १६।

इसी प्रकार बौद्ध मत वाले यह सिद्ध करते है कि वस्तु की उत्पत्ति के साथ ही तद्विषयक ज्ञान की उत्पत्ति होती है और उसकी समाप्ति के साथ ही अगले क्षण में इस ज्ञान की समाप्ति हो जाती है। न ज्ञान, वस्तु से उत्पन्न होता है और न वस्तु ज्ञान से उत्पन्न होती है। साथ ही ज्ञान के उत्पन्न होते ही उस ज्ञान की वस्तु का उदय होता है। यह समझ मे नही आता कि ज्ञान और ज्ञान के विषय का सामंजस्य कैसे होता है, वह एक साथ कैसे उत्पन्न होते है, और ज्ञान कैसे उस वस्तु को जान लेता है ? विज्ञानवादियों का मत है कि ज्ञान ही स्वय वस्तु और उसका बोध, दोनो के रूप में, प्रकट होता है। यह भी युक्ति सगत नही दिखाई देता कि ज्ञान एक साथ वस्तु और उसके बोध के रूप मे कैसे विभाजित हो जाता है। वस्तु रूपी ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए फिर किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता होनी चाहिए। और इस ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता हो तो फिर इस क्रम का कही अन्त नही हो सकता। यदि बौद्धमतानुसार 'प्रमाण' को 'प्रापण' (प्राप्त करने की क्षमता) के रूप में समझा जाए तो यह भी उचित नही होगा क्योकि बौद्ध दृष्टि से सभी वस्तुएँ क्षणिक है और क्षण मात्र मे नष्ट हो जाती है। अत, इस क्षण मे नष्ट होते हुए ससार मे प्राप्त करने योग्य कुछ भी नही है। इन सब दृष्टियो से ज्ञान की उत्पत्ति पर कोई प्रकाश नही पडता। अत· न्याय का कथन है कि ज्ञान भी एक कार्य या प्रभाव है जो अन्य प्रभाव के समान ही कारण सामग्री के द्वारा अर्थात् भौतिक और बौद्धिक कारणो के सयोग से उत्पन्न होता है। ज्ञान की उत्पत्ति मे कोई इन्द्रियातीत, दैविक तत्व नही है। यह उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे कारण सयोग से अन्य भौतिक प्रभावो की उत्पत्ति होती है।[1]

न्याय के चार प्रमाण

ज्ञान के प्रामाणिक या वैध आधार के रूप मे चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही प्रमाण मानते है। बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान को स्वीकार करते है।[2]

---

[1] ख्याति प्राप्त उत्तरकालीन नैयायिक श्री गगेश ने ज्ञान की प्रामाणिकता की मीमासा की है। उनका कथन है कि किसी वस्तु के अवयव के साथ ही जिस क्रिया के कारण हम इस अवगम अथवा प्रत्यक्ष बोध के लिए प्रेरित हुए है, इन दोनो के उचित सम्बन्ध के आधार पर जो अनुमान या निष्कर्ष निकाला जाता है वह प्रामाणिक होता है। जब यह विश्वास होता है जिसका मैंने प्रत्यक्ष (अवगम) किया है उस प्रत्यक्ष के आधार पर कर्म करने से मुझे सफलता मिलेगी तो वह ज्ञान प्रामाणिक होना चाहिए। देखिए 'तत्त्वचिंतामणि' के तर्कवागीश का संस्करण प्रमाण्यवाद।

[2] वैशेषिक सूत्र—'वेदो' को स्पष्ट रूप से प्रमाण मानते हैं। यह मान्यता भी सदैव से

सांख्य ने 'शब्द' को तीसरे प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया और न्याय ने एक और प्रमाण 'उपमान' को मान्यता दी। इस प्रकार न्याय ने चार प्रमाणों को माना है। इन चार प्रमाणों का आधार न्याय के अनुसार यह है कि ज्ञान बोध एक कार्य है जो कारण के अभाव मे नही हो सकता। कारण पूर्ववर्ती कारण सामग्री से निर्मित है जैसा पहले कहा जा चुका है। ज्ञान की उपलब्धि कारण सामग्री की विविधता हो सकती है। इस विविधता के साथ ही चारो अवस्थाओं मे ज्ञान का स्वरूप और स्वभाव भी भिन्न होता है। ज्ञान की उपलब्धि के साधन, वस्तु विशेष को प्रकाश में लाने वाली अवस्थाएँ और प्रकार भिन्न होते है। अत जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उसी वस्तु के सम्बन्ध मे अनुमान भी किया जा सकता है। किसी आप्त पुरुष के कहने पर भी विश्वास किया जा सकता है और किसी उपमेय द्वारा भी उसे जाना जा सकता है। इस अवस्था भेद के कारण ही न्याय 'शब्द' और 'उपमान' को 'अनुमान' से भिन्न प्रमाण मानता है।[1]

प्रत्यक्ष

नैयायिक केवल पाँच ज्ञानेन्द्रियों को मानते हैं। न्याय मत के अनुसार ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच मूलभूतो (पाँच तत्व) से निर्मित है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विशिष्ट

चली आती है कि वैशेषिक केवल दो प्रमाण मानता है एक अवगम (प्रत्यक्ष) और दूसरा 'अनुमान' प्रत्यक्षमेकम् चार्वाका. कणादसुगतौ पुनः अनुमानच्च तत्वापि आदि। श्री प्रशस्तपाद सारे बोध (बुद्धि) को विद्या और अविद्या मे विभाजित करते हैं। सत्य ज्ञान विद्या है अज्ञान अविद्या है। 'संशय' विपर्यय (भ्रान्ति) अनध्यवसाय (निश्चित ज्ञान का अभाव जैसे आपको प्रथम बार देखने से आश्चर्य कि यह क्या है)। और 'स्वप्न', इन सबको अविद्या माना है। विद्या अथवा सत्य ज्ञान चार प्रकार का है—'अवगम' (प्रत्यक्ष बोध) अनुमान, स्मृति और ऋषियो का विशिष्ट दिव्य ज्ञान जिसे 'आर्ष' कहा है। वैशेषिक सूत्रो की (१ १ ३) व्याख्या करते हुए, श्री प्रशस्तपाद ने कहा है कि वेदों की प्रामाणिकता का आधार उनके लेखक का विश्वसनीय व्यक्तित्व है। वेद स्वयं में प्रामाणिक नहीं है। 'अर्थापत्ति' (तात्पर्य) अनुपलब्धि (किसी का प्रत्यक्ष बोध नहीं हो पाता) को अनुमान की श्रेणी में मानते हैं। 'उपमान' (उदाहरण से एकरूपता) और 'ऐतिह्य' (परम्परा) विश्वसनीय व्यक्तियों में श्रद्धा इनको भी 'अनुमान' ही माना है।

[1] सामग्रीभेदात् फलभेदाच्च प्रमाण भेदाः।
अन्ये एव हि समाग्री फले प्रत्यक्षालिंगयोः।
अन्ये एवच सामग्री फले शब्दोपमानयोः। न्याय मंजरी पृ० ३३।

तत्व के सम्पर्क में जाती है और तद्जनित ज्ञान को ग्रहण करती है। जैसे श्रोत्र (कान) आकाश तत्व से निर्मित है तो यह आकाश के गुण शब्द को सहज ही ग्रहण करती है। नेत्र प्रकाश को, वर्णादि को ग्रहण करते है। वे स्वयं प्रकाश की किरणो से स्थान विशेष को आविष्ट कर देते है, वे तेजस् तत्व से ही तेजवान् है। न्याय सांख्य के समान अन्य पाँच इन्द्रियो को अर्थात् कर्मेन्द्रियों को नही मानते। सांख्य के अनुसार ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ 'वाक्', 'पाणि', 'पाद', 'वायु', और 'उपस्थ' हैं। न्याय का मत है इन पाँचो का कर्म शरीर की प्राण शक्ति के द्वारा सम्पादित होता है, अतः इनकी गणना इन्द्रियो मे नहीं की जा सकती।

ज्ञानेन्द्रिय के वस्तु विशेष के सम्पर्क मे आने से जिस सत्यज्ञान की प्राप्ति होती है वही प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष मे किसी प्रकार का सशय अथवा भ्रान्ति नही होनी चाहिए, प्रत्यक्ष दर्शन के समय किसी अन्य द्वारा उच्चरित ध्वनि, नाम आदि का सम्पर्क नही होना चाहिए।[1] जैसे यदि हम गाय को देखते है और उसी समय कोई अन्य व्यक्ति कहता है कि यह गाय है तो गाय के सम्बन्ध मे ज्ञान का आधार 'शब्द प्रमाण' है प्रत्यक्ष प्रमाण नही है। प्रत्यक्ष को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष और सविकल्प प्रत्यक्ष। निर्विकल्प प्रत्यक्ष किसी वस्तु की इन्द्रियो के सम्पर्क मे आने की वह अनिश्चित अवस्था है जब हम उसके विशिष्ट गुणो का, नाम आदि का विनिश्चयन नही कर पाते है। केवल उसके सामान्य जाति सूचक गुणो का ही प्रथम दृष्टि मे देख पाते है। इस अवस्था के पश्चात् सविकल्प अवस्था आती है जब हम उपर्युक्त इन्द्रिय सम्पर्क और अनिश्चित ज्ञान के पश्चात् विशिष्ट गुणो को ध्यान मे लाकर नामादि का निश्चय कर लेते है। उत्तरकालीन नैयायिकों का कथन है कि निर्विकल्प अवस्था का हमको साधारणतया बोध नही होता पर यह वह अवस्था है जो सविकल्प प्रत्यक्ष के पूर्व आती है और जिसके अभाव मे सविकल्प प्रत्यक्ष होना सम्भव नही है। इन्द्रियो का अपने विषय के साथ सम्पर्क छः प्रकार का है—(१) द्रव्य के साथ सम्पर्क जिसे सयोग सज्ञा दी गई है (२) वस्तु के माध्यम से गुणो के साथ सपर्क 'सयुक्त समवाय' इसमे उन गुणो की अन्तर्व्याप्ति को जाना जाना जाता है जो वस्तु से अलग नही की जा सकती। (३) सामान्य गुणो के साथ सम्पर्क जिसमे वस्तुविशेष के गुणो के सार्वत्रिक जाति रूप गुणो की व्याप्ति समवाय की ओर ध्यान दिया जाता है। इसे 'सयुक्त समवेत समवाय' कहा जाता है। उदाहरण के लिए नेत्र वस्तु विशेष के सम्पर्क मे आते है, वस्तु मे वर्ण का समवाय सम्बन्ध है, पुनः वर्ण मे सार्वत्रिक रूप का अथवा जिस जाति का वह रूप है उसका व्याप्ति समवाय है, उस रूपत्व के साथ सम्पर्क होता है। (४) समवेत समवाय—'शब्द' की स्थिति आकाश मे है। अतः शब्द का समवाय

---

[1] गंगेश नाम के ख्याति प्राप्त नैयायिक प्रत्यक्ष को तात्कालिक साक्षात्कार (उसी समय देखकर जानना) कहकर व्याख्या करते हैं—"प्रत्यक्षस्य साक्षात् करित्वम् लक्षणाम्।"

आकाश से है, जिस आकाश के माध्यम से शब्द का ज्ञान होता है वह समवेत समवाय है। (५) शब्द के स्वय के गुण 'शब्दत्व' से विशेषता की जानकरी समवेत समवाय के माध्यम से होती है। (६) एक अन्य सम्पर्क के द्वारा किसी विषय के 'अभाव' का ज्ञान होता है इसे सयुक्त विशेषण कहते हैं। यह ऐसा इन्द्रिय-सम्पर्क है जो वस्तु विशेष के न होने की विशेषता बतलाता है। नेत्र किसी स्थान विशेष को देखते है। इस स्थान का विशेषण उसकी रिक्तता है अथवा वस्तु-विशेष का अभाव है। उदाहरण के लिए दृष्टि यह देखती है कि स्थान विशेष पर घडा नही है। यहाँ दृष्टि रिक्त-स्थान के सम्पर्क मे आकर केवल उसका सम्पर्क करती है। उस स्थान की यह विशेषता भी अनुभव करती है कि यहाँ अन्य वस्तु का अभाव है। इस प्रकार न्याय केवल वस्तु और उसके गुण को ही प्रत्यक्ष नही देखता परन्तु सारे सम्बन्ध समवाय भी वास्तविक मान कर उनको प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए मान्य समझता है।

न्याय वैशेषिक दर्शन के प्रत्यक्षवाद मे यही सबसे मुख्य बात है कि यह केवल वस्तु तक ही प्रत्यक्ष को समाप्त नही कर देता। इन्द्रिय सम्पर्क की क्रिया से प्रारम्भ होकर, उसका विनिश्चयन और उसके गुण दोष दर्शन तक प्रत्यक्ष की परिधि मे आ जाते है। इस प्रकार समस्त ज्ञान 'अर्थप्रकाश' है अर्थात् वस्तु का सम्यकज्ञान है। सभी ज्ञानेन्द्रियो के सम्पर्क से विषय का पूर्ण ज्ञान ही प्रत्यक्ष 'अर्थ-प्रकाश' है। इन इन्द्रियो की समस्त क्रिया भौतिक है और उनकी उपलब्धि भी भौतिक तल पर है। अतीन्द्रिय या दैविक शक्ति की कोई कल्पना न्याय वैशेषिक इस प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए स्वीकार नही करता। केवल भौतिक स्पन्दन, गति और क्रिया ही इन्द्रिय बोध के लिए ग्राह्य और मान्य है।[1] इस प्रकार अन्य भौतिक कारणो की प्रक्रिया और कारण सयोग से जिस प्रकार अन्य किसी कार्य की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार ज्ञान भी निश्चित भौतिक कारण सामग्री और प्रक्रिया पर निर्भर है। नारंगी को देखने पर दृष्टि एव स्पर्श से इसके रूप, रग कठोरता आदि का प्राथमिक भान होता है, साथ ही उसके सार्वत्रिक, सामान्य, जातिरूप गुणो का जिसकी नारगियो मे व्याप्ति होती है उसका भी बोध होता है। यह प्रथम सम्पर्क 'आलोचन-ज्ञान' है। इस 'आलोचन-ज्ञान' के साथ ही नारगी के मधुर स्वाद, गुण आदि की स्मृति का उदय होता है जो सुखकर प्रतीत होता है जिसका 'सुख साधनत्व स्मृति' के रूप मे वर्णन किया गया है।[2] स्मृति के इस सहकारि कारण से नारगी के

---

[1] न खल्वितीन्द्रिया शक्तिरस्माभिरूपगम्यते
यया सह न कार्यस्य सबंध ज्ञान संभवम्। न्याय मंजरी पृ० ६६।

[2] सुखादि मनसा बुद्ध्वा, कपित्थादि च चक्षुषा।
तस्य कारणता तत्र मनसैवावगम्यते।
सम्बन्ध ग्रहण कालेयत्तत्कपित्थादिविषयमक्षजम।

मधुर होने की विवेचना भी प्रत्यक्ष का स्पष्ट फल है। यद्यपि यह मत बुद्धि से जाना जाता है कि नारंगी सुखकर मधुर पदार्थ है, पर यह प्रक्रिया इन्द्रिय सम्पर्क के कारण प्रारम्भ हुई और इस ज्ञान का स्रोत इन्द्रिय सम्पर्क है। अतः यह ज्ञान प्रत्यक्ष की परिभाषा मे स्वीकार किया जाएगा। प्रत्यक्ष की मुख्य उपाधि इन्द्रिय सम्पर्क है। यह सम्पर्क न केवल विषय विस्तु, उसके विशिष्ट सामान्य और सार्वत्रिक गुणों को ही ग्रहण करता है वरन् उसके 'अभाव' को भी दृष्टिगत करता है। यदि किसी वस्तु में ऐसे गुण का वर्णन किया जाए जो उसमें नही है तो वह प्रत्यक्ष भ्रान्ति मूलक होगा, उसे प्रमाण रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। वास्तव में वह प्रत्यक्ष ही नहीं है जो ऐसा गुण भ्रान्ति से देखता है जो वस्तु विशेष मे है ही नही (अतस्मि स्तदिति) इसी प्रकार 'प्रमा' (सत्यज्ञान) वह है जो वस्तु को उस स्वरूप और गुण मे प्रस्तुत करती है जो उसमे है जैसाकि उल्लेख है 'तद्वति तत्प्रकारकानुभव'।[1] प्रत्यक्ष भ्रान्ति में इन्द्रियो का सम्पर्क तो सही विषय वस्तु से ही होता है परन्तु अन्य परिस्थितियो और उपाधि कारणो से (वातावरण दोष से) उसके गुण स्वरूप के सम्बन्ध मे भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। अन्य अप्रासंगिक बाह्य प्रत्यक्षों के कारण ही वस्तु विशेष को अन्य रूप मे देखने की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। जैसे सूर्य रश्मियो को मरुभूमि मे देखने पर नदी की भ्रान्ति होती है। इसमे दृष्टि सम्पर्क वास्तव मे सूर्य रश्मियों से ही होता है, इस निर्विकल्प अवस्था मे कोई भ्रान्ति नही होती पर दूसरी सविकल्प अवस्था मे, विनिश्चयन करते समय बालू की चमक के गुण से जल के इसी गुण से एकरूपता होने के कारण नदी की भ्रान्ति होती है।[2] श्री जयन्त का कथन है कि इन्द्रिय दोष से अथवा उसी प्रकार की वस्तु की स्मृति से जो वस्तु देखी जा रही है, उसमे पूर्व वस्तु के गुणो का निक्षेप हो जाता है और इस प्रकार भ्रम हो जाता है।[3] मनोभ्रान्ति मे इन्द्रिय सम्पर्क आवश्यक नही है। अप्रासंगिक स्मृतियो के स्फुरण मात्र से ऐसी भ्रान्ति होती है।[4] मानसिक भ्रान्ति के इस सिद्धान्त को 'विपरीत ख्याति' या 'अन्यथा ख्याति' कहते है। जो मनोकल्पना के रूप मे पहले से ही स्थित था वह विषय वस्तु के रूप मे दिखाई

ज्ञान तदुपादेयादि ज्ञान फलमिति, भाष्यकृतश्चेतासि स्थितिम् सुख साधनत्व ज्ञनमुपादेय ज्ञानम्। न्याय मजरी, पृ० ६९-७०।

[1] इस प्रसग मे श्री उद्योतकर की 'न्याय वार्तिक' पृ० ३७ और श्री गगेश रचित तत्वचिन्तामणि पृ० ४० देखिए। बिबिलिओथेका इन्डिका।

[2] इन्द्रियेणालोच्य मरीचिन उच्चावचमुच्चलतो निर्विकल्पेन गृहीत्वा पश्चात् तत्रोपधा तदोषात विपर्य्येति, सविकल्पकोत्य प्रत्ययो भ्रान्तो जायते तस्माद्विज्ञानस्य व्यभिचारो नार्थस्य।

[3] न्याय मंजरी पृ० ८८।

[4] न्याय मंजरी पृ० ८९-१८४।

देने लगता है–"हृदये-परिस्फुरतोऽर्थस्य बहिरवभासनम् ।"[1] उत्तरकालीन वैशेषिक जिसकी श्री प्रशस्तपाद और श्रीधर ने व्याख्या की है, इस सम्बन्ध मे न्याय से सहमत है कि 'भ्रम' (न्याय) अथवा 'विपर्यय' (वैशेषिक) की अवस्था मे इन्द्रियो का सपर्क सदैव सही वस्तु से ही होता है परन्तु किसी अन्य के गुणो को उस वस्तु मे स्थापित कर देने से यह भ्रम उत्पन्न होता है ।[2] न्याय प्रत्यक्ष को 'निर्विकल्प' और सविकल्प इन दो भागो मे विभाजित करता है जैसा पूर्व प्रसग मे स्पष्ट किया जा चुका है । श्री वाचस्पति का कथन है कि पहली अवस्था मे वस्तु का विशेष वस्तु के रूप मे ज्ञान होता है अर्थात् उसके व्यक्तिगत रूप का बोध होता है । इस अविकल्प या निर्विकल्प अवस्था मे उसके विशिष्ट गुण का ही बोध नही होता वरन् जाति आदि सार्वत्रिक सामान्य गुणों का भी बोध होता है, उसके रूप, रग एव रूपत्व आदि का एक दृष्टि से बोध हो जाता है, परन्तु बलपूर्वक यह कहने के लिए कि यह नारगी है, सविकल्प अवस्था की आवश्यकता होती है जहाँ नामादि का विनिश्चयन होता है । अर्थात् प्रथम दृष्टि में सारे विषय का एक विहगम अवलोकन हो जाता है पर वस्तु और उसके गुण का निश्चित सम्बन्ध, विशेष्य विशेषण सम्बन्ध का अवगाहन नही हो पाता 'जात्यादिस्वरूपावगाही न तु जात्यादी नाम्मिथो विशेषणाविशेष्य भावावगाहीति यावत् ।"[3] श्री वाचस्पति का मत है कि प्रथम अवस्था मे जहाँ प्रत्यक्ष दर्शन केवल विहगम दृष्टि तक सीमित रहता है, न केवल बालक और मूक व्यक्ति इस निर्विकल्प प्रत्यक्ष की उपलब्धि कर सकते है अपितु जन साधारण भी ऐसा कर सकते है क्योकि सविकल्प अवस्था, जिसमे सस्कार युक्त विवेचन की आवश्यकता होती है प्रत्यक्ष बोध का दूसरा चरण है ।[4] श्रीधर वैशेषिक मत की व्याख्या करते हुए श्री वाचस्पति के उपर्युक्त मत से सहमत हैं । श्रीधर के मत के अनुसार प्रथम निर्विकल्प दर्शन मे जात्यादि स्वभाव के साथ ही गुण आदि अन्तर भी दृष्टिगत होता है पर इस अवस्था में पहले देखे या जाने हुए विषय की स्मृति के न होने से भेदा भेद विवेचन नही हो पाता जो केवल तुलनात्मक 'आलोचना' से ही हो सकता है । अत: जो गुण, जाति आदि की प्रथम अवस्था मे प्रत्यक्ष होता है उसका ज्ञानक्रम में निश्चित स्थान नहीं हो सकता जो विवेक द्वारा वस्तुओ के अन्तर के अनुसन्धान द्वारा ही सविकल्प अवस्था मे होता है ।[5] श्री वाचस्पति ने अपने मत मे तुलनात्मक

---

[1] न्याय मजरी पृ० १८४ ।

[2] न्याय कंदलि पृ० १७७-१८१ "शुक्ति मयुक्तेनेन्द्रियेण दोषासहकारिणा रजत सस्कार सचिवेन सादृश्यमनुरुन्धता शुक्ति का विषयों रजताध्यवसाय: कृत ।

[3] तात्पर्य टीका पृ० ८२ और पृ० ९१ । "प्रथममालोचितोर्थो सामान्य विशेषवान ।"

[4] तात्पर्य टीका पृ० ८४ तस्माद्व्युत्पन्नस्यापि नामधेय स्मरणाय पूर्वमेषितव्यो, विनैव नाम ध्येयमर्थ प्रत्ययः ।

[5] 'न्याय कन्दली' पृ० १८९ 'अत. सविकल्पनिच्छता निर्विकल्पकमप्येषितव्यम् तच्च न

आलोचना के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा है। 'सविकल्प' अवस्था में सुनिश्चित विशेषता विशेष्य सम्बन्ध और नाम आदि विनिश्चयन के पश्चात् स्पष्ट ज्ञान होता है, ऐसा कहा है। उत्तरकालीन न्याय लेखक, जो श्री गगेश के मत को अधिक मान्य समझते है, इस सम्बन्ध में एक और व्याख्या करते है। उनके अनुसार निर्विकल्प अवस्था केवल वस्तु विशेष की विशेषता का ज्ञान है जो विशेष्य या विशेषण से कोई सम्बन्ध नही रखती। परन्तु इसका परीक्षण अनुभव से नही हो सकता। निर्विकल्प अवस्था प्रत्यक्ष बोध के क्रम मे एक निश्चित युक्तिसगत चरण है, यह कोई मनोवैज्ञानिक दशा नही है। परन्तु इस अवस्था को जिसे केवल युक्ति से ही जाना जाता है, सहज ही नही भुलाया जा सकता। किसी भी वस्तु का ज्ञान, उसके विशेषणों के पूर्व ज्ञान के अभाव मे नही हो सकता। उसकी विशिष्टता का ज्ञान होना आवश्यक है जैसा कहा है–विशिष्टवैशिष्ट्य ज्ञान प्रति हि विशेषणतावच्छेदक प्रकारमज्ञान कारणम्।[1] इस प्रकार इस निश्चित निर्धारित ज्ञान के पूर्व कि यह गाय है एक अनिर्धारित अवस्था आती है, जिसमे अनिर्धारित असबधित वैशिष्ट्य का ही ज्ञान होता है जो जाति आदि के बोध से पृथक् है–'यज्ज्ञान जात्यादि रहितम् वैशिष्ट्यनवगाही निष्प्रकारकम् निर्विकल्पकम्।[2] लेकिन इस अवस्था की अनुभूति हमे भूत मे नही हो पाती यह एक प्रकार से 'अतीन्द्रिय अवस्था है जो केवल तर्क या युक्ति से जानी जाती है। यह तर्क की प्रक्रिया मे विशेषण विशेष्य को सम्बन्धित करने वाली प्रकृति है जो साध्य की कल्पना के साथ जुडी हुई है। अपनी पुस्तक न्याय सिद्धान्त मुक्तावलि मे श्री विश्वनाथ का कथन है कि 'वह ज्ञान बोध जिसमे परस्पर सम्बन्ध स्थापित नही किया जाता, प्रत्यक्ष मै जानता हू कि 'यह घडा है', इस स्वरूप मे होता है। यहाँ बोध का सम्बन्ध जानने वाले के साथ है, घडे के साथ है। फिर घडे का सम्बन्ध घडे पर (पात्रत्व) से है। यह पात्रत्व ही घडे का वैशिष्ट्य है। यह पात्रत्व ही मुख्य विषय एव घट की विशेषता ('विशेषणतावच्छेदक') है। घडे का वैशिष्ट्य ही उसकी अन्तर्वस्तु है, उसके अभाव मे हमे घडे का पूर्ण प्रत्यक्ष नही हो सकता।[3] परन्तु घडे के प्रत्यक्ष बोध के पूर्व निर्विकल्प अवस्था आवश्यक है, इसको हम अनुभूति मे से नही देख पाते पर युक्ति से सहज ही समझ सकते है।

सामान्य मात्रम् गृह्णाति भेदस्यापि प्रतिभासनात् नापि स्वलक्षणमात्रम् सामान्याकारस्वापि सवेदनात् व्यक्त्योन्तरदर्शने प्रतिसधानाच्च किन्तु सामान्यम् विशेषाञ्चोभयमपि गृह्णाति यदि परमिदम् सामान्यमयम विशेषः इत्येवम् विविच्य न प्रत्येति वस्तवन्तरानुसन्धानविरहम पिडान्तरानुवृत्ति ग्रहणाद्धि सामान्यम् विविच्यते, व्यावृत्ति ग्रहणाद्विशेषोयामिति विवेकात्।

[1] तत्व चिन्तामणि पृ० ८१२।

[2] तत्व चिन्तामणि पृ० ८०६।

[3] 'भाषा परिच्छेद कारिका' पर 'सिद्धान्त मुक्तावली' पृ० ५८ देखिए।

न्याय की नवीन और प्राचीन सभी शाखाओ ने सविकल्प प्रत्यक्ष को स्वीकार किया है जिसको बौद्ध दर्शन नही मानता। न्याय के अनुसार द्रव्य वस्तु क्षणिक स्वभाव के नही होते। सभी द्रव्यो की अपनी अपनी विशेषता है जिनके आधार पर उनकी जाति का निर्धारण होता है। यह तभी हो सकता है जबकि उनके गुणों का स्थायित्व हो। इस प्रकार वस्तुओ के प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर सचित जाति कल्पना मिथ्या नही हो सकती। बौद्ध मत इसके विपरीत है। उनका मत है कि 'सविकल्प' प्रत्यक्ष की भ्रान्ति का कारण यह है कि हम वस्तुओ मे भ्रम के कारण 'जाति', 'गुण', 'किस्म', 'नाम' और 'द्रव्य' की कल्पना कर लेते है।[1] जाति और जिसकी जाति है, वह एक दूसरे से पृथक् वस्तु नही है, इसी प्रकार द्रव्य और गुण पृथक् न होकर एक ही अस्तित्व है, अत किसी वस्तु के विशेषण की पृथक् से बात करना मिथ्या विचार है। इसी प्रकार गति और गति करने वाली वस्तु का कोई भेद नही किया जा सकता। यद्यपि नाम वस्तु से भिन्न होता है पर नाम से ही वस्तु जानी जाती है और उन दोनो की समरूपता है। पहले तीन आक्षेपो के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि बौद्ध और न्याय वैशेषिक के प्रकृति रचना के दृष्टिकोण का अन्तर है। हम यह भली भाँति जानते है न्याय वैशेषिक जाति, गुण क्रिया को द्रव्य से भिन्न मानते है अत वस्तु के विशिष्ट गुणो के रूप मे उनकी आलोचना और उसके द्वारा सविकल्प अवस्था मे बोध निर्धारण प्रक्रिया को अनुचित नही समझा जा सकता। चौथे आक्षेप के सम्बन्ध मे श्री वाचस्पति का मत है कि किसी वस्तु को देख कर उसके सम्बन्ध मे पूर्व स्मृति के उदय होने से और उस पूर्व सस्कार के आधार पर उस वस्तु के विनिश्चयन मे कोई भ्रान्ति नही होती। यदि यह समझ लिया जाए कि नाम और वस्तु एक ही नही है अपितु नाम वस्तु के बाद ग्रहण किया जाता है तो फिर यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि पूर्व सस्कार के आधार पर यह ध्यान आ जाएगा कि इस प्रकार, गुण रूप वाली वस्तु ने इस प्रकार का नाम प्राप्त किया है और समरूपता होने से इस वस्तु का भी वही नाम होना चाहिए। लेकिन बौद्धो का एक और आक्षेप है कि ऐसा कोई कारण नही है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि जिस वस्तु को इस समय देखा जाता है वह वही है जिसे पहले देखा था या उन दोनो की समरूपता है क्योकि प्रत्यक्ष यह उद्देश्य ही नही है कि किसी प्रकार की समरूपता स्थापित की जाए। श्री वाचस्पति का कथन है कि स्मृति या पूर्व संस्कार के आधार पर प्रत्यक्षबोध का यदि यह उद्देश्य मान भी लिया जावे तो कोई हानि नही है क्योकि अब इन्द्रिय सम्पर्क की मुख्य विषयवस्तु उपस्थित है

---

[1] न्याय मंजरी पृ० ९३-१०० पच चैते कल्पना भवन्ति-जातिकल्पना, गुण कल्पना, क्रिया कल्पना, नाम कल्पना, द्रव्य कल्पना चेति, तास्च क्वचित भेदेऽपि भेदकल्पनात् क्वचिच्च भेदेप्य भेदकल्पनात् कल्पना उच्यते। धर्म कीर्ति की प्रत्यक्ष सिद्धान्त व्याख्या पृ० १५१-४ इस पुस्तक मे भी ४०९-१० देखिए।

तो समरूपता का प्रत्यक्ष इसके फलस्वरूप ही मानना चाहिए। चाहे वह सहकारी कारण के रूप मे ही हो। लेकिन बौद्ध पुन. आक्षेप करते हैं पूर्व अनुभव उस समय, स्थान और काल का अग है, उस स्मृति को प्रस्तुत क्षण की अनुभूति के साथ जोड़ देना उचित नही प्रतीत होता। बाचस्पति का उत्तर विशेष सन्तोषजनक नही है क्योकि यह अन्त मे उस सीधे प्रत्यक्षबोध के आधार की ओर संकेत करता है जिसे बौद्धो ने अमान्य समझा है।[1] अन्त मे यह स्पष्ट है कि न्याय वैशेषिक सविकल्प प्रत्यक्ष को अमान्य नही समझते है और प्रत्यक्ष दर्शन की क्रमिक विकास की प्रक्रिया का बुद्धिसगत विश्लेषण करते है। वेदान्त की भांति वह यह भी नही मानते थे कि सही प्रत्यक्ष वह है जो पूर्व अर्जित ज्ञान का आश्रय न लेकर, जो बोध इन्द्रिय सम्पर्क से वर्तमान मे होता है उसी को प्रस्तुत करे। न्याय वैशेषिक के अनुसार ज्ञानोपलब्धि की विविधता का मूल कारण, कारण सामग्री की विविधता है।

न्याय के अनुसार मन (चित्त) छठी ज्ञानेन्द्रिय है। यह मन सुख, दु:ख, राग, विराग और इच्छा के सम्पर्क मे आता है। उत्तरकालीन न्याय लेखक तीन प्रकार के अन्य अतीन्द्रिय सम्पर्क का उल्लेख करते हैं (१) सामान्य लक्षण, (२) ज्ञान लक्षण, (३) योगज (अद्भुत)। सामान्य लक्षण के द्वारा जब हम किसी विशेष वस्तु के सम्पर्क मे आते हैं तो हम 'अलौकिक' ढग से उस जाति की सभी वस्तुओ से एक सामान्य सपर्क स्थापित कर लेते है। जैसे जब किसी एक स्थान पर धुआं देखते है तो उसके माध्यम से धुएँ से सम्बन्धित सारे सार्वत्रिक जात्यादि गुणो के ध्यान के साथ ही, हमारी नेत्रेन्द्रिय सामान्यतया अलौकिक रूप मे सारे ही धुएँ को दृष्टिगत कर लेती हैं। ज्ञान लक्षण के द्वारा हमको जब वस्तु विशेष के किसी गुण का एक इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान होता है तो हम अन्य इन्द्रियों के प्रत्यक्ष को स्वत: ही सलग्न कर लेते है। उदाहरण के लिए जब हम चन्दन के काष्ठ खड को देखते है तो हमारी दृष्टि केवल उसकी पीत आभा को देखती है परन्तु उसके साथ ही हम उसके गन्ध का भी प्रत्यक्ष अनुभव कर लेते है यद्यपि हमारी घ्राणेन्द्रिय के सम्पर्क मे वह श्रीकाष्ठ (चन्दन) नही आया है। यह अतीन्द्रिय सपर्क है जिसे ('अलौकिक सन्निकर्ष') नैयायिको ने 'ज्ञान लक्षण' के नाम से वर्णित किया है। परन्तु जो ज्ञान इस प्रकार प्राप्त होता है उसे वे प्रत्यक्ष ज्ञान मानते है।[2]

---

[1] 'तात्पर्य टीका' पृ० ८८-९५।

[2] 'कारिका' पर 'सिद्धान्त मुक्तावली' का मत देखिए पृ० ६३-६४ ध्यान देने योग्य बात यह है कि श्री गगेश ने 'न्याय सूत्र' मे दी हुई 'प्रत्यक्ष' की परिभाषा को अस्वीकार कर दिया। उनके मत से प्रत्यक्ष वह बोध है जिसे बुद्धि प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करती है। उनके मत से इन्द्रिय सम्पर्क की पुरानी परिभाषा से तर्क हानि होती है। यद्यपि वह ये मानते हैं कि इन्द्रिय सम्पर्क बुद्धि के द्वारा बोध का कारण है। वह

सुख और दुःख ज्ञान से भिन्न है। ज्ञान कल्पना, बोध और प्रकाश का साधन है परन्तु सुख से किसी प्रकार का बोध नहीं होता। सत्य तो यह है कि सुख, दुःख का बोध भी ज्ञान के द्वारा होता है। सुख, दुःख स्वयं अपने आपको प्रकट करने वाले (स्वप्रकाशी) भी नहीं है। स्वयं ज्ञान भी इस संज्ञा में नहीं आता। यदि सुख स्वयं प्रकाशित होता तो वह सबको एक ही स्वरूप में दिखाई देता। परन्तु एक ही वस्तु एक व्यक्ति के लिए सुख और अन्य के लिए दुःखमय होती है। तर्क के लिए यदि यह मान भी लिया जाए कि ज्ञान ही स्वयं सुख और दुःख के रूप में प्रकट होता है तो सुख और दुःख की अनुभूतियों में अन्तर आवश्यक है। अतः एक अवस्था में ज्ञान सुख के साथ और दूसरी में दुःख के साथ संलग्न था। जो वस्तु संलग्न है वह सुख-दुःख से भिन्न होनी चाहिए, अतः स्पष्ट है कि सुख और दुःख ज्ञान नहीं है। वास्तविक तथ्य यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों के संयोग से सुख और दुःख होता है जो स्मृति अथवा प्रत्यक्ष के रूप में प्रकट होता है। धर्म और अधर्म सुख और दुःख की उत्पत्ति में सहकारी कारण हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि योगियों को इन्द्रियों के परे दूरस्थ वस्तुओं और घटनाओं का प्रत्यक्षबोध सहज ही हो जाता है। ध्यान के द्वारा वह इस शक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। वह चित्त को एकाग्र कर सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं और भविष्य की गतिविधियों को देख लेने में समर्थ होते हैं। यह एक प्रकार की विशिष्ट अन्तर्दृष्टि है। यह 'प्रतिभान ज्ञान' कहलाता है। यह मन का प्रत्यक्ष बोध है। परन्तु यह मानस प्रत्यक्ष से भिन्न है। मानस-प्रत्यक्ष में हम पूर्व प्रत्यक्ष की स्मृति के आधार पर किसी वस्तु के वर्तमान प्रत्यक्ष में पहले जाने हुए गुणों को प्रत्यक्ष देखने लगते हैं। जैसे गुलाब के फूल को देखने पर सुगन्ध का प्रत्यक्ष, सुगन्ध न सूंघते हुए भी पूर्व स्मृति के ही आधार पर होता है। पूर्व प्राप्त ज्ञान को स्मृति से पुनः जीवित कर वर्तमान के साथ नियोजित कर देना ही 'मानस प्रत्यक्ष' है। वेदान्तियों के मत से यह केवल 'अनुमान' की प्रक्रिया है। परन्तु भविष्य की घटनाओं को प्रत्यक्ष देखना 'प्रतिभा प्रत्यक्ष' कहलाता है।

जब किसी वस्तु का बोध होता है तो वह साधारणतया वस्तुनिष्ठ होता है। उदाहरण के लिए हमको बोध होता है—'यह एक घड़ा है।' पर फिर हम इसका सम्बन्ध अपने साथ करते हुए सोचते है—'मैं इसे जानता हूं।' इस दूसरी क्रिया में मन पुनः उस घड़े के पास लौटकर एक व्यक्तिनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है। यह दूसरा आत्मबोध 'अनुव्यवसाय' कहलाता है। सारा व्यावहारिक कार्य, इस 'अनुव्यवसाय' के आधार पर ही सम्पन्न होता है।[1]

सम्पर्क के छः भेद भी स्वीकार करते हैं जिनका वर्णन सर्वप्रथम श्री उद्योतकर ने किया है। तत्व चिन्तामणि पृ० ५३८-५४६।

[1] उत्तर न्याय का यह सिद्धान्त कि बोध के साथ आत्मनिष्ठ सम्पर्क दूसरे क्षण में होता

अनुमान

प्रमाण का दूसरा मुख्य साधन 'अनुमान' है। किसी वस्तु के 'लिंग' (विशिष्ट चिह्न) के आधार पर निश्चित मन्तव्य स्थापित करना ही 'अनुमान' है। उदाहरण के लिए किसी पर्वत पर उठते हुए धुएँ को देखकर यह अनुमान होता है कि अग्नि के बिना धुआँ नही हो सकता। अतः पहाड़ी पर अग्नि होनी चाहिए। इस उदाहरण मे धूम्र अग्नि का 'लिंग' अथवा 'हेतु' है। जिसके सम्बन्ध मे मन्तव्य स्थापित किया जाता है वह 'पक्ष' होता है। यहाँ पर पहाड़ी पक्ष है। इसमे जो मन्तव्य स्थापित किया गया है (अर्थात् अग्नि) 'साध्य' है। सत्य 'अनुमान' के लिए 'पक्ष' मे 'लिंग' का होना आवश्यक है, साथ ही 'पक्ष' से समता रखने वाली अन्य सब वस्तुओं मे साध्य की स्थिति 'सपक्षसत्ता' (पक्ष की समरूप स्थिति मे साध्य का होना) संभव होनी चाहिए। 'लिंग' साध्य के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु मे नही होना चाहिए अर्थात् जहाँ 'साध्य' की स्थिति नही है वहाँ 'लिंग' नही पाया जाना चाहिए। न्याय के शब्दो मे 'विपक्ष व्यावृति' (विपक्ष मे स्थिति) नही होनी चाहिए। 'विपक्ष' वह है जिसमे साध्य नही है। जहाँ साध्य नही वहाँ 'लिंग' भी नही होना चाहिए। 'अनुमान' के आधार पर जो मन्तव्य स्थापित किया जाए वह ऐसा होना चाहिए कि वह 'प्रत्यक्ष' से अप्रमाणित न हो। अनुमान 'शास्त्र' के विरुद्ध भी नही होना चाहिए—इसको 'अबाधित विषयत्व' होना चाहिए। 'लिंग' ऐसा नही होना चाहिए कि जिससे विपक्ष के मत को पुष्टि मे भी निष्कर्ष निकलता हो, अर्थात् 'असत् प्रतिपक्ष' वाला हेतु नही होना चाहिए। उपर्युक्त उपाधियों मे एक की भी कमी होने पर वह हेतु अनुमान प्रमाण द्वारा सत्य का विनिश्चयन करने में समर्थ नही हो सकेगा और इस प्रकार 'हेत्वाभास' उत्पन्न हो जाएगा। 'हेत्वाभास' का अर्थ है—हेतु का मिथ्या आभास, जो वास्तव मे हेतु नही है उसको भ्रान्ति से हेतु मानना। इससे सही अनुमान पर नही पहुँचा जा सकता। उदाहरण के लिए यह 'अनुमान' कि 'ध्वनि या शब्द अनन्त है क्योकि यह दिखाई देता है', असत्य है क्योकि

है, प्रभाकर के 'त्रिपुटि प्रत्यक्ष' से भिन्न है। 'त्रिपुटि प्रत्यक्ष' सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्षबोध मे, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों का एक ही बोधात्मक क्षण मे सामजस्य होता है। श्री गंगेश के अनुसार 'व्यवसाय' (निर्धारक बोध) केवल वस्तु का बोध देता है। 'मैं इस वस्तु को जानता हूं' यह दूसरी प्रतिक्रिया है और 'व्यवसाय' के पीछे आने से 'अनु' 'व्यवसाय' कहलाती है—'इदमहं जानामीति व्यवसाये न भासते तदबोध केन्द्रिय सन्निकर्षा भावात् किन्त्विदम् विषयक ज्ञानत्व विशिष्टस्य ज्ञानस्य वैशिष्ट्य मात्मनि भासते, न च स्वप्रकाशे व्यवसाये तादृशम् स्वस्य वैशिष्ट्यम् भासितुमर्हति, पूब विशेषणस्य तस्या ज्ञानात् तस्मादिदमहम् जानामीति न व्यवसायः किन्तु अनुव्यवसायः 'तत्वचिन्तामणि' पृ० ७९५।

स्थूल नेत्रों से दीखना (दृश्यता) ध्वनि का गुण नही है–यहाँ पक्ष का जो लिंग है ही नही उसके आधार पर अनुमान किया गया है अतः यह अप्रामाणिक है।[1] इस प्रकार के हेत्वाभास को 'असिद्ध-हेतु' कहते हैं। दूसरे प्रकार का हेत्वाभास 'विरुद्ध हेतु' है उदाहरण के लिए कहा जाए कि शब्द शाश्वत हैं क्योंकि इसकी उत्पत्ति होती है यहाँ यह हेतु 'उत्पत्ति होती है' साध्य के विपरीत पक्ष मे 'विपक्ष' में पाया जाता है। विपरीत पक्ष है 'अशाश्वत' होना। यह सर्वविदित है कि जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती है वे अशाश्वत है। एक अन्य हेत्वाभास 'अनैकान्तिक हेतु' है। जैसे, कहा जाए कि शब्द शाश्वत है क्योंकि यह ज्ञान की वस्तु है। ज्ञान की वस्तु होना 'प्रमेयत्व' यहाँ पर हेतु है परन्तु यह शाश्वत (साध्य) और अशाश्वत (जो साध्य नही है) उन दोनो में पाया जाता है अतः साध्य मे यह हेतु एकान्तिक नहीं है। अर्थात् हेतु की सहव्याप्ति केवल साध्य मे ही नही है यह हेतु 'अनेकान्तिक' है। चतुर्थ हेत्वाभास 'कालात्ययापदिष्ट' है। अग्नि उष्ण नही है क्योंकि यह घड़े के समान ही मनुष्य द्वारा उत्पन्न की जाती है। यहाँ प्रत्यक्ष अनुभव से स्पष्ट मालूम होता है कि अग्नि (उष्ण) होती है अत. हेतु दोषपूर्ण (सदोष) है। पाँचवा हेत्वाभास 'प्रकरणसम' है। इस हेत्वाभास मे एक ही समय मे दो विरोधी हेतु दो विरोधी अनुमान के लिए उपलब्ध होते हैं जैसे, ध्वनि घड़े के समान ही क्षणिक है क्योंकि इसमे कोई शाश्वत गुण नही पाए जाते हैं और ध्वनि आकाश के समान ही अनन्त, शाश्वत है क्योंकि आकाश मे कोई अशाश्वत तत्व या गुण नही पाया जाता।

चार्वाक् आदि ने अनुमान को प्रमाण मानने मे अनेक आपत्तियाँ उपस्थित की थी। उनके उत्तर मे बौद्ध नैयायिको का कथन है कि अनुमान के आधार पर जो तथ्य निरूपित किए जाते है वे प्रामाणिक है। अनुमान के आधार पर जो तर्क किया जाता है वह प्रकृति की दो प्रकार की एकरूपता के समवाय के अनुसार है–'तादात्म्य' (आवश्यक समरूपता) और 'तदुत्पत्ति' (कारण कार्य अनुक्रम)। 'तादात्म्य' वर्ग और जाति का सम्बन्ध है, यह कारण कार्य सम्बन्ध नही है। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि सारे नीम वृक्ष है। क्योंकि यह नीम है अत यह वृक्ष होना चाहिए। यहाँ वृक्ष और नीम जाति और वर्ग सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। जहाँ वृक्ष के जाति गुण और नीम के वर्ग गुण मे तादात्म्य है। तदुत्पत्ति मे कारण कार्य अनुक्रम की एकरूपता पाई जाती है जैसाकि अग्नि से धुएँ का सम्बन्ध।

---

[1] न्याय शब्द की अनन्तता मे विश्वास नही रखता जैसाकि मीमांसा का मत है। मीमासा के अनुसार ध्वनि या नाद अनन्त, कभी नष्ट न होना वाले अस्तित्व है जो विशेष अवस्था सयोग से प्रकट होता है। जैसे, कान के निकट वाद्य का बजना या गले की मासपेशियो की गति होने से शब्द का प्रकट होना।

न्याय का मत है कि अनुमान तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सम्बन्ध के कारण नहीं किया जाता। अनुमान प्रमाण की सत्यता का आधार लिंग (हेतु) का साध्य के साथ अपरिवर्तनीय सम्बन्ध है। यह 'नियम' ही प्रामाणिकता का कारण है जिसको पूर्व वर्णित पच उपाधियो से और भी अधिक सुनिश्चित कर दिया गया है। वृक्ष और नीम मे आवश्यक समरूपता के कारण यदि यह अनुमान किया जाता है कि क्योंकि यह नीम है इसलिए यह वृक्ष है तो इसी समरूपता के आधार पर (तादात्म्य के अनुसार) इसके विपरीत यह सत्य भी होना चाहिए कि क्योंकि यह वृक्ष है इसलिए यह नीम होना चाहिए। समरूपता दोनो पक्षो मे समान होनी चाहिए। इसके उत्तर मे यदि यह कहा जाता है कि वृक्ष के लाक्षणिक गुण नीम मे पाए जाते है परन्तु नीम के लाक्षणिक गुण वृक्ष मे नही पाए जाते तो फिर यह तर्क समरूपता पर आधारित न होकर 'लिंगज' (लिंग को धारण करने वाला) के साथ लिंग के अपरिवर्तनीय सम्बन्ध पर निर्भर है जिसे 'नियम' की सज्ञा दी गई है। यह सिद्धान्त कारण-कार्य अनुमान एवं अन्य अनुमानो[1] की प्रक्रिया को उचित रूप से समझने मे सहायक है। इस प्रकार प्रामाणिक अनुमान का आधार उपाधियो से रक्षित 'लिंग' का 'लिंगिन्' के साथ अविच्छेद 'व्याप्ति' सम्बन्ध है।[2]

कई स्थानो पर हमने यह अनुभव किया कि धूम्र (लिंग) अग्नि (लिंगिन्) के साथ पाया जाता है। अत हमने यह धारणा बनाई कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होती है। जब हमने पर्वत पर धुआँ उठते देखा तो हमने धुएँ की अग्नि के साथ 'व्याप्ति' का स्मरण करते हुए यह अनुमान किया कि इस पर्वत पर अग्नि होनी चाहिए। पर्वत पर लिंग (धूम्र) को देखकर अग्नि के साथ उसकी सर्वदा व्याप्ति का स्मरण ('तृतीय लिंग परामर्श') ही अग्नि के अनुमान (अनुमिति) का कारण (अनुमिति कारण) है। धूम्र का अग्नि के साथ सम्बन्ध न्याय की भाषा मे 'व्याप्ति' की सज्ञा मे जाना जाता है। जब यह सम्बन्ध अन्य अवस्थाओ मे या परिस्थितियो मे अग्नि के साथ धूम्र की व्याप्ति के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है तो इसे 'बहिर्व्याप्ति' कहते है। पर जब अन्य अवस्थाओ या परिस्थितियो को दृष्टिगत न करते हुए विश्वासपूर्वक, स्थिति विशेष मे धूम्र की व्याप्ति अग्नि के साथ बताई जाती है तो यह अन्तर्व्याप्ति सम्बन्ध कहा जाता है। बौद्ध दार्शनिक सामान्यतया आदि की कल्पना मे विश्वास नही रखते, अत वे अनुमान के लिए 'अन्तर्व्याप्ति' को ही प्रामाणिक मानते थे।[3]

---

[1] अनुमान पर 'न्याय मजरी' देखिए।

[2] कारण कार्य अनुमान के अतिरिक्त अन्य अनुमान का उदाहरण इस प्रकार है–'सूर्य छिप गया है अतः तारे उदय हो गए होंगे।'

[3] सिक्स बुद्धिस्ट ट्रैक्ट्स में श्री रत्नाकर शान्ति द्वारा लिखित 'अन्तर्व्याप्ति समर्थन' देखिए। बिबलि ओथेका इन्डिका १६१०।

अनुमान की प्रामाणिकता का आधार 'हेतु' की 'साध्य' मे 'व्याप्ति' है। प्रश्न यह है कि व्याप्ति संबध (व्याप्तिग्रह) की सत्यता और जिस अनुभव के आधार पर हमने व्याप्ति विशेष को सामान्य नियम माना है उसकी सत्यता का क्या प्रमाण है। दूसरे शब्दों में साध्य मे जिस व्याप्ति का हमने उल्लेख किया है वह व्याप्ति है या नही या उस सम्बन्ध में भ्रान्ति है। पुन व्याप्ति-नियम की स्थापना का आधार अनुभव और प्रेक्षण है। यह प्रेक्षण पर आधारित अनुभव कहाँ तक प्रामाणिक है यह भी निश्चय करना आवश्यक है। मीमासा का मत है कि यदि ऐसा कोई उदाहरण हमारे प्रेक्षण मे नही आया है जिसमे धूम्र है पर अग्नि नही है और जितने भी ज्ञात उदाहरण हैं उनमे धूम्र के साथ अग्नि देखी गई है तो फिर इस सिद्धान्त का निरूपण कर सकता है कि अग्नि मे धूम्र की व्याप्ति पाई जाती है। न्याय का मत है कि यह नियम इतना यथेष्ट नही है। उपर्युक्त निरूपण के लिए यह भी आवश्यक है कि जहाँ अग्नि नही है वहाँ धूम्र कभी नही पाया गया इस तथ्य को भी प्रेक्षण से सिद्ध किया जाए। दूसरे शब्दो मे, इतना ही आवश्यक नही है कि जहाँ-जहाँ धूम्र है वहाँ-वहाँ अग्नि है पर यह भी सत्य होना चाहिए कि जहाँ अग्नि नही है वहाँ धूम्र भी नही है। पहली अवस्था 'अन्वय-व्याप्ति' और दूसरी स्थिति 'व्यतिरेक-व्याप्ति' है। लेकिन इतना भी पर्याप्त नही है। ऐसा भी सभव हो सकता है कि एकसौ अवस्थाओ मे जब-जब मैने धुआँ देखा वहाँ गधा भी साथ ही देखा और अन्य एक सौ स्थितियो मे गधा और धुआँ दोनो ही नही देखे, परन्तु इससे गधे और धुएं मे कारण-कार्य सम्बन्ध अथवा व्याप्ति सम्बन्ध सिद्ध नही होता। यह सम्भव हो सकता है कि किसी व्यक्ति ने धूम्र को गर्दभ की अनुपस्थिति मे नही देखा हो अथवा किसी गधे को बिना धुएँ की अनुवर्तिता के नही देखा हो। इस प्रसग मे आवश्यक तथ्य यह है कि जब कभी हमने गधे को उपस्थित किया हो तभी धुएँ की उत्पत्ति होती हो और अन्य सब परिस्थितियो के उसी प्रकार रहने पर जैसे गधे को हटाया हो और धुएँ का लोप हो गया हो तभी हम कह सकते है कि धूम्र और गधे मे व्याप्ति-सम्बन्ध है।[1] ('यस्मिन् सति भवन यतो विना न भवनम् इति भूयोदर्शनम्', न्याय मजरी, पृ० १२२)।

यह भी सम्भव हो सकता है कि 'अन्वय-व्यतिरेक' के आधार पर हमने जिस हेतु को सत्य समझा हो वह सही नही हो और उसके साथ ऐसी अन्य उपाधि सलग्न हो जो वास्तविक रूप में हेतु हो। इस प्रकार हम यह जानते है कि गीले ईधन मे (आर्द्रेन्धन सयोग) अग्नि प्रज्वलित करने पर धुआं होता है। पर हम यह सन्देह कर सकते हैं कि हरे ईंधन मे अग्नि के कारण धुआं नही होता। यह धुआँ तो किसी राक्षस या प्रेत द्वारा उत्पन्न किया जाता है। परन्तु ऐसे सदेहो का कोई अन्त नही है। यदि ऐसे

---

[1] 'अनुमान' और 'व्याप्तिग्रह' पर 'तात्पर्यटीका' ग्रन्थ देखिए।

निरर्थक संशयों की ओर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया तो हमारे सारे कार्यों और क्रिया-कलाप मे व्यवधान (व्याघात) पड जावेगा।[1]

बौद्ध और नैयायिक व्याप्ति कल्पना (व्याप्तिग्रह) के स्वरूप और प्रकार के संबंध में लगभग एक मत थे परन्तु बौद्ध दृष्टि से व्याप्ति की प्रामाणिकता का आधार कारण कार्य सम्बन्ध और जाति, वर्ग की समरूपता है। नैयायिक का मत है कि कारण कार्य सम्बन्ध और इस समरूपता के अतिरिक्त भी अन्य अनेक अवस्थाएँ हैं जिनमे अनुमान के द्वारा सत्य निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। उपर्युक्त व्याप्ति अनुमान प्रमाण के विशद क्षेत्र के कुछ प्रसगो को ही प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए 'चन्द्रमा के उदय के साथ समुद्र मे ज्वार आता है।' सत्व की समरूपता के बिना भी प्रकृति के नियमो मे एक विशेष प्रकार की व्याप्ति पाई जाती है।

कभी-कभी ऐसा भी पाया जाता है कि अनेक विभिन्न कारणो से एक से ही प्रभाव की उत्पत्ति होती है। ऐसी अवस्था मे यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन से कारण से यह फल हुआ है। नैयायिको का मत है कि यदि ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाए तो एक कारण विशेष के फलस्वरूप उत्पन्न प्रमाण मे अन्य कारण द्वारा उत्पन्न प्रभाव मे सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। इसके लिए उस विशेष प्रभाव के विशिष्ट गुण लक्षणादि, वैशिष्ट्य और अन्य सहवर्ती परिस्थितियो को ध्यानपूर्वक देखने की आवश्यकता है। किसी भी मार्ग पर निकटवर्ती नदी मे जल के अधिक्य से अथवा भीषण वर्षा से बाढ आ सकती है। परन्तु सूक्ष्म दर्शन द्वारा उन दोनो प्रकार की बाढ का अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। वर्षा के कारण आई बाढ मे आस पास के निवास स्थानो की अवस्था, छोटी-छोटी धाराओ में जल के एकत्रित होने का साक्ष्य, छप्परो से जल का झरना आदि सभी सकेत, कारण को स्पष्ट कर देंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न्याय प्रकृति के नियमो की अपवादहीन एकरूपता के आधार पर अनुभवाश्रित आगमन को ही विश्वसनीय मानता है। बौद्ध केवल कारणता और सत्व समरूपता के सिद्धान्तो का आश्रय लेते है। अत उत्तरकालीन न्याय ग्रन्थो मे इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि हेतु के साथ कोई ऐसी उपाधि संश्लिष्ट नहीं होनी चाहिए जिससे मिथ्या व्याप्ति की भावना का जन्म हो। हेतु का साध्य के साथ अविच्छेद, अपरिवर्तनीय सम्बन्ध होना चाहिए तब ही व्याप्ति प्रामाणिक समझी जा सकती है। यह विश्वास केवल व्यापक अनुभव (भूयोदर्शन) के आधार पर ही सम्भव है। श्री प्रशस्तपाद अनुमान की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "अनुमान लिंग के दर्शन से लिंग (धूम्र) के साथ सम्बन्धित वस्तु (अग्नि) का ज्ञान है।" प्रामाणिक लिंग वह है जो 'अनुमेय' (जिसके सम्बन्ध मे अनुमान किया जाता है) के साथ संयुक्त है, तो जहाँ-जहाँ 'अनुमेय'

[1] 'व्याप्तिग्रह' पर 'तात्पर्यटीका' और श्री गंगेश रचित 'तत्त्वचिंतामणि' देखिए।

पाया जाता है वहाँ अनिवार्य रूप से पाया जाता है और जहाँ अनुमेय नही है वहाँ किसी भी दशा मे नही पाया जाता। यह परिभाषा न्याय के द्वारा वर्णित प्रामाणिक हेतु के 'पक्ष सत्व', 'समक्ष सत्व' एव 'विपक्ष सत्व' की परिभाषा के समान है। प्रशस्तपाद ने एक छन्द का उदाहरण देते हुए पुनः कहा है कि यह व्याख्या कणाद (काश्यप) की व्याख्या के अनुरूप है। कणाद कहते है कि हम कार्य से कारण का अनुमान कर सकते है, कारण से कार्य का, और एक दूसरे मे सम्बन्धित होने की अवस्था मे एक मे दूसरे का अनुमान कर सकते है, अनुक्रम व्याप्ति या इसके विपरीत भी अनुमान कर सकते हैं (IX, II, 1 और 3। 9) हम हेतु से सहज ही अनुमान कर सकते है क्योंकि इसका अनुमेय से वैध, निश्चित ('प्रसिद्धिपूर्वकत्व') सम्बन्ध है। जिस स्थान पर यह निश्चित वैध सम्बन्ध नही होगा, वहाँ अनुमेय मे या तो हेतु का अभाव होगा, या उसके साथ किसी प्रकार की व्याप्ति नही होनी चाहिए (अप्रसिद्ध) अथवा यह हेतु संदिग्ध होना चाहिए। संक्षेप मे हेतु का अनुमेय से 'प्रसिद्धपूर्वकत्व' सम्बन्ध होना चाहिए। जहाँ यह सम्बन्ध नही है वहाँ हेतु का अनुमेय मे अभाव, 'अप्रसिद्धि' अथवा 'सदिग्धता' होनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि यह गधा घोड़ा है क्योंकि इसके सीग हैं, तो यह सदोष तर्क होगा क्योकि घोडा और गधा दोनों के ही सीग नही होते। पुनः, यदि मैं यह कहूं कि यह गाय है क्योकि इसके सीग है तो यह भी सदोष होगा क्योंकि गाय और सीग की सहव्याप्ति नही है। पहला हेत्वाभास पक्ष सत्व और 'सपक्ष सत्व' दोनो का उदाहरण है क्योंकि न केवल 'पक्ष' (गधो) के सीग नही पाए जाते पर घोड़े के भी सीग नही होते। दूसरा उदाहरण 'विपक्ष सत्व' का है, क्योंकि जो गाय नहीं है उनके भी सीग होते हैं (जैसे, भैस)। इस प्रकार श्री प्रशस्तपाद, कणाद के दृष्टिकोण को ही अनुमोदित करते हैं। परन्तु प्रशस्तपाद का यह भी मत है कि अनुमान केवल कणाद द्वारा वर्णित वर्गों तक ही सीमित नही है। इसके अन्य भी कितने ही प्रकार है। यह तो केवल थोड़े से दृष्टान्त मात्र हैं। वह अनुमान प्रमाण को दो भागो मे विभाजित करता है—पहला 'दृष्ट' और दूसरा सामान्यतो दृष्ट 'दृष्ट' (देखी हुई वस्तु मे समानता का साम्य) वहाँ होता है जहाँ पहले देखी हुई वस्तु और इस समय जिस वस्तु के सम्बन्ध मे कोई अनुमान किया जा रहा है उसका वर्ग एक ही हो। दृष्ट वस्तु और अनुमेय के साम्य के आधार पर अनुमान उसी अवस्था मे सत्य होगा जहाँ वर्ग मे समानता हो। उदाहरण के लिए यह देखकर कि केवल गाय के गले मे ही लटकता हुआ माँस का थैला-सा 'सास्ना' होता है, मैं जहाँ कही ऐसी सास्ना देखूं वहाँ यह अनुमान करूँ कि यह गाय है। परन्तु जब दो विभिन्न वर्ग की वस्तुओं में किसी एक से गुण (सामान्य गुण) के आधार पर कोई निष्कर्ष निकाल कर अनुमान किया जाता है तो यह 'सामान्यतो दृष्ट' कहलाता है। उदाहरण के लिए यह देख कर कि किसान अपनी मेहनत का फल अच्छी फसल के रूप में प्राप्त करता है,

यह अनुमान करना कि इसी प्रकार यज्ञादि पौरोहित्य कर्म करने का फल भी उत्तम पारितोषिक के रूप मे प्राप्त होगा (अर्थात् उन्हे स्वर्ग सुख मिलेगा)।

जब किसी विद्वान् के द्वारा कोई निष्कर्ष निश्चित कर लिया जाता है तो वह 'स्वनिश्चितार्थ' ऐसे लोगो के लाभ के लिए जो अज्ञानी है अथवा सशय मे पडे है, पाँच तर्क-वाक्यो द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार पच तर्क-वाक्यो मे प्रस्तुत निष्कर्ष 'परार्थानुमान' कहलाता है। 'स्वार्थानुमान' और 'परार्थानुमान' का भेद जैन और बौद्ध दार्शनिको ने किया था। प्रशस्तपाद यद्यपि इन दोनो मे कोई विशिष्ट भेद नही मानते पर यह स्वीकार करते है कि जिस वस्तु का अनुमान किया गया है उसे दूसरे को समझाने के लिए पाँच तर्क-वाक्यो मे प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी अवस्था मे इसे परार्थनुमान कह सकते है। लेकिन यह प्रशस्तपाद का कही कोई नवीन अभिमत नही है। कणाद ने भी (६ २) इसका उल्लेख किया है (अस्येदम् कार्य कारण सम्बन्धश्चावयवाद् भवति)।

न्याय दर्शन के अनुसार उपर्युक्त पाँच आधार वाक्य 'प्रतिज्ञा', 'हेतु', 'दृष्टान्त', 'उपनय' और 'निगमन' है। यही वैशेषिक मे 'प्रतिज्ञा', 'अपदेश', निदर्शन', 'अनुसंधान' और 'प्रत्यामनाय' कहलाते है। कणाद केवल 'अपदेश' का ही उल्लेख करते है अन्य आधार वाक्यो का कही नाम नही देते। वैशेपिक दर्शन मे 'प्रतिज्ञा' न्याय के समान ही है और 'निदर्शन' दृष्टान्त से मिलता-जुलता है। पर अन्तिम दो पद अनुसधान और 'प्रत्याम्नाय' एकदम भिन्न हे। निदर्शन के दो प्रकार है—(१) भाव मे साम्य। उदाहरण के लिए 'जिसमे गति है वह द्रव्य है जैसा तीर के उदाहरण मे पाया जाता है।' (२) अभाव मे साम्य। उदाहरण—जो द्रव्य नही है उसमे गति नही है जैसे—विश्व आत्मा।'[1]

---

[1] डा० विद्याभूषण का कथन है कि दिङ्नाग के पूर्व 'उदाहरण' एक परिचित तथ्य के रूप मे स्पष्टीकरण के हेतु प्रस्तुत किया जाता था। जैसे—पर्वत अग्निमय है क्योकि वह धूमाच्छादित है, जैसे रसोई होती है (उदाहरण)। असग ने इसको अधिक तर्क सगत बनाने का प्रयत्न किया था, परन्तु दिङ्नाग ने इसे सार्वत्रिक तर्क-वाक्य का रूप दे दिया जो मुख्य पद और मध्यम पद के बीच स्थायी सम्बन्ध को प्रकट करता है। उदाहरण के लिए—'पर्वत अग्निमय है, क्योकि उस पर धुआँ है, जहाँ धुआँ होता है वह रसोई के समान अग्निमय होता है।' (इन्डियन लोजिक पृ० ९५-९६) यह सत्य है कि वात्स्यायन ने इसको अस्पष्ट उदाहरण के तौर पर प्रयोग किया है—'रसोई की तरह' (शब्द उत्पत्ति धर्मकत्वाद नित्य: स्थाल्यादिवत्) लेकिन प्रशस्तपाद ने इसको सही रूप मे प्रस्तुत किया है। यह स्पष्ट नही है कि प्रशस्तपाद ने इसे दिङ्नाग से लिया है अथवा दिङ्नाग इस प्रसग मे प्रशस्तपाद का ऋणी है।

इस प्रकार प्रशस्तपाद ने पाँच तर्क वाक्यों और दृष्टान्त-दोषों की व्याख्या की है। वैशेषिक के पिछले दो पद परपरागत पदों से इतने भिन्नहै कि सम्भवतः प्रशस्तपाद ने इन्हे किन्ही अन्य वैशेषिक ग्रन्थ से लिया होगा जो अब लुप्त हो गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन मे न्याय से अलग अनुमान की समस्या पर स्वतन्त्र-रूपेण विचार किया जा रहा था। प्रोफेसर कीथ और श्चेरवात्स्की के इस मत मे भी कोई सार नही दिखाई देता कि प्रशस्तपाद ने दिङ्नाग के इन विचारों और तर्कों को लिया है क्योकि प्रशस्तपाद स्वय इस सम्बन्ध मे स्थान-स्थान पर कणाद का उदाहरण देते हैं। इस प्रकार 'निदर्शन' (दृष्टान्त) दोष के सम्बन्ध मे भी यह नही कहा जा सकता कि प्रशस्तपाद दिङ्नाग का ऋणी है जब तक यह सिद्ध नही कर दिया जाए कि दिङ्नाग निश्चित रूप से प्रशस्तपाद से पूर्व उत्पन्न हुए थे।[1] अनुमान मे सबसे मुख्य भाग व्याप्ति के अस्तित्व और स्वरूप का विनिश्चयन है। वात्स्यायन का कथन है कि लिंग को देखकर हेतु (लिंग) और साध्य के सम्बन्ध के पूर्व ज्ञान की स्मृति का अनुमान किया जाता है। उद्योतकर शका करते है कि वर्तमान मे हेतु को देखकर अनुमान किया जाता है अथवा अनुमान का आधार साध्य और हेतु के सम्बन्ध की पूर्व स्मृति है। वात्स्यायन का उत्तर है कि दोनो ही अनुमान स्थापित करने मे सहायता देते हैं किन्तु तुरन्त अनुमान तक पहुँचाने वाला 'लिंग' 'परामर्श' है। 'लिंगपरामर्श' का अर्थ 'पक्ष' मे हेतु का एतत्कालीन दर्शन और फिर साध्य के साथ उस हेतु के सम्बन्ध की स्मृति है। अनुमान हेतु-सम्बन्ध की पूर्व-स्मृति मात्र से सम्भव नही होता। इसके लिए हेतु का (विनिश्चयन) निरूपण और उसके साध्य-सम्बन्ध की पूर्व स्मृति, दोनो आवश्यक है—'स्मृत्यानुगृहीतो लिंग परामर्श।' परन्तु व्याप्ति के स्वरूपादि के विषय मे श्रीवात्स्यायन ने कोई चर्चा नही की है।

'तादात्म्य' और 'तदुत्पत्ति' का सिद्धान्त सम्भवत बौद्ध दर्शन मे धर्मकीर्ति ने प्रचलित किया होगा। धर्मकीर्ति का कथन है कि हेतु और साध्य मे सम्बन्ध का मुख्य आधार यह है कि हेतु सत्वरूपेण या तो साध्य से समरूप होना चाहिए अथवा साध्य का प्रभाव (फल) होना चाहिए। जब तक इस तथ्य को नही समझा जाएगा तब तक भाव व अभाव के उदाहरण एकत्र करने से इस सम्बन्ध के स्वरूप का ज्ञान नही हो सकता।[2] वाचस्पति इस मत का खडन करते हुए कहते है कि कारण-कार्य सम्बन्ध को इस दृष्टि से भिन्न रूप मे नही देखा जा सकता। यदि 'कारणता' (कारणवादिता) का यही अर्थ है कि यह अपरिवर्तनीय तात्कालिक पूर्ववर्तिता है जैसे धुएँ के पूर्व अग्नि की पूर्ववर्तिता तो यह नही कहा जा सकता कि प्रत्येक अवस्था मे धुआँ अग्नि के ही

---

[1] न्याय कदली पृ० २००-२५५ और प्रशस्तपाद भाष्य।

[2] कार्य कारण भावद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् अविनाभावनियमो दर्शनान्न ना दर्शनात्।
तात्पर्य टीका, पृ० १०५।

कारण उत्पन्न हुआ था, और यह किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हुआ था। जब तक यह निश्चित नही कर लिया जाता कि कोई अदृष्ट कारण नही है तब तक यह भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि धुआँ अग्नि से ही उत्पन्न हुआ है। यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाए कि कारणता का विनिश्चयन हो सकता है तो भी यह नही कहा जा सकता कि कार्य-कारण के साथ हुआ है, क्योकि कारण सदैव कार्य से पूर्ववर्ती होता है। अग्नि के पश्चात् धूम्र दिखाई देता है अत. धूम्र को देखकर यही अनुमान लगाया जाएगा कि अग्नि पहले प्रज्वलित हुई होगी फिर धुआँ निकला होगा। इसके अतिरिक्त ऐसी कितनी ही घटनाएं होती हैं जिनके सम्बन्ध में एक घटना से दूसरी घटना का अनुमान किया जा सकता है परन्तु उनमे न तो कारण-कार्य-सम्बन्ध होता है, न उनमे सत्य की समरूपता होती है अर्थात् किसी प्रकार का अन्तर्निहित साम्य नहीं होता है। उदाहरण के लिए आज के सूर्योदय के समय से कल के सूर्योदय के समय का अनुमान किया जा सकता है परन्तु यह धर्मकीर्ति के द्वारा निरूपित किसी विषय के अन्तर्गत नही आता। पुन: 'तादात्म्य' (समरूपता) के आधार पर किसी प्रकार का अनुमान नही किया जा सकता, क्योकि एक वस्तु से दूसरी वस्तु का अनुमान (नीम और वृक्ष) किया जाता है, परन्तु यदि दोनो में तादात्म्य (समरूपता एक ही होना) है तो फिर एक से दूसरे में अनुमान का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार व्याप्ति के स्वरूप को 'तादात्म्य' अथवा 'तदुत्पत्ति' से निरूपित करना कठिन है। एक शका यह भी की जाती है कि कुछ ऐसी अज्ञात परिस्थितियां या उपाधियाँ हो सकती है जिनके फलस्वरूप अनुमान की प्रामाणिकता मे अन्तर आ जाए। श्री वाचस्पति का मत है कि यदि सूक्ष्म निरीक्षण और प्रेक्षण से किसी ऐसी 'उपाधि' का पता नही चलता तो यह मान लेना चाहिए कि ऐसा कोई दोष नही है और लिंग का साध्य से स्वाभाविक सम्बन्ध है।

उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिको ने कारण सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए 'पंचकारणी' सिद्धान्त को अपनाया था। कारण सम्बन्ध प्रकट करने वाली पांच उपाधियाँ इस प्रकार हैं–(१) न तो कारण ही दिखाई देता है और न कार्य ही दिखाई देता है अर्थात् कारण-कार्य दोनों का ही बोध नही होता (२) कारण स्पष्ट दिखाई देता हैं (३) तत्काल फल दिखाई देता है (४) कारण का लोप हो जाता है (५) तत्काल प्रभाव या फल का लोप हो जाता है। न्याय का मत है कि इस पंचकारणी-सिद्धान्त के आश्रय से भी कारण-कार्य-सम्बन्ध का सभी अवस्थाओं मे निश्चित रूप से बिना किसी अपवाद के निश्चय करना सम्भव नही है तो फिर यह अधिक उचित होगा कि अनुमान को कारण-कार्य-सम्बन्ध की सीमाओं मे न बाँधकर जो स्वाभाविक सम्बन्ध है उसी के आधार पर अध्ययन किया जाए।

प्रारंभिक न्याय-ग्रन्थों मे अनुमान तीन प्रकार के बताए गए हैं–(१) 'पूर्ववत्' कारण से कार्य (फल) का अनुमान है। जैसे काले घने बादलों को देखकर वर्षा का

अनुमान, (२) 'शेषवत्' कार्य अथवा फल के कारण का अनुमान है जैसे नदी में विशेष जल की वृद्धि और बाढ़ से उसके ऊपरी क्षेत्र मे वर्षा का अनुमान । (३) सामान्यतोदृष्ट, जहाँ प्रत्यक्ष कारण-कार्य-संबंध नहीं पाया जाता है, उन सब अन्य अवस्थाओं मे अनुमान को सामान्यतोदृष्ट-अनुमान कहते हैं। इन तीन प्रकार के अनुमानों के अतिरिक्त 'न्याय-मंजरी' एक और प्रकार के अनुमान 'परिशेषमान' का उल्लेख करती है। यह हास्यास्पद निष्कर्ष पर पहुँचने का नाम है। इसमे किसी भी वस्तु के लिए कोई भी अन्य मत प्रकट कर दिया जाता है। जैसे चैतन्य आत्मा का गुण है क्योंकि चैतन्य शरीर के अन्य किसी अंग मे नही पाया जाता क्योंकि चैतन्य अन्य और किसी वस्तु मे नही पाया जाता अत. यह निश्चित रूप से आत्मा का गुण होना चाहिए। इन सब प्रकारो में एक समानता पाई जाती है कि सभी मे साध्य का अनुमान व्याप्ति के आधार पर किया जाता है जिसे व्याप्ति-नियम कहते हैं। नव्य न्याय शाखा में अनुमान के तीन प्रकारो की विशेष व्याख्या की गई है। नव्य न्याय के अनुसार ये भेद इस प्रकार हैं (१) अन्वयव्यतिरेकी (२) केवलान्वयी (३) केवलव्यतिरेकी। 'अन्वय-व्यतिरेकी' उसे कहते है जहाँ अनेक अवस्थाओं मे प्रेक्षण के द्वारा भाव मे और अभाव मे व्याप्ति नियम की एकरूपता पाई जाए। दूसरे शब्दो में, जहाँ लिंग है वहाँ लिंगिन् (साध्य) की उपस्थिति है। जहाँ लिंगिन् नही है वहाँ लिंग नहीं है। उदाहरण के लिए जहाँ-जहाँ धूम्र है वहाँ अग्नि है (अन्वय), जहाँ अग्नि नही है वहाँ धूम्र भी नही है (व्यतिरेक)। अनुमान स्वय के लिए (स्वार्थानुमान) या दूसरो को विश्वास दिलाने के लिए (परार्थानुमान) हो सकता है। दूसरी अवस्था मे अनुमान की असदिग्ध स्पष्टता के लिए, इसे पाँच अगो मे (अवयवो) मे विभाजित करना पड़ता है–

(१) प्रतिज्ञा (यथा–पर्वत अग्निमय है)।
(२) हेतु (यथा–क्योंकि पर्वत पर धुआँ है)।
(३) उदाहरण (जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोई मे)।
(४) उपनय (इस पर्वत पर धुआँ है)।
(५) निगमन (अत. यह पर्वत अग्निमान् है)।

केवलान्वयी वह अनुमान है जहाँ किसी अभाव के दृष्टान्त मे व्याप्ति सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए इस वस्तु का नाम है क्योंकि वह वस्तु ज्ञेय है–'इदवाच्यम् प्रमेयत्वात् ।' ऐसा कोई उदाहरण नही मिलता जहाँ कोई वस्तु ज्ञेय (जिसको जाना जाता है) न हो। हम ऐसा कोई दृष्टान्त दे नही सकते जहाँ कोई वस्तु ज्ञान का विषय न हो अथवा जिसमे 'प्रमेयत्व' न हो और जिसका नाम (वाच्यत्व) न हो। अतः सिद्ध है कि जहाँ प्रमेयत्व है वहाँ वाच्यत्व होगा। यहाँ व्याप्ति का आधार भाव में समानता है। तीसरा अनुमान 'केवल-व्यतिरेकी' है। केवल-व्यतिरेकी अनुमान 'व्यतिरेक' साम्य पर आधारित है अर्थात् इसमे व्याप्ति, अभाव की समानता पर आश्रित है। इसमे भाव-साम्य सम्भव नहीं है अर्थात् भाव-स्थिति मे व्याप्ति नहीं होती। सरल शब्दों मे, यह

कहना उचित होगा कि इस अनुमान मे व्याप्ति का आश्रय अनुपस्थिति अथवा निषेधात्मक स्थिति मे है। जो वस्तु-विशेष की एकाकी (केवली) स्थिति के कारण है, उस वस्तु का विशेष गुण अन्यथा नहीं पाया जाता। अतः 'व्यतिरेक' की स्थिति भी केवली है। उदाहरण के लिए—पृथ्वी तत्त्व अन्य तत्त्वों से गन्ध का विशेष गुण होने के कारण भिन्न है, क्योंकि जो अन्य तत्त्वों से भिन्न नहीं है वह पृथ्वी तत्त्व नहीं है जैसे जल। यहाँ यह स्पष्ट है कि व्याप्ति निषेधात्मक स्थिति में है इस प्रकार हमारे अनुमान के आधार का एक ही उदाहरण है कि "पृथ्वी अन्य तत्त्वों से भिन्न है क्योकि इसमें पृथ्वी तत्त्व के विशिष्ट गुण है।" यह अनुमान केवल वही कार्य मे लिया जा सकता है जहाँ हम, एकमात्र वस्तु के विशिष्ट गुण के आधार पर अनुमान करते है क्योकि उस प्रकार का गुण और किसी मे पाया ही नही जाता, इसीलिए यह केवल 'व्यतिरेकी' कहलाता है।

उपमान और शब्द

न्याय-दर्शन के अनुसार तीसरा प्रमाण 'उपमान' है। वैशेषिक दर्शन इसको स्वीकार नहीं करता। जिस वस्तु से कोई पूर्व परिचय नही है, उसको अन्य वस्तु की उपमा से प्रत्यक्ष होने पर पहचानना ही उपमान है। किसी व्यक्ति से यह सुनकर कि अमुक वस्तु अमुक वस्तु के समान होती है, उस वस्तु को पुन देखने पर उसे पहले न जानते हुए भी, उपमेय के आधार पर उसकी 'वाच्यता' या नामादि को निश्चित करना उपमान है। जैसे किसी नगर-निवासी ने कभी किसी जगली गाय को नही देखा है। वह वन मे जाकर वहाँ के किसी अरण्यवासी से पूछता है कि जगली गाय ('गवय') कैसी होती है। वह बताता है कि वह गाय के समान ही होती है। तत्पश्चात् 'गवय' को देख कर वह निश्चित करता है कि यही 'गवय' होना चाहिए। अज्ञात को ज्ञात के उदाहरण से जानना ही उपमान है। यदि वनपाल किसी 'गवय' को प्रत्यक्ष ही किसी नगर-निवासी को दिखा कर कहता कि यह गवय है तब भी वह ग्रामानी से उसे जान लेता पर फिर यह उपमान प्रमाण न रह कर 'शब्द' प्रमाण बन जाता। नैयायिको का दृष्टिकोण वस्तुवादी है अत वह यह स्वीकार नही करते कि सादृश्य केवल विचार के आधार पर आत्मनिष्ठ रूप से स्थापित कर किसी वस्तु को जाना जा सकता है। उनका मत है कि किसी तत्समान वस्तु को देखकर व उसके सम्बन्ध मे संकेत, वर्णन आदि सुनकर जानने की क्रिया एक भिन्न अग है और यही उपमान प्रमाण है।[1]

---

[1] 'उपमान' पर 'न्याय मंजरी' का मनन कीजिए। पुराना न्याय-मत यह है कि वनपाल के द्वारा गवय का जो वर्णन किया जाता है और जिसको सुनकर अज्ञानी प्राणी को गवय रूप जानना सम्भव हो वही उपमान प्रमाण है। उसे प्रत्यक्ष देखकर जानना,

'शब्द-प्रमाण' अथवा साक्ष्य वह ज्ञान है जो हम विश्वसनीय, सत्यवक्ता, श्रद्धेय एवं सम्माननीय व्यक्तियो के कथन (शब्द) के द्वारा प्राप्त करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का कथन निश्चित ही प्रमाण स्वरूप है। वेदों से प्राप्त किया हुआ ज्ञान प्रामाणिक है क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। वेद का महत्व इसलिए है कि वे 'ईश्वर' के द्वारा दिया हुआ सत्य ज्ञान है। वैशेषिक शब्द को स्वय मे (अलग से) प्रमाण नहीं मानता। शब्द की प्रामाणिकता का आधार वैशेषिक के अनुसार 'अनुमान' है क्योंकि हम किसी आप्त पुरुष के कथन को सत्य मान कर यह अनुमान करते है कि उसका साक्ष्य उस पुरुष की आप्तता के कारण प्रामाणिक होना चाहिए।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'अभाव' का स्वरूप

भारतीय दर्शन में 'अभाव' की स्थिति पर विशेष रूप से विचार किया गया है। अभाव की व्याख्या और तत्सबधी विभिन्न दृष्टिकोण बड़े रोचक हैं पर सभी मतो को प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नही है। प्रसिद्ध मीमासक श्री कुमारिल[1] का मत है किसी वस्तु की स्थिति के सम्बन्ध मे निश्चित प्रमाण नही होने पर (सत्परिच्छेदकम्) हम

यह अवयव, उपमान के लिए आवश्यक नही है। जब प्रशस्तपाद ने यह विवेचन किया कि 'उपमान' को 'आप्त-वचन' के रूप मे स्वीकार करना चाहिए तब सम्भवत यही दृष्टिकोण रहा होगा। उद्योतकर और वाचस्पति का मत है कि वनपाल के वर्णन मात्र से 'गवय' नाम को गवय के साथ नहीं जोडा जाता, परन्तु इसके अतिरिक्त समानता का प्रत्यक्ष दर्शन भी इस ज्ञान का अग है। अत: उपमान मे सादृश्य एव वनपाल द्वारा दिए हुए सकेत की स्मृति दोनों ही सम्मिलित हैं। वात्स्यायन का क्या मन्तव्य था यह स्पष्ट नही है। परन्तु दिङ्नाग के अनुसार उपमान का अर्थ सादृश्य अथवा वस्तुओ मे सादृश्य का ज्ञान है। यह निश्चित है कि उपमान का तात्पर्य किसी नवीन वस्तु के साथ सज्ञा (नाम) सम्बन्ध स्थापित करना है या सरल शब्दो मे कहा जाए तो किसी नवीन वस्तु को पहचान कर उसका निश्चित नाम रखना ही उपमान है—'समाख्या सम्बन्ध प्रतिपत्तिरूपमानार्थ:' वात्स्यायन। जयन्त का मत है कि सादृश्य (समानता) के आधार पर हम किसी वस्तु को पहचान कर उसे निश्चित नाम देते है अत: वनपाल के निर्देशन को प्रत्यक्ष कारण नही माना जा सकता अत यह 'शब्द' की परिभाषा मे नही आता। प्रशस्तपाद और 'न्याय मंजरी' पृ० २२०-२२, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति और जयन्त का मत 'उपमान' के सम्बन्ध में देखिए।

[1] श्री कुमारिल का 'अभाव' के सम्बन्ध मे मत श्लोक-वार्तिक (पृ० ४७३-४९२) में देखिए।

उसका बोध एक विशेष अन्त दृष्टि (मानम्) के द्वारा करते है। कुमारिल और उनके अनुयायियों का कथन है कि अभाव का बोध प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव मे इन्द्रियों और वस्तु का कोई सम्पर्क ही नही होता। यह सत्य है कि घड़े के अभाव की स्थिति मे जब हम भूमि को देखते है तो वहाँ हम भूमि को और घडे के अभाव दोनो को देखते हैं और जब नेत्र बन्द कर लेते है तो दोनो ही नही दिखाई देते। अत. यह कहा जा सकता है कि जब हम भूमि का प्रत्यक्ष करते हैं तो साथ ही घड़े के अभाव का भी प्रत्यक्ष बोध करते है। परन्तु जब हम किसी घड़े के अभाव का बोध करते है, तो वह प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सपर्क के द्वारा न कर, घडे की स्मृति के आधार पर करते है। हम भूमि को देखते हैं, साथ ही घड़े की स्मृति हमारे मन मे है। उस स्मृति को आधार न मिलने पर हम अभाव की कल्पना करते हैं। जैसे किसी स्थान पर कोई व्यक्ति बैठा हुआ है। वहाँ पर शेर नही है। उसको शेर के भाव-अभाव की कोई कल्पना नही है। संध्या को कोई व्यक्ति उससे पूछता है कि आपने प्रातः इस स्थान पर शेर तो नही देखा। तब वह विचार करता है और उस स्थान को पुन देखे बिना ही शेर के अभाव की कल्पना कर लेता है। इस बोध में शेर के अभाव की स्मृति की भी कोई विशेष क्रिया नहीं है। इस उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि यह बोध 'अनुमान' प्रमाण से भी नही होता क्योंकि यहाँ किसी प्रकार की व्याप्ति नही पाई जाती। भूमि अथवा घडे की अप्रत्यक्षता मे किसी प्रकार का हेतु, लिंग आदि का भी प्रश्न नही उठता। घडे की अप्रत्यक्षता का सम्बन्ध घडे से है, घडे के अभाव से नही है। घड़े के अभाव मे और उसके न देखे जाने मे किसी प्रकार की व्याप्ति का प्रश्न नही उठता। अत अभाव का ज्ञान-बोध एक स्वतन्त्र प्रक्रिया है।

लेकिन न्याय का मत है कि घडे के अभाव का प्रत्यक्ष कि घड़ा नही है, प्रत्यक्ष की एकात्मक दृष्टि से होता है जैसे घडे की भाव-स्थिति भी ऐसी एकात्मक दृष्टि से जानी जाती है जिसमे स्थिति के सारे अंगों का समावेश। जब हमको यह बोध होता है कि घडा है तो हम घडा भूमि आदि सारी स्थिति एक ही दृष्टि से हृदयगम कर लेते है। जब भाव के सम्बन्ध मे यह दृष्टि है तो अभाव के सम्बन्ध मे अन्यथा कहना उचित नही लगता कि इस दूसरी स्थिति मे हम केवल भूमि का प्रत्यक्ष करते हैं, घड़े के भाव के अभाव का कोई प्रत्यक्ष नही होता। प्रत्यक्ष बोध के लिए इन्द्रिय-सम्पर्क का सिद्धान्त 'भाव' की स्थिति के ही लिए है। वस्तु के न होने से इन्द्रिय-सम्पर्क का प्रश्न नही उठता। अभाव कोई स्थूल वस्तु नही है। इस सम्बन्ध मे एक आक्षेप यह हो सकता है कि यदि अभाव के लिए इन्द्रिय-सम्पर्क की कोई आवश्यकता नही है तो कोई भी व्यक्ति सहज ही दूरस्थ वस्तुओं के अभाव की कल्पना कर सकता है कि वे दूरस्थ वस्तुएँ, जिनको वह नही देख रहा है, है ही नही, उनका अभाव है। इसके समाधान में कहा जाता है कि अभाव के बोध के लिए यह आवश्यक है कि हम उस स्थान और स्थिति

को देखें। हम वस्तु और उसके गुण को भिन्न जानते हैं, लेकिन गुण वस्तु के साथ ही देखे जा सकते हैं। उसी तरह अभाव भी भाव के स्थान के बोध के माध्यम से ही जाना जा सकता है। इस प्रकार न्याय के अनुसार 'अभाव' का बोध भी भाव के बोध के समान ही होता है। 'अभाव' केवल शून्य या रिक्तता मात्र नहीं है। अभाव एक ऐसी निश्चयात्मक स्थिति है जिसका आधार भाव की स्थिति है और इसी आधार पर हम 'अभाव' का निश्चयात्मक बोध प्राप्त करते है।

बौद्ध दार्शनिक 'अभाव' की स्थिति को स्वीकार नही करते। उनका मत है कि हम अभाव को 'स्थान' व 'काल' के प्रसंग मे देखते है जैसे यह वस्तु इस स्थान पर इस समय नही है। पर उस प्रकार की बोध-ग्राह्यता के होने पर भी हम अभाव का, 'स्थान' व 'काल' के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नही स्थापित कर सकते। अभाव का इसके 'प्रतियोगी' के साथ भी कोई सम्बन्ध नही माना जा सकता। 'प्रतियोगी' का अर्थ उस वस्तु से है जिसका अभाव है जैसे घड़े के अभाव मे घडा 'प्रतियोगी' है। उक्त सम्बन्ध न मानने का कारण यह है कि जब प्रतियोगी है तो अभाव नही है। जब अभाव है तो प्रतियोगी नही है। इनमें 'विरोध' सम्बन्ध भी नहीं समझा जा सकता क्योंकि उस अवस्था मे अभाव की स्थिति पूर्ववर्ती होनी चाहिए थी जो घड़े के भाव का विरोध करती। परन्तु यह विरोध जिसका कोई प्रतिफल नही है समझ मे नही आता। फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या यह कोई वस्तु-विशेष है या ऐसा पदार्थ है जो उत्पन्न होता है, यह ज्ञात है या अज्ञात? असत् है या सत्? पहली अवस्था (विकल्प) मे यह अन्य वस्तुओं के समान ही होगा जिनका निश्चित अस्तित्व है। दूसरे विकल्प मे यह शाश्वत, चिरस्थायी, अनादि अनन्त होगा जिसका किसी अभाव से कोई सम्बन्ध नही हो सकता। परन्तु प्रत्यक्षबोध न होने के अथवा किसी वस्तु के दृष्टिगत न होने के (अनुपलब्धि) के कई प्रकार है। यथा—(१) स्वभावानुपलब्धि (स्वाभाविक अप्रत्यक्षता) उदाहरण के लिए घड़ा नही है, अतः वह दिखाई नही देता। (२) 'कारणानुपलब्धि' (कारण प्रत्यक्ष न होना) जैसे–यहाँ धुआं नही है क्योंकि यहाँ अग्नि नही है। (३) 'व्यापकानुपलब्धि' (जाति के प्रत्यक्ष न होने से वर्ग के न होने का निष्कर्ष) जैसे यहाँ कोई वृक्ष नही है अतः किसी चीड के वृक्ष के होने का प्रश्न नहीं उठता। (४) 'कार्यानुपलब्धि' (प्रभाव या फल का प्रत्यक्ष न होना) जैसे यहाँ धुआं होने के कोई कारण नही हैं क्योंकि यहाँ धुआं ही नहीं है। (५) 'स्वभावविरुद्धोपलब्धि' (विरुद्ध स्वभाव वाली वस्तुओं का प्रत्यक्ष) जैसे यहाँ ठंड नही है क्योकि यहाँ अग्नि है। (६) 'विरुद्धकार्योपलब्धि' (विरोधी प्रभावो का दिखाई देना) जैसे धुएं के कारण यहाँ शीतस्पर्श नहीं है। (७) 'विरुद्धव्याप्तोपलब्धि' (व्याप्ति मे विरोध का प्रत्यक्ष) जैसे–यह आवश्यक नही है कि भूत सदैव नष्ट ही हो जाएं क्योंकि वह अन्य कारणों पर निर्भर है। (८) 'कार्याविरुद्धोपलब्धि' (प्रभाव मे विरोध) जैसे–यहाँ अग्नि होने से

शीत उत्पन्न करने वाले कारण नहीं हैं। (९) 'व्यापक-विरुद्धोपलब्धि' (व्यापक लिंग में विरोध) अग्नि के कारण यहाँ हिम नही है। (१०) 'कारण विरुद्धोपलब्धि' (कारणो का विरोधी होना) जैसे–शीत के कारण कम्प नही है क्योंकि वह अग्नि के समीप है। (११) 'कारण विरुद्ध कार्योपलब्धि' (विरोधी कारणो का प्रभाव या कार्य) शीत से कम्पित मनुष्यो की भीड इस स्थान पर नही है, क्योकि यह स्थान धुएँ से भरा हुआ है।'[1]

बौद्ध दर्शन पुन व्याख्या करता है कि इसमें कोई सन्देह नही है कि हम उपर्युक्त प्रकार के अभाव का बातचीत मे व्यवहार करते है, परन्तु इस वार्तालाप के अभाव की सिद्धि नही होती, अभाव के बोध का कोई हेतु ही नही है–(हेतुर्नाभाव सम्विद)। हम केवल यह कह सकते है कि कुछ ऐसी अवस्थाएँ है जो अभावात्मक विशेषणों के प्रयोग के लिए अधिक उपर्युक्त अथवा योग्य है। लेकिन यह 'योग्यता' निश्चयात्मक, सत्-पक्षीय (अग्निपक्षीय) है। जिसको हम साधारण प्रयोग मे अप्रत्यक्ष (दृष्टिगत न होना) कहते है वह किसी स्थिति का निश्चित प्रत्यक्ष बोध है। अभाव का बोध इस प्रकार अभाव की स्थिति को सिद्ध नही करता, केवल यह प्रकट करता है कि वस्तु विशेप के भाव को देखना अवस्था, काल, स्थान आदि के प्रसग मे सम्भव नही हो सका है। यह केवल यह सिद्ध करता है कि कुछ इस प्रकार के प्रत्यक्ष बोध होते है जो अभाव की सज्ञा से स्पष्ट किए जा सकते है। भूमि मे निश्चित प्रत्यक्ष के आधार पर ही हम यह कहते है कि वहाँ पर घडे का अभाव है "अनुपलभ अभावम् व्यवहारयति।"

न्याय इसके उत्तर मे कहता है कि भाव का प्रत्यक्ष उतना ही वास्तविक है जितना कि अभाव का। यह नही कहा जा सकता कि भाव का ही प्रत्यक्ष सत्य है अभाव का सत्य नही है। यह कहा जाता है कि भूमि पर घडे के 'अप्रत्यक्ष' का अर्थ घडे के बिना भूमि का देखा जाना है। इस दृष्टि मे घडे के अभाव का कोई प्रश्न नही है। न्याय प्रश्न करता है कि यह घडे का 'भाव' भूमि ही है अथवा अन्यथा कुछ है, यदि घडा और भूमि का तादात्म्य है, दोनो एक ही है, तो घडा भूमि ही है। तब घडे के होने पर भी हम उसके होने की आशा कर सकते है। यदि भूमि से अन्य कुछ है तो केवल नाम के ऊपर ही विवाद है क्योंकि इसे किसी भी नाम से पुकारा जाए, यह एक निश्चित भिन्न वर्ग है। फिर चाहे आप इसे घटहीन भूमि कहे या घटता के अभाव वाली भूमि कहे कोई अन्तर नही पडता क्योंकि यहाँ एक निश्चित भिन्न वर्ग को स्वीकार कर लिया गया है। अभाव का भी भाव के समान ही प्रत्यक्ष होता है। भाव के प्रत्यक्ष बोध मे भी भिन्न-भिन्न रंग, रूप आदि दिखाई देते हैं उसी प्रकार जिन वस्तुओं का अभाव है उनका भी प्रत्यक्ष स्वरूप भिन्न-भिन्न है। स्थान, काल आदि का सम्बन्ध अभाव के

---

[1] 'न्यायबिन्दु' पृ० ११ एव 'न्याय-मजरी' पृ० ५३-७ देखिए।

प्रसंग में दिखाई देता है वह तो केवल 'विशेष्य-विशेषण' सम्बन्ध है। अभाव और 'प्रतियोगी' का सम्बन्ध विरोधात्मक है क्योंकि जहाँ एक है वहाँ दूसरा नही हो सकता। 'वैशेषिक सूत्र' (IX, १.६) में अभाव की व्याख्या उसी प्रकार की गई जैसी कि प्रसिद्धि मीमांसक श्री कुमारिल ने की है यद्यपि वैशेषिक भाष्यकर्त्ताओं ने इनकी टीका अन्यथा करने का प्रयत्न किया है।[1]

वैशेषिक चार प्रकार के अभावों का उल्लेख करता है–

(१) 'प्रागभाव'–वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व जो उसका अभाव है वह प्रागभाव कहलाता है। उदाहरण के लिए घट के निर्माण के पूर्व घट का अभाव।

(२) 'ध्वसाभाव'–किसी वस्तु विशेष के ध्वस या नाश होने के कारण अभाव जैसे घड़े को लकडी से फोडे जाने पर उसका अभाव।

(३) 'अन्योन्याभाव'–पारस्परिक अथवा एक मे दूसरे का अभाव जैसे घोडे मे गाय का अभाव है, गाय मे घोडे का अभाव है।

(४) 'अत्यन्ताभाव'–सदैव रहने वाला अभाव उदाहरण के लिए घडे का एक स्थान पर होने से, उसका अन्य स्थान पर अभाव नही मिट सकता अर्थात् अन्य स्थान पर उसका अभाव सदैव रहेगा।[2]

मोक्षाकांक्षियों के लिए तर्क का महत्व

सम्भवत न्याय दर्शन का प्रादुर्भाव तर्क और शास्त्रार्थ के युग में हुआ होगा। इस दर्शन मे न केवल तर्क का विशिष्ट निरूपण किया गया है वरन् तत्सम्बन्धी अनेक पारिभाषिक शब्दो का निर्माण एव प्रयोग भी इसमे पाया जाता है। उदाहरण के लिए

---

[1] प्रशस्तपाद का कथन है कि जिस प्रकार प्रभाव या फल के होने से कारण के अस्तित्व को जाना जाता है उसी प्रकार फल न होना कारण के न होने का चिह्न है। श्रीधर इस पर टिप्पणी करते हुए कहते है कि किसी भी इन्द्रिय-विषयक वस्तु का अप्रत्यक्ष उसके अभाव का लिंग है। पर इससे सतुष्ट न होकर उन्होने पुनः कहा है कि अभाव का भी इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष बोध होता है। (भाववद् अभावोऽपीन्द्रियग्रहणयोग्य)। अभाव के साथ ही इन्द्रियो का सम्पर्क (सन्निकर्ष) होता है और यह सम्पर्क ही अभाव के प्रत्यक्ष बोध की कारण सामग्री है–'अभावेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि अभाव ग्रहण सामग्री।' न्याय कंदली, पृ० २२५-३०।

[2] अभाव के न्याय और तर्क मे अनेक रूप कार्य एवं कोण है जिनका वर्णन यहां सम्भव नहीं है।

यहाँ 'तर्क', 'निर्णय', 'वाद', 'जल्प', 'वितंडा', 'हेत्वाभास', 'छल', 'जाति', 'निग्रह' और 'स्थान' अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया गया है।

किसी भी विषय के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए विचार-विमर्श करना ही तर्क है। अतः किसी एक तथ्य को सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण उपस्थित किए जाते है वही तर्क है। जब कभी किसी विषय मे 'संशय' होता है तो उस संशय को दूर करने के लिए बुद्धि की जो वैचारिक प्रतिक्रिया होती है, वह तर्क का प्रारम्भ है। सशय को नष्ट करने के लिए तर्क का आश्रय लेना पडता है। जब दो विरोधी दल अपने मत के पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं तो प्रत्येक 'वाद' कहलाता है जब विरोधी अपने विपक्षी को हराने के लिए चुभने वाले एवं मर्मभेदी प्रत्युत्तर देते है तो वह 'जल्प' कहलाता है। 'वितण्डा' वह 'जल्प' है जिसमे अपने पक्ष को पुष्ट करने की चिन्ता न करते हुए विरोधी को हराने की दृष्टि से, कटु आक्षेप एवं खडनात्मक आलोचना की जाती है। 'हेत्वाभास' मे 'हेतु' (कारण) का भ्रम होता है, वास्तव मे वह हेतु नहीं होता। न्याय मे पाच प्रकार के 'हेत्वाभास' का उल्लेख किया गया है—(१) सव्य-भिचार (अस्पष्ट व अनियत) (२) विरुद्ध (विरोधी) (३) प्रकरण सम (समानार्थक) (४) साध्य सम (अपुष्ट या असिद्ध हेतु) (५) कालातीत (असामयिक)। सव्यभि-चार हेत्वाभास वहाँ होता है जहाँ एक ही हेतु से विरोधी निष्कर्ष निकलते है जैसे शब्द शाश्वत हैं क्योंकि यह परमाणुओ की भाँति ही अमूर्त है, जो शाश्वत हैं, या शब्द अशाश्वत है क्योंकि यह बोध-चेतना के समान ही क्षणिक है। 'विरुद्ध' हेत्वाभास वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ कारण साध्य विषय का विरोधी होता है—उदाहरण के लिए घडा शाश्वत हैं क्योंकि यह उत्पन्न होता है। 'प्रकरणसम' वहाँ होता है जहाँ कारण साध्य को दूसरे रूप मे प्रस्तुत कर देता है। उदाहरणार्थ—शब्द अशाश्वत है क्योंकि इनमे शाश्वत गुण नहीं है। साध्यसम मे स्वय कारण को सिद्ध करने की आवश्यकता होती है जैसे छाया पदार्थ है क्योंकि इसमे गति होती है। परन्तु यहाँ यह सिद्ध करना आवश्यक है कि छाया मे गति होती है या नही। कालातीत वह मिथ्या दृष्टात या तुलना है जो समयानुकूल नही है। जहा समय की दृष्टि से तुलना अप्रासगिक होती है वहाँ कालातीत हेत्वाभास होता है, जैसे यह कहा जाए कि शब्द शाश्वत हैं क्योंकि यह वर्ण के समान सम्पर्क से उत्पन्न होता है जैसे वर्ण, प्रकाश और वस्तु के सघात से उत्पन्न होता है इसी प्रकार शब्द लकडी और ढोल के संघात से उत्पन्न होता है अत. शाश्वत है। इस उदाहरण में तर्क-दोष इस प्रकार है कि प्रकाश के पड़ते ही वर्ण दिखाई देता है। यह वर्ण पहले से ही स्थित था और प्रकाश के सम्पर्क से दिखाई देने लगा। उधर शब्द की स्थिति भिन्न है। शब्द लकड़ी के द्वारा ढोल पर आघात किए जाने से उत्पन्न होता है अतः यह इस आघात के कारण उत्पन्न वस्तु है। जो वस्तु उत्पन्न होती है वह नाश होती है अतः यह अशाश्वत है। वर्ण के समान इसकी पूर्व स्थिति नहीं है।

उत्तर न्याय 'सव्यभिचार' के तीन भेदों का उल्लेख करता है। (१) 'साधारण' पर्वत अग्निमय है क्योंकि यह ज्ञान की वस्तु है, परन्तु झील जो अग्नि से विपरीत है वह भी ज्ञान का विषय है। (२) 'असाधारण' (अत्यन्त न्यून) शब्द शाश्वत है क्योंकि इसमें शब्द की प्रकृति है, यह कारण नहीं हो सकता क्योंकि शब्द की प्रकृति शब्दके अतिरिक्त और कहीं नहीं पाई जाती। (३) 'अनुपसंहारिन्' (अनुनय) प्रत्येक वस्तु अस्थायी है क्योंकि सभी वस्तुएँ ज्ञान का विषय हैं। इसमे हेत्वाभास इस अर्थ में है कि ऐसी कोई वस्तु नही है जो ज्ञान का विषय न हो, अत. इसके विपरीत निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है।

'सत्प्रतिपक्ष' वह हेत्वाभास है जिसमे हेतु या कारण विरोधी होने के कारणविरोधी निष्कर्ष निकलता है जैसे शब्द शाश्वत है क्योंकि यह सुनाई देता है शब्द अशाश्वत है क्योकि यह फल मात्र है। 'असिद्ध' नाम का हेत्वाभास भी तीन प्रकार का होता है। (१) 'आश्रयासिद्ध' आकाश-कमल सुगन्धित है क्योकि यह भी अन्य कमल पुष्पों के समान है। इस उदाहरण मे स्पष्ट है कि आकाश-कमल नाम की कोई वस्तु हो ही नही सकती। (२) 'स्वरूपासिद्ध' शब्द गुण है क्योकि वह दिखाई देता है। परन्तु इस उदाहरण मे भी स्पष्ट है कि शब्द दिखाई नही देता। (३) 'व्याप्यत्वासिद्ध' यह हेत्वाभास वहा होता है जहा हेतु और कार्य मे व्याप्ति स्थिर एव अपरिवर्तनीय नही होती, उदाहरण—पर्वत पर धुआं है क्योकि वहा अग्नि है। लेकिन कभी-कभी अग्नि धूम्रहीन भी हो सकती है जैसे लोहे के अग्नि-तप्तपिड (गोले) मे, केवल हरी लकडियों के जलाने पर ही सदैव धुआं होता है अत· केवल हरी लकडी की अग्नि मे ही धुएँ की अपरिवर्तनीय व्याप्ति है।

'बाधित' वह दोष है जहा ऐसा तर्क उपस्थित किया जाए जो प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध हो। जैसे, अग्नि तापहीन है क्योकि यह पदार्थ है।

वैशेषिक द्वारा वर्णित हेत्वाभास की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। न्याय-मत के विपरीत श्री प्रशस्तपाद 'उदाहरण' नाम के दोष का भी उल्लेख करते है। श्री दिङ्नाग भी दृष्टान्त-दोष को मानते है जैसे शब्द शाश्वत हैं क्योंकि यह निराकार है, जो निराकार है जैसे अणु वह शाश्वत है। इस उदाहरण में दृष्टान्त-दोष है क्योंकि अणु निराकार नहीं है। श्री धर्मकीर्ति 'पक्ष' के दोष को भी मानते थे। परन्तु न्याय का मत यह था कि यदि हेतु के दोष से मुक्त रहा जाए तो उचित अनुमान पर पहुँचा जा सकता है अन्य सब दोष केवल पिष्टपेषण मात्र है। 'छल' केवल जीतने के लिए विरोधी पक्ष के तर्क की टेढ़ी-मेढी व्याख्या करने को कहते हैं। 'जाति' विरोधी को हराने की दृष्टि से उल्टे-सीधे, झूठे विषय बिन्दुओं को बीच-बीच में प्रस्तुत करना और कभी एक पक्षीय, कभी दूसरे पक्ष के झूठे निष्कर्षों को आधार बनाकर तर्क करने को

कहते हैं। 'निग्रहस्थान' तर्क मे वह बिन्दु है जहाँ विरोधी मत के तर्क के विरोधाभास, दोष आदि को स्पष्ट कर यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया जाता है विरोधी पक्ष सारहीन है और इस प्रकार विरोधी पक्ष की हार व पक्ष की जीत का सबके समक्ष निर्णय करने के लिए अन्तिम तर्क प्रस्तुत कर दिया जाता है। 'न्याय मंजरी' में श्री जयन्त यह स्पष्ट करते हैं कि सात्विक पक्ष की रक्षा और शिष्यों के सामने विद्वानों को हतप्रभ होने को रोकने के लिए ही तर्क की विशद जानकारी आवश्यक है। दभी और उद्दंड व्यक्ति कई बार विद्वानों को अपमानित करने की दृष्टि से शास्त्रार्थ करते हैं। इससे बचने के लिए ी तर्क की सब गहनताओं और सूक्ष्मताओं को समझने की आवश्यकता है। अत. जो धार्मिक व्यक्ति मोक्ष की जिज्ञासा मे रत हैं उन्हे भी चाहिए कि तर्क का अध्ययन करें जिससे शिष्यो की श्रद्धा और ज्ञान मे व्यर्थ व्यवधान और संशय उत्पन्न न हों। अतः 'न्याय-सूत्र' मे मोक्ष के साधनों मे तर्क और न्याय को भी विशिष्ट स्थान दिया गया है।[1]

आत्मा का सिद्धान्त

'धूर्त' चार्वाक आत्मा के अस्तित्व को ही नही मानते थे। उनका मत था कि चेतना और प्राण भौतिक एवं शारीरिक परिवर्तनो के कारण उत्पन्न होते है। यह एक भौतिक प्रक्रिया मात्र है। अन्य चार्वाको मे सुशिक्षित चार्वाक मुख्य है। उनके अनुसार आत्मा का अस्तित्व शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है। अर्थात् आत्मा का अस्तित्व तो है पर शरीर के साथ ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है, बौद्ध भी आत्मा के शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार नही करते हैं। नैयायिक दर्शन के सभी सिद्धान्तो को प्रत्यक्ष अनुभव या तज्जनित अनुमान की कसौटी पर कसते थे। उनका मत था कि सुख, दुख, आनन्द, चेतना और संकल्प आदि शरीर के या इन्द्रियों के गुण नही हो सकते, अतः इनसे भिन्न कोई अन्य वस्तु होनी चाहिए जिसके कारण हमको इन सबकी अनुभूति व प्रेरणा होती है। न्याय के अनुसार आत्मा का अस्तित्व केवल स्वचेतना के ऊपर ही निर्भर नहीं हो सकता जैसा कि मीमासा का मत है। क्योकि कभी कभी वह आत्म-चेतना मिथ्या भी हो सकती है, जैसे हम यह कहते हैं कि मै श्वेत या काला हूं। पर यह निश्चित है कि आत्मा का कोई वर्ण नही हो सकता। अतः यह चेतना असत्य है। परन्तु हम आत्मा के सम्बन्ध में एक निश्चयात्मक अनुमान कर सकते है कि सुख-दुःख अनुभूति आदि जिसके अंग हैं वही आत्मा होनी चाहिए। ये सुख-दुःख अनुभूति आदि अनेक संघातो के कारण आत्मा में उत्पन्न होते है। परन्तु स्वयं आत्मा

---

[1] न्याय-मंजरी' पृ० ५८६-६५९ और तार्किकरक्षा (वरदराज), निष्कंटक (मल्लिनाथ) पृ० १८५ से आगे देखिए।

की उत्पत्ति या विनाश का कभी अनुभव नही हो पाया है अतः आत्मा शाश्वत प्रतीत होती है। यह शरीर के किसी विशेष अंग में केन्द्रीभूत नही है, यह सर्वव्यापक है 'विभु' है। यह शरीर के साथ नही चलती परन्तु सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न होते हुए भी शरीर मे इसके द्वारा सारी क्रिया सम्पादित होती है जिनके द्वारा इसे पहचाना जाता है। यह स्वय चेतनाहीन है परन्तु उचित सस्थितियो मे यह चेतनामय हो जाती है।[1]

जन्म के समय बच्चे अपने मुख के आकृतिभाव से सुख-दु.ख की हर्ष, विषाद आदि को प्रकट करते है। यह भावना पूर्वजन्म की स्मृति के फलस्वरूप ही होनी चाहिए क्योकि सद्योजात बालक मे इस जन्म की सवेदनाओ की अनुभूति का कोई प्रश्न ही नही उठता। इस जन्म मे कोई दु.खी है और कोई सुखी है, कोई आनन्द उठाता है और कोई कष्ट। यह सब अन्तर क्यो है? इसका एकमात्र समाधान भी यही है कि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही इस जन्म के सुखादि निर्धारित होते हैं। अपने अपने कर्म के अनुसार ही इस जन्म मे भोग-व्यवस्था होती है। इस विश्व मे प्राणी-प्राणी के भोगादि मे जो इतना अन्तर पाया जाता है उसके लिए कर्म की कल्पना ही तर्क-सगत प्रतीत होती है। यह कहना उचित नही होगा कि यह केवल भाग्य की बात है, एक संयोग मात्र है।

ईश्वर और मोक्ष

साख्य, जैन, बौद्ध आदि ईश्वर के अस्तित्व को नही मानते है। न्याय ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करता है। अनुमान के आधार पर न्याय ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए उपर्युक्त दर्शनो के नास्तिकवाद का खडन करता है। न्याय ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान का प्रयोग करता है।

जैन और अन्य नास्तिक यह कहते हैं कि ससार मे वस्तुएँ उत्पन्न होती है और नष्ट होती रहती है, परन्तु यह सारा विश्व कभी एक साथ उत्पन्न हुआ हो ऐसा प्रमाण नही मिलता। यह सपूर्ण ससार कभी एक साथ उत्पन्न ही नही हुआ अतः यह किसी ऐसे कार्य या प्रभाव के रूप में नही माना जा सकता जिसका कोई कारण होना चाहिए। इसके विरुद्ध न्याय का मत है कि अन्य कार्यों के समान यह संसार भी कार्य रूप है। पृथ्वीतल मे अनेक अन्तर्भौमिक परिवर्तन, भूमि स्खलन आदि होते रहते हैं। इस विनाशकारी प्रक्रिया से संसार नष्ट-भ्रष्ट होता रहता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि संसार भी उत्पत्ति और विनाश के क्रम का एक अग है। यह शाश्वत

---

[1] 'ज्ञानसमवाय निबंधनमेवात्मनश्चेतयितृत्वम्' आदि। —न्याय मजरी पृ० ४३२।

नहीं है। यदि नास्तिक यह भी स्वीकार न करें, तो मानना ही पड़ेगा कि यह विश्व एक विशेष व्यवस्था और नियम के अनुसार संचालित होता है। परन्तु वे फिर यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि मनुष्य के द्वारा उत्पादन के क्रम और पद्धति में, जैसे घड़े के उत्पादन में, और प्रकृति की व्यवस्था और नियम में अन्तर है। मनुष्य द्वारा उत्पादन के क्रम मे किसी उत्पादक की कल्पना की जा सकती है पर विश्व के व्यवस्था-क्रम ('सन्निवेश विशिष्टता') से किसी रचयिता या उत्पादक का अनुमान नहीं किया जा सकता। न्याय का तर्क है कि विश्व की व्यवस्था, क्रम और नियम व स्रष्टा के अस्तित्व के सम्बन्ध में सामान्य रूप मे व्याप्ति देखना चाहिए, न विशेष अवस्था में, क्योकि विशिष्ट अवस्था मे प्रत्येक दशा मे ऐसी विशिष्टता होगी जो सदैव सामान्य परिस्थितियों से भिन्न होगी। जैसे रसोई में जो अग्नि है वह वन की अग्नि से भिन्न है–दोनों की अपनी विशिष्टता है, पर इस विशिष्टता की ओर ध्यान न देते हुए सामान्य रूप मे प्रत्येक अवस्था में हम अग्नि और धुएँ की व्याप्ति देखते है। इसी आधार पर विशिष्टता के होते हुए भी हम विश्व-सन्निवेश से, व्यवस्था, नियमन आदि से स्रष्टा की कल्पना सहज ही कर सकते हैं। वृक्षों के सम्बन्ध मे नास्तिकों द्वारा कहा जाता है कि हम उनको नित्य-प्रति उगते हुए देखते हैं परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि उनका कोई स्रष्टा नहीं है। अत. इस अनुमान मे सदेह का कोई कारण नही है कि इस सृष्टि का कोई स्रष्टा है क्योकि यह कार्य रूप है, इसमे विशेष व्यवस्था व क्रम है और यह निश्चित नियमो के अनुसार सचालित होती है। जिस प्रकार एक कुम्हार घडों को उत्पन्न करता है और यह जानता है कि उनका क्या उद्देश्य है, वे किस काम के लिए हैं, इसी प्रकार परमात्मा विश्व के उद्देश्य और कार्य का ज्ञाता है, वह सर्वज्ञ है, वह प्रत्येक समय प्रत्येक वस्तु को जानता है, उसे किसी प्रकार की स्मृति की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा को सब कुछ प्रत्यक्ष है, उसे मन-इन्द्रियो आदि की आवश्यकता नही है। वह सदैव आनन्दमय है। उसकी अनन्त इच्छा से मनुष्य के कर्मानुसार, सृष्टि का आदि-अन्त, प्रलयादि होते है। वही कर्त्ता, धर्ता और विधाता है, उसकी इच्छानुसार ही मनुष्य अपने कर्मों का फल सृष्टि के भिन्न-भिन्न कर्मों में भोगते है। हमारी आत्मा अमूर्त और शरीरहीन है, पर वह इच्छा से शरीर मे अनेक परिवर्तन कर, बाह्य ससार पर भी इसके क्रिया-कलाप मे प्रभाव डालती है, उसी प्रकार 'ईश्वर' भी शरीरहीन होते हुए भी, अपनी इच्छा से ससार को उत्पन्न करता है। कुछ लोगो का मत है कि ईश्वर के साथ शरीर का सम्बन्ध होना ही चाहिए तो यह परमाणविक प्रकृति ही उसका शरीर मानना चाहिए। इस प्रकार उसकी इच्छा मात्र से परमाणु-प्रकृति मे स्पन्दन की क्रिया होने लगती है जिसके द्वारा परिवर्तन होता रहता है।[1]

---

[1] 'न्याय मजरी' पृ० १९०-२०४। इसके अतिरिक्त 'ईश्वरानुमान' शिरोमणि रचित और उदयन द्वारा लिखी 'कुसुमांजलि' देखिए।

अन्य भारतीय दर्शनो के समान ही नैयायिक भी ससार को घोर दुःखमय समझते थे। उनके अनुसार ससार मे दुःख ही दुःख है, थोड़ा-थोड़ा आनन्द जो कुछ दिखाई भी देता है, उससे दुःख की अनुभूति और भी अधिक मुखर हो जाती है। इस प्रकार बुद्धिमान् व्यक्तियो के लिए ससार मे प्रत्येक वस्तु दु.खमय दिखाई देती है–'सर्वम् दुःखम् विवेकिनः।' अतः बुद्धिमान् लोग सांसारिक सुखों से विरक्त रहने का प्रयत्न करते है क्योकि इन सुखो से अन्ततः दुःख ही मिलता है।

सासारिक बन्धन 'मिथ्याज्ञान' के कारण है जिसके कारण मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि आदि को ही अपना 'आपा' समझ बैठता है, इसी को वह अपनी आत्मा या अपना अह समझकर ममता के बधन मे फँस जाता है। परन्तु जब सत्य-ज्ञान का उदय होता है, जब षट् पदार्थों, प्रमाण, प्रमेय (ज्ञान के विषय) आदि का ज्ञान होकर विवेक जागृत होता है, तो मिथ्या ज्ञान स्वयमेव नष्ट हो जाता है। मिथ्या ज्ञान को नष्ट करने के लिए इसके विरोधी पक्ष का मनन करना चाहिए जिसे 'प्रतिपक्ष-भावना' के नाम से संबोधित किया है। यह वस्तुओं के यथार्थ रूप का मनन है। जब हमे किसी वस्तु का मोह अथवा कोई सुख की तृष्णा आकर्षित करे, तब हमे सोचना चाहिए कि यह सुख वास्तव मे दुःख का मूल है, इस प्रकार सत्य-ज्ञान का उदय होगा हम उसके मोह से छूट जाएँगे। मोह, तृष्णा और अज्ञान से मुक्त होने का यही मार्ग है। मोह-तृष्णा के विनाश के साथ ही वासना-प्रवृत्ति का भी नाश स्वयमेव हो जाता है। इससे पुनर्जन्म से मुक्ति मिलती है और उसके साथ ही दुःख से मुक्ति प्राप्त होती है। मिथ्याज्ञान और तृष्णा के अभाव से कर्मों के बन्धन में मनुष्य लिप्त नही होता अर्थात् उसके कर्म उसे किसी बन्धन में नही बाँधते। जन्म, मरण से मुक्त होकर आत्मा, शान्त, गुणातीत अवस्था को प्राप्त होती है जिसमे व्यक्ति वीतराग हो जाता है। न्याय वैशेषिक के अनुसार मुक्ति न तो पूर्ण ज्ञान की स्थिति है न पूर्णानन्द की। यह वह गुणातीत अवस्था है जिसमे आत्मा अपनी आदि पवित्र, निर्मल, विकारहीन अवस्था में स्थित हो जाती है। कभी-कभी दुःख विहीन अवस्था को अर्थ-क्रम से पूर्णानन्द की अवस्था के नाम से सम्बोधित किया जाता है परन्तु न्याय के अनुसार यह वास्तव मे आत्मा की वह निष्क्रिय शान्त अवस्था है जब यह अपनी विकारहीन नैसर्गिक पवित्रता को प्राप्त करती है जिसमे किसी प्रकार के ज्ञान, आनन्द, सुख-दुःख, सकल्प आदि का स्थान ही नही रह जाता है।[1]

---

[1] न्याय-मजरी, पृ० ४९९-५३३।

अध्याय ९

मीमांसा दर्शन

तुलनात्मक विवेचन

जीवन की दैनिक अनुभूतियो के सम्बन्ध मे न्याय वैशेषिक का दृष्टिकोण युक्ति-सगत, व्यावहारिक और बौद्धिक है। साख्य के समान इसका दृष्टिकोण एकात्मक नही है कि हमारे अनुभव और बुद्धि का आधार कोई आदि प्रकृति है। काल, आकाश, चतुर्भूत (चारो तत्त्व), आत्मा आदि सभी को इस दर्शन ने स्थूल वस्तुओ के रूप मे माना है। द्रव्यो मे पाए जाने वाले गुण भी अपना अलग अस्तित्व रखते है पर इनको वस्तुओं अथवा द्रव्यों के साथ ही देखा जा सकता है। कर्म स्वयं एक अस्तित्व है, और इसी प्रकार जाति या वर्गत्व का भी एक अपना अस्तित्व है परन्तु इसकी व्याप्ति स्थूल द्रव्यो मे है। 'ज्ञान' जो सभी वस्तुओ को प्रकाशित करता है आत्मा का गुण है। अनेक कारणो के योग से कार्य हुआ करता है। जैसे प्रकृति मे अन्य सब कार्य कारण-संयोग से होते हैं उसी प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति भी कारण-योग से हुआ करती है। जैसे अनेक निमित्त, उपादान आदि कारणो से घड़े की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार इन्द्रिय, बुद्धि, विषय, आत्मा आदि के सम्पर्क और सयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। न्याय के अनुसार आत्मा तत्त्व मे ज्ञान की व्याप्ति होती है। द्रव्य का गुण, कर्म, जाति मे सम्बन्ध भी दार्शनिक दृष्टिक से एक अपना महत्व रखता है क्योकि इसके अस्तित्व को स्वीकार किए बिना हम किसी सिद्धान्त को सम्पूर्ण दृष्टि से नही देख सकते हैं।

साख्य-सिद्धान्त के अनुसार सारे पदार्थ तीन गुणो से युक्त अनन्त तत्त्वो से बने है। इन तत्त्वो के अनेक विध योग से विभिन्न पदार्थों का निर्माण होता है। गुण, द्रव्य, कर्म मे कोई अन्तर नही है क्योकि ये विविध गुण-सयुक्त तत्त्वों के विभिन्न सयोग के ही रूप है। प्रकृति-तत्त्वो मे, द्रव्य, ज्ञान, सवेदना, कामना आदि बीज रूप मे विद्यमान हैं। मूल प्रकृति मे भूत-तत्त्वो के अनेक योग, संन्निवेश प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते है जिनसे अनेक पदार्थों का निर्माण होता रहता है पर इस निर्माण की प्रक्रिया मे कुछ भी नया नही है जो पूर्व से ही कारण-प्रकृति में विद्यमान नही था। कारण-प्रकृति बीज रूप में समस्त सृष्टि के कार्य-रूप को अपने में धारण करती है। ज्ञान एक प्रकाश-पुंज मात्र है–यह ऐसा तत्त्व है जो वस्तुओं को प्रकाशित करता है परन्तु यह अन्य द्रव्यों के समान

ही एक द्रव्य है। सांख्य के अनुसार चित्-तत्त्व शुद्धइन्द्रियातीत है। यह इन्द्रियातीत चेतन तत्त्व, मनस्तत्त्व के सम्पर्क मे आकर उसको प्रकाशित करता है, यह चित् ही मनस्तत्त्व साथ मिल कर व्यक्तिगत अनुभूतियो और सवेदनाओ की सृष्टि करता है।

न्याय की दृष्टि से ऐसे शुद्ध चित् की कल्पना जीवन के साधारण अनुभव से परे है। यह हमारे दैनिक सामान्य ज्ञान के द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता कि इस प्रकार का कोई चित्-तत्त्व हो सकता है। सांख्य ने भी इस चिद्रूप पुरुष की कल्पना को साधारण ज्ञान और अनुभव से परे माना है। इसे इन्द्रियातीत कहा है। साख्य के अनुसार यह वह शाश्वत तत्त्व है जिसमे ज्ञान की उत्पत्ति, विकास और लय होते है। ससार के नियमन और 'ऋत' के मूल स्रोत के रूप मे पुरुष को देखा गया है। पुरुष और प्रकृति की कल्पना मे पुरुष को शाश्वत, अपरिवर्तनीय ऐसे शुद्ध चेतन तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गया है, जो जड-परिवर्तन, बुद्धि का आधार और प्रकाशक है।

न्याय को भी आत्मा को सिद्ध करने के लिए इस तर्क का सहारा लेना पडा है कि ज्ञान गुण रूप है। गुण किसी द्रव्य मे ही रह सकता है। गुण की व्याप्ति के लिए किसी न किसी प्रकार के तत्त्व की आवश्यकता है। इस युक्ति का आधार एक अन्य मान्यता है कि द्रव्य और गुण दोनो अलग पदार्थ हैं। गुण की यह प्रकृति है कि उसकी व्याप्ति किसी द्रव्य मे ही हो सकती है। ज्ञान भी एक गुण है और अन्य गुणो के समान ही इसकी व्याप्ति भी किसी द्रव्य मे होनी चाहिए अतः यह युक्ति-सम्मत है कि ज्ञान के आधार के रूप मे आत्मा को स्वीकार किया जाए। आश्चर्य यह है कि किसी भी दर्शन ने हमारी सामान्य आत्मचेतना के आधार पर जिस ज्ञान का प्रवाह चलता रहता है उसका विश्लेषण करने का प्रयत्न नही किया और न इस चेतना-प्रवाह के आधार पर किसी नतीजे पर पहुँचने का यत्न किया। सभवत: साख्य चित्तत्त्व के विश्लेषण के आधार पर इस दृष्टिकोण के अधिक निकट पहुँचा है, परन्तु इसने भी ज्ञान और चेतना को ऐसा पृथक् रूप दे दिया है जो साधारण बुद्धि और अनुभव से युक्तिसगत प्रतीत नही होता। जहाँ साख्य ने सामान्य दैनिक जीवन के अनुभव को छोड केवल कल्पना के आधार पर अपने मत का विवेचन किया है वहाँ न्याय ने केवल कुछ तर्क अनुमान के आधार पर प्रस्तुत किए है। इन तर्कों को जिन मूलभूत मान्यता से प्रारभ किया गया है उसका स्वय का कोई निश्चित आधार नही है। द्रव्य और गुण पृथक् है और गुण का आधार द्रव्य है, यह ऐसी धारणा के रूप मे स्वीकार कर लिया गया है जिसकी कोई पूर्व परीक्षा नही की गई है। इसे सामान्य अनुभव के रूप में स्वीकार कर ज्ञान और आत्मा के व्याप्ति सम्बन्ध को सिद्ध किया गया है। ऐसे निर्बल आधार पर इतने बडे सिद्धान्त का निर्माण इसके महत्व को कुछ कम कर देता है। आवश्यकता इस बात की भी है कि जिस बुद्धि और चेतना से सतत् स्वयमेव ज्ञान उत्पन्न होता रहता है उसको अधिक महत्व दिया जाता। इसकी प्रक्रियाओं का विशेष रूप से

विश्लेषण और विवेचन किया जाता और इसकी सतत् दैनिक अनुभूति को प्रामाणिक मान कर कुछ निष्कर्ष पर पहुँचा जाता। इस दिशा में सर्वप्रथमप्रयास मीमांसा दर्शन ने किया। मीमासा-सूत्रों की रचना महर्षि जैमिनी ने की है। इसका भाष्य श्री शबर ने किया है। परन्तु मीमांसा दर्शन को क्रमबद्ध युक्ति-युक्त ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय कुमारिल को है जो प्रभाकर के गुरु और श्री शंकराचार्य के पूर्ववर्ती थे।

मीमांसा साहित्य

भारत के ब्राह्मणो मे यज्ञादि द्वारा उपासना और पूजा की परम्परा किस प्रकार प्रचलित हुई यह अभी भी शोध का विषय है परन्तु यह निश्चित है कि कर्मकाडीय पूजा-विधियों का प्रचार उत्तरोतर बढता ही गया। यज्ञ की सफलता कर्मकाड के यथा-विधि सम्पन्न करने पर निर्भर थी, अतः इस पर विशेष बल दिया जाने लगा। इन विधियो की विधिवत शिक्षा शिष्य लोग प्रारम्भ मे मौखिक रूप से ग्रहण करते थे। शनै. शनै. इन विधियो को स्मृति में रखने के लिए लिपिबद्ध किया जाने लगा। इस प्रकार स्मृति-साहित्य का जन्म हुआ। विधि और कर्मकांड पर अनेक शंकाएँ और विवाद भी होने लगे क्योकि विद्वान् याज्ञिक और अपनी-अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार कर्मकाड की परम्पराओ की व्याख्या और निदेशन करने लगे। अतः यह आवश्यक हो गया कि विधियो की युक्तियुक्त मीमांमा की जाए। यहाँ से मीमासा साहित्य का सूत्रपात हुआ। मीमासा का अर्थ ही युक्तियुक्त बौद्धिक विश्लेषण है। यह भी सम्भव है कि उस समय मीमांसा की भी अनेक शाखाएँ रही होंगी पर उस समय का अधिकाश मीमासा-साहित्य लुप्त हो गया है। इस समय मीमासा-दर्शन का आधार महर्षि जैमिनी कृत मीमासा-सूत्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक शाखा विशेष के मन्तव्य का विधिवत सकलन है क्योंकि इसमे अनेक अन्य मतो के उद्धरण और उनकी आलोचना प्राप्त होती है। ये अन्य ग्रन्थ अब उपलब्ध नही है। यह भी कहना कठिन है कि महर्षि जैमिनी के मीमासा-सूत्रो में कितना अश अन्य दर्शन-ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है और कितना उनकी मौलिक रचना है। लेकिन ये मीमासा-सूत्र इतने विद्वत्ता-पूर्ण और प्रभावशाली ढंग से लिखे गए है कि पिछले २००० वर्षों से ये मीमासा-दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। ये सूत्र सम्भवतः ईसा से २०० वर्ष पूर्व लिखे गए थे। अनेक विद्वानो ने इन सूत्रों पर भाष्य लिखे हैं। 'न्याय रत्नाकर' में 'श्लोकवार्तिक' के दसवे श्लोक मे श्री भर्तृमित्र के भाष्य का प्रसग आता है। इसी प्रकार श्री भवदास, हरि और उपवर्ष ने भी मीमासा-सूत्रों पर जो भाष्य लिखे है उनका उल्लेख 'प्रतिज्ञासूत्र' (श्री भवदास) और 'शास्त्र-दीपिका' (हरि और उपवर्ष) मे मिलता है। सबसे प्रसिद्ध भाष्य शबर-भाष्य है जिसके लेखक शबर थे। सम्भव है ऊपर के भाष्यों में कुछ शबर-भाष्य से पूर्व लिखे गए हों। शबर-भाष्य के समय के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ हैं।

डा० गंगानाथ का मत है कि सम्भवतः शबर ५७ ई० पू० के ग्रास-पास हुए होंगे क्योंकि एक श्लोक में ऐसा उल्लेख किया गया है कि श्री विक्रमादित्य क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न शबर-स्वामी के पुत्र थे। उत्तरकालीन मीमासा-दर्शन पर लिखे ग्रन्थों का मुख्य ग्राधार शबर-भाष्य ही रहा है। शबर-भाष्य पर भी एक प्रसिद्ध टीका लिखी गई है जिसके लेखक ग्रज्ञात हैं। श्री प्रभाकर ने इस विशिष्ट टीकाकार को 'वार्तिक कार' नाम से उद्धृत किया है और कुमारिल ने केवल 'यथाहु.' (जैसा वे कहते हैं) कह कर उल्लेख किया है। डा० गंगानाथ झा का मत है कि श्री प्रभाकर की 'बृहती' नामक टीका का ग्राधार वार्तिककार की शबर-भाष्य टीका है। श्री शालिकनाथ मिश्र ने प्रभाकर की 'बृहती' पर एक ग्रौर टीका लिखी है जिसका नाम 'ऋजुविमला' है। मीमांसा-दर्शन पर श्री प्रभाकर की (व्याख्या) सूक्तियो के संकलन के रूप में श्री मिश्र ने एक ग्रौर ग्रन्थ लिखा है जो प्रभाकर-पंचिका के नाम से जाना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि प्रभाकर जो निबन्धकार के नाम से प्रसिद्ध है ग्रौर जिनके मत को 'गुरुमत' के रूप में जाना जाता है, श्री कुमारिल के शिष्य थे। कुमारिल भट्ट शंकर के समकालीन थे। इनका जन्म शकर से कुछ पूर्व हुग्रा था। शंकर का समय सन् ७८८ ईसवी निश्चित किया गया है। श्री कुमारिल ने शबर-भाष्य के ऊपर स्वतत्र दृष्टि से विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी है, जो तीन भागो में विभाजित हैं। शबर-भाष्य के प्रथम भाग के प्रथम ग्रध्याय मे दर्शन-सिद्धान्तो का निरूपण किया गया है जो 'तर्कपाद' कहलाता है। श्री कुमारिल की प्रथम टीका तर्कपाद पर लिखी गई है जो 'श्लोकवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका का दूसरा भाग 'तंत्रवार्तिक' कहलाता है जो शबर-भाष्य की प्रथम पुस्तक के ग्रवशिष्ट ग्रध्यायो ग्रौर दूसरी व तीसरी पुस्तक पर लिखा गया है। टीका का तीसरा भाग 'टुप टीका' नाम से जाना जाता है जिसमे शबर-भाष्य के शेष नौ भागो पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ दी गई है।[1] श्री कुमारिल को उनके उत्तरवर्ती विद्वानो ने भट्ट, भट्टपाद ग्रौर वार्तिककार ग्रादि नामो से पुकारा है। कुमारिल के पश्चात् मीमासा-दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् श्री मडन मिश्र ने 'विधि विवेक' एवं 'मीमासा-नुक्रमणि' नामक ग्रन्थो की रचना की। इसके साथ ही उन्होने 'तन्त्रवार्तिक' पर भी एक टीका लिखी। ग्रपने जीवन के उत्तरकाल मे ये ग्राचार्य शंकर के शास्त्रार्थ में पराजित हुए ग्रौर इस प्रकार वेदान्त के ग्रनुयायी बन गए। परन्तु कुमारिल के पश्चात् ग्रन्य ग्रनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने मीमासा-दर्शन पर सुन्दर ग्रन्थ लिखे है। श्री कुमारिल के ग्रनुयायियो मे सबसे प्रसिद्ध नवी शताब्दी मे उत्पन्न श्री पार्थसारथी मिश्र है जिन्होने 'शास्त्रदीपिका' 'तन्त्ररत्न' ग्रौर 'न्याय-रत्नमाला' की रचना की है। श्री सुचरित मिश्र ने 'काशिका' ग्रौर श्री सोमेश्वर ने 'न्याय-सुधा' नामक ग्रन्थ लिखे।

---

[1] 'सिक्स बुद्धिस्ट ट्रैक्ट्स' मे महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने यह मत प्रकट किया है कि कुमारिल शंकर से सम्भवतः दो पीढ़ी पूर्व हुए थे।

इसके अतिरिक्त श्री रामकृष्ण भट्ट ने शास्त्रदीपिका के तर्कपाद पर एक वृहत् एवं विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है, जिसका नाम 'युक्तिस्नेह पूरिणी सिद्धान्त-चन्द्रिका' है। 'शास्त्र दीपिका' के अवशेष भागों पर श्री सोमनाथ ने 'मयूखमालिका' नामक टीका लिखी है। मीमासा दर्शन के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थों में श्री माधव रचित 'न्याय-माला-विस्तार', श्री शकर भट्ट की 'सुबोधिनी' व 'मीमासा-बल-प्रकाश', श्री वाचस्पति मिश्र की 'न्याय कणिका' श्री कृष्ण यज्वन रचित 'मीमासा-परिभाषा', श्री अनन्तदेव की 'मीमासा-न्यायप्रकाश', श्री गागा भट्ट रचित 'भट्ट-चिंतामणि' आदि मुख्य है। इन पुस्तकों मे से अधिकाश का मनन इस अध्याय की विषय वस्तु के सम्बन्ध मे किया गया है। हिन्दुओ के जीवन मे मीमासा-दर्शन का विशिष्ट स्थान है। नित्य-प्रति के धार्मिक कृत्य, पूजा-अनुष्ठान आदि की व्यवस्था मीमासा में की गई है। स्मृति, जो धार्मिक नियमो का सकलन है, उसका आधार मीमासा-दर्शन ही है। ब्रिटिशकाल मे हिन्दुओ के सामाजिक जीवन मे नियमन के लिए जिस विधि और कानून का निर्माण किया गया है वह भी इसके द्वारा निरूपित स्मृति और दर्शन के आधार पर ही हुआ है। उत्तराधिकार, सम्पत्ति-सम्बन्धी सारी व्यवस्था भी इसी दर्शन पर आधारित है।

मीमासा से वेदान्त-दर्शन मे क्या साम्य और भेद है इसकी विशद व्याख्या अगले अध्याय मे की गई है, पर अन्य दर्शनो से इसका कही-कही मतभेद है यह इस अध्याय मे भली भाँति स्पष्ट कर दिया गया है। इस दर्शन की स्वय की भी दो शाखाएँ है जो प्रभाकर और कुमारिल के द्वारा प्रारम्भ की गई थी। इन दोनो शाखाओ पर इस अध्याय मे सम्यक् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। उत्तरकाल मे प्रभाकर का मत लुप्तप्राय: हो गया था पर कुमारिल के समय में प्रभाकर कुमारिल का प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वी माना जाने लगा था।[1] यज्ञादि करने के निमित्त वैदिक सहिताओ के अर्थ और व्याख्या सबधी सिद्धान्तो पर मीमासा-सूत्रो मे प्रकाश डाला गया है। इनका

---

[1] श्री कुमारिल के सम्बन्ध मे एक किवदन्ती प्रचलित है कि जब वे अपने शिष्य प्रभाकर को हराकर किसी प्रकार भी अपने मत मे मिलाने मे असमर्थ रहे तो उन्होने एक युक्ति का उपयोग किया। उनके शिष्यो ने झूठमूठ ही यह प्रसिद्ध कर दिया कि श्री कुमारिल की मृत्यु हो गई है। फिर प्रभाकर को बुलाकर पूछा कि अन्तिम सस्कार किसके मतानुसार करना चाहिए, किसके मत को सत्य मानना चाहिए। श्री प्रभाकर ने उत्तर दिया कि उनके गुरु का मत ही सत्य है, उनके अनुसार ही अन्तिम सस्कार होना चाहिए। यह सुन कर श्री कुमारिल उठ बैठे और उन्होने घोषित किया कि प्रभाकर हार गए। प्रभाकर ने उत्तर दिया कि जब तक कुमारिल जीवित है वे हार मानने को तैयार नही है। पर इस कहानी का कोई ऐतिहासिक महत्व नही है।

अपना दर्शन बहुत थोडा है जिसका स्थान स्थान से ग्रहण करना भी अत्यन्त कठिन है। श्री शबर ने भी दर्शन सम्बन्धी व्याख्या बहुत कम की है। जो व्याख्या की भी है वह अस्पष्ट है। कुमारिल और प्रभाकर के उल्लेखों से ही हमको वार्तिककार के मत का पता चलता है। अत. मीमासा दर्शन के लिए हमारा मुख्य स्रोत कुमारिल और प्रभाकर की ही रचनाएँ है क्योंकि उनके पश्चात् इस दर्शन पर जो भी ग्रन्थ लिखे गए है वे टीका-टिप्पणी के रूप मे ही लिखे गए है। अँग्रेजी मे भी श्री गगानाथ झा के अतिरिक्त और भी किसी ने इस दर्शन पर कोई प्रामाणिक रचना नही की है। श्री झा ने 'प्रभाकर-मीमासा' नामक जो ग्रन्थ लिखा है उससे इस अध्याय को लिखने मे बडी सहायता मिली है।

न्याय का 'परतःप्रामाण्य' सिद्धान्त और मीमांसा का 'स्वतः-प्रामाण्य' सिद्धान्त

मीमासा-दर्शन का मुख्य आधारस्तम्भ ज्ञान का स्वत-प्रामाण्य सिद्धान्त है। ज्ञान अपने आप स्वय सिद्ध है इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है। मीमासा के अनुसार केवल स्मृति के लिए प्रमाण की आवश्यकता हो सकती है क्योंकि पूर्वप्रसग को पूर्णतया याद रखने मे कही भूल हो सकती है परन्तु इसके अतिरिक्त किसी भी ज्ञान के विषय को प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नही है। ज्ञान अपनी सत्यता का स्वय ही सत्यापन करता है। इसके लिए किसी अन्य बाह्य परिस्थिति अथवा बाह्य ज्ञान का आश्रय आवश्यक नही है। न्याय का मत है कि ज्ञान को स्वत-प्रामाण्य मानने के पहले इस पर विचार करने की आवश्यकता है। यह सत्य है कि कुछ परिस्थिति विशेष मे हमे किसी वस्तु का स्वत ज्ञान होता है, पर यह कहना कहाँ तक युक्ति-सगत है कि इस ज्ञान की सत्यता का प्रमाण यह स्वय ही है। उदाहरण के लिए दृष्टि-सम्पर्क के द्वारा हमें नीले रग का बोध होता है। परन्तु यह दृष्टि-सम्पर्क यह प्रमाणित नही कर सकता कि जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह सत्य है क्योंकि दृष्टि-सम्पर्क का उस ज्ञान से जो उसके द्वारा उत्पन्न हुआ है कोई सम्बन्ध नही है। फिर ज्ञान मन का विषय है, आत्मपरक है, यह वस्तुपरक दृष्टि से कैसे सिद्ध कर सकता है कि जिस वस्तु के सम्बन्ध मे नीलेपन का बोध हुआ है वह वास्तव मे नीली है। नीलिमा-बोध के पश्चात् ऐसा कोई अन्य प्रत्यक्ष बोध नही होता जिससे यह कहा जा सके कि जो वस्तु मैंने देखी है वह वस्तुनिष्ठ रूप में नीली ही है। इस प्रकार किसी प्रकार के अन्य प्रत्यक्ष से इसकी सत्यता का प्रमाण नही दिया जा सकता। प्रत्यक्ष की क्रिया अथवा इन्द्रिय-सम्पर्क से जो मन मे ज्ञान उत्पन्न होता है वह कितना सत्य है, कितना प्रामाणिक है, इसका कोई साक्ष्य उस ज्ञान मे नहीं होता। यदि ज्ञान की उत्पत्ति मात्र से प्रामाणिकता और सत्यता स्थापित हो जाती तो फिर भ्रान्ति मिथ्यात्व आदि का

प्रश्न ही नहीं उठता। हम-मृग-मरीचिका को देख कर भी उसके सम्बन्ध में कोई संदेह नही करते। परन्तु वास्तव में अनेक बार हम यह प्रश्न करते हैं कि हमारा प्रत्यक्ष कहां तक सत्य है ? प्रत्यक्ष को प्रामाणिक मानने के लिए हम भविष्य के व्यावहारिक अनुभव का आश्रय लेते है। अर्थात् जो प्रत्यक्ष व्यवहार मे अनुभव से सिद्ध होता है उसे ही प्रामाणिक मानते है। फिर ज्ञान का प्रत्येक अंग कुछ कारण संस्थिति पर निर्भर करता है। पूर्ववर्ती कारण और परिस्थितियों के अभाव मे ज्ञान की उत्पत्ति नही हो सकती। ज्ञान की सत्यता का अर्थ यह है कि उस ज्ञान के प्रकाश में जो कार्य किया जाए उसके द्वारा हम तदनुसार व्यावहारिक सफलता प्राप्त कर सकें। जो ज्ञान व्यावहारिक अनुभव से सत्य सिद्ध हो वही प्रामाणिक है। हम मृग-मरीचिका को मिथ्या भ्रान्ति इसलिए कहते है कि इस ज्ञान के आधार पर गति करने से जल की प्राप्ति नही हो सकती। जिस ज्ञान से ज्ञाता को फल प्राप्ति हो वही प्रामाणिक है वही 'अर्थक्रियाज्ञान' या 'फलज्ञान' है। इस प्रकार ज्ञान 'स्वतः प्रामाण्य' नही है। इसकी सत्यता 'सम्वाद' के द्वारा प्रमाणित होती है। यहां सम्वाद का अर्थ व्यावहारिक अनुभव के आधार पर सत्यता का परीक्षण है। इस परीक्षण के फल से, यदि प्राप्त ज्ञान का सामजस्य है तो ज्ञान का व्यवहार से 'सम्वाद' (मेल) स्थापित होता है, अन्यथा नही।[1]

न्याय का यह प्रतिवाद इस सकल्पना पर आधारित है कि ज्ञान निश्चित वस्तु-निष्ठ परिस्थितियों और उपाधियों से सलग्न कारण-समूह द्वारा होता है। इस प्रकार जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके परीक्षण के लिए अथवा उसकी वैधता जानने के लिए तथ्यो से उसका सामंजस्य ज्ञात करना पडता है। लेकिन ज्ञान-उत्पत्ति का यह सिद्धान्त केवल एक सकल्पना मात्र है, क्योकि मनुष्य के अनुभव मे ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नही होता जिससे यह कहा जा सके कि ज्ञान किन्ही पूर्ववर्ती कारण समूह से उत्पन्न होता है। हम किसी वस्तु पर दृष्टि डालते है और तत्काल हम स्थूल वस्तुओ के स्वरूप को और तथ्यो को हृदयगम करते हैं, उनसे अवगत हो जाते है। या यह कहना चाहिए कि इन्द्रिय-सम्पर्क होते ही हमे एक वस्तुपरक चेतना हो उठती है। ज्ञान स्थूल जगत् के तथ्यो को प्रकाशित करता है, उनके बारे में हमे तत्काल विशिष्ट जानकारी प्राप्त हो जाती है। परन्तु इससे यह कहना कि स्थूल जगत् हम में किसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करता है, अनुभवसिद्ध नही है, अत. यह एक कल्पित धारणा मात्र है। केवल ज्ञान की ही यह शक्ति है कि वह अन्य सब वस्तुओं को प्रकाशित करता है, स्पष्ट करता है। ज्ञान ससार के अन्य कार्यों के समान कोई कार्य-विशेष या घटना-विशेष नही है। जब हम यह कहते हैं कि पदार्थों के बाह्य योग से (घटनाक्रम से) हमको ज्ञान-बोध होता है तब हम भ्रान्ति के कारण ऐसा कहते हैं। क्योकि जड़-संयोग ज्ञान का प्रेरक नही हो

---

[1] 'न्याय मजरी' पृ० १६०-१७३ देखिए।

सकता। ज्ञान प्रकृति की घटना अथवा वस्तुओं को मन पर चित्रित कर देता है, परन्तु किसी भी अनुभव के आधार पर हम यह नही कह सकते कि प्रकृति की किसी क्रिया अथवा घटना से हम में ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान के सम्बन्ध मे कारण-सिद्धान्त को स्वीकार नही किया जा सकता। ज्ञान प्रकृति के सभी जड़-व्यापारों से भिन्न और उच्चतर है क्योंकि यह इस जड़-व्यापार को प्रकाशित करता है, इस व्यापार की व्याख्या प्रस्तुत करता है जिससे हम उसको समझ सकें। पदार्थों में या वस्तुओं में किसी प्रकार की वैधता का प्रश्न नही उठता। सत्यता अथवा वैधता पदार्थों की न होकर ज्ञान की हुआ करती है। हम सत्य एवं प्रामाणिक शब्द का प्रयोग ज्ञान के लिए करते है, न कि पदार्थ के लिए। जब हम कहते हैं कि यह ज्ञान वस्तुनिष्ठ अनुभव से सत्य प्रतीत होता है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि पूर्वज्ञान के आधार पर हम यह कह सकते है कि यह ज्ञान-बोध सत्य है। पूर्वज्ञान से प्रस्तुत ज्ञान की तुलना कर उनके साम्य के आधार पर हम वैधता की बात कहते है। कोई भी तथ्य अथवा घटना हम तक सीधी नही पहुँच सकती हम उसको बोधात्मक रूप में ज्ञान के द्वारा ग्रहण करते है। उसका ज्ञान न होने पर हमारे लिए उसका कोई वास्तविक अस्तित्व ही नही रहता। उसका सत्यापन और वैधता ज्ञान पर निर्भर है, ज्ञान के अतिरिक्त उसकी किसी वैधता का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सत्य है कि समय-समय पर अनेक वस्तुओ के सम्बन्ध मे हमे भिन्न-भिन्न प्रकार ज्ञान उत्पन्न होना है पर यह ज्ञान वस्तुओ के द्वारा उत्पन्न नही किया जा सकता। ज्ञान के बिना हम किसी भी पदार्थ को जानने मे असमर्थ रहते है। ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को प्रकाशित करता है, कभी-कभी एक ही वस्तु के ज्ञान-बोध मे अन्तर होता है। ऐसा क्यो होता है यह कहना कठिन है। अनुभव केवल यही सिद्ध करता है कि ज्ञान से प्रकृति के पदार्थों का बोध होता है, परन्तु ऐसा क्यों होता है यह हमारे अनुभव की गति से परे है। लेकिन किसी भी अवस्था मे ज्ञान अपने अस्तित्व के लिए प्रकृति की किसी भी घटना अथवा वस्तु पर निर्भर नही है, इसके विपरीत ज्ञान के द्वारा ही सारा घटनाक्रम प्रकाशित होता है। यही ज्ञान का 'स्वतः प्रामाण्य' है। जैसे ही ज्ञान की 'उत्पत्ति' होती है, हमको वस्तु-बोध होता है। ज्ञान की उत्पत्ति और वस्तु-बोध के बीच मे और कोई ऐसी कडी या अवस्था नही है जिसके ऊपर ज्ञान वस्तुओं को प्रकाशित करने के लिए आश्रित हो। ज्ञान न केवल स्वतन्त्र रूप से उदय होता है पर यह अपने कार्य-क्षेत्र में भी स्वतन्त्र है जैसा कहा है "स्वकार्यकरणे स्वतः प्रामाण्य ज्ञानस्य।" जब कभी किसी प्रकार के ज्ञान का उदय होता है, हम उसको सत्य मान कर तदनुसार 'प्रवृत्ति' करते है। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है हमारे मन मे इसके सम्बन्ध मे किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता, हम इसे प्रामाणिक मानते है। ज्ञान का उदय, वस्तु-बोध, वस्तु-स्थिति और बोधानुकूल प्रवृत्ति के निश्चयात्मक मन्तव्य के साथ ही होता है। परन्तु जब हमारा वस्तु-बोध भ्रान्तिमय होता है, तो उसके पश्चात् इस

संज्ञान का उदय होता है कि हमारा पहला बोध सम्भवतः सत्य नहीं था। इस प्रकार यह सम्भव है कि ज्ञान के उदय के पश्चात् हमारे अनुभव या अन्य प्रत्यक्ष से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि हमारा पहला ज्ञान सत्य नहीं था, परन्तु जब तत्सबंधी ज्ञान पहली बार उदय होता है तो हम उसे सत्य और प्रामाणिक मानते हैं और उसी की प्रेरणा के अनुसार कर्म करते हैं। मीमासा का स्पष्ट मतव्य यही है कि ज्ञान का उदय इसकी प्रामाणिकता और सत्यता के समावेश के साथ होता है। यह हो सकता है कि फिर अन्य तथ्यो अथवा अनुभवो के आधार पर यह ज्ञान असत्य अथवा अवैध दिखाई पड़े (ज्ञानस्य प्रामाण्यम् स्वतः अप्रमाण्यम् परत)। विपरीत अनुभव (बाधक ज्ञान) के कारण या इन्द्रिय दोष से (कारण दोष ज्ञान) जो बोध का एक समय हुआ है वह बाद को मिथ्या सिद्ध हो सकता है। इस उदित ज्ञान के सत्य को सदेह की दृष्टि से देखने का कोई कारण नही है विशेष रूप से जब किसी प्रकार का इन्द्रिय-दोष न हो और जब वह अनुभव से ही सत्य दिखाई देता हो। यहाँ स्मृति को कोई स्थान नही दिया गया है क्योकि स्मृति स्वतन्त्र तत्व नही है। स्मृति किसी पूर्वानुभव पर निर्भर है। स्मृति के प्रसुप्त सस्कार स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न नही माने जा सकते। इनका आधार पूर्वोत्पन्न ज्ञान-बोध है।

प्रत्यक्ष (बोध) में ज्ञानेन्द्रियों का स्थान

न्याय-दर्शन मे ज्ञान की उत्पत्ति का आधार इन्द्रिय-सम्पर्क माना गया है। मीमासा का मत इससे एकदम भिन्न है। इसके अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति स्वयमेव होती है, यह किसी वस्तु पर आश्रित नही है। इस प्रकार इन्द्रिय-सम्पर्क से ज्ञान की उत्पत्ति को मीमासा स्वीकार नही करता। पर यदि ऐसा है तो इससे यह स्पष्ट नही होता कि ज्ञान-बोध मे इतनी विविधता क्यो होती है। साथ ही न्याय-दर्शन के इन्द्रिय-जनित ज्ञान के सिद्धान्त का विवेचन भी मीमासा-दर्शन के दृष्टिकोण को समझने के लिए आवश्यक है। मीमासा का मत है कि 'इन्द्रियो के सम्पर्क के कारण ज्ञान उत्पन्न होता है' यह केवल अनुमान और कल्पना का विषय है। क्योकि जब हमारे मन मे किसी विषय-वस्तु के सम्बन्ध मे ज्ञान होता है तो हम यह अनुमान लगाते है कि सभवत. इन्द्रियो की सहायता से ऐसा हुआ होगा। ज्ञान की उत्पत्ति के समय इन्द्रियो की क्रिया का कोई ध्यान नहीं होता। ज्ञान की उत्पत्ति सर्वथा स्वतन्त्र है, केवल एक ही उदाहरण ऐसा है जहाँ ज्ञान किसी अन्य पर आश्रित दिखाई देता है और वह भी तब जब वह किसी पूर्वज्ञान की स्मृति का आश्रय लेता है। अन्य अवस्थाओं मे ज्ञान के उदय के पूर्व, ज्ञान को मूर्त रूप देने वाले किसी भौतिक संयोग का अथवा उनकी किसी प्रक्रिया का पता नही चलता। ज्ञान के उदय के पश्चात् जो भी इच्छा हो अनुमान किया जा सकता। सर्व-प्रथम हमको ज्ञान-बोध होता है। इस प्रकार इन्द्रियों का

विषय-वस्तु से सम्पर्क ज्ञान के उदय के लिए अनेक उपाधियो मे से एक भले ही मान ली जाए परन्तु यह निश्चित है कि ज्ञान का बोध और उसकी प्रामाणिकता ज्ञान-बोध में ही निहित होती है। यह बोध तात्कालिक निश्चयात्मक, अनाश्रित, स्वतन्त्र और प्रत्यक्ष होता है।

श्री प्रभाकर ज्ञानेन्द्रियों की स्थिति और अस्तित्व के सम्बन्ध मे अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि किस प्रकार इन इन्द्रियो के अस्तित्व की कल्पना की जाती है। हम देखते है कि वस्तुओ के सम्बन्ध मे हमारा बोध या संज्ञान एक समय और एक जैसा नहीं होता, विभिन्न क्षणो मे होने वाले हमारे बोध मे काफी विविधता होती है। यह सज्ञान आत्मा मे होते हैं, अत हम आत्मा को बोध का उपादान कारण (समवायि कारण) कह सकते हैं। पर इसके साथ ही अन्य विशिष्ट कारण अथवा सलग्न कारण भी होने चाहिए (असमवायि कारण) जिसके द्वारा बोध-विशेष की उत्पत्ति होती है। ऐसे अमूर्त कारण या तो उपादान कारण मे ही निहित होते है अथवा उपादान कारण के हेतु मे दिए होते है। जैसे कपडे के सफेद रग मे, धागे का सफेद रग, सफेदी का कारण है, साथ ही वह धागा वस्त्र का उपादान कारण भी है। इस प्रकार इस उपादान कारण मे या इसके भी कारण मे यह अमूर्त कारण निहित है। दूसरे उदाहरण मे उपादान कारण मे ही यह अमूर्त अथवा अपार्थिव कारण छिपा हुआ है जैसे अग्नि के ताप से नयी गन्ध की उत्पत्ति। यहाँ नयी गन्ध का अमूर्त कारण अग्नि-सस्पर्श है। यह उस गन्ध मे ही निहित है जिसको तपाकर नयी गन्ध बनाई जाती है। आत्मा अनन्त है। आत्मा का कोई अन्य हेतु (कारण) नही है। इस धारणा को लेकर चलने मे कोई हानि नही है कि सज्ञान (बोध) के (असमवयि) अमूर्त कारण की व्याप्ति आत्मा मे ही होनी चाहिए और इस कारण यह कारण गुण रूप होना चाहिए। अर्थात् सज्ञानात्मक ज्ञानबोध आत्मा का गुण है। किसी भी शाश्वत अनन्त वस्तु मे गुण की व्याप्ति किसी अन्य तत्त्व के सम्पर्क से ही हो सकती है। संज्ञान आत्मा का व्याप्ति (अर्जित) गुण है। यह व्याप्ति किसी अन्य तत्त्व के सम्पर्क से होनी चाहिए। अनन्त शाश्वत तत्त्व की व्याप्ति का हेतु भी अनन्त होना चाहिए। आत्मा मे सज्ञान व्याप्ति है अतः इसकी उत्पत्ति किसी ऐसे ही तत्त्व के सम्पर्क से होनी चाहिए। अनन्त तत्त्व तीन है–समय, (काल), स्थान (आकाश) और परमाणु। इनमे से काल और आकाश सर्वव्यापक है, इनमे आत्मा का सम्पर्क सदैव ही रहता है। अत. परमाणु ही ऐसा तत्त्व है जिसके सम्पर्क से आत्मा मे (गुणरूप) संज्ञान की समय समय पर उत्पत्ति भिन्न भिन्न रूप से हो सकती है। आत्मा के साथ सम्पर्क होने के कारण यह परमाणु ऐसा होना चाहिए जो शरीर में सदैव सूक्ष्म रूप मे विद्यमान रहता हो। इस परमाणु तत्त्व को इच्छा-अनिच्छा की अनुभूति मानस के द्वारा ही होती है। परन्तु मानस स्वय वर्ण, गन्ध आदि गुणो से रहित है और स्वतंत्र रूप से आत्मा को इनका संज्ञान नही करा सकता। अतः ऐसे अवयवों की आवश्यकता होगी जो इन

गुणों को ग्रहण करते हैं। वर्ण प्रकाश (तेजस्) का गुण है, इसको नेत्र ग्रहण करते हैं, गन्ध पृथ्वी तत्त्व का गुण है जिसे नासिका ग्रहण करती है, रस, जल, (अप) का गुण है और रसना ही इसे ग्रहण करने में समर्थ है। आकाश-तत्त्व से निर्मित कर्णेन्द्रिय है जो शब्द को ग्रहण करती है। अन्त में वायु के माध्यम से स्पर्श की अनुभूति होती है। त्वचा (त्वक्) स्पर्शेन्द्रिय है। इस प्रकार किसी भी संज्ञान से पूर्व चार सम्पर्क आवश्यक है। (१) ज्ञानेन्द्रियों का विषय-वस्तु से सम्पर्क, (२) ज्ञानेन्द्रियों का विषयवस्तु के गुणों से सम्पर्क, (३) मनस् का ज्ञानेन्द्रियो से सम्पर्क, (४) मनस् का आत्मा से सपर्क। प्रत्यक्ष के विषय तीन है—तत्त्व, गुण, जाति (वर्ग)। पार्थिव तत्त्व अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु हैं जिनको उनके महत् रूप मे ही स्थूल पदार्थों के रूप में देखा जा सकता है। जब ये तत्त्व सूक्ष्म रूप के परमाणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं, तब उनका बोध सम्भव नही है। गुणों की सज्ञा इस प्रकार है—रगरूप (वर्ण), रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, आकार प्रकार, पृथकत्व, योग (युति), विभाजन, पूर्वत्व, पश्चता, सुख, दुःख, इच्छा, अनिच्छा और प्रवृत्ति।[1]

सज्ञान-प्रक्रिया मे ज्ञानेन्द्रियों के स्थान और उनकी विषय-वस्तु के सम्पर्क के सम्बन्ध मे सम्भवतः कुमारिल भट्ट किसी निश्चित मतव्य पर नही पहुँच पाए थे। उनके अनुसार इन्द्रियो के तीन ही रूप सम्भव हो सकते है। इन्द्रियो को या तो हम प्रवृत्ति के रूप मे मान सकने हैं अथवा इन्द्रियों को हम ऐसी अन्त शक्ति मान सकते है जो विषयो के वास्तविक सम्पर्क मे आए बिना ही उनका बोध प्राप्त करती है, अथवा वे ऐसी शक्ति है जो पदार्थों के सम्पर्क मे आती है और उनके बोध मे एक उपाधि का कार्य करती है।[2] कुमारिल इस अन्तिम दृष्टिकोण को अधिक मान्य समझते थे।

निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष बोध की दो अवस्थाएँ है। पहली निर्विकल्प प्रत्यक्ष है और दूसरी अवस्था

---

[1] 'प्रकरण पंजिका' पृ० ५२ देखिए। इसके अतिरिक्त डा० गगानाथ रचित 'प्रभाकर-मीमासा' पृ० ३५ देखिए।

[2] इस सदर्भ मे 'श्लोकवार्तिक', 'प्रत्यक्षसूत्र', पृ० ४० और 'न्यायरत्नाकर' देखिए। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि न्याय की भाँति साख्य यह नही मानता कि इन्द्रियाँ उनके विषयो को ग्रहण करने के लिए (प्राप्यकारित्व) उन तक जाती थी परन्तु साख्य का मत है कि इन्द्रियो मे ऐसी विशेष शक्ति ('वृत्ति') है जिसके कारण दूरस्थ स्थानों तक पहुँचकर सूर्य, चन्द्र आदि तक को भी ग्रहण कर लेती हैं। इन्द्रियों की इस प्रकार की प्रवृत्ति है। इस 'वृत्ति' को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न नही किया है, जिस पर पार्थसारथी ने आक्षेप करते हुए कहा है कि यह वृत्ति अन्य तत्त्व है ('तत्त्वान्तर')।

सविकल्प प्रत्यक्ष है। पहली अवस्था प्रत्यक्ष की वह प्रारम्भिक अवस्था है जब इन्द्रियाँ विषय के प्रथम सम्पर्क मे आती हैं। इस अवस्था मे वस्तुओ की केवल चेतना मात्र होती है। यह चेतना उसी प्रकार की होती है जैसे बालक को प्रथम दृष्टि मे अपने आसपास के ससार की होती है। इसमे जाति या विशिष्ट गुणों के अन्तर का कोई स्थान नही होता।[1] कुमारिल भट्ट का मत है कि प्रत्यक्ष की यह निर्विकल्प अवस्था केवल 'आलोचना' मात्र है। यह दृष्टिकोण बौद्ध दृष्टिकोण से विशेष रूप से साम्य रखता है जिसके अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष को व्यक्ति-विशेष की दृष्टि से 'स्वलक्षण' माना जाता है। यह व्यक्तित्व बोध ही सत्य एवं वैध है अन्य सब काल्पनिक है, ऐसा बौद्ध मत है। परन्तु कुमारिल और प्रभाकर दोनो का ही मत है कि हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे सामान्य और विशिष्ट दोनों को ही ग्रहण करते है परन्तु ये दोनो हमारे बोध-ज्ञान मे स्पष्ट रूप इसलिए नही पाते कि पूर्व दृष्ट (पहले देखी हुई) वस्तुओं की स्मृति उस समय जागृत नही होती जिनकी तुलना से उनके विशिष्ट या सामान्य गुणो की तुलना कर उसे विशिष्ट नाम दे सके। जब पूर्वदृष्ट वस्तु के आधार पर हम यह निश्चित कर लेते है कि इसके रूप गुण का साम्य उस विशिष्ट वस्तु से है, तब हम उसका वर्गीकरण कर उसे पहचान लेते है। जब तक अन्य देखी हुई वस्तुओ की स्मृति नही होती तब तक तत्सबधी आधार सामग्री से तुलनात्मक विनिश्चयन का प्रश्न नहीं उठता, और इस प्रकार इस प्रथम अवस्था मे दृष्ट वस्तु अस्पष्ट, निर्विकल्प रहती है। पर दूसरी अवस्था मे स्वात्मा, पूर्व-सस्कार और स्मृति के आधार पर गुणो को जाँचकर सामान्य और विशिष्ट के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेती है, उसके रूप, नाम आदि का निश्चयन कर लेती है, यह निश्चय बोध ही 'सविकल्प प्रत्यक्ष' है। सविकल्प प्रत्यक्ष का आधार निर्विकल्प प्रत्यक्ष है परन्तु सविकल्प प्रत्यक्ष भी अनेक ऐसे तथ्यों को प्रथम बार ग्रहण करता है जिनका बोध निर्विकल्प अवस्था मे नही हो पाया था। अतः सविकल्प अवस्था मे भी सज्ञान होता है और यह संज्ञान भी उतना ही वैध है जितना प्रथम अवस्था मे उत्पन्न हुआ सज्ञान।[2] कुमारिल भी प्रभाकर के मत से सहमत हैं कि सविकल्प एव निर्विकल्प ये दोनो ही प्रत्यक्ष वैध है।

जीव-विकास-विज्ञान (समस्या और तत्संबंधित प्रत्यक्ष-सिद्धान्त)

निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष मे अन्तर (भेद) का आधार एक दृष्टि से जाति का विनिश्चयन भी माना जा सकता है। अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष में जाति का बोध

---

[1] इस विषय मे प्रस्तुत दृष्टिकोण की तुलना वैशेषिक दृष्टिकोण से कीजिए जिसकी व्याख्या श्रीधर ने की है।

[2] 'प्रभाकर पंचिका और 'शास्त्र दीपिका'।

नही होता केवल किसी वस्तु का सामान्य बोध होता है, जबकि सविकल्प प्रत्यक्ष में विशिष्ट गुणो के आधार पर जाति का निश्चय कर लिया जाता है। भारतीय दर्शन में 'जाति' की व्याख्या के पहले 'अवयव', 'अवयवी' पदों का विवेचन अपेक्षित है। 'स्वतः प्रामाण्यवाद' की व्याख्या करते हुए प्रभाकर कहते हैं कि किसी वस्तु के अस्तित्व का प्रमाण उसके प्रत्यक्ष-बोध में है। जिस वस्तु को अपनी चेतना मे ग्रहण करते है उसे हम साम्य समझते है। उसकी स्थिति के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता है ? इस प्रकार मनन करने से यह कहा जा सकता है कि जितने पार्थिव स्थूल पदार्थ हैं, उन सबका वास्तविक अस्तित्व है क्योंकि हम उनको प्रत्यक्ष देखते हैं। सूक्ष्म परमाणु उपादान कारण हैं और उनका योग (सयोग) 'असमवायि कारण' है। सूक्ष्म परमाणुओ के 'सयोग' के कारण ही अवयवी, अवयव से भिन्न होता है। यद्यपि अवयवी अवयवों के समवाय सयोग से निर्मित होता है पर सयोग के प्रकार से परमाणु निर्मित वस्तुएँ भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है। फिर यह आवश्यक नही होता कि सपूर्ण पदार्थ को समझने के भिन्न-भिन्न अवयवो को अलग-अलग समझा जाए। अवयवी (सम्पूर्ण) का प्रत्यक्ष अवयव से स्वतन्त्र है। श्री कुमारिल का मत है कि यह बहुत कुछ हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर है कि हम एक वस्तु को भिन्न-भिन्न अवयवो के योग से बना हुआ देखते है अथवा उसको सम्पूर्ण अवयवी के रूप मे देखते है। उनके मतानुसार अवयवी और अवयव वास्तव मे एक ही है। जब हम एक वस्तु के भागों अथवा बनाने वाले हिस्सो पर विशेष दृष्टि डालते है तो वह वस्तु हमे अवयवों के सयोग के रूप मे दिखाई देती है। परन्तु यदि हम उसी वस्तु को एक दृष्टि से देखते है, तो हमको वही वस्तु सम्पूर्ण अवयवी के रूप मे दिखाई देती है जिसके कई भाग या सयोजक तत्त्व हो सकते है। उनका यह दृष्टिकोण 'श्लोकवार्तिक' और 'वनवाद' मे स्पष्ट किया गया है।[1]

---

[1] साख्य योग के अनुसार एक वस्तु सामान्य और विशेष का योग है ('सामान्यविशेष-समुदायो द्रव्यम्' व्यास-भाष्य १११-४४)। इस मत की पुष्टि में कहा है कि द्रव्य के अतिरिक्त अन्य कोई स्थिति ऐसी नही है जिसमे द्रव्य के विशेषत्व अथवा सामान्यत्व की व्याप्ति हो। यहाँ तक न्याय ने माना है। सयोग दो प्रकार का हो सकता है एक सयोग ऐसा होता है जिसमे उसके भाग या अवयव दूर-दूर स्थित होते हैं (निरन्तरा हि तदावयवाः) उदाहरण के लिए जगल लिया जा सकता है जिसमे उसके अवयव वृक्ष दूर-दूर होते हैं। दूसरे प्रकार के सयोग मे अवयवो मे कोई अन्तर या दूरी नही होती। वे एक दूसरे से सयुक्त होते हैं जिसे द्रव्य कहते हैं। (अयुत सिद्धावयव.) लेकिन द्रव्य में भी अवयवों से भिन्न अवयवी को कोई स्थिति नहीं है। इस द्रव्य मे भी इसके भाग सयुक्त होते हैं। वे इस प्रकार जुड़े होते हैं कि उनके बीच किसी प्रकार की सन्धि नहीं दिखाई देती। श्री पंडिताशोकके

'जाति' में भी अनेक इकाइयाँ सम्मिलित हैं लेकिन यह 'अवयवी' से भिन्न है। जाति-गुण प्रत्येक इकाई या अवयव मे पाए जाते हैं। अर्थात् जो वस्तु जिस जाति का अंग है, उस जाति के सारे गुण उस अवयव मे निश्चित रूप से पाए जाते हैं—'व्यासज्य वृत्ति'। अवयवी की स्थिति से जाति की स्थिति में कोई अन्तर नही पड़ता। जाति शाश्वत है। जाति-विशेष की एक इकाई के नष्ट होने से जाति नष्ट नही होती। यह अन्य इकाइयो मे अवस्थित रहती है और एक इकाई नष्ट होने पर जाति की स्थिति पूर्ववत् रहती है। उदाहरण के लिए गाय एक जाति-विशेष है। एक गाय की मृत्यु से जाति पर कोई प्रभाव नहीं पडता। जब जन्म होता है तो गाय के बछड़े में जाति गुणो की व्याप्ति स्वयमेव होती है और उसकी मृत्यु के पश्चात् यह जाति गुण का 'समवाय' उस इकाई मे समाप्त हो जाता है। श्री प्रभाकर के अनुसार समवाय (व्याप्ति) स्वयं मे अनन्त अस्तित्व नही है। यह जिस वस्तु मे स्थित है, उसकी शाश्वत या अशाश्वत स्थिति के अनुसार स्थायी अथवा अस्थायी होती है। न्याय जाति को एक इकाई के रूप में स्वीकार करता है पर श्री प्रभाकर का कथन है कि जाति एक नही अनेक है। जाति पदार्थों की सख्या के समान ही सख्यातीत है। जब एक इकाई नष्ट हो जाती है, तब जाति गुण नष्ट नही होता और न वह किसी अन्य वस्तु मे चला जाता है। उस वस्तु विशेष मे भी वह नही रहता है, केवल उसका समवाय-सम्बन्ध (व्याप्ति सम्बन्ध) उस वस्तु मे समाप्त हो जाता है। इस प्रकार एक इकाई की उत्पत्ति अथवा समाप्ति से उस जाति-गुण का समवाय उत्पन्न हो जाता है या नष्ट हो जाता है। परन्तु जाति का वस्तुविशेष से भिन्न कोई अस्तित्व नही है जैसा कि न्याय का मत है। प्रभाकर के अनुसार जाति का बोध, वस्तुविशेष के उन गुणो का बोध है जो उसी प्रकार की वस्तुओं मे पाए जाते है और जिनके आधार पर हम उस वस्तु को जाति विशेष की इकाई के रूप मे देखते हैं। श्री प्रभाकर न्याय के उस मत

समान बौद्ध दर्शन भी अवयवी की भिन्न या स्वतंत्र स्थिति नहीं मानता। बौद्ध मतानुसार अणु-सयोग ही विशेष स्थान घेरने से अवयवी के रूप मे दिखाई देता है परन्तु इसकी कोई वास्तविक स्थिति नही है। (परमाणवा इव हि पररूप देश परिहारेणोत्पन्ना परस्पर सहिता अवभासमाना देश वितानवन्तो भवन्ति) इस प्रकार अवयवी कल्पना मात्र है जिसकी कोई स्थिति नही है। (देखिए 'अवयवी-निराकरण' सिक्स बुधिस्ट न्याय टैक्स्टस) । न्याय का मत है कि परमाणु अवयवहीन हैं, यह 'निरवयव' है। यह कहना उचित नही है कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो हम परमाणु को देखते हैं। अवयवी के अस्तित्व को हम सम्पूर्ण रूप मे देखते है, उसी प्रकार उसका बोध होता है और इस बोध को असत्य मानने का कोई कारण नहीं है। "अदुष्टकरणोद्भूत मनाविर्भूतबाधकम्, असंदिग्धञ्च विज्ञान कथं मिथ्येति कथ्यते।" —न्याय-मंजरी पृ० ५५०।

को नही मानते, जिसमे प्रत्येक जाति की अपनी 'सत्ता' स्वीकृत हुई है जो वस्तु विशेष से भिन्न और उच्च है, जो वस्तु से सीमित और सक्रमित नही है। श्री प्रभाकर का कथन है कि हम जाति-गुणो को इसीलिए पहचानते हैं कि हम उन गुणो को सर्व-निष्ठ रूप से जाति की सारी इकाइयो मे देखते है। हम वस्तुओं को 'सत्' इसीलिए कहते हैं कि उनकी वही स्थिति है जिसे हम अपने अनुभव से स्पष्ट देखते है। परन्तु वस्तुओ से भिन्न हमारे व्यावहारिक अनुभव से किसी अन्य 'सत्ता' का बोध नही होता। जब हम यह कहते है कि यह वस्तु 'सत्' है तो हम यह नही कहते कि इसमे इस जाति की 'सत्ता' है। 'सत्ता' से हमारा अर्थ 'स्वरूप सत्ता' से है अर्थात् हम यह कहते हैं कि इसकी स्थिति इस रूप मे है। इस प्रकार श्री प्रभाकर न्याय के इस दृष्टिकोण का खंडन करते हैं कि वस्तुओ के गुण विकृति-रहित (गुणो से भिन्न) शुद्ध रूप के बोध को प्रत्यक्ष कहा जाए। हम वस्तुओ की शुद्ध सत्ता को पहले देखते है, यही वास्तविक प्रत्यक्ष है ('सन्मात्र विषयम् प्रत्यक्षम्') इसके विपरीत प्रभाकर का मत है कि जब हम किसी वस्तु को देखते है तो उसके सम्पूर्ण गुणो के सहित उसे देखते हैं। गुणो के अभाव मे वस्तु की कोई स्थिति नही है। सम्पूर्ण गुणो के साथ वस्तु का संज्ञान ही प्रत्यक्ष है।

श्री कुमारिल के अनुसार जाति वस्तुओ से पृथक नही है। जाति-बोध वस्तु-बोध के साथ ही होता है। जाति-बोध के लिए किसी अन्य बोध की अवस्था की आवश्यकता नही है। कुमारिल का दृष्टिकोण साख्य-दृष्टिकोण के अनुरूप ही है। साख्य का मत है कि जब हम व्यक्ति-विशेष को व्यक्ति के दृष्टिकोण से देखते है तो हमारी चेतना में व्यक्तित्व (रूप) अधिक स्पष्ट दिखाई देता है, जाति रूप उस समय अन्तर्हित (सुप्त) हो जाता है। पर जब हम उसी इकाई को या व्यक्ति को जाति के दृष्टिकोण से देखते है तो हमारी चेतना मे जाति-गुणो का स्पष्ट भाव जागृत हो उठता है, उस समय व्यक्तित्व जाति-गुणो के आवरण मे निगूढ (अन्तर्हित) हो जाता है। इस प्रकार यह केवल दृष्टिकोण का ही अन्तर है कि हम एक ही वस्तु को जाति या व्यक्ति के रूप मे देखते हैं। इसी मत के अनुरूप श्री कुमारिल कहते है कि गुणों की व्याप्ति या उनका समवाय-सम्बन्ध वस्तु से भिन्न नही है। गुणो का समवाय वस्तु का ही एक पक्ष है, उसी का ही एक रूप है ('अभेदान् समवायोऽस्तु स्वरूप धर्मधर्मिणो' श्लोक वार्तिक प्रत्यक्ष-सूत्र १४६,१५०)। कुमारिल प्रभाकर के इस दृष्टिकोण से सहमत है कि जाति का प्रत्यक्ष इन्द्रियो द्वारा होता है (तत्रैक बुद्धिनिग्राह्या जातिरिन्द्रियगोचरा)।

श्री प्रभाकर की व्याख्या के आधार पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मीमासा-दर्शन कणादीय शाखा द्वारा मान्य 'विशेष' को भिन्न वर्ग के रूप मे स्वीकार नही करता। शाश्वत व अनन्त वस्तुओ का एक अलग से विशेष वर्ग माना गया है परन्तु मीमासा के अनुसार इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। साधारण गुणों के अन्तर से जैसे अन्य वस्तुओ को पृथक पृथक जानते हैं उसी प्रकार शाश्वत या स्थायी वस्तुओं के

भेद का भी बोध सहज हो सकता है, उसके लिए भिन्न वर्ग बनाने की आवश्यकता नहीं है। परमाणुओं की संरचना भेद से, या परमाणु पृथक्त्व से भिन्न-भिन्न वस्तुओं का भिन्न-भिन्न बोध होता है, यही बात उन वस्तुओं के लिए भी सही है जिसे कणाद 'विशेष' के वर्ग में रखना चाहते है।

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों के सयोग से वस्तुविशेष का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष मे ज्ञाता की स्थिति विशिष्ट है। ज्ञान चाहे वह प्रत्यक्ष हो अथवा परोक्ष, ज्ञाता का व्यक्तित्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक ज्ञान के पीछे ज्ञाता का व्यक्तित्व अन्तर्हित होता है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है व्यक्ति के दृष्टिकोण के अनुसार जो प्रत्यक्ष-बोध होता है वही ज्ञान है। ज्ञेय वस्तुओ के ज्ञान-बोध के प्रकार के आधार पर प्रमाणो का वर्गीकरण प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के रूप मे किया गया है। 'आत्म' तत्व मे किसी वस्तु को प्रकाशित करने की अथवा उसका बोध कराने की (प्रकट करने की) शक्ति नही है क्योकि यह स्वयं अथवा आत्मा की सुप्तावस्था मे भी विद्यमान रहता है। परन्तु सोते समय हमे किसी प्रकार का सज्ञान (बोध) नही होता। केवल स्वप्नों की स्मृति से यह अवश्य सिद्ध होता है कि हमारा स्व सुप्तावस्था मे स्वप्नो को देखकर उनका 'आकलन' करता रहा है। वास्तव मे ज्ञान (संविद्) ही उत्पन्न होकर ज्ञाता रूपी आत्मा को और ज्ञेय को प्रकट करता है। सरल शब्दो मे ज्ञान के द्वारा ही हम ज्ञेय और ज्ञाता के व्यक्तित्व को जान पाते हैं। ज्ञान के इस स्व-प्रकाशी गुण की आलोचना करते हुए ऐसी शंका की जाती है कि हमारा बोध (सज्ञान) उन वस्तुओ के अनुरूप ही होता है जिनका बोध होता है। जब दोनो एक रूप है तो हम यह भी कह सकते है कि उनमे कोई अन्तर नही है। वे एक ही हैं। मीमांसा इसका उत्तर देते हुए स्पष्ट कहती है कि यदि ये दोनों एक ही होते तो हमको सज्ञान और जिस वस्तु का संज्ञान होता है (ज्ञेयवस्तु) भिन्न भिन्न नहीं प्रतीत होते। हमारी अनुभूति दोनो को स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् देखती है, हम यह अनुभव करते है कि ज्ञेय वस्तु का हमको संज्ञान होता है। संवेदन के (संज्ञानों) द्वारा हमारे 'स्व' के ऊपर वस्तु विशेष के धर्म (गुण) का संस्कार अंकित होकर 'स्व' को वस्तु विशेष के संदर्भ मे सक्रिय कर देता है। अतः दूसरे शब्दो में यह कह सकते हैं कि जिस वस्तु की ओर यह स्व प्रेरित होता है वह ही ज्ञेय वस्तु है जिसका हमे बोध होता है। सज्ञान का कोई रूप नही है यह कहना भी उचित नहीं होगा। वस्तुओं को प्रकाश में लाकर उनका बोध कराना ही संज्ञान-गुण है, यही उसका रूप है जिसके द्वारा हमें वस्तु बोध होता है। रूप-गुण वास्तव मे वस्तुओं मे ही होते हैं। इनका रूप-गुण वही है जिसे ज्ञान प्रकट करता है। यहाँ तक कि स्वप्न-बोध भी उन वस्तुओं

के सम्बन्ध में होता है जिनको हम पहले जानते हैं। अचेतन मन मे स्थित इनके संस्कारो को, 'अदृष्ट' स्वप्नावस्था मे पुनर्जीवित कर देना है। मनुष्य इन सक्रिय संस्कारो से स्वप्नावस्था मे उतना ही कष्ट या आनन्द प्राप्त करता है जितना उसके प्रारब्ध में उसके पाप-पुण्यानुसार लिखा हुआ है। इस प्रकार अदृष्ट के द्वारा स्वप्नबोध मे भी जो सज्ञानात्मक प्रक्रिया का सचालन होता है उसका आधार भी पूर्व सवेदना के (बोध) अनुसार गृहीत वस्तु-रूप ही होता है।

प्रभाकर मीमासा के इस मत का भी खडन करता है कि हमारे वस्तु-बोध का संज्ञान भी किसी अन्य सवेदन (सज्ञान) द्वारा होता है। श्री प्रभाकर का मत है कि यह सम्भव नही है, क्योकि हमको इस प्रकार के दोहरे सज्ञान की कोई अनुभूति नहीं होती। फिर यदि इसे मान लिया जाए तो उसी युक्ति से यह मानना पडेगा कि इस दूसरे सज्ञान के बोध के लिए किसी तीसरे सज्ञान की आवश्यकता है और फिर इसको जानने के लिए किसी चौथे सज्ञान की। इस प्रकार इस दूषित तर्क के चक्र का कही अन्त ही नही होगा। यदि इस सज्ञान के बोध के लिए किसी अन्य संज्ञान की आवश्यकता होगी तो फिर यह स्वत प्रमाणित नहीं माना जा सकता। जब हमे संज्ञान के द्वारा किसी वस्तु का बोध होता है तो साथ ही हमे संज्ञान की भी अनुभूति होती है। वस्तु के प्रकाश में आते ही हम सज्ञान की उत्पत्ति का सहज ही अनुमान लगा लेते है। परन्तु यह अनुमान सज्ञान का न होकर सज्ञान की उत्पत्ति अथवा स्थिति का होता होता है। अनुमान के द्वारा हमे किसी वस्तु के होने का (भाव का) सकेत मिलता है, परन्तु उसके प्रत्यक्ष रूप का बोध नही हो सकता। स्वरूप का बोध केवल प्रत्यक्ष द्वारा ही हो सकता है। श्री प्रभाकर इस सम्बन्ध मे बडी सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत करते है। वस्तु के प्रत्यक्ष को वे 'सवेद्यत्व' की सज्ञा देते है और वस्तु के ज्ञान को 'प्रमेयत्व' की। 'सवेद्यत्व' और 'प्रमेयत्व' मे बडा अन्तर है। किसी वस्तु के सम्बन्ध मे हम अनुमान से यह जान सकते है कि ऐसी वस्तु होनी चाहिए या अमुक वस्तु है, यह वस्तु का प्रमेयत्व है। उसके वास्तविक रूप का अनुभव अनुमान से नही कर सकते, उसके लिए प्रत्यक्षबोध की या सवेद्यत्व की आवश्यकता है। इस प्रकार अनुमान हमारे सज्ञान की स्थिति का सकेतमात्र कर सकता है, वह सज्ञान के प्रत्यक्ष स्वरूप को ग्रहण करने मे असमर्थ है।[1]

श्री कुमारिल भी प्रभाकर से इस विषय मे एक मत हैं कि प्रत्यक्ष-बोध किसी अन्य प्रत्यक्ष का विषय नही हो सकता। परन्तु कुमारिल के अनुसार प्रत्यक्षदर्शी और प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु में एक सम्बन्ध होता है, जिसमे प्रत्यक्षदर्शी द्वारा सक्रियता से वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, वही सज्ञान है। यह मत श्री प्रभाकर के मत से भिन्न है

---

[1] डाक्टर गगानाथ झा द्वारा रचित 'प्रभाकर-मीमांसा' का अवलोकन करिए।

जिसके अनुसार ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एक ही क्षण मे प्रकट होकर प्रकाश में आते है। यह 'त्रिपुटि प्रत्यक्ष सिद्धान्त' कहलाता है।[1]

भ्रान्ति-मनोविज्ञान

भारतीय दर्शन मे भ्रान्ति सम्बन्धी मीमांसा का विशाल साहित्य पाया जाता है। सभी मतो के दार्शनिको का यह प्रिय विषय रहा है। यहाँ मीमासा-दर्शन के मत का विवेचन करते हुए यह शका होती है कि यदि सारा संज्ञान स्वतः प्रमाणित है, यदि यह स्वयसिद्ध सत्य है, तो भ्रान्ति होने का क्या कारण है।

जैन दर्शन मे भ्रान्ति मीमासा 'सत्ख्याति' नाम से की गई है। इस विषय पर जैन दर्शन के प्रसग मे पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। वैदिक दर्शन में जो भ्रान्ति की व्याख्या हुई है उसका विवेचन अगले अध्याय में प्रसंगानुसार किया जाएगा। इन दोनों दर्शनो को छोडकर अन्य दर्शनो मे भ्रान्ति के तीन सिद्धान्त पाए जाते है : (१) आत्म-ख्याति (२) विपरीतख्याति या अन्यथाख्याति (३) अख्याति। 'विपरीतख्याति' को न्याय-वैशेषक और योग दर्शन ने स्वीकार किया है। 'आत्मख्याति' बौद्ध दर्शन मे स्वीकृत है और 'अख्याति' सिद्धान्त साख्य और मीमासा ने प्रतिपादित किया है।

भारतीय दर्शन मे बहुचर्चित भ्रान्ति का उदाहरण शुक्ति (सीप) मे रजत (चाँदी) की भ्रान्ति का है। सीपी के टूटे हुए टुकडे को देख कर सहज ही यह बोध होता है कि यह चाँदी का टुकडा पडा हुआ है। इस भ्रान्तिमय बोध का क्या कारण है इसका विवेचन करने का प्रयत्न प्रत्येक दर्शन ने किया है। इस तथ्य पर सभी एक मत हैं कि इस प्रकार की भ्रान्ति होती है। प्रश्न इस भ्रान्ति के मनोवैज्ञानिक पक्ष का है। आदर्शवादी बौद्ध दर्शन पार्थिव जगत् के स्थूल पदार्थों की सत्ता को स्वीकार नही करता। पिछले अनन्त जन्मो के कर्मों के संचित सस्कारो के आधार पर ही वर्तमान जीवन मे बाह्य जगत् का ज्ञानबोध होता है। 'स्वचित्' मे ही सारे बोध का उदय होता है, यह बोध का प्रकट होना ही हमारे वर्तमान के प्रत्यक्ष का आधार है। झील मे उठने वाली लहरो के समान ही हमारे मन में विज्ञान-प्रवृत्ति प्रकट होती है। परिस्थितियों के सयोग से उस काल विशेष मे ऐसा बोध होता है जिसे हम सत्य मानते है और कभी ऐसा बोध होता है जिसे हम भ्रान्तिमय समझते हैं। ज्ञानोदय में इस बौद्ध दृष्टिकोण से बाह्य स्थूल जगत् का कोई महत्व नही है। तदनुसार यदि यह मान भी लिया जाए कि स्थूल जगत् की सत्ता है तो क्या कारण है कि कभी वस्तु का

---

[1] लोको साइटिटो, पृ० २६-२८।

प्रत्यक्ष सत्य कहा जाता है और कभी उसी का प्रत्यक्ष-बोध भ्रान्तिमय कहा जाता है। वास्तव मे तथ्य यह है कि विज्ञान-प्रवृत्ति (विज्ञान का प्रवाह) के कारण ही दृश्य और द्रष्टा का उदय होता है। इस प्रवृत्ति के कारण ही दोनों में एक सम्बन्ध स्थापित होता है। भ्रान्तिमय प्रत्यक्षबोध और सत्यबोध दोनो मे ही यही मानसिक प्रक्रिया होती है। न्याय इस मत को स्वीकार नहीं करता। न्याय का मत है कि बाह्य परिस्थितियो की यदि कोई सत्ता नहीं है, यदि ज्ञान स्वयं में ही उदय होकर भ्रान्त कल्पना उत्पन्न कर देता है तो इस कल्पना का रूप यह होना चाहिए कि मै चांदी हूँ, न कि यह रजत है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त का पहले ही खडन किया जा चुका है कि सारा ज्ञान आत्मनिष्ठ है और इसे किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नही है, कि बाह्य जगत् की कोई सत्ता नही है।

'विपरीतख्याति' अथवा 'अन्यथाख्याति' भ्रान्ति सिद्धान्त के अनुसार हमारी भ्रान्ति का कारण यह है कि हम वस्तु विशेष को उचित रूप से नही देख पाते। यह एक प्रकार से प्रेक्षण-दोष है। शुक्ति की चमक से और उसके रगरूप के कारण चाँदी के टुकड़े का ध्यान आ जाता है। इस सहसा चाँदी के ध्यान का कारण यह है कि पहले चाँदी का टुकडा देखा हुआ है अत चाँदी की भ्रान्ति शुक्ति मे हो जाती है। इस भ्रान्ति मे सीप के टुकडे को हम एक वस्तु के रूप मे देखते है क्योकि सीप के रूप गुणो को हम नही देख पाते। दूसरी बात यह है कि जिसकी हमे भ्रान्ति होती है उसका वास्तविक अस्तित्व है। यद्यपि इस स्थान पर चाँदी विद्यमान नही है पर अन्य स्थान पर चाँदी नाम की वस्तु अवश्य है। दोष केवल इतना है कि पूर्व स्मृति के आधार पर हम सीप को अन्यथा रूप मे पहचान कर उसे भ्रान्त रूप दे देते है यही भ्रान्ति 'अन्यथाख्याति' है। इसी को विपरीतख्याति कहते हैं क्योकि हमने वस्तु को वास्तविक रूप मे न देखकर विपरीत नाम दे दिया है।

उपर्युक्त भ्रान्ति मे विशेष बात यह नही है कि हम वस्तु विशेष को पहचान नही पाए या उसमे कोई भेद नही कर पाते। विशिष्ट बात यह है कि हम को सीपी मे चाँदी की भ्रान्ति होती है हम उसको निश्चयात्मक दृष्टि से मिथ्या रूप मे देखते है, परन्तु जिस रूप मे हम देखते हैं, वह अन्यत्र विद्यमान है, उसकी भी वास्तविक स्थिति है।

मीमांसा दर्शन के अख्याति-सिद्धान्त के अनुसार यह कहना उचित नही है कि हमको सीपी का बोध चाँदी की भाँति होता है क्योकि हमारे इस प्रत्यक्ष के समय हमको सीपी नाम की वस्तु नहीं दिखाई देती है, न उसका किसी प्रकार का बोध होता है। हम सीपी (शुक्ति) के रूप गुण की विशेषताओं को नही देख पाते हैं, न उनका ध्यान ही आता है। अत स्पष्ट तथ्य यह है कि हमको सीपी का कोई प्रत्यक्ष (बोध) ही नही होता। बुद्धि व मन की दुर्बलता के कारण हम चाँदी की तत्कालीन स्मृति, और

जो वस्तु (सीपी) देख रहे है, उनके रूप गुणों के अन्तर को नही समझ पाते। इस प्रकार हम पूर्व स्मृति को ही प्रत्यक्ष समझ कर तदनुसार सीपी के स्थान पर चाँदी को ही देख लेते है जो केवल स्मृति का प्रत्यक्ष है वस्तु का नहीं। इस प्रकार इस भ्रान्ति-मय प्रत्यक्ष के दो रूप सामने आते है, एक रूप जिसका आधार स्मृति है और दूसरा रूप जिसमे ग्राह्यता है। पूर्व वस्तु की स्मृति और प्रस्तुत वस्तु के प्रत्यक्ष में अन्तर है। इस अन्तर का ध्यान न रहने से ही भ्रान्ति उत्पन्न होती है। इस भ्रान्ति मे ग्राह्यता प्रस्तुत वस्तु की न होकर पूर्व स्मृति वस्तु की है। अतः जिस समय इस प्रकार चाँदी का बोध होता है, उस समय इस बोध को (प्रत्यक्ष को) प्रामाणिक समझा जाता है। अत. इस आधार पर ही ज्ञाता अपने प्रत्यक्ष के अनुसार काम करता है। वह इसको सत्य मान कर ही सीपी को उठाने के लिए तत्पर होता है। यही इस बात का द्योतक है कि ज्ञाता अपने प्रत्यक्ष को प्रामाणिक समझता है।

श्री कुमारिल भी प्रभाकर द्वारा प्रतिपादित इस दृष्टिकोण को मान्य समझते है। उनका मन्तव्य है कि भ्रान्त प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष कर्त्ता के लिए उतना ही सत्य है जितना अन्य (सत्य) प्रत्यक्ष। फिर यदि किसी अन्य अनुभूति से यह प्रमाणित होता है कि पूर्व ज्ञान असत्य था, तो उससे कोई अन्तर नही पडता है। मीमासा इस तथ्य को स्वीकार करती है कि किसी भी ज्ञान की सत्यता का पुन परीक्षण किया जा सकता है और यदि किसी अन्य अनुभव के आधार पर वह अप्रामाणिक दिखाई देता है तो उसे अस्वीकार किया जा सकता है।[1] मीमासा का एक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक सज्ञान उत्पत्ति के समय सत्य एव प्रामाणिक होता है। उपर्युक्त दृष्टिकोण का आधार भी यही सिद्धान्त है। अख्याति-सिद्धान्त इस तथ्य को प्रतिपादित करने का प्रयत्न करता है कि भ्रान्ति का कारण सज्ञान की असत्यता या अवैधता नही है। वास्तव मे इसका कारण सही वस्तु की अग्राह्यता है, हम वास्तविक वस्तु को देख ही नही पाते, अत यह स्थिति निषेधात्मक स्थिति है, जिसमे वस्तु विशेष का प्रत्यक्ष ही नहीं होता। यह स्थिति मन बुद्धि की निर्बलता के कारण उत्पन्न होती है। इस प्रकार इस भ्रान्ति मे सज्ञान के दो भाग पाए जाते है। एक भाग पूर्व स्मृति का है और दूसरा इस समय के प्रत्यक्ष का है। जहाँ सज्ञान मे सन्देह होता है वहाँ मनुष्य यह प्रश्न करता है कि 'यह मनुष्य अथवा स्तभ है।' यहाँ हमको केवल एक ऊँची वस्तु दिखाई देती है और उस प्रत्यक्ष है मे किसी प्रकार के सन्देह का स्थान नही है। परन्तु कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब इस प्रत्यक्ष के कारण दो प्रकार की स्मृति का उदय होता है और इस प्रकार सन्देह उत्पन्न होता है। अत. यह स्पष्ट है कि सज्ञान मे जितनी बोध-ग्राह्यता तत्काल होती है वह वैध होती है।

---

[1] 'प्रभाकर पञ्चिका', 'शास्त्रदीपिका' और 'श्लोकवार्तिका' सूत्र देखिए।

अनुमान

श्री शबर का कथन है कि जब हम दो वस्तुओं में किसी प्रकार का स्थायी सह-संबध देखते हैं तो हम साधारणतया एक की उपस्थिति से दूसरे का अनुमान कर सकते हैं। जब हम इस सम्बन्ध के आधार पर दूसरी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो इसको दर्शन शास्त्र मे अनुमान प्रमाण कहते है। श्री कुमारिल का मन्तव्य है कि जब हम किन्ही दो वस्तुओं को जिनका सदैव सहअस्तित्व पाया जाता है किसी तीसरे स्थान पर देखते हैं और जब उनका यह सहअस्तित्व स्वतंत्र और निरूपाधिक होता है, तो इस 'अनुमान' के द्वारा स्थान विशेष पर वस्तु विशेष का सत्य बोध कर सकते हैं। उदाहरण के लिए रसोई मे अग्नि और धुएँ का सहअस्तित्व पाया जाता है अतः यहाँ धुएँ को देखकर यह उचित अनुमान किया जा सकता है कि रसोई मे अग्नि जल रही है। जब दो वस्तुओ का सम्बन्ध अधिकाश अवस्थाओ मे देखा जाता है तो हमारा अनुभव हमे तत्काल इस बोध की प्रेरणा देता है कि इस स्थान पर अमुक वस्तु होने से (धूम्र) 'व्याप्य' का व्यापक (अग्नि) अवश्य ही इस स्थान (पर्वत) पर होना चाहिए।

हमारे अनुभव के अनुसार दो वस्तुओ के अनेक प्रकार के सम्बन्ध हो सकते है। सहअस्तित्व मे एक प्रकार वह है जब एक वस्तु के पृष्ठ मे दूसरी वस्तु का अस्तित्व सदा ही देखा जाता है जैसे रोहिणी के साथ ही कृत्तिका नक्षत्र का उदय होता है, अथवा यह सम्बन्ध कार्य-कारण सम्बन्ध हो सकता है जिसमे कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है। जाति और उपजाति मे इसी प्रकार का एकात्मक सम्बन्ध पाया जाता है। सक्षेप मे हमारा अनुभव उन वस्तुओ के सहसम्बन्ध की निश्चित निरपवाद धारणा के आधार पर यह मार्गदर्शन करता है कि जहाँ पर 'व्याप्य' या 'गमक' (धूम्र) है वहाँ पर पक्ष मे (पर्वत पर) 'व्यापक' या 'गम्य' (अग्नि) अवश्य ही होना चाहिए। साथ ही यह भी ध्यान रखने योग्य है कि सामान्य प्रस्ताव मे व्याप्य की व्यापक मे सवनिष्ठ व्याप्ति किसी अनुमान का कारण या आधार नही हो सकती, क्योंकि यह स्वय अनुमान का उदाहरण है। जैसे 'जहाँ जहाँ धुँआ पाया जाता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है' (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः) यह स्वय अनुभव के आधार पर एक उदाहरण मात्र है। अनुमान मे हमारी स्मृति किसी 'पक्ष' मे (स्थान आदि) दो वस्तुओ के निरपवाद स्थायी सहअस्तित्व (धूम्र और अग्नि) का संकेत करती है। परन्तु यह स्थान अथवा पक्ष स्थायी सहव्याप्ति का सामान्य आधार मात्र है। इस प्रकार हम पक्ष में (पर्वत) व्याप्य (धूम्र) को देखकर 'व्यापक' (अग्नि) की स्थिति का अनुमान सहज ही करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में अनुमान का आधार प्रेषणविशेष हुआ करता है। सामान्य प्रस्ताव तो अनुमान के लिए केवल सिद्धान्त-वाक्य मात्र होता है। कुमारिल का मत है कि अनुमान में पक्ष के साथ साध्य का सम्बन्ध ज्ञान होता है न कि

केवल साध्य मात्र का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए हम केवल मात्र अग्नि का अनुमान नहीं करते वरन् धूम्र के हेतु से पर्वत (पक्ष) पर अग्नि का अनुमान करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति मे अनुमान के द्वारा हमको नवीन बोध होता है। उपर्युक्त उदाहरण मे अमुक पर्वत पर अग्नि है, यह नवीन बोध हमको होता है यद्यपि यह तथ्य हम पहले से जानते हैं कि जहाँ धुँआ होता है वहाँ अग्नि भी हुआ करती है।' (देश-कालाधिक्याद्युक्तम् गृहीत ग्राहित्वम् अनुमानस्य न्याय-रत्नाकर पृष्ठ ३६३)[1] ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि दो वस्तुओं के स्थायी सहसम्बन्ध के साथ साथ ही तीसरी वस्तु का भी ध्यान होना चाहिए जहाँ पर उपर्युक्त व्याप्ति पायी जाती है। साथ ही इस व्याप्ति की धारणा के लिए यह आवश्यक है कि अनेक उदाहरणो में इस प्रकार की व्याप्ति अनुभव के आधार पर पूर्वसिद्ध हो परन्तु यह आवश्यक नही है कि इस व्याप्ति के अपवादस्वरूप उदाहरणों का प्रेक्षण कर उनकी तालिका बनाई जाए जैसा कि बौद्ध दर्शन का मत है।[2]

पूर्वानुभव से हम यह सहज ही आशा करते हैं कि यहाँ गमक की स्थिति है अतः इस स्थान पर गम्य अवश्य ही होना चाहिए क्योंकि पहले भी ऐसे स्थानों पर ऐसा प्रेक्षण किया गया है। इसके अतिरिक्त जहाँ गमक और गम्य एकात्मक है वहाँ प्रत्येक दूसरे के लिए गमक का कार्य करता है अर्थात् एक वस्तु की स्थिति से दूसरे का अनुमान किया जा सकता है।

उपर्युक्त विषय मे एक शका यह उत्पन्न होती है कि यदि अनुमान व्याप्ति-सबध की पूर्व स्मृति के आधार पर किया जाता है तो यह कहाँ तक प्रामाणिक माना जा सकता है क्योकि स्मृति को स्वतः प्रमाणित नहीं माना गया है। श्री कुमारिल का मत है कि स्मृति अवैध नही है पर इसको प्रमाण के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता क्योकि इससे किसी नवीन ज्ञान की उत्पत्ति नही होती। अनुमान से नवीन ज्ञान की उत्पत्ति होती है अत. यह प्रमाण की श्रेणी मे आता है। उपर्युक्त उदाहरण मे हमें यह ज्ञान तो था कि जहाँ धुँआ होता है वहाँ अग्नि हुआ करती है परन्तु यह ज्ञान

---

[1] यह सम्भव है कि श्री कुमारिल ने उपर्युक्त मन्तव्य श्री दिङ्नाग के तर्क के आधार पर स्थिर किया हो। श्री दिङ्नाग का कथन है कि अनुमान के द्वारा न तो हम अग्नि का अनुमान करते है न हम अग्नि और पर्वत के सम्बन्ध का अनुमान करते है। वरन् हम अग्निमय पर्वत का अनुमान द्वारा नवीन संज्ञान प्राप्त करते हैं। देखिए विद्याभूषण रचित पुस्तक 'इंडियन लाजिक' पृ० स० ८ एवं तात्पर्य-टीका पृ० १२०।

[2] श्री कुमारिल इस बौद्ध मत का विरोध करते है कि व्याप्ति का विनिश्चयन अपवाद के उदाहरणों से होता है कि कितनी अवस्थाओं में व्याप्ति विशेष का अपवाद पाया जाता है।

नहीं था कि अमुक पर्वत पर अग्नि है। गमक को देखकर यह अनुमान किया कि वहाँ (गम्य) अग्नि अवश्य होनी चाहिए। यह नवीन ज्ञान है जिसका हमको प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हुआ है और जिसको हमने अनुमान से जाना है। यदि अग्नि स्वयमेव दिखाई दे जाए तो फिर यह अनुमान न रह कर प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाएगा।

श्री कुमारिल और प्रभाकर के मतानुसार अनुमान की सिद्धि के लिए (परार्थानुमान) केवल तीन तर्क वाक्य पर्याप्त है : 'प्रतिज्ञा', 'हेतु' और 'दृष्टान्त'। इन तीन के द्वारा हम अनुमान को सहज ही किसी अन्य के समक्ष भी प्रमाणित कर सकते हैं।

कुमारिल के अनुसार अनुमान के दो प्रकार है—(१) प्रत्यक्षतो दृष्ट सम्बन्ध और (२) सामान्यतो दृष्ट सम्बन्ध। पहले प्रकार मे दो स्थूल वस्तुओ मे स्थायी सम्बन्ध के आधार पर अनुमान किया जाता है। दूसरे प्रकार मे अर्थात् 'सामान्यतो दृष्ट सबध' मे स्थूल वस्तुओ के सह-सम्बन्ध के स्थान पर दो सामान्य कल्पनाओ के आधार पर अनुमान किया जाता है। जैसे जहाँ स्थान परिवर्तन होता है वहाँ अवश्य कुछ गति हुआ करती है ऐसा देखा गया है। अत सूर्य के स्थान-परिवर्तन के कारण यह अनुमान करना उचित है कि यह स्थान-परिवर्तन की पृष्ठभूमि मे किसी प्रकार की गति अवश्य होनी चाहिए। अतः यह कहा जाता है कि अन्य सामान्य अनुमानो के समान ही उपर्युक्त अनुमान भी प्रामाणिक है।[1]

श्री प्रभाकर के अनुसार अनुमान के लिए दो वस्तुओ मे स्थायी सम्बन्ध ही महत्वपूर्ण है, यह स्थायी सम्बन्ध कहाँ पाया जाता है इसकी विशेष अपेक्षा नही है। स्थान और काल केवल उन दो वस्तुओ के सम्बन्ध के विशेषण मात्र है। स्थान और काल से हमारे अनुमान की प्रक्रिया मे कोई अन्तर नही पडता। हम जानते है कि जहाँ धुँआ है वहाँ अग्नि होनी चाहिए, अत. धुएँ को देखकर हम तत्काल अग्नि का अनुमान कर लेते है। यहाँ किसी अन्य उपाधि की आवश्यकता नहीं है।[2] इसके अतिरिक्त श्री प्रभाकर 'हेतु' के तर्क-दोष के साथ ही 'पक्ष', 'प्रतिज्ञा' और 'दृष्टान्त' के भी तर्क-दोषों की व्याख्या करते है और जिन्हे दृष्टान्ताभास की सज्ञा दी गई है। इससे प्रतीत होता है कि मीमासा के अनुमान सम्बन्धी स्थापना मे बौद्ध दर्शन का भी

---

[1] श्लोक वार्तिक, न्याय रत्नाकर, शास्त्र दीपिका, युक्तिस्नेह-पूरिणी, सिद्धान्त चन्द्रिका नामक ग्रन्थो मे अनुमान-मीमासा देखिए।

[2] उपाधि के सम्बन्ध मे श्री प्रभाकर ने कोई नवीन तथ्य प्रस्तुत नहीं किया है। जहाँ प्रयत्न करने पर भी कोई ऐसा अपवाद या उपाधि नही दिखाई देती जिससे हमारा अनुमान दूषित हो वहाँ मान लेना चाहिए कि कोई उपाधि नही है ('प्रयत्नेनान्विष्यमाणे औपाधिकत्वानवगमात्' प्रकरण-पचिका पृ० ७१)।

पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। धूम के संज्ञान में अग्नि का संज्ञान स्वयमेव ही अन्तर्निहित है, अत. प्रभाकर के मतानुसार किसी अन्य अनुमान का स्थान नहीं रह जाता, परन्तु प्रभाकर इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रमाण के लिए यह आवश्यक नही है कि उसके द्वारा हमे किसी नवीन ज्ञान की प्राप्ति हो। जिससे हमे ज्ञान की ग्राह्यता हो, वही प्रमाण है। इस प्रकार अनुमान के द्वारा ज्ञात वस्तु के सम्बन्ध मे संज्ञान (बोध) प्राप्त होता है, वह प्रमाण ही है क्योकि इससे हमको तथ्यविशेष का बोध होता है। तथ्य-ग्राह्यता ही प्रमाण है ऐसा उनका मत है।

उपमान, अर्थापत्ति

मीमासा का उपमान सम्बन्धी दृष्टिकोण न्याय से थोड़ा भिन्न है। मीमासा के अनुसार एक मनुष्य जिसने घर में या नगर मे गाय देखी है वन मे जाता है वहाँ वह 'गवय' (जगली साड) देखता है और 'गवय' के रूप गुण की गाय से तुलना करता है। यह गाय उस समय उसके समक्ष उपस्थित नही है। तुलना से वह गवय के और गाय के रूप-गुण मे साम्य देखता है। गवय को गाय के अनुरूप गुणो वाला देखकर वह समझता है कि यह गाय के ही समान है। इस समानता का बोध ही उपमान है। गाय की उपमा मे गवय को पहचानना ही उपमान प्रमाण है। यह अन्य प्रमाणो से भिन्न अपने आप मे प्रमाण है। गवय के देखने के समय गाय उपस्थित नही थी। यह स्मृति भी नही है क्योकि गाय देखने के समय गवय नहीं देखा गया था अत· दोनो के साम्य की स्मृति का प्रश्न नही उठता। अतः इसे स्वतत्र प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया गया है। प्रभाकर और कुमारिल मे इस विषय मे मतभेद है।

श्री कुमारिल साम्य को एक ऐसे गुण के रूप मे मानते है जो कई वस्तुओ मे एक से गुणों को स्पष्ट करता है। श्री प्रभाकर इसे एक विशिष्ट वर्ग के रूप मे देखते हैं।

'अर्थापत्ति' प्रमाण का एक और वर्ग है जिसे मीमासा ने स्वीकार किया है। जब हम यह जानते है कि देवदत्त नामक व्यक्ति जीवित है, और उसके घर पर उसे नही पाते, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वह अवश्य ही कही अन्यत्र होगा। देवदत्त के अन्यत्र होने के बोध की यह विधि ही 'अर्थापत्ति-प्रमाण' है।

अर्थापत्ति-प्रमाण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मे भी कुमारिल और प्रभाकर एकमत नही है। प्रभाकर का कथन है कि हम यह जानते है कि देवदत्त जीवित है। उसके पश्चात् हम उसके घर जाकर पता लगाते है और यह देखते हैं कि वह घर पर नही है। अत. इस तथ्य से हम सीधे ही इस अर्थ पर नही पहुँचते कि देवदत्त कही अन्यत्र होगा। उसकी अनुपस्थिति से सर्वप्रथम हमारे पूर्व ज्ञान पर सन्देह होता है कि कही ऐसा तो

नहीं है कि देवदत्त इस बीच में मर गया हो। इस सन्देह के पश्चात् हम यह प्रकल्पना करते हैं कि सम्भव है कि वह जीवित हो और किसी अन्य स्थान पर हो। इस प्रकार देवदत्त की अनुपस्थिति से पहले सन्देह और पुनः यह प्रकल्पना होती है कि वह कहीं अन्यत्र हो सकता है। अनुमान के सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है। क्योंकि धूम्र की स्थिति का निश्चय करने के पश्चात् अग्नि का अनुमान भी निश्चयात्मक होता है। लेकिन घर मे देवदत्त की अनुपस्थिति, उसके जीवित रहने के विषय में सन्देह उत्पन्न कर देता है और इससे उसके अन्यत्र होने की प्रकल्पना मात्र ही होती है।[1]

श्री कुमारिल प्रभाकर की इस व्याख्या को स्वीकार नही करते। उनका कथन है कि यदि देवदत्त की घर में अनुपस्थिति होने में कोई सन्देह होता है तो यह अधिक अच्छा होगा कि उस सन्देह को यह मान कर मिटा लिया जाए कि देवदत्त मर गया। इस सन्देह को बनाए रखकर यह सोचना उचित नही होगा कि देवदत्त अन्यत्र होगा। सन्देह का कारण उसकी घर से अनुपस्थिति है, अतः इसी कारण घर से उसकी मृत्यु के सन्देह के निवारण का प्रश्न ही नही उठता जिसमे यह पुनः प्रकल्पना की जाए कि वह अन्यत्र होगा। जो सन्देह का कारण है वही निवारण का कारण नही हो सकता। वास्तव मे स्थिति दूसरी है। हमारे पूर्वज्ञान से या अन्य साधन से हम निश्चित रूप से जानते है कि देवदत्त जीवित है। अतः यदि 'वह घर पर नही है तो अन्यत्र होगा' यह प्रकल्पना बिना किसी सन्देह के उत्पन्न होती है। देवदत्त के जीवित होने और उसके घर पर न होने से जो विरोधात्मक स्थिति बनती है उससे मनमस्तिष्क तब तक सतुष्ट नही होता जब तक वह उस निष्कर्ष पर नही पहुँचता कि देवदत्त घर के बाहर कही अन्यत्र होगा। यही अर्थापत्ति है। यदि यह नही माना जाता तो फिर अनुमान-प्रमाण भी प्रकल्पना मात्र रह जाएगा क्योकि हम जानते हैं कि जहाँ धुआँ होता है वही अग्नि होती है। हम पहाडी पर धुएँ को देखते है पर अग्नि को नही देखते। अत अग्नि का न होना भी सम्भव हो सकता है अर्थात् अग्नि के न होने मे सन्देह होता है, अत हम यह प्रकल्पना करते है कि अग्नि होनी चाहिए। यह तर्क उचित होता यदि धुएँ और अग्नि की सह व्याप्ति अनुमान के अतिरिक्त किसी प्रकार से जानी जा सकती, पर हम अनुमान से जानते है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। अनुमान का कारण है कि यह व्याप्ति विशिष्ट उदाहरणो में ही देखी गई है। सामान्य प्रस्ताव के अभाव मे विशिष्ट उदाहरणो मे भी कोई विरोधाभास दृष्टिगत नही होता। अत. इस विरोधाभास के अभाव मे अर्थापत्ति की आवश्यकता नहीं होती जैसे कि पूर्व उदाहरण में विरोधाभास के कारण देवदत्त के अन्यत्र होने की बात मान्य समझी गई थी। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ अनुमान-प्रमाण ही मान्य होता

[1] प्रकरण-पंचिका पृ० ११३-५।

है, अर्थापत्ति प्रमाण से काम नहीं चलता। पर यह सम्भव है कि किसी वस्तु की स्थितिविशेष का ज्ञान अर्थापत्ति और अनुमान दोनो से ही सम्भव हो।

इसी प्रकार अनुमान-प्रमाण अर्थापत्ति-प्रमाण का स्थान नही ले सकता। अनुमान-प्रमाण मे पहले हेतु का ज्ञान होता है फिर उस हेतु मे साध्य का ज्ञान होता है। पर हेतु और साध्य दोनो का ज्ञान एक साथ नही हो सकता। यह भेद ही अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाण मे मुख्य भेद है। अर्थापत्ति मे देवदत्त की घर मे अनुपस्थिति को उसके अन्यत्र होने की कल्पना के बिना समझा ही नही जा सकता। यदि देवदत्त जीवित है तो या तो वह घर के अन्दर होना चाहिए या वह घर के बाहर होना चाहिए। उसके जीवित होने और उसकी अनुपस्थिति–इस विरोधात्मक स्थिति को बुद्धि स्वीकार ही नही कर सकती। इस विरोधात्मक स्थिति का एक ही हल है और वह यह है कि देवदत्त घर के अतिरिक्त कही और होना चाहिए। इस प्रकार अर्थापत्ति वास्तव मे 'अर्थानुपपत्ति' का फल है। पूर्व प्राप्त ज्ञान से जब हमारे वर्तमान के प्रत्यक्ष का विरोध दिखाई देता है तो 'अर्थानुपपत्ति' होती है। इस 'अर्थानुपपत्ति' से हम विशिष्ट निष्कर्ष पर पहुँचते है जिसको अर्थापत्ति कहते है। अर्थापत्ति से ही हम यह कह सकते है कि बीज से पौधे उत्पन्न होते है, अथवा यज्ञादि शुभ कर्मों का शुभ फल होता है।

शब्द-प्रमाण

बौद्ध, जैन, चार्वाक और वैशेषिक के अतिरिक्त सभी प्रसिद्ध भारतीय दर्शन 'शब्द' प्रमाण को मान्य समझते है। लगभग सभी हिन्दू दार्शनिक वेदो को शब्द प्रमाण के रूप मे सत्य एव प्रामाणिक समझते है। प्राचीन काल मे बौद्धो और हिन्दुओ म इस विषय पर अनेक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। जहा हिन्दू दार्शनिक वेदो को ईश्वरीय ज्ञान का स्रोत समझते है वहाँ बौद्ध इनको प्रामाणिक नही समझते। कुछ दर्शन वेदो को अपौरुषेय, अनन्त एव अनादि मानते है। मीमासा दर्शन का भी यही मत है। वास्तव मे मीमासा ने इस मत की पुष्टि करते हुए उन सिद्धान्तो को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है जिनके आधार पर वेद-मन्त्रो की युक्तियुक्त व्याख्या की जा सके। वेदो के अर्थों को ठीक स समझ कर उनके अनुसार यज्ञ, कर्मकाड, धर्माचरण किया जा सके, यही मीमासा का विशेष उद्देश्य रहा है। मीमांसा मे शब्द-प्रमाण की विशेष रूप से युक्तियुक्त व्याख्या की गई है क्योकि वेदो को शब्द-प्रमाण के रूप मे स्वीकार करते हुए मीमासा ने इनको सत्य और प्रामाणिक सिद्ध करने का यत्न किया है।

जिन वस्तुओ को हम प्रत्यक्ष रूप से नही देखते उनके विषय मे हम अन्य स्रोतों से ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करते हैं। कुछ वस्तुओं का ज्ञान हमें अप्रत्यक्ष रूप से

उनके वर्णन से होता है। यह वर्णन शब्दों से निर्मित वाक्यों के द्वारा किया जाता है। यदि हम शब्दों को भली भांति समझ कर विचारपूर्वक वर्णित विषय का मनन करें तो हम प्रत्यक्ष के अभाव मे तद्विषयक जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। यही शब्द-प्रमाण है। ये शब्द मानवीय (पौरुषेय) और वैदिक दो प्रकार के हो सकते है। यदि मानवीय शब्द आप्त, सत्यवक्ता व्यक्ति के द्वारा कहे गए है, तो हम उनको प्रामाणिक मानते हैं। वैदिक शब्द स्वयमेव प्रामाणिक है। वाक्यो का अर्थ समझने के लिए शब्दो के अर्थ, उनका परस्पर सम्बन्ध जानना आवश्यक है। इसके लिए कोई अन्य प्रमाण सहायक नही हो सकता। वक्ता को जाने बिना भी हम शब्दो के पारस्परिक सम्बन्ध, और उनके अर्थों का मनन कर वस्तुविशेष का ज्ञान प्राप्त करते है।

श्री प्रभाकर का मत है कि सारे शब्द ि रूप है। इन ध्वनियो का मूल अक्षर हैं। अक्षर के अभाव मे शब्द-ध्वनि सम्भव नही परन्तु अक्षर स्वय मे अर्थहीन है। जब अक्षर मिल कर शब्द की उत्पत्ति करते है तभी उ कुछ अर्थ प्रकट होता है। परन्तु शब्द को उचित रूप से ग्रहण करने के लिए अक्षर-ध्वनि का आश्रय लेना पडता है। प्रत्येक अक्षर-ध्वनि की अपनी-अपनी ध्वनि-क्षमता है। एक अक्षर के उच्चारण के साथ हम उस ध्वनि को सुनकर हृदयंगम करते है और साथ ही उस ध्वनि का लोप होकर दूसरी अक्षर-ध्वनि का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार इन अक्षर-ध्वनियो से सम्पूर्ण शब्द का निर्माण होता है। इस शब्द की अपनी अर्थक्षमता है। शब्दो की क्षमता अक्षर-क्षमता पर निर्भर है। इस प्रकार मौखिक सज्ञान का कारण मूल अक्षर-क्षमता है। अक्षर-शक्ति ही सारे शब्द, अर्थ, सज्ञान का मूलाधार है। श्री कुमारिल और प्रभाकर इस विषय मे एकमत है।

एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द की अपनी-अपनी अर्थक्षमता है। यह शब्द मे मूलरूपेण विद्यमान है। यह क्षमता सुनने वाले की क्षमता पर निर्भर है। शब्द का अर्थ स्थायी है। श्रुति-क्षमता से अथवा सुनने वाले की अज्ञता से शब्द की अर्थ-शक्ति प्रभावित नही होती। सरल शब्दो मे सुनने वाले के समझने से अथवा न समझने से शब्द की अपनी अर्थ-क्षमता मे कोई अन्तर नही पडता। मीमासा के अनुसार शब्दो के अर्थ किसी मानवीय परम्परा के द्वारा प्रभावित नहीं होते अर्थात् शब्दो के अर्थ मनुष्य द्वारा निर्मित नही है।[1] परम्परा से व्यक्तिवाचक शब्दो का निर्माण हो सकता है। परन्तु अन्य शब्द और उनके अर्थ पहले से विद्यमान हैं। प्रत्येक शब्द की अपनी-अपनी अर्थक्षमता है। शब्द शाश्वत है। शब्द सदैव से विद्यमान

---

[1] न्याय के अनुसार सारे शब्दों का निर्माण परमात्मा द्वारा किया गया है और उसी प्रभु ने प्रत्येक शब्द की अर्थक्षमता निर्धारित की है, अर्थात् परमात्मा ने ही शब्द और उनके अर्थों का निर्माण किया है।

। उनको प्रकट करने के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता होती है। मनुष्य जब इन शब्दों का उच्चारण करता है तो ये उस प्रयत्न के फलस्वरूप प्रकट होते हैं। न्याय का मत है कि मनुष्य के शब्द-उच्चारण के प्रयत्न के कारण शब्द की उत्पत्ति होती है। मीमासा का मत है कि शब्द शाश्वत है और पहले से ही विद्यमान हैं। ये अनादि अनन्त है। जब हम किसी शब्द का उच्चारण करते है तो यह शब्द हमारे माध्यम से श्रोता के लिए पुन. प्रकट होता है।

हम शब्दो के अर्थों का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करते है इसका उदाहरण देते हुए श्री प्रभाकर कहते है कि आदेशात्मक वाक्यो के द्वारा ही हमे अर्थों का उचित बोध होता है। कोई वरिष्ठ व्यक्ति जब किसी भृत्य को आज्ञा देता है कि जाओ, इस घोड़े को बाँध दो। इस गाय को ले जाओ। तब बालक इस आज्ञा को सुनकर और भृत्य द्वारा उसके पालन किए जाने से यह समझ लेता है कि घोड़े का या गाय का क्या अर्थ है। इस प्रकार के शब्दो अर्थ, इस आज्ञार्थक वाक्य के अन्य अशो के प्रसग मे स्पष्ट होते है। शब्दो का तात्पर्य अन्य वाक्याशो के प्रसग मे ही समझा जा सकता है। वाक्य से पृथक्, शब्द का अर्थ नही समझा जा सकता है। इसको 'अन्विताभिधानवाद' कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'गाम्' शब्द 'गो' (गाय) का कर्मकारक है। इस 'गाम्' (गाय को) से केवल इतना समझा जाता है कि गाय के सम्बन्ध मे कुछ कहा गया है। परन्तु जब पूरा वाक्य 'गाम् आनय' कहा जाता है तो यह अर्थ स्पष्ट होता है कि 'गाय को लाओ'। परन्तु श्री कुमारिल का मत है कि शब्द स्वतत्र रूप से सार्थक होते है। प्रत्येक शब्द का अपना स्वतत्र अर्थ होता है। शब्दो से मिलकर वाक्य बनता है। शब्दो के समूह सयुक्त होकर वाक्य रूप मे परिवर्तित हो प्रसग के अनुसार अर्थमय होते है। यह शब्दो की स्वतत्र अर्थसत्ता और उनके मेल से विशेष विचार कल्पना की उत्पत्ति ही 'अभिहितान्वयवाद' कहलाता है। इस प्रकार कुमारिल के मतानुसार 'गाम् आनय' मे 'गाम्' का अर्थ स्पष्ट है कि यह 'गो' का कर्मकारक है और 'आनय' का अर्थ है 'लाओ'। दोनो शब्दो के मिलने से 'गाय लाओ' यह अर्थ स्पष्ट हो गया। यही मत न्याय का भी है। इसी को न्याय में भी 'अभिहितान्वयवाद' कहते है।[1]

---

[1] इस विषय मे डा० गगानाथ झा रचित 'प्रभाकरमीमासा' और श्री दासगुप्ता द्वारा लिखी 'स्टडी आफ पतजलि' का परिशिष्ट देखिए। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि मीमासा 'स्फोट' सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखती। स्फोट-सिद्धान्त के अनुसार अक्षरो की ध्वनि के अतिरिक्त सम्पूर्ण शब्द का एक अपना 'स्फोट' होता है जिससे शब्द अपने स्वतंत्र रूप मे प्रकट होता है। यह 'स्फोट' (शब्द प्राकट्य) क्रम से समाप्त होने वाली अक्षर ध्वनि से भिन्न है और सम्पूर्ण शब्द का ध्वन्यात्मक एकाकी रूप है।

अन्त मे श्री प्रभाकर का मत है कि केवल वेद ही शब्द प्रमाण के रूप में माने जा सकते हैं। वेद मे भी केवल वे वाक्य शब्द-प्रमाण है जो आज्ञार्थक (आदेशात्मक) हैं। अन्य सभी स्थितियो मे वक्ता की आप्तता और चरित्र के आधार पर ही शब्द प्रमाण की वैधता और सत्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु श्री कुमारिल सभी सच्चरित्र व श्रद्धेय पुरुषो के शब्दो को प्रामाणिक मानते हैं।

अनुपलब्धि प्रमाण

श्री कुमारिल उपर्युक्त प्रमाणो के अतिरिक्त 'अनुपलब्धि' प्रमाण को पाँचवाँ प्रमाण मानते है। अनुपलब्धि का अर्थ है उपलब्धि का न होना। जिस विषय की प्रत्यक्ष उपलब्धि न हो सके, अर्थात् जो वस्तु प्रत्यक्ष रूप मे दिखाई न पडे वहाँ उस वस्तु की अनुपलब्धि है। वस्तु का यह अभाव जिस प्रमाण से जाना जाए वह अनुपलब्धि-प्रमाण है। उदाहरण के लिए कक्ष मे घडा नही है। उस घडे के अभाव को इन्द्रियो से नही जाना जा सकता, क्योकि ऐसी कोई वस्तु ही नही है जिसके साथ इन्द्रिय सम्पर्क हो सके। कुछ लोगो का मत है कि यह अभाव अनुमान-प्रमाण से जाना जा सकता है। जब किसी वस्तु की स्थिति (भाव) होती है तो हमे उसका बोध दृश्य रूप मे होता है, जब उसका अभाव होता है तो उसको नही देखा जा सकता। परन्तु कठिनाई यह है कि इस अनुमान के अभाव की और वस्तु के दृश्यमान न होने की पूर्वकल्पना की गई है। प्रश्न यह है कि इस अभाव को और इस अप्रत्यक्ष को किस प्रमाण से जाना जाए। ये दोनो स्वय अपने ही लिए अनुमान के आधार पर हो सकते। अत इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता है।

किसी स्थान पर किसी भी वस्तु का अस्तित्व 'सदरूप' (भाव) मे अथवा 'असद्रूप' (अभाव) मे, धनात्मक या ऋणात्मक सम्बन्ध मे हुआ करता है। सरल शब्दो मे स्थान विशेष पर किसी वस्तु का या तो भाव होता है या अभाव। यह भाव या अभाव उस स्थानविशेष के परिप्रेक्ष्य मे होता है। जब किसी वस्तु का सदरूप होता है तो हमारी इन्द्रियाँ उससे सम्पर्क कर उसका प्रत्यक्ष करती है। परन्तु वस्तु के अभाव के प्रत्यक्ष के लिए मन की क्रिया भिन्न प्रकार से होती है जिसे हम अनुपलब्धि-प्रमाण कहते है। श्री प्रभाकर का मत है किसी स्थान विशेष पर किसी दृश्यमान वस्तु

अक्षर-ध्वनि का कार्य शब्द-स्फोट का आधार बनकर उसको प्रकट करना मात्र है। इस सम्बन्ध मे वाचस्पति रचित—'तत्वबिन्दु', 'श्लोकवार्तिक' और 'प्रकरण-पंचिका' देखिए। 'अन्विताभिधान' सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए श्री शालिकनाथ रचित 'वाक्यार्थमातृका-वृत्ति' देखिए।

का अप्रत्यक्ष केवल रिक्त स्थान का प्रत्यक्ष है। अत. इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है। परन्तु इस रिक्त स्थान से क्या अर्थ है? यदि यह युक्ति दी जाती है कि घडे के अभाव के प्रत्यक्ष के लिए पूर्णरूपेण रिक्त स्थान होना चाहिए और यदि इस स्थान पर एक पत्थर पडा हुआ है तो घडे के अभाव का बोध नही होना चाहिए। यदि रिक्त स्थान की परिभाषा यह की जाती है कि रिक्त स्थान वह स्थान है जहाँ घड़े का अभाव है तो फिर अभाव को एक भिन्न वर्ग के रूप मे स्वतः ही स्वीकार कर लिया जाता है। यदि रिक्त स्थान के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि जिस क्षण मे उस रिक्त स्थान को देखते है, उस क्षण मे घडे के होने का (भाव) का बोध नही होता तो भी हम घडे के बोध के अभाव का अस्तित्व स्वीकार करते है। किसी भी दृष्टि से इस तथ्य को देखा जाए सभी प्रकार से हम घडे के अभाव का या उसके ज्ञान के अभाव के अस्तित्व का अलग से स्वीकार करते है। इस अभाव को बाह्य दृष्टि से वस्तु का अभाव और आत्मनिष्ठ दृष्टि से उसके ज्ञान के अभाव के रूप मे स्वीकार करना पडता है। शका के रूप मे यह कहा जाता है कि पहले क्षण मे हम केवल भूमि को देखते है, फिर दूसरे क्षण मे हम घडे के अभाव को देखते है। परन्तु भूमि को देखने से कोई अर्थ नही निकलता। इससे किसी प्रकार की रिक्तता का स्वयमेव बोध नही होता। भूमि के देखने से घडे के न होने का सज्ञान नही हो सकता। इस प्रकार यह कहना कि हम केवल भूमि को देखते है निरर्थक है जब तक कि हम यह न कहे कि अमुक वस्तु इस स्थान पर नही है। यह वस्तु के अभाव की भावना हम मे पहले से विद्यमान है जिसको हम भूमि के विशेषण के तौर पर प्रयोग करते है। यह अभाव की भावना किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध नही हो सकती। साथ ही यह भी सत्य है कि इन्द्रिय-विषयक पदार्थ के अप्रत्यक्ष से उस वस्तु के अभाव की कल्पना तत्काल उत्पन्न होती है, इस सज्ञान के लिए किसी अन्य अभाव की आवश्यकता नही है। यह केवल वर्तमान के लिए ही सत्य नही है वरन् भूतकाल मे भी वस्तुओ के अभाव के लिए सत्य है। उदाहरणार्थ जब हम यह सोचते है कि यहाँ पर हमने उस समय घडा नहीं देखा था।

इस प्रकार इन्द्रियार्थ वस्तुओ के अभाव का बोध अनुपलब्धि प्रमाण से होता है।

आत्मा, परमात्मा और मोक्ष

मीमासा-दर्शन शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। आत्मा मन, बुद्धि और शरीर से भिन्न है। आत्मा शाश्वत व्यापक और अनेक हैं। प्रत्येक शरीरवान् प्राणी मे भिन्न-भिन्न आत्माएँ है। श्री प्रभाकर का कथन है कि प्रत्येक संज्ञान मे हमें आत्मा का बोध होता है क्योकि बोध शरीर के द्वारा न होकर इस आत्मा के द्वारा ही होता है, यह बोधात्मक आत्म-भावना सदैव विद्यमान रहती है जिसके परिप्रेक्ष्य

में ही हम सारे संज्ञान और प्रत्यक्ष ग्रहण करते है। सच तो यह है कि यह तथ्य ही आत्मा का शरीर से भिन्न होने का प्रमाण भी है। परन्तु श्री कुमारिल इस विश्लेषण से सहमत नही है कि प्रत्येक संज्ञान में अपने 'स्व' या आत्मा की चेतना अवचेतना रूप से सन्निहित होती है। श्री कुमारिल का मत है कि हमे अपने आपका या आत्मा का प्रत्येक समय ध्यान रहता है। हम यह जानते है कि हम शरीरधारी प्राणी है। हमको अपने संज्ञान में अपने आपका और शरीर का दोनों का ध्यान रहता है। अत यह कहना उचित नही है कि हमारे बोध-ज्ञान में केवल आत्मा का भान होता है, शरीर की कोई चेतना नही रहती। सत्य यह है कि संकल्प-विकल्प, ज्ञान, सुख-दुःख, गति, स्पंदन आदि शरीर के नही आत्मा के अग हैं क्योकि मृत्यु के पश्चात् शरीर विद्यमान रहता है परन्तु ये सारी क्रिया और अनुभूतियाँ समाप्त हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर के अतिरिक्त कोई अन्य अस्तित्व होना चाहिए जो सुखदुःखादि का अनुभव करता है। वह कोई भिन्न तत्व होना चाहिए जिसके कारण शरीर गति करता है। ज्ञान, सवेदना आदि को आत्मा सहज ही ग्रहण करती है, ये आत्मा के अग हैं, शरीर के अग के रूप मे किसी को भी दिखाई नही देते। कारणवाद का यह साधारण सिद्धान्त है कि कारणतत्वों के गुण कार्य मे भी दिखाई देते है। शरीर पृथ्वी तत्व से बना हुआ है। पृथ्वी तत्व मे ज्ञानादि गुण नही है अत· शरीर मे ज्ञानादि गुण होने का प्रश्न ही नही उठता। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि शरीर से भिन्न कोई ज्ञान का माध्यम होता है। कभी-कभी यह शका उपस्थित की जाती है कि यदि आत्मा सर्वव्यापक है तो यह कर्त्ता और गतिवान् कैसे हो सकती है। इसके समाधान मे मीमासादर्शन का मत है कि यह आत्मा क्रिया या गति को परमाणु-स्पदन के रूप मे स्वीकार नही करता। क्रिया या गति का आधार वह शक्ति है जो परमाणुओ को गति प्रदान करती है, अत. क्रिया या गति ऊर्जा है, परमाणु नही है। आत्मा ही वह ऊर्जा या शक्ति है जिससे शरीर मे गति उत्पन्न होती है। आत्मा ही शरीर की प्रेरक शक्ति और कर्त्ता है। यह आत्मा इन्द्रियो से भी भिन्न है। इन्द्रिय-दोष होने पर भी शरीर के अन्य व्यापार यथावत् चलते रहते है। यदि आत्मा और इन्द्रियाँ एक ही होते तो इन्द्रियो के साथ ही शरीर की सारी क्रिया समाप्त हो जाती। परन्तु ऐसा नही है अत. स्पष्ट है कि आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है।

इसके पश्चात् यह शका होती है कि आत्मा का बोध कैसे होता है। श्री प्रभाकर का मत है कि आत्मा ज्ञाता है। सम्पूर्ण ज्ञान-बोध आत्मा के द्वारा ग्रहण किया जाता है। ज्ञाता का ज्ञान ज्ञेय के बिना सम्भव नही है। ज्ञेय की स्थिति से ही ज्ञाता को जाना जा सकता है। किसी भी पदार्थ का बोध ज्ञाता के अभाव में नहीं हो सक ' ज्ञाता से ज्ञेय, ज्ञेय से ज्ञाता का ज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से ज्ञाता और ज्ञेय दोनो प्रकाशित होते हैं। अतः इन तीनों का प्रत्यक्ष एक साथ होता है, यही

'त्रिपुटि प्रत्यक्ष' सिद्धान्त है जिसका वर्णन पहले भी किया जा चुका है। ज्ञान की क्रिया का मुख्याधार आत्मा है पर साधारणतया कर्त्ता के रूप मे प्रकट होता है। सज्ञान आत्मा नही है परन्तु आत्मा संज्ञान का वह अधिष्ठान है जो प्रत्येक सज्ञान में अहम् के रूप मे सन्निहित रहता है और जिसके अभाव में कोई भी संज्ञान या बोध सम्भव नही है। गहरी निद्रा में (सुषुप्तावस्था) जब हम किसी पदार्थ को नही देखते हैं तो आत्मा का भी ध्यान नही जाता।

श्री कुमारिल का मत है कि हम आत्मा को अपने मन में देखते हैं। आत्मा शरीर से भिन्न मनुष्य की अहम्-चेतना का आधार है। अर्थात् यह 'मैं' शरीर से भिन्न कोई अन्य तत्व है। यह आत्मा ही हमारे चेतन और अवचेतन मन मे अहम् के रूप में विद्यमान रहती है। आत्मा के इस बोध को श्री कुमारिल ने 'मानस-प्रत्यक्ष' की संज्ञा दी है। श्री प्रभाकर ने कहा है कि आत्मा ही ज्ञाता है और प्रत्येक वस्तु के संज्ञान के साथ ही आत्मा का बोध होता है। आत्मा और वस्तु दोनो ही ज्ञान से प्रकाशित होते है। प्रत्येक बार जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो उस ज्ञान के प्रकाश में हम ज्ञाता रूप आत्मा को भी देखते है। उनके अनुसार यह सत्य है कि अहम् की पृष्ठभूमि मे आत्मा का अस्तित्व छिपा हुआ है परन्तु आत्मा का ज्ञान वस्तु के ज्ञान के साथ नही होता। यह आत्मा प्रत्येक सज्ञान मे ज्ञाता (कर्त्ता) के रूप मे प्रकट नहीं होती। आत्मा का ज्ञान एक भिन्न मानसिक प्रक्रिया के द्वारा होता है। अहम्-चेतना के मनन और मन्थन से शरीर से भिन्न किसी तत्त्व का बोध होता है। आत्मा स्वयं अपने आपको प्रकाशित नही करती इस पर प्रभाकर और कुमारिल दोनो एकमत है। दोनो का मत है कि आत्मा 'स्वय प्रकाश' नही है। यदि आत्मा स्वयं प्रकाश होती, तो हम गहरी निद्रा मे भी इसके कार्य को देख पाते जब इन्द्रियादि का सारा व्यापार निष्पद हो जाता है। गहरी निद्रा एक अचेतन अवस्था है जिसमे किसी प्रकार की चेतना और आनन्द का बोध नही होता। यदि यह आनन्द की अवस्था होती तो मनुष्य यह शिकायत नही करते कि असामयिक निद्रा ने हमको इस आनन्द से वंचित कर दिया। जब साधारणतया यह कहा जाता है कि मै बडे आनन्द से सोया तो उसका अर्थ यह होता है कि सोते समय कोई कष्ट नहीं हुआ। मनुष्य ऐसा भी कहते है कि मै ऐसी गहरी नीद मे सोया कि मुझे अपने आपका भी होश नही था। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा सुषुप्तावस्था मे न अपने आपको प्रकाशित करती है न यह आनन्द की स्थिति होती है। आत्मा परमाणुवत् नही है क्योकि हम एक साथ शरीर के भिन्न-भिन्न अशो मे सवेदनाओं का अनुभव करते हैं। यदि यह परमाणु के समान होती तो एक समय में एक ही स्थान पर हम सवेदना की अनुभूति करते। जैन मत के अनुसार आत्मा शरीर के अनुसार आकार वाली होती है और शरीर के आकार के अनुरूप बढती-घटती है। परन्तु यह भी सत्य नहीं है। सत्य यह है कि आत्मा व्यापक

तत्त्व है, जैसा कि वेदों में वर्णित है। यह आत्मा भिन्न जीवों में भिन्न भिन्न होनी चाहिए अन्यथा सभी लोगों का दृष्टिकोण और अनुभूति एक ही प्रकार की होती।[1]

कुमारिल आत्मा को ज्ञान शक्ति[2] के रूप मे देखते है। मन और इन्द्रियो की क्रिया से सज्ञान होता है। आत्मा का भी सज्ञान मन के द्वारा होता है। मोक्ष के बाद मन व इन्द्रियो की क्रिया समाप्त हो जाने के पश्चात् आत्मा शुद्ध ज्ञान-शक्ति के रूप मे अव्यक्त अवस्था मे रहती है। इस समय मे यह सुख दुःख, आनन्दादि सबसे परे होती। वेदान्त दर्शन ने मोक्ष के पश्चात् आत्मा की स्थिति को आनन्दमय माना है परन्तु यह सत्य नही है क्योकि आनन्दादि मन-इन्द्रिय की क्रिया से उत्पन्न होते है। मोक्ष के पश्चात् आत्मा विशुद्ध ज्ञान-शक्ति के रूप म अवस्थित होती है। मोक्ष के सबध मे श्री प्रभाकर का भी यही मत है।

अच्छे बुरे कर्मों के कर्म फल का पूर्ण उपभोग कर मनुष्य जब 'काम्य कर्मों' का परित्याग कर देता है, जब निष्काम रूप मे सध्यादि नित्यकर्म करता हुआ सारे फलदायक कर्मों से उपरत हो जाता है तब वह मोक्ष प्राप्त करता है। नित्य कर्म वे है जिनके न करने से पाप का भागी होना पडता है, परन्तु जिनके निष्काम रूप म करने से किसी फल की प्राप्ति नही होती। इस प्रकार मनुष्य जन्म मरण रूप शरीर के बन्धन को छोडकर मोक्ष गति प्राप्त करता है।

मीमासा इस ससार के रचयिता या प्रलयकर्त्ता के रूप मे परमात्मा की स्थिति को स्वीकार नही करता। यह ससार अनादि और अनन्त है। यह शाश्वत है, इसी प्रकार चल रहा है। प्राणियो की उत्पत्ति मे परमात्मा की कोई आवश्यकता नही है क्योकि जीवमात्र की उत्पत्ति, जनन-क्रिया के नियमो के अनुसार माता-पिता के द्वारा होती है। परमात्मा कोई बढई या लुहार नही है जो बैठकर इस ससार को गढता रहता है। न्याय के अनुसार धर्म-अधर्म के लिए किसी व्यवस्थापक की आवश्यकता है पर मीमासा का मत है कि धर्म और अधर्म का सम्बन्ध मनुष्य मे है न कि परमात्मा से। परमात्मा से धर्म-अधर्म का किसी प्रकार का भी 'समवाय' या सयोग नही है। सृष्टि की उत्पत्ति

---

[1] 'श्लोक वार्तिक' म आत्मवाद और शास्त्रदीपिका मे आत्मवाद और मोक्षवाद देखिए।

[2] मीमासा-दर्शन न्याय के समान सारी क्रियाओ को अणु स्पदन के रूप मे (परिस्पन्द) स्वीकार नहीं करता। मीमासा शक्ति को एक भिन्न रूप म मानते हुए सिद्ध करता है कि इस ऊर्जा के द्वारा ही सारी गति-क्रिया सम्पन्न होती [illegible]त्मा स्वय शक्ति है। स्वय गतिहीन रहते हुए शरीर को गति प्रदान करती है। जब कभी किसी प्रकार की क्रिया दिखाई देती है तो स्पष्ट है कि किसी प्रकार की ऊर्जा का वस्तु के साथ सम्बन्ध हुआ है। परन्तु न्याय किसी भी अतीन्द्रिय शक्ति या ऊर्जा के सिद्धान्त को नही मानता। न्याय के अनुसार सारी क्रिया का आधार परमाणविक परिस्पन्द है।

श्रौर प्रलय के लिए परमात्मा की दया या क्रूरता का कोई कारण प्रतीत नही होता क्योकि इसी तर्क से यदि सृष्टि के श्रादि में परमात्मा ने प्राणियो को दया कर उत्पन्न किया तो जैन प्राणियो का श्रस्तित्व ही नही है इन पर दया किस प्रकार की, यह समझ में नहीं श्राता। फिर यदि परमात्मा स्वय सृष्टिकर्त्ता है तो उसका भी कोई बास्तव में कर्त्ता होना चाहिए। सत्य यह है कि यह सृष्टि श्रनादि श्रनन्त है। न प्रलय होता है श्रौर न सृष्टि। ससार इसी प्रकार श्रनन्त काल से चला श्रा रहा है। वास्तव मे न कोई सृष्टा है न सृष्टि, न सृष्टि-रचना होती है श्रौर न प्रलय।

मीमांसा-दर्शन श्रौर कर्म-कांड

मीमासा-दर्शन मुख्यतया वैशेषिक दर्शन के भौतिक सिद्धान्तो को मान्य समझता है। साख्य श्रौर वैशेषिक ही ऐसे हिन्दू-दर्शन है जिन्होने श्रपने दर्शन मे भौतिक सिद्धान्तो को मान्यता देते हुए उनकी विशद् व्याख्या की है। श्रन्य दर्शनो ने उनको साधारणतया यथावत् स्वीकार कर लिया है। कुमारिल श्रौर प्रभाकर ने भी प्राय. उन्ही सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है। न्याय-वैशेषिक के दृष्टिकोण को इस प्रकार प्रभाकर श्रौर कुमारिल दोनों ने ही मान लिया है जो कर्मकाड श्रादि के लिए बुद्धि-सगत भी प्रतीत होता है।

मीमासा श्रौर न्याय मे मुख्य सैद्धान्तिक श्रन्तर ज्ञान-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे है। मीमासा का मत है कि वेद स्वतः प्रमाण है, इनके लिए किसी श्रन्य प्रमाण की श्रावश्यकता नही है। वेदो की प्रामाणिकता के लिए परमात्मा का श्राश्रय लेने की श्रावश्यकता नही है। सारा ही ज्ञान स्वत. प्रमाणित श्रौर सत्य है, श्रत: वैदिक श्रादेश श्रौर व्यवस्था भी स्वत: सिद्ध, सत्य श्रौर प्रामाणिक हैं। धर्म का प्रत्यक्ष किसी श्रन्य प्रमाण के द्वारा नही हो सकता। धर्म कोई ऐसी स्थूल वस्तु नही है जिसका प्रत्यक्ष इन्द्रियो द्वारा किया जा सके। वेदविहित ढग से उसकी श्राज्ञाश्रो के श्रनुसार कर्मकाड श्रादि करने से धर्म की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार धर्म श्रौर श्रधर्म के ज्ञान के लिए शब्द-प्रमाण ही मुख्य श्राधार है। इसके श्रतिरिक्त उचित संज्ञान के लिए श्रन्य प्रमाणों की भी श्रावश्यकता है जिससे वेद-मंत्रो के श्रर्थ में जहाँ सन्देह है उनको ठीक रूप से समझा जा सके। सृष्टि श्रौर प्रलय के सिद्धान्त को भी मीमासा-दर्शन ने इस भय से स्वीकार नही किया है कि इससे वेदों के शाश्वत श्रनादि होने के सिद्धान्त का खडन होता है। यहाँ तक कि परमात्मा के श्रस्तित्व को भी इसी हेतु स्वीकार नही किया गया है।

वेदों की व्याख्या करते हुए मीमासा-दर्शन ने वेदों को 'मन्त्रो' श्रौर 'ब्राह्मणों' का संकलन कहा है। 'ब्राह्मण' को 'विधि' (वैदिक श्रादेश) भी कहा है।

इन विधियों (आदेशों) के तीन प्रकार हैं—(१) अपूर्व विधि, (२) नियम विधि, (३) परिसांख्य विधि। अपूर्व विधि वह आदेश या विधि है जिसका हमें कोई पूर्व-ज्ञान नहीं है और जिसे हम आदेश के कारण ही जान पाते हैं। उदाहरण के लिए, जब यह विधि बतलाई जाए कि अक्षतो को धोकर प्रयोग में लाना चाहिए तो हमको इस आज्ञा से ही यह बोध होता है कि यह विधि आवश्यक है। 'नियम' विधि अनेक विकल्पो मे एक निश्चित विधान स्थापित करती है। उदाहरण के लिए, धान का छिलका कई विधियों से उतारा जा सकता है, यहाँ तक कि नाखून से भी छीला जा सकता है, परन्तु नियम-विधि एक निश्चित ढग बताती है कि धान को कूट कर साफ करो। नियम-विधि मे जो आदेश दिया गया है उसको हम पहले से जानते हैं पर हम उसे कई विकल्पों मे से एक के रूप मे जानते है, अतः नियम-विधि इनमे से एक चुनने का निश्चित आदेश देती है। 'अपूर्व विधि' उस विधि का आदेश देती है जिसका हमको कोई पता ही नही था और यदि यह आदेश नही मिलता तो वह विधि सम्पन्न ही नही होती। परिसख्या-विधि वह विधि है जो अनेक क्रियाओ मे की जा सकती है, जिसकी हमको जानकारी है, पर जो निश्चित प्रसग मे ही करना उचित है। उदाहरण के लिए 'मैं रास को ग्रहण करता हूँ' (इमाम् अगृम्नाम् रशनाम्) ऐसे अर्थ वाले मंत्र मे किसी भी जानवर की रास को ग्रहण करने या पकडने का उल्लेख होता है, पर परिसख्या विधि के अनुसार गधे की रास पकडना निषिद्ध है, या गधे की रास को पकडते हुए इस मत्र का पढना वर्जित है।

वैदिक मन्त्र-वाक्यो की व्याख्या करने के तीन मुख्य सिद्धान्त हैं—(१) जब वैदिक मत्रो के शब्द ऐसे हो कि उनको एकसाथ पढकर ही पूर्ण अर्थ की प्राप्ति होती है तो उनको एकसाथ पढना और अर्थ करना उचित होता है। यदि अलग-अलग अर्थवाक्यो का अर्थ स्पष्ट हो जाता हो तो उनको मिलाना या एक दूसरे के अर्थ के लिए सयुक्त करना उचित नही है, यह दूसरा सिद्धान्त है। (२) उन वाक्यो को जो स्वय मे पूर्ण नही है, या आधे वाक्य है, उनके लिए उसके पूर्व वाले वाक्यों से प्रसगानुसार पूरक शब्दो को व्यवहार मे लाकर अर्थ करना चाहिए।

धर्म का आधार विधि-विहित वेद-व्याख्या है। वेदो के सारे मन्त्रो को विधि-सहिता के रूप मे हृदयगम करना चाहिए। वेदो के सारे मत्र करणीय विधि के रूप मे मानने चाहिए और इस आदेशात्मक दृष्टि से ही उनकी व्याख्या करनी चाहिए। जिन मत्रो के द्वारा देवी देवताओं की प्रशंसा और माहात्म्य कहा गया है वे इन देवताओं की स्तुति और अर्चना की विधि है। इस प्रकार जो भी मत्र विधि की प्रशसा या अन्य वर्णन के रूप (अर्थवादस) मे मिलते है उनको भी विधि वाक्य के रूप मे स्वीकार करना चाहिए अन्यथा उनको अवैदिक समझकर उनका परित्याग कर देना चाहिए। वेदों का महत्व इसी में है कि उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करते हुए धर्म को प्राप्त करें।

वैदिक विधि-विधान के अनुसार किए हुए यज्ञ के कारण एक अद्भुत-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह शक्ति कर्म में अथवा कर्त्ता मे सन्निहित होती है। इस शक्ति को ही 'अपूर्व' (जो पहले नही थी) कहते है। यह यज्ञकर्त्ता को अभीष्ट फल देती है। इससे पुण्यो का सचय होता है और पुण्य-धर्म से स्वर्ग प्राप्त होता है। यह 'अपूर्व' तब तक यज्ञकर्त्ता मे निवास करता है जब तक उसका अभीप्सित फल उसे प्राप्त नहीं हो जाता।[1]

कुमारिल और शबर के ग्रन्थो में यज्ञादि अनुष्ठानो और उनकी विधि के सम्बन्ध मे विशद् व्याख्या मिलती है, जिसका वर्णन करना दर्शन की दृष्टि से विशेष सार्थक नही होगा।

---

[1] डाक्टर गगानाथ झा रचित 'प्रभाकर मीमांसा' और श्री माधव-रचित न्याय-माला-विस्तार देखिए।

अध्याय १०

शंकर का वेदान्त दर्शन

तर्क की अपेक्षा दार्शनिक तर्क-बोध का महत्व

संस्कृत मे 'प्रमाण' का अर्थ वह साधन है जिसके द्वारा किसी विषय का ज्ञान प्राप्त होता है। 'प्रमाता' वह व्यक्ति है जो ज्ञान प्राप्त करता है। प्रमाण से जो प्राप्त होता है वह सत्य ज्ञान 'प्रमा' कहलाता है। यथार्थ ज्ञान के विषय को 'प्रमेय' कहते है। 'प्रामाण्य' प्राप्त ज्ञान की वैधता स्थापित करता है। प्राप्त ज्ञान यदि तथ्यो के आधार पर सत्य प्रतीत होता है तो वह ज्ञान वैध है। यथार्थता का दूसरा अर्थ है प्रमाता के मस्तिष्क मे ज्ञान की यथार्थता का ज्ञान। ज्ञान की यथार्थता से कभी यह तात्पर्य भी लिया जाता है कि ज्ञान की विषय (प्रमेय) के साथ तदानुकूलता हो अथवा कभी-कभी यह अर्थ भी लिया जाता है कि—"मेरे विचार सत्य है।" यह अन्तर्विचार है। प्रमाता प्राप्त ज्ञान को यदि सत्य मानता है तो उसी के अनुसार सुख-दुःख के लिए या दुःख के निवारण के लिए कर्म करता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति जब कोई कर्म करता है तो वह अपने प्रत्यक्ष को वैध मानकर ही उस कर्म की ओर प्रेरित होता है। इसमे एक ओर मनोवैज्ञानिक अनुभव के विश्लेषण पर आश्रित (आधारित) एक ज्ञान-सिद्धान्त आता है, दूसरी ओर ज्ञान-सिद्धान्त के अनुरूप एक दार्शनिक स्थिति इंगित होती है। ज्ञान का प्रामाण्य किसमे रहता है—यह प्रश्न प्रमाण-शास्त्र व मनोविज्ञानशास्त्र की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नही है, अपितु इसकी दार्शनिक महत्ता भी है। ज्ञान के प्रामाण्य मे मनोवैज्ञानिक और (तत्वपरक) तात्विक मीमासा दोनो ही महत्वपूर्ण है। दार्शनिक सम्प्रदायो ने अपने-अपने ढग से ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, प्रमाण आदि विषयो की विस्तृत व्याख्या की है। इस व्याख्या और विश्लेषण मे अनेक प्रकार के तर्क प्रस्तुत किए गए है, यहां तक कि तर्कशास्त्र स्वय मे यह एक विषय बन गया है, परन्तु वे तर्क, विषय-वस्तु के ज्ञान के लिए साधन मात्र है। वास्तव मे विशेष महत्व उन दार्शनिक तत्व-बिन्दुओ का है जिनको सिद्ध करने के लिए जटिल तर्कशास्त्र का आश्रय लिया गया है।

प्रस्तुत प्रसग में भी वेदान्त-दर्शन के दृष्टिकोण और उनके 'प्रमाणवाद' का सक्षिप्त रूप से मनन करना अधिक उचित होगा। प्रमाणवाद का अर्थ ज्ञान-प्राप्ति के सिद्धान्त है जिन्हे विभिन्न दर्शनो ने अपने-अपने मतानुसार प्रस्तुत किया है।

तत्कालीन दार्शनिक स्थिति की समीक्षा

जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि मे आचार्य शंकर द्वारा निरूपित वेदान्त दर्शन का उदय हुआ उसे ठीक रूप से समझना आवश्यक है। इस पृष्ठभूमि की समीक्षा से विभिन्न दृष्टिकोणो के सदर्भ मे वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तो का मनन करने में बडी सहायता मिलेगी।

तत्कालीन मुख्य दर्शनो मे बौद्ध दर्शन का विशेष स्थान है। इसकी भी कई शाखाएँ अपने-अपने ढग से धर्म और मोक्ष की व्याख्याएँ प्रस्तुत करती हैं। सौत्रान्तिक बौद्धो का कथन है कि मनुष्य 'पुरुषार्थ' के द्वारा अपनी इच्छाओ और कामनाओ को पूरा करना चाहता है। 'सम्यग्ज्ञान' (सत्यज्ञान) के अभाव में यह पुरुषार्थ सम्भव नही है। यह पुरुषार्थ सम्यग्ज्ञान, जो व्यक्तियो के समक्ष वस्तुओ को यथार्थ रूप मे प्रस्तुत करता है, के बिना सम्भव नही है। ज्ञान तभी सत्य कहा जा सकता है जबकि हमे वस्तुओं की ठीक उसी रूप मे प्राप्ति हो जिस रूप मे हमने उनको देखा है। हमारे प्रत्यक्ष से हमको पदार्थों का बोध होता है। जहाँ तक प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का सम्बन्ध है वहाँ किसी प्रकार की आलोचना का प्रश्न ही नही उठता, परन्तु हम सब यह जानना चाहते हैं कि हमारा प्रत्यक्ष कहाँ तक सत्य है। हम कर्म करते है। यदि प्रत्यक्ष मिथ्या है या भ्रान्ति-पूर्ण है तो निश्चित है कि हमे तदनुसार कर्म करने से इच्छित फल की प्राप्ति नही होगी, अत 'अर्थ प्रापकत्व' की कसौटी ही ज्ञान की वैधता को प्रमाणित कर सकती है। हमारा प्रत्यक्ष उसी दशा में 'अभ्रान्त' (सत्य) कहा जा सकता है जब प्रत्यक्ष के द्वारा अर्थ-प्राप्ति हो, जब हमारे सज्ञान और बाह्य-जगत् की वस्तुओ के तथ्यो मे 'सवादकत्व' हो। तथ्यो और प्रत्यक्ष मे साम्य होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, जो प्रत्यक्ष वस्तुपरक है, जो केवल कल्पना पर आधारित नहीं है वही वैध सत्य (यथार्थ) कहा जा सकता है। जब यह कहा जाता है कि 'यही वह गाय है जिसको मैंने पहले देखा था' तब मैं एक ऐसी वस्तु देखता हूं जिसके भूरा वर्ण, चार पाँव, पूँछ, सीग आदि है, किन्तु 'यह गाय कहलाती है' अथवा 'यह इतने वर्षों से जीवित है' यह तथ्य चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष नही होता क्योकि यह ज्ञान चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय से उत्पन्न नही होता है। हमारी दृष्टि की यह सामर्थ्य नहीं है कि हम उसके द्वारा गाय के पूर्व अस्तित्व का प्रत्यक्ष कर सके। संसार मे सारी वस्तुएँ क्षणिक है। जिस वस्तु को मैं इस समय, इस क्षण में देख रहा हूं वह पहले नही थी, अतः यह नाम और स्थायित्व की भावना काल्पनिक है। यह ज्ञान 'कल्पना' (अभिलाप) का विषय है, अत. हमारा प्रत्यक्ष गाय के सम्बन्ध में उतने अंश तक सत्य है जहाँ तक 'अभिलाप' का समावेश नही होता। हमे चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, वह सत्य है परन्तु जहाँ 'कल्पनापोढ़' प्रसंग उत्पन्न होता है वहाँ स्पष्ट ही भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। साधारणतया हम अभिलाप या कल्पना को भी प्रत्यक्ष

अनुभव के रूप मे स्वीकार कर लेते हैं। वास्तव में हमारा प्रत्यक्ष 'निर्विकल्प' स्थिति तक सीमित है। 'निर्विकल्प प्रत्यक्ष' वह अवस्था है जब हम नाम आदि का निर्धारण नही कर पाते हैं। इसी प्रकार इस प्रत्यक्ष के द्वारा ही 'मनोविज्ञान' (सुख, दुख का मानसिक बोध) का विनिश्चयन होता है। किसी विशेष क्षण मे हम एक वस्तु को प्रत्यक्ष के द्वारा 'ग्राह्य' रूप मे देखते है और फिर दूसरे क्षण में हम उसे बाह्य-जगत् में साधनो के द्वारा प्राप्य करने योग्य समझकर तदनुसार कार्य करते है। वास्तव में प्रत्यक्ष का विषय (प्रत्यक्षविषय)[1] वस्तु का अपने सहज रूप मे (स्वलक्षण) दिखाई

---

[1] धर्मकीर्ति के 'स्वलक्षण' शब्द के अर्थ के बारे मे मेरे आदरणीय मित्र प्रो. श्चेरबात्स्की और मेरे बीच कुछ मतभेद है। प्रो साहब मानते हैं कि धर्मकीर्ति का यह मत है कि प्रत्यक्ष के क्षण मे वस्तु का लक्षण लगभग शून्य रहता है। उन्होने मुझे लिखा है—"आपके निर्वचन अनुसार स्वलक्षण मे अभिप्राय है वह विषय (अथवा विज्ञान-वादियो के शब्दो मे प्रत्यय) जिसमे समस्त भूत और समस्त भविष्य निरस्त कर दिया गया है। मैं इसका विरोध नही करता पर मेरा यह कहना है कि यदि समस्त भूत और समस्त भविष्य हटा दिया जाता है तो क्या बचेगा ? वर्तमान ही तो, और वर्तमान एक क्षण है अर्थात् कुछ नही..... क्षण के विपरीत होता है क्षणसन्तान अथवा केवल सन्तान और प्रत्येक सन्तान मे भूत और भविष्य क्षणो का एकीभाव या समन्वय होता है जो बुद्धि द्वारा निर्मित है (बुद्धि-निश्चय-कल्पना अध्यवसाय) घट के प्रत्यक्ष मे कुछ ऐसा तत्व होता है (ऐन्द्रिय ज्ञान का एक क्षण) जिसे हमे घट के प्रत्यय से विभिन्न ही समझना चाहिए (क्योकि वह हमेशा एक सन्तान के रूप मे होता है और सदा विकल्पित ही होता है), और यदि हम पूर्णत· निरूपाधिक रूप मे उस प्रत्यय को हटा देते है तो कोई ज्ञान नही बचता, क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितु मशक्यत्वात। यही 'अवबोध के सश्लेषण' वाला (सिंथेसिस ऑव एप्रीहेन्शन) कान्ट का सिद्धात है। इसलिए प्रत्यक्ष, ज्ञान का अनुभवातीत स्रोत है—क्योकि इस दृष्टि से देखा जाय तो यह वस्तुत कोई ज्ञान नही देता। यह प्रमाण असत्कल्प है। कान्ट का कहना है कि अन्त.प्रज्ञा (ऐन्द्रिय-ज्ञान-प्रत्यक्ष-कल्पनापोढ) के तत्वो के बिना हमारे सज्ञान खोजने होगे और बुद्धि (कल्पना-बुद्धि-समन्वय या सश्लेषण-एकीभाव) के बिना वे अधे होगे। आनुभाविक रूप मे दोनो हमेशा सयुक्त होते है। ठीक यही धर्मकीर्ति का सिद्धात है। जहाँ तक मैं उसे समझा हू वह विज्ञानवादी है क्योकि वह मानता है कि केवल विज्ञान ही सज्ञेय है परन्तु यथार्थ हमारे ज्ञान का एक असज्ञेय आधार है। वह मानता है कि यह बाह्य है, यह अर्थ है, यह अर्थक्रियाक्षण है अर्थात् स्वलक्षण है। यही कारण है कि उसे कभी-कभी सौत्रांतिक भी कह दिया जाता है और उसके सिद्धात को कभी-कभी सौत्रांति विज्ञानवाद कहा जाता है जो अश्वघोष और आर्य सग के विज्ञानवाद से विपरीत है

देता है। उस वस्तु को प्राप्त करने की कल्पना और प्राप्ति के साधन, प्रत्यक्ष का फल (प्रत्यक्षफल) हैं। 'प्रत्यक्षफल' में हम उस विषय के स्वरूप और उसको प्राप्त करने

जिसमे सज्ञान की कोई स्पष्ट परिभाषा नही है। यदि घट, जैसा वह हमारी प्रतीति मे स्थित है—स्वलक्षण और परमार्थसत् है तो विज्ञानवाद का क्या बनेगा? किन्तु उसके हिसाब से घट का प्रत्यक्ष, घट के शुद्ध प्रत्यय (जिसे वे शुद्ध कल्पना कहते है) से विभिन्न है, वह यथार्थ है, ऐन्द्रिय क्षण है, जो हमें ऐन्द्रिय ज्ञान द्वारा दिया जाता है। कान्ट के शब्दो मे अपने आप मे एक चीज (थिंग इन इटसेल्फ) भी एक क्षण ही है और शुद्ध इन्द्रिय का ऐन्द्रिय ज्ञान है जो शुद्ध तर्कबुद्धि से विभिन्न है। धर्मकीर्ति भी शुद्ध कल्पना और शुद्ध प्रत्यक्षम् को अलग-अलग मानते है। सबसे ज्यादा दिलचस्पी की चीज प्रत्यक्ष और अनुमान मे बताया गया भेद है, प्रत्यक्ष क्षण से सतान की ओर ले जाता है और अनुमान सन्तान के क्षण की ओर लाता है; यही कारण है कि भ्रात होने पर भी अनुमान प्रमाण है क्योकि इसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष रूप से भी [क्षणतक अर्थक्रियाक्षणतक] पहुँच जाते है। यह प्रत्यक्ष रूप से भ्रात है और अप्रत्यक्ष रूप से प्रमाण, जबकि प्रत्यक्ष प्रत्यक्षतः प्रमाण है और अप्रत्यक्ष रूप से भ्रान्त है (असत्कल्प)।"

जहाँ तक प्रो. श्चेरबात्स्की द्वारा सन्दर्भित उद्धरणों का प्रश्न है मेरा उनसे कोई मतभेद नही है पर मेरी यह धारणा है कि वे इस सारे निर्वचन को कान्ट के सिद्धातो के जरूरत से ज्यादा निकट ले जाने के चक्कर मे पड गए है। जब मैं यह प्रत्यक्ष करता हू कि 'यह नील है, तो इस प्रत्यक्ष के दो भाग होते हैं, ऐन्द्रिय ज्ञान का वास्तविक लक्षणात्मक तत्व और निश्चय। यहाँ तक मुझ मे और श्चेरबात्स्की मे ऐकमत्य है, लेकिन प्रो श्चेरबात्स्की कहते है कि यह ऐन्द्रिक ज्ञान केवल एक क्षण है और शून्य है। मैं भी यह तो मानता हू कि यह क्षण है लेकिन यह मानता हू कि वह शून्य केवल इस मायने मे है कि वह उतना निश्चयात्मक नही है जितना 'यह नील है' इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान। दूसरे क्षणो मे होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान पहले क्षण के प्रत्यक्ष के बल पर उत्पन्न है (प्रत्यक्ष बलोत्पन्न न्या. टी. पृ० २०) परन्तु यह प्रत्यक्ष बल बाद के क्षणो के निश्चयात्मक ज्ञान के फल से नितात रहित होकर निर्लक्षण नही हो जाता यद्यपि हम इसका लक्षण बता नही सकते, ज्योही हम उसकी अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करते है, निश्चयात्मक ज्ञान के साथ सम्बद्ध सज्ञाएं और दूसरे प्रत्यय उसके साथ जुड जाते हैं जो प्रत्यक्ष के क्षण के भाग नही है। इस प्रकार इसकी अपनी प्रकृति अलग ही है, अनूठी है अर्थात् स्वलक्षण। किन्तु यह अनूठी प्रकृति क्या है? इस पर धर्मकीर्ति का यह उत्तर है कि अनूठी प्रकृति से उसका तात्पर्य है विषय के वे विशिष्ट लक्षण जो उस विषय के निकट होने पर स्पष्ट दिखाई दे जाते हैं और दूर होने पर धुंधले हो जाते हैं

के साधनों की जानकारी करते है–'येन कृतेन अर्थः प्रापितो भवति'। इस प्रकार 'प्रमाण' प्राप्त ज्ञान का तथ्यों से ऐसा साम्य है जिसके आधार पर हम अपने प्रत्यक्ष को सत्य मानते हुए अर्थ की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। पर यह दूसरी अवस्था जिसमे हम फल के साधन हेतु विचार और कर्म करते है, 'प्रमाण फल' है। यह प्रमाण नही है। यह अन्तिम अवस्था प्रमाण-फल है न कि प्रमाण जो कि वस्तु के निर्विकल्प प्रत्यक्ष से सम्बन्धित है और जो दृष्टा की दृष्ट वस्तु के प्रति प्रवृत्ति को विनिश्चित करता है। प्रमाण का अर्थ केवल वस्तु का ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष है जिसमे हम केवल विषय को कल्पनाविहीन दृष्टि से देखते हैं और जिसके द्वारा देखने वाला (प्रत्यक्षकर्त्ता) उस विषय के सम्बन्ध मे अपना मत निर्धारण करता है। इस प्रकार प्रमाण केवल नवीन ज्ञान (अनधिगताधिगन्तृ) मात्र है, परन्तु उपर्युक्त व्याख्या से यह प्रमाणशास्त्रीय प्रश्न स्पष्ट नहीं

(यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्याम् प्रतिभासभेद स्तत् स्वलक्षणम् न्या० पृ० १ तथा न्या० टी० पृ० १६) इस प्रकार ऐन्द्रिय ज्ञान हमको विषय के विशिष्ट लक्षण का बोध, कराता है और इसका वही रूप होता है जो उस विषय का, यह 'नील' को अपने विशिष्ट रूप मे मस्तिष्क मे प्रतीति ही है और जब यह प्रतीति निश्चयात्मक और प्रत्ययात्मक प्रक्रिया से युक्त हो जाती है तो उसका फल होता है 'यह नील है' इस प्रकार का ज्ञान। नीलसरूपम् प्रत्यक्षमनुभूयमान् नीलबोधरूप मवस्थाप्यते... नीलसारूप्यमस्य प्रमाणम् नीलविकल्पनरूप त्वस्य प्रमाणफल, न्या० टी० पृ० २२)। पदलेक्षण मे नील का प्रतिभास होता है (नीलनिर्भास हि विज्ञानम् न्या० टी० पृ० १६) और यह साक्षात् ज्ञान होता है (यत् किंचित् अर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञान तत् प्रत्यक्ष मुच्यते, न्या० टी० पृ० ७) और यह ज्ञान यथार्थ (परमार्थसत्) और वैध होता है। यह नील की प्रतीति 'यह नील है,' इस प्रकार के बोध से विभिन्न होती है (नील बोध न्या० टी० पृ० २२) जो प्रतीति का परिणाम होता है (प्रमाणफल) जो कि निश्चयात्मक प्रक्रिया (अध्यवसाय) से जुड़ने के कारण निकलता है और अशुद्ध माना जाता है क्योंकि उसमे उस तत्व के अलावा भी कुछ तत्व होते है जो प्रत्यक्ष के समय इन्द्रिय के सन्निकृष्ट होता है, इसलिए उसे विकल्प प्रत्यय कहा जाता है। इस प्रकार मेरे मत मे स्वलक्षण का अभिप्राय हुआ–प्रत्यक्ष के क्षण मे विषय अपने विशिष्ट लक्षण की प्रतीति और धर्मकीर्ति के अनुसार यही वह ज्ञान है जो प्रत्यक्ष मे शुद्ध होता है और उसके बाद जो प्रत्यय बनता है वह विकल्प प्रत्यय अथवा प्रमाण-फल होता है। लेकिन यद्यपि यह फल विषय का ही परिणाम होता है फिर भी चूंकि वह अगले क्षणों से जन्मा होता है इसलिए पहले क्षण मे जो प्रतिभास होता है उसकी शुद्ध स्थिति को वह नहीं पहुँचाता (क्षणस्य प्रापयितु मशक्यत्वात्–न्या० टी० पृ० १६)।

–न्या० टी० –न्यायबिन्दु टीका, न्या–न्यायाबिन्दु (पीटरसन संस्करण)।

होता कि बाह्य जगत् से ज्ञान क्योंकर उत्पन्न होता है अथवा यह ज्ञान क्या है। पार्थिव जगत् का ज्ञान की उत्पत्ति में क्या स्थान है? ये सारे प्रश्न अस्पष्ट ही रह जाते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के उपर्युक्त विवेचन से केवल यही स्पष्ट होता है कि हमारा ज्ञान तथ्यों के आधार पर सत्य है अथवा नहीं और इस ज्ञान का फल-प्राप्ति के लिए कितना महत्व है। ज्ञान बाह्य-जगत् से कितना सम्बद्ध है और बाह्य-जगत् का ज्ञान की उत्पत्ति और विनिश्चयन में क्या स्थान है, इसकी कोई मीमांसा नहीं की गई है।

योगाचार शाखा भी सौत्रान्तिक बौद्धों के समान ही अपने ज्ञान-सिद्धान्त में बाह्य जगत् को कोई महत्व नहीं देती है। इस शाखा का मत है कि हमारा सम्पर्क केवल ज्ञान से ही होता है। बाह्य-जगत् के सम्पर्क में हम ज्ञान के द्वारा ही आते हैं। हमारा बाह्य-जगत् से कोई सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। हम यह कहते हैं कि बाह्य-जगत् के प्रतिबिंब को हम अपने ज्ञान में पाते हैं। वेदना अनुभूति का आधार बाह्य-जगत् है, परन्तु यदि यह कह दिया जाए कि हमारे लिए केवल यह वेदना ही सत्य है तो क्या हानि है। हम किसी वस्तु के सम्पर्क में इस वेदनानुभूति के अभाव में नहीं आ सकते। ज्ञान के उदय के साथ ही बाह्य-जगत् की वस्तुओं का उदय होता है, अत ज्ञान और वस्तु एक ही होनी चाहिए। वस्तु ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकती (सहोपलम्भनियमात् अभेदो नीलतद्धियो.) ज्ञान का ही प्रतिबिंब बाह्य-जगत् है। हम स्वप्न में भी ज्ञान प्राप्त करते हैं और स्वप्न में किसी पार्थिव जगत् का अस्तित्व नहीं होता। इसी प्रकार हमारे ज्ञान से भिन्न कोई पार्थिव जगत् नहीं है। कुछ लोग यह शंका करते हैं कि यदि पार्थिव जगत् नहीं है तो ज्ञान के इतने भिन्न-भिन्न स्वरूप कैसे उत्पन्न होते हैं। हमारे ज्ञान की अनुभूतियों की भिन्नता से हमको पार्थिव जगत् को मानना ही पड़ता है, परन्तु इस मत के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि पार्थिव जगत् की विभिन्न वस्तुओं में हमारे ज्ञान को अनन्तरूपेण प्रभावित और सुनिश्चित करने की अपार शक्ति है। यदि ऐसा है तो यह कहना पड़ेगा कि अनन्तकाल से जिस ज्ञान का प्रवाह हो रहा है, उस ज्ञान के पूर्व स्थित क्षणों की क्षमता द्वारा भविष्य के ज्ञान-क्रम का निर्धारण हो रहा है। यह क्षमता ज्ञान में ही निहित है, अत पूर्व-ज्ञान की आन्तरिक विशिष्ट क्षमता उत्तरकालीन ज्ञान का आधार है। इस प्रकार केवल ज्ञान ही वास्तविक अस्तित्व है। यह पार्थिव जगत् मिथ्या है, यह ज्ञान का ही मायावी प्रतिबिंब है। अनादि 'वासना' के कारण ही हमें बाह्य पार्थिव जगत् का भ्रम होता है। पूर्वज्ञान से ही वर्तमान ज्ञान का विनिश्चयन होता है और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। सुख-दुःख आदि ऐसे गुण नहीं हैं जिनके लिए किसी स्थायी अस्तित्व की आवश्यकता हो। ये ज्ञान के ही भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। इनको भ्रान्ति से आत्मा के गुण के रूप में मान लिया जाता है।

जब इन शब्दों का उच्चारण किया जाता है कि 'मैं किसी नीली वस्तु को देखता हूं' तो भ्रान्ति से किसी शाश्वत अस्तित्व की कल्पना करली जाती है जो नीली वस्तु का

द्रष्टा है, परन्तु यह वास्तव में ज्ञान का ही एक स्वरूप है। सारे संज्ञान क्षणिक हैं, परन्तु जब इस प्रकार का बोध-ज्ञान-प्रवाह चलता रहता है तो पहले क्षणों में हुई बोध-अनुभूति की स्मृति और स्मृति के आधार पर, पूर्वदृष्ट वस्तु के पुनर्बोध से ऐसा प्रतीत होता है कि यह वस्तु पूर्ववत् है, स्थायी है, परन्तु वस्तु या ज्ञानक्षण (जो कुछ भी हो) का उत्पत्ति के उत्तरक्षण से नाश हो जाता है। वस्तु का अपना कोई अस्तित्व नहीं है, जो कुछ हमको बोध होता है वह केवल वस्तु का ज्ञान मात्र है। इस प्रकार वस्तु और ज्ञान को हम एक ही मान सकते हैं क्योंकि वस्तु के ज्ञान से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है। ज्ञान-क्षण के नष्ट होने के साथ ही वस्तु का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार ज्ञाता या बोधकर्ता का भी कोई शाश्वत या स्थायी अस्तित्व नहीं है। सज्ञानात्मक प्रवाह के क्रम के कारण कभी-कभी व्यक्ति विशेष के स्थायित्व की भ्रान्ति होती है, परन्तु प्रत्येक बोध-क्षण का भिन्न अस्तित्व है। वह एक क्षण के लिए उत्पन्न होता है, और फिर नष्ट हो जाता है। ससार की सभी वस्तुएँ इन ज्ञान-क्षणो मे ही निहित है, इनके साथ ही उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। वास्तव मे न कोई ज्ञाता है, न ज्ञेय, न ज्ञान। यह सब इन्ही ज्ञान-क्षणों मे समाहित है।

इस प्रकार के बौद्ध आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार वस्तु-परक दृष्टिकोण का कोई अस्तित्व ही नही रहता। न्याय, साख्य और मीमासा दर्शन आत्मा और प्रकृति के द्वैत को स्वीकार करते है और अपने दर्शन मे इनके पारस्परिक सबध का विश्लेषण करने का प्रयत्न करते है। हिन्दू दार्शनिकों की दृष्टि मे ज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता ही महत्वपूर्ण नही थी, प्रत्युत् ज्ञान का स्वरूप और जिस ढग से यह अस्तित्व मे आया, इन तथ्यो को भी महत्वपूर्ण माना गया।

न्याय के अनुसार प्रमाण वह है जिससे ज्ञान की सत्यता और निर्भ्रान्ति साधन का निर्णय होता है। सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन 'बोध' (वस्तुचेतना) और विशिष्ट कारण तत्त्व है (बोधाबोध स्वभाव)। इस प्रकार सज्ञानात्मक प्रक्रिया मे प्रत्यक्ष के प्रथम क्षण मे चक्षुरिन्द्रिय का वस्तुविशेष (घट) मे सम्पर्क होने पर एक अनिश्चित चेतना का (घटत्व) उदय होता है जिसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहते है। फिर अन्य कारण-तत्त्वो की निश्चित दृष्टि के आधार पर निश्चित ज्ञान हो जाता है कि यह घडा है। 'घटत्व' के 'विशेषण ज्ञान' से ही 'घट' की 'विशिष्ट बुद्धि' का उदय होता है। पहला क्षण निर्विकल्प अवस्था का और दूसरा सविकल्प ज्ञान का होता है।

अनुमान प्रमाण मे 'लिंग' के आधार पर और उपमान मे वस्तु-साम्य से ज्ञेय को जाना जाता है, परन्तु बौद्ध दर्शन मे ज्ञान ही को प्रमाण माना जाता है। सत्य, ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि ज्ञान ही ज्ञेय वस्तु का सत्य स्वरूप है। बाह्य वस्तु के रूप के अनुरूप ही ज्ञान के रूप का होना ही उसकी सत्यता का प्रमाण है, अर्थात् जिसे

बाह्य नीली वस्तु को हम देखते हैं वह ज्ञान के रूप में ही दिखाई देती है। उस वस्तु के नीलत्व (नीलिमा) का प्रमाण हमारा ज्ञान ही है। बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में, जिससे हमारे ज्ञान का विनिश्चयन होता है, वह प्रमाण है और जब हम अपनी दृष्टि और व्यवहार का निश्चय इस ज्ञान के आधार पर करते हैं तो वह 'प्रमाण फल' कहा जाता है। बौद्ध दर्शन मे ज्ञान का महत्व बाह्य जगत् को ठीक-ठीक समझने और तद्नुसार अपने व्यवहार को निश्चित करने (अध्यवसाय) की दृष्टि से है।

इसके विपरीत न्याय-दर्शन ने इस तथ्य का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है। न्याय के अनुसार ज्ञान अन्य गुणो के समान हमारी आत्मा का गुण है। यह आत्मा से भिन्न है पर कारण-सयोग से उत्पन्न होकर आत्मा के साथ सयुक्त होता है, जैसे ससार मे कारण-सयोग से वस्तुविशेष में विशेष गुणो का समावेश होना है। प्रमाण के द्वारा नए ज्ञान की उत्पत्ति नही होती (अनधिगताधिगन्तृ) जैसा कि बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है, परन्तु जब अनेक प्रमाणो के योग से हम नवीन अथवा पहले से पूर्वाधिगत (जाने हुए) ज्ञान को ग्रहण करते है। सरल शब्दों मे, जिस प्रकार ससार मे कारण-सयोग से अन्य वस्तुओ की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ज्ञान भी कारण-सामग्री के योग और गति से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, 'आत्मा' और 'मनस्' मनस् और इन्द्रियो, इन्द्रियो और वस्तुओं के सयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। न्याय की इस दृष्टि मे कई अस्पष्ट तत्व हैं। पार्थिव जगत् की घटनाओं और ज्ञान के अन्तर को समझाने का कोई प्रयत्न नही किया गया है। न्याय, वास्तव मे ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है, यह स्पष्ट नही कर सका है। इस ज्ञान का बाह्य जगत से क्या सम्बन्ध है यह भी स्पष्ट नहीं है। न्याय के अनुसार सुख, दु:ख, इच्छा आदि आत्मा के गुण हैं। आत्मा की व्याख्या करते हुए कहा है कि आत्मा वह तत्त्व है जो निर्गुण है। आत्मा का इस निर्गुण रूप मे जानना प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। इसका इसके गुणो के द्वारा ही अनुमान से जाना जा सकता है। गुणो का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, परन्तु जैसे ही किसी नवीन वस्तु का प्रादुर्भाव होता है, उसमे गुणों का समावेश हो जाता है। न्याय दर्शन मे अनुमान प्रमाण पर विशेष आग्रह है। न्याय का सारा आधार तार्किक रहा है। सम्भवतः तर्क और अनुमान की विशिष्ट दृष्टि से ही दार्शनिक विश्लषण करते हुए सारी मान्यताओ को स्थिर किया गया होगा। इस दृष्टि से आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अनुभूति का स्थान केवल इतना ही रह गया कि वह अनुमान से जाने तथ्यो का सत्यापन मात्र कर दे। तार्किक प्रत्यक्ष के सामने अनुभव का स्थान गौण हो गया, यह स्पष्ट है।[1]

उधर सांख्य ने ज्ञान और बाह्य घटनाओं के अन्तर को स्पष्ट रूप से स्वीकार

[1] 'न्याय मंजरी' में प्रमाण की व्याख्या देखिए।

किया है। बाह्य वस्तुओं का संस्कार एक विशेष सत्त्वपटल पर पड़ता है। इस सत्त्वपटल की विशेषता यह है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म पारभासक तत्त्व है जिस पर बाह्य जगत् की वस्तुओं की छाप अंकित हो जाती है। यह सूक्ष्म ज्ञान का ही अंग है। इस पारभासक सत्त्व में बाह्य जगत् की घटनाओं का निरन्तर बिम्ब पड़ता रहता है, अनेक रूप में परिवर्तित संस्कारित यह सूक्ष्म तत्त्व 'चित्' (पुरुष) द्वारा प्रकाशित होता है।

वह चेतन आत्म तत्त्व है जो पारभासक सत्त्व में प्रतिबिम्बित बाह्य घटनाओं को प्रकाशित कर उन्हें अर्थवान् करता है। शुद्ध चेतन 'पुरुष' से प्रकाशित बाह्य घटनाओं के बिंब, बुद्धि ग्रहण करती है। सरल शब्दों में अतीन्द्रिय चेतन 'पुरुष' की शक्ति से प्रकाशमान बाह्य वस्तुओं का स्वरूप, मानसपटल पर पड़ते हुए, बुद्धि के द्वारा ग्रहण किए हुए ज्ञान की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता (स्वतः प्रामाण्य एवं स्वतः अप्रामाण्य) बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा भविष्य में ग्रहण किए बुद्धि-रूपों पर निर्भर करती है। ज्ञान का बुद्धिरूप ही प्रमाण है। प्रमाण के द्वारा 'प्रमा' तक पहुँचा जा सकता है, परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि प्रमाण (ज्ञान का साधन और क्रिया) 'पुरुष' के द्वारा प्रकाशित हो। 'पुरुष' का बुद्धि के साथ सम्पर्क अतीन्द्रिय है। सांख्य दर्शन में अलौकिक पुरुष के प्रभाव से ही प्रकृति की सारी गति उत्पन्न होती है। जड़ बुद्धि को चेतना देने वाली शक्ति भी यह 'पुरुष' है। सांख्य ने बाह्य जगत् के अस्तित्व को स्वीकार किया, उससे मन पर पड़ते हुए बिंबों को सहज रूप में समझा, मानस-पटल को विशिष्ट सत्त्व के रूप में देखते हुए यह व्याख्या की कि बाह्य जगत् की सारी घटनाओं और आकारों की प्रतिकृति इस सूक्ष्म पारभासक पटल पर अंकित हो जाती है, परन्तु जड़, प्रतिबिंब यदि बाहर अर्थहीन है तो अन्दर भी अर्थहीन है, जब तक किसी चेतन के प्रकाश में यह अर्थवान न हो। यह चेतन प्रकाश तत्त्व ही वह अलौकिक अतीन्द्रिय 'पुरुष' है जो भौतिक जगत् की स्थिति से भिन्न है। इस प्रकार ज्ञान-चेतना की उत्पत्ति का आधार भौतिक और अतीन्द्रिय दोनों ही है।

मीमांसाकार श्री प्रभाकर न्याय के इस मत से सहमत है कि ज्ञान का उदय इन्द्रियों के पार्थिव भौतिक जगत् के सम्पर्क में आने से होता है। पर साथ ही उनकी यह मान्यता है कि ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय तीनों एक ही क्षण में प्रकट होते हैं। ज्ञान की यह क्षमता है कि वह अपने आपको प्रकट करने के साथ ही ज्ञाता और ज्ञेय को भी प्रकाशित करता है। क्योंकि वास्तव में ज्ञान ही वह वस्तु है जो संसार के सारे पदार्थों को प्रकट करती हैं, यही प्रमाण है जिसमे हम भौतिक पदार्थों को देखते और समझते हैं। इस दृष्टि से 'प्रमा' या 'प्रमिति' (ज्ञान) और 'प्रमाण' एक ही है, जिसके द्वारा हम घटना-क्रम को उचित संदर्भों में समझते है। कारण-सामग्री भी प्रमाण हो सकती है क्योंकि इसके द्वारा 'प्रमा' की प्राप्ति होती है। प्रमा अथवा सत्यज्ञान की कभी भी नवीन उत्पत्ति नहीं होती। सत्यविधा सदैव से विद्यमान है, परन्तु परिस्थिति के

अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देती है। ज्ञान का प्रामाण्य भौतिक वस्तुओं के प्रति निश्चित मंतव्य पर पहुँचना है, अर्थात् ज्ञान के उदय के साथ ही हम वस्तु विशेष के प्रति अपना मत निर्धारित कर लेते हैं और तदनुसार कार्य करते हैं। हम किसी अन्य प्रमाण की प्रतीक्षा नहीं करते। यही ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य है। निर्विकल्प ज्ञान वस्तु विशेष का सम्पूर्ण ज्ञान है। इसका अर्थ असंवेदनीय परिकल्पनात्मक अनिश्चित बोध नहीं है जैसाकि न्याय दर्शन ने माना है। सविकल्प ज्ञान तब होता है जब हम निर्विकल्प ज्ञान की अवस्था मे प्राप्त ज्ञान की पूर्व स्मृति का सम्बन्ध अन्य वस्तुओ से जोड़ते है तथा पुन: यह निश्चय करते हैं कि हमारा पूर्व ज्ञान सत्य है। यह निर्विकल्प और सविकल्प अवस्था प्रत्यक्ष का अंग हैं, और ज्ञान की प्रक्रिया मे लगभग एक साथ ही कार्य करती हैं, यद्यपि इस विनिश्चयन के क्रम मे निर्विकल्प अवस्था पहले और सविकल्प निर्विकल्प के पश्चात् कार्य करती है।[1]

साख्य दर्शन के इस मत के अनुसार चेतना के दो अंग है, पहला, अतीन्द्रिय शुद्ध चित् और दूसरा, पार्थिव बुद्धि। श्री प्रभाकर ने सांख्य के इस मत को अस्वीकार करते हुए कहा है कि बोध चेतना एक ऐसी विलक्षण वस्तु है जो ज्ञेय और ज्ञाता को विद्युत् की तरह एक ही कौंध मे प्रकट कर देती है। ज्ञान का प्रामाण्य बाह्य वस्तुओं को तदनुसार प्रदर्शित करने मे (प्रदर्शकत्व) न होकर 'अनुभूति' के आधार पर कार्य-प्रेरणा मे है। जब हम किसी प्राप्त ज्ञान के आधार पर निसंशय एवं निश्चित मन से किसी कार्य को करने के लिए प्रस्तुत हो जाते है तो यह निश्चित है कि उस ज्ञान को हम सत्य मानते हैं जो हमारी अनुभूति से हमको प्राप्त हुआ है। यही ज्ञान का प्रामाण्य है। ज्ञान स्वत: प्रकाशित स्वतंत्र सत्ता है जिसे किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, परन्तु इस सम्बन्ध में श्री प्रभाकर ने कोई विशेष विवेचन प्रस्तुत नहीं किया है कि ज्ञान अपने स्वत: प्रकाश्य स्वरूप से परे और क्या है ?

कुमारिल भट्ट ज्ञान को एक ऐसी मानसिक क्रिया के रूप मे देखते हैं जो भौतिक पदार्थों की चेतना या 'ज्ञातता' उत्पन्न करती है। ज्ञान को केवल इस मानसिक क्रिया के आधार पर ही अनुमान से जाना जा सकता है। ज्ञान को स्वय को प्रत्यक्ष रूप मे नही जाना जा सकता। ज्ञान वह गति या क्रिया है जिसमे बाह्य वस्तुओं को बोध-चेतना या 'ज्ञातता' होती है। यह गति या क्रिया जिससे ज्ञान का प्रवाह होता है केवल आणविक स्पन्दन नही है वरन् ऐसी अतीन्द्रिय क्रिया है जिसके फलस्वरूप

---

[1] साख्य का मत है कि निर्विकल्प ज्ञान की अस्पष्ट अवस्था है। जब हम प्रथम बार किसी वस्तु को देखते हैं तो उसके सम्बन्ध में एक साधारण, सामान्य भावना मन में स्थापित करते हैं, पर दूसरे ही क्षण जब यह भावना स्पष्ट हो उठती है तब यह सविकल्प ज्ञान की अवस्था हो जाती है।

परमाणविक स्पन्दन सम्भव है। ज्ञान कारण-संयोग से उत्पन्न फल न होकर स्वयं एक क्रिया है। ये नैयायिक मत की गत्यात्मकता को स्वीकार नही करते क्योंकि उनका मत है कि मन मे जब इच्छा इत्यादि का प्रादुर्भाव होता है तब ऐसे कारण उत्पन्न होते हैं जिनकी क्रिया से ज्ञान उत्पन्न होता है। पर कुमारिल इस कारण-संयोग के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति को स्वीकार नही करते हैं। उनके अनुसार ज्ञान फल न होकर स्वयं एक क्रिया है। ज्ञान के स्वत. प्रामाण्य के सम्बन्ध मे प्रभाकर और कुमारिल एक मत हैं। अनुभूति द्वारा जिस ज्ञान की उत्पत्ति के आधार पर पूर्वज्ञान के सत्यापन की बात अन्य दर्शनो द्वारा कही जाती है वह केवल उत्तरकालीन ज्ञान है और इससे पूर्व प्राप्त ज्ञान के प्रामाण्य का प्रश्न ही नही उठता।[1]

अनुभव के आधार पर जिस पुन प्राप्त ज्ञान के आधार पर पूर्व ज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध करना चाहते हैं उसमे और पहले प्राप्त ज्ञान मे कोई विशेष अन्तर नही दिखाई देता। यदि पुन· प्राप्त ज्ञान प्रामाणिक है तो पूर्व प्राप्त ज्ञान भी उतना ही प्रामाणिक है, अतः 'सम्वादी' या उसी विषय पर पुन. प्राप्त ज्ञान के प्रमाण के रूप मे स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत नही होता। इसी प्रकार अनेक परिस्थितियों के सन्निवेश के साथ ही 'स्वात्म' की गति से जब कोई बोध होता है तो उसे ज्ञान कहते हैं।[2] आत्म चेतना की मानसिक प्रक्रिया से ही हम इस स्वात्म की गति का अनुभव करते है। कुमारिल ज्ञान को पार्थिव वस्तुनिष्ठ चेतना न मानते हुए एक मानसिक प्रक्रिया के रूप मे देखते है। यह ज्ञानरूपी मानसिक प्रक्रिया इन्द्रियो के द्वारा नही जानी जा सकती है, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार कुमारिल इन्द्रियजन्य पार्थिव वस्तुनिष्ठ चेतना और ज्ञान की अतीन्द्रिय मानसिक क्रियात्मक स्थिति का स्पष्ट विश्लेषण करते है।

साख्य मीमासा और विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन की आदर्शवादी धारा के अनुसार हमारा वास्तविक सम्पर्क केवल ज्ञानतत्त्व से ही होता है। विज्ञानवादी तो पार्थिव जगत् की सत्ता ही स्वीकार नही करते, अत: ज्ञान के प्रामाण्य का कोई स्थान ही नही रहता। साख्य बाह्य जगत् की भौतिक सत्ता को तो स्वीकार करता है परन्तु उसने 'प्रबुद्ध' 'चित्' और ज्ञान के विषय 'जगत्' इन दोनो मे एक वैषम्य स्थापित कर दिया है। श्री प्रभाकर ने इस अन्त को अनदेखा किया तथा श्री अन्तर्दर्शन की इसी अभिव्यक्ति से संतुष्ट रहे कि ज्ञान एक ऐसी अद्भुत वस्तु है, जो ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय तीनो को एक साथ स्पष्ट करती है। श्री कुमारिल ने हमारे 'वस्तुबोध' की पृष्ठभूमि

---

[1] 'न्याय रत्नमाला' स्वतः प्रामाण्य निर्णय।

[2] प्रमाण के प्रसग मे 'न्याय मंजरी', प्रत्यक्ष प्रसंग मे 'श्लोक वार्तिक' और श्री नागभट्ट रचित 'भट-चिन्तामणि' मे प्रत्यक्ष की व्याख्या देखिए।

में एक अतीन्द्रिय मानसिक प्रक्रिया की कल्पना की है, परन्तु ज्ञान को स्वात्मा से भिन्न तत्त्व माना है।

परन्तु इस तथ्य को किसी ने भी पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया है कि ज्ञान का संबंध बाह्य जगत् की वस्तुओं से कैसे और किस प्रकार होता है। ज्ञान का विषय यह पार्थिव जगत् सत्य है या असत्य ? वास्तविक सत्य क्या है, इस विषय का कोई विश्लेषण नही मिलता। हमारा ज्ञान पार्थिव जगत् की वस्तुओ के अनुकूल है या नही, बाह्य तथ्यो के अनुसार हमारा ज्ञान प्रामाणिक माना जा सकता है अथवा नहीं, ज्ञान का उदय और सत्यापन किस प्रकार होता है, ऐसे विषयो पर ही विचार होता रहा है। परन्तु प्रश्न यह है कि वास्तविक सत्य क्या है ? वह क्या है जो इस भौतिक परिवर्तनशील जगत् का आधार है ? वह कौनसा सत्य है, वह कौनसा शाश्वत तत्त्व है जो हमारे सारे ज्ञान का आधार है ? इस चिरंतन परम सत्य की दार्शनिक जिज्ञासापूर्ण खोज ही हिन्दू-दर्शन का लक्ष्य रहा है।

वेदान्त साहित्य

'ब्रह्म-सूत्र' का रचना-काल निश्चित नही है, परन्तु इसके अन्तःसाक्ष्य से यह कहा जा सकता है कि इसकी रचना का समय उपर्युक्त दर्शनों के पश्चात् रहा होगा। इसमे सारे भारतीय दर्शनों की मीमांसा और उनका प्रत्याख्यान पाया जाता है, यहाँ तक कि शून्यवादी बौद्ध दर्शन का भी शाकर सिद्धान्तानुसार खंडन प्राप्त होता है। यह शून्यवादी बौद्ध दर्शन अन्य दर्शनो के यद्यपि पश्चात् प्रचलित हुआ है। 'ब्रह्म-सूत्र' की रचना सम्भवतः ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी मे हुई होगी। श्री गौडपाद ने लगभग सन् ७८० ईसवी मे माडूक्य उपनिषद् पर एक रचना की थी जिसका नाम 'माडूक्य-कारिका' है। श्री गौडपाद ने एकेश्वरवाद (ईश्वर एक है) के सिद्धान्त का पुनः स्थापन किया। श्री गौडपाद के शिष्य श्री गोविन्दभगवत्पाद शकर के गुरु थे। आचार्य शकर का समय सन् ७८८ से ८२० ईसवी माना जाता है। शकर का ब्रह्म-सूत्र भाष्य सबसे प्रसिद्ध भाष्य माना जाता है जिसमे वेदान्त के सिद्धान्तो का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण किया गया है और जो अनेक वेदान्तिक ग्रन्थो और टीका-साहित्य का आधार है। आचार्य शकर के शिष्य आनन्दगिरि ने शाकरभाष्य पर 'न्याय-निर्णय' और श्री गोविन्दानन्द ने 'रत्न-प्रभा' नाम की टीका की रचना की। श्री वाचस्पति मिश्र (सन ८४१ ईसवी) ने 'भामती' टीका की रचना की। श्री अमलानन्द ने (१२४७-१२६०) इस पर 'कल्पतरु' टीका लिखी और इस 'कल्पतरु' पर काची के श्री रग राजाध्वरीन्द्र के पुत्र अप्पयदीक्षित (१५५०) ने 'कल्पतरु परिमल' नामक टीका की रचना की। शंकर के एक अन्य शिष्य श्री पद्मपाद ने, जिनको सनन्दन भी कहते है, 'पचपादिका' नाम के भाष्य की रचना की। इस पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठो से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें सम्पूर्ण

शांकर भाष्य का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा किन्तु चतुर्थ-सूत्र के पश्चात् यह यकायक समाप्त हो जाती है। श्री माधव (१३५०) ने 'शंकरविजय' मे एक घटना का उल्लेख किया है जिसके अनुसार श्री सुरेश्वर ने आचार्य शंकर से शंकर-भाष्य के ऊपर एक वार्तिक लिखने की आज्ञा प्राप्त की, परन्तु श्री शकराचार्य के अन्य शिष्यो ने इसका विरोध किया। श्री सुरेश्वर मत-परिवर्तन के पूर्व प्रसिद्ध मीमासा-दार्शनिक मंडन मिश्र के नाम से प्रख्यात थे। श्री शंकर से शास्त्रार्थ मे हार कर फिर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। शकर के शिष्यो के अनुसार श्री सुरेश्वर मीमासा के पडित और पूर्व-अनुयायी होने की दृष्टि से इस प्रकार की वार्तिक रचना करने के लिए उपयुक्त अधिकारी नही थे, अत: श्री सुरेश्वर ने निराश होकर 'नैष्कर्म्य सिद्धि' नाम के ग्रन्थ की रचना की। इसी प्रकार एक और मनोरजक घटना का उल्लेख आता है जिसमे श्री पद्मपाद के द्वारा लिखी हुई टीका का जब उनके चाचा ने द्वेष के कारण अग्नि-संस्कार कर दिया तो आचार्य शकर ने स्मृति से इस टीका को पुन. बोलकर लिखवा दिया। पद्मपाद की इस टीका पर श्री प्रकाशात्मन् (१२००) ने एक अन्य टीका लिखी है जिसका नाम 'पचपादिका-विवरण' है। इसके अतिरिक्त श्री अखडानद ने 'तत्त्वदीपन' की रचना की और उस पर प्रसिद्ध नृसिंहाश्रम मुनि ने (१५००) 'विवरणभाव प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी है। श्री अमलानन्द और श्री विद्या-सागर ने श्री पंचपादिका पर 'पंचपादिका-दर्पण' और 'पचपादिका-टीका' नाम की दो टीकाएँ लिखी हैं। इन सब टीकाओ मे 'पचपादिका-विवरण' सबसे प्रसिद्ध और विद्वतापूर्ण मानी जाती है। इस टीका पर विस्तृत प्रकाश डालने की दृष्टि से श्री विद्यारण्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवरण प्रमेय सग्रह'[१] की रचना की। श्री विद्यारण्य के सम्बन्ध मे यह धारणा है कि श्री माधव (१३५०) का ही यह दूसरा नाम था। श्री विद्यारण्य ने वेदान्त के मुक्ति-सिद्धान्त का निरूपण करते हुए अन्य ग्रन्थ की रचना की है जिसका नाम 'जीवन्मुक्तिविवेक' है। श्री सुरेश्वर (८००) द्वारा रचित 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' सम्भवत. शाकरभाष्य पर सर्वप्रथम स्वतत्र ग्रन्थ है जो इस भाष्य पर विद्वता-पूर्ण प्रकाश डालता है। इस पुस्तक की विवेचना श्री ज्ञानोत्तम मिश्र ने एक अन्य ग्रन्थ मे प्रस्तुत किया है। श्री विद्यारण्य ने पद्यबद्धरूप मे 'पचदशी' नाम के एक अन्य ग्रन्थ की रचना की है जो वेदान्त पर उत्कृष्ट ग्रन्थ है। शकराचार्य के प्रमुख उपदेशो का विवरण प्रस्तुत करते हुए श्री सर्वज्ञान मुनि (१०० ईसवी) ने भी एक अन्य पद्यबद्ध ग्रन्थ 'सक्षेप शारीरिक' की रचना की है। श्री रामतीर्थ ने उपर्युक्त पुस्तक की टीका लिखी है। श्री हर्ष (११९० ईसवी) ने वेदान्त न्याय पर एक विद्वतापूर्ण ग्रन्थ खडन-खडखाद्य' नाम का प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की टीका श्री चित्सुख, जो हर्ष के शीघ्र पश्चात् प्रख्यात् हुए, ने लिखी है। इसके अतिरिक्त चित्सुख ने वेदान्त न्याय

---

[१] इण्डियन एन्टिक्वेरी १९१६ में श्री नरसिंहाचार्य का लेख देखिए।

पर एक और ग्रन्थ 'तत्त्वदीपिका' की रचना की है जिसकी टीका 'नयनप्रसादिनी' श्री प्रत्ययूप ने लिखी है। श्री शकर मिश्र और श्रीरघुनाथ ने भी पूर्वोक्त ग्रन्थ 'खडन खंड खाद्य' पर सुन्दर टीकाओ की रचना की है। वेदान्त के मुख्य तत्त्वो और ज्ञान-सिद्धान्त के ऊपर 'वेदान्त-परिभाषा' नामक ग्रन्थ रचना श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र (१५००) ने की है। इस पर इनके पुत्र श्री रामकृष्णध्वरीन्द्र ने 'शिखामणी' नामक टीका की रचना की है और श्री अमरदास ने 'मणिप्रभा' नाम की टीका लिखी है। इन दो टीकाओ सहित 'वेदान्त परिभाषा' से वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तो को समझने मे बडी सहायता मिलती है। श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र के पश्चात् श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैत सिद्धि' नाम का प्रसिद्ध एव अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है जो सम्भवत वेदान्त पर लिखा सब से अन्तिम और महान् ग्रन्थ है। इस पर तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनके नाम क्रमश: 'गौड ब्रह्मानन्दी', 'विट्ठलेशोपाध्यायी' और 'सिद्धि-व्याख्या' है। श्री सदानन्द व्यास ने भी एक टीका लिखी है जिसका नाम 'अद्वैतसिद्धि सिद्धान्तसार' है। श्री सदानन्द एक अन्य ग्रन्थ 'वेदान्तसार' की भी रचना की है। इस पर भी दो टीकाएँ 'सुबोधिनी' और 'विद्वन्मनोरञ्जिनी' नाम से उपलब्ध है। श्री सदानन्द यति ने एक ग्रन्थ 'अद्वैत ब्रह्म सिद्धि' नाम की रचना की है। यह पुस्तक 'अद्वैत सिद्धि' के समान विद्वत्तापूर्ण नही है परन्तु इसका अपना महत्त्व है, क्योंकि इसमे वेदान्त दर्शन के ऐसे स्थलो पर प्रकाश डाला गया है जो अन्यत्र नही पाए जाते है। श्री आनन्दबोध भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'न्याय प्रकरन्द' मे 'माया' के सिद्धान्त पर बडा सुन्दर प्रकाश डाला है। 'अज्ञान', 'चित्' और दृष्टि 'सृष्टिवाद' का विवेचन श्री प्रकाशानन्द ने अपने ग्रन्थ 'वेदान्त-सिद्धान्त मुक्तावली' मे बडे विद्वत्तापूर्ण ढग से प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार श्री अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्तलेश' मे अनेक विद्वान् लेखकों के मतो का साराश और उनका विवेचन किया है। वेदान्त-दर्शन का सक्षिप्त विवेचन 'सिद्धान्ततत्त्वदीपिका' और 'सिद्धान्ततत्त्व' मे बडी सुन्दरता मे किया गया है। वेदान्त न्याय के ऊपर श्री नृसिहाश्रम मुनि रचित 'भेदाधिकार' भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इनके अतिरिक्त भी वेदान्त दर्शन पर अनेक ग्रन्थ पाए जाते है पर उपर्युक्त विवरण केवल महत्वपूर्ण ग्रन्थो का है जिनके आधार पर इस दर्शन को समझने मे सहायता मिलती है और जिनके आधार पर प्रस्तुत अध्याय मे वेदान्त दर्शन का निरूपण किया गया है।

गौड़ पाद का वेदान्त दर्शन

ब्रह्म सूत्र मे वर्णित वेदान्त दर्शन का तत्त्वनिरूपण शाकर भाष्य का कोई प्रसंग दिए बिना व्यर्थ सा प्रतीत होता है। सम्भवत· ब्रह्म सूत्र पर कुछ टीकाएँ वैष्णवो ने

सर्वप्रथम प्रस्तुत की थीं। कई वैष्णव टीकाकारों ने अपने-अपने मत के अनुसार ब्रह्म-सूत्र की व्याख्या की है। इन टीकाओ मे किसी प्रकार का मतैक्य नही पाया जाता है। सभी टीकाकार इस आग्रह को लेकर चलते है कि उनका मत ही शास्त्र के अनुकूल हैं और वही उपनिषदो और ब्रह्मसूत्र का सबसे सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। शकर के मत से उनके मतैक्य का तो प्रश्न ही नही उठता। वैष्णव लेखकों ने अधिकाश रूप से द्वैतवाद की अपनी दृष्टि के अनुसार ब्रह्मसूत्रो की टीका की है। क्या मैं स्वय एक व्याख्या प्रस्तुत करूँ? यदि मैं ऐसा करूँ तो यह भी एक अतिरिक्त दृष्टिकोण होगा। मुझे लगता है कि शाकर भाष्य की अपेक्षा वैष्णव आचार्यों की ब्रह्मसूत्र पर द्वैतात्मक व्याख्या सम्भवतः ब्रह्मसूत्रो के अधिक अनुकूल थी।

श्री मद्भगवद् गीता मे, जो सम्भवत एकान्ती वैष्णवो का धर्म ग्रन्थ है, ब्रह्मसूत्र का मत अपने मत के अनुसार ही माना है।[1] प्रो० जैकोबी ब्रह्मसूत्र का रचनाकाल नागार्जुन के पश्चात् मानते है परन्तु यह सत्य प्रतीत नही होता। ब्रह्मसूत्र मे शून्यवाद आदि का जो प्रसग आया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह नागार्जुन के शून्यवाद की ओर ही सकेत करता है। हिन्दू लेखको को बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तो का सूक्ष्म परिचय था। डा० विद्याभूषण का यह मत उचित प्रतीत होता है कि शून्यवाद और योगाचार दर्शन 'प्रज्ञापारमिता'[2] से उत्पन्न हुआ है। शून्यवाद का विशद वर्णन अश्वघोष के 'तथता' दर्शन और प्रज्ञापारमिता दर्शन मे भी पाया जाता है। अत ब्रह्म-सूत्र मे शून्यवाद के प्रसग से यह नही कहा जा सकता कि इसकी रचना नागार्जुन के पश्चात् हुई होगी। हिन्दू दार्शनिको को महायान सूत्र का भी ज्ञान था जिसका प्रसग अनेक स्थलो पर पाया जाता है। श्री वाचस्पति मिश्र ने 'शालिस्तम्भ' सूत्र का उद्धरण देते हुए 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के बौद्ध सिद्धान्त का वर्णन किया है।[3] अत. स्पष्ट है कि किसी भी बौद्ध सिद्धान्त के उल्लेख से किसी लेखक विशेष से अर्थ नहीं लिया जा सकता। निश्चित ही ब्रह्मसूत्र नागार्जुन से पूर्वकालीन है। इसके अतिरिक्त भगवद्गीता मे ब्रह्मसूत्र का उल्लेख मिलने से कहा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्रों की रचना भगवद्गीता से पूर्व द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व मे अथवा ईसा से एक शताब्दी पूर्व हुई होगी। ब्रह्मसूत्र के ऊपर शकर और गौडपाद से पूर्व केवल द्वैतवादी टीकाएँ मिलती है। किसी भी अन्य अद्वैतवादी विद्वान् की टीका शकर, गौडपाद के अतिरिक्त उपलब्ध नहीं है। अत. यह अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः ब्रह्मसूत्र द्वैतवादी दार्शनिकों का आधार ग्रन्थ रहा होगा। उपनिषदो के एकेश्वरवाद का सुव्यवस्थित निरूपण

---

[1] 'ब्रह्मसूत्र पदेश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितः' 'भगवद्गीता' गीता वैष्णव ग्रन्थ है, इसका विवेचन इस पुस्तक के दूसरे भाग में किया गया है।

[2] इन्डियन एन्टिक्वैरी १९१५।

[3] ब्रह्मसूत्र के शकर भाष्य पर भामति टीका देखिए ११-११।

किसी भी दार्शनिक ने गौड़पाद से पूर्व नहीं किया ऐसा प्रतीत होता है। उपनिषदों के उत्तरकाल में द्वैतवादी भावना का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा था जैसाकि श्वेताश्वतर उपनिषद् आदि में प्रकट होता है। साख्य का प्रादुर्भाव भी द्वैतवादी दर्शन से ही हुआ है यह स्पष्ट है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्र के रचयिता आस्तिक विचारो के विद्वान् थे और शकर की भाँति अद्वैतवादी नही थे। उपनिषद्कार मनीषियो के पश्चात् उपनिषदों की एकेश्वरवादी विचारधारा का निरूपण सम्भवत आचार्य गोडपाद ने ही सर्वप्रथम किया था। उन्होने स्वय भी किसी अन्य अद्वैतवादी ग्रन्थ या विद्वान् का वर्णन नही किया है। 'माडूक्य कारिका' के अतिरिक्त अन्य कोई अद्वैतवादी उपनिषद् टीका इससे पूर्व नही पायी जाती। यहाँ तक कि इस सम्बन्ध मे बादरायण का भी उल्लेख नही किया गया है। इन सबसे यह स्पष्ट है कि आचार्य गोडपाद ही ऐकान्तिक अद्वैतवाद के प्रवर्तक प्रणेता थे। शकर ने भी यही कहा है कि आचार्य गोडपाद ने ही वेदो से अद्वैतवाद का ज्ञान प्राप्त कर इसका पुन. स्थापन किया है। श्री शकर ने गोडपाद की कारिका की टीका के अन्त मे कहा है कि आचार्य गोडपाद ने अपनी बुद्धि से वेदो के अथाह सागर का मन्थन कर भवसागर मे डूबते हुए मनुष्यों की रक्षा के हेतु, वेदामृत प्राप्त किया जो देवो को भी दुर्लभ है, ऐसे महान् गुरु के चरणो मे मै नमस्कार अर्पित करता हू।[1] उपनिषदो और वेदो के इस ज्ञान की रक्षा के लिए आचार्य शकर गोडपाद की स्तुति करते हैं और बादरायण का कही भी उल्लेख नही करते, यह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शकराचार्य गोडपाद के शिष्य गोविन्द के शिष्य थे, परन्तु उनका कथन है कि वे आचार्य गोडपाद से विशेष रूप से प्रभावित हुए है। उन्होने गोडपाद के अन्य शिष्यो की प्रकाड विद्या, बुद्धि, सयम आदि का भी उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शकर के शिष्यत्वकाल मे आचार्य गोडपाद जीवित होगे। शकर की जन्म-तिथि के सम्बन्ध मे कुछ मतभेद है पर भडारकर, पाठक और ड्यूसेन के परामर्श के अनुसार यह मानने मे कोई आपत्ति नही है कि उनका जन्म काल ७८८[2] ईसवी रहा होगा और यदि शकर को आचार्य गोडपाद ने पढ़ाया है तो वे सन् ८०० ईसवी तक जीवित रहे होगे।

अत यह स्पष्ट है कि गोडपाद भी अश्वघोष, नागार्जुन, असग, वसुबन्धु आदि सारे महान् बौद्ध दार्शनिको के पश्चात् हुए होगे। उनकी कारिकाओ को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि वह बौद्ध धर्म से विशेष प्रभावित रहे होगे। उनका विश्वास है

---

[1] 'गोडपाद कारिका' पर शकरभाष्य का आनन्दाश्रम सस्करण पृ० २१४ देखिए।

[2] श्री तैलग का मत है कि आचार्य शंकर आठवीं शताब्दी मे उत्पन्न हुए होगे। श्री वेंकटेश का मत है कि वे सन् ८०५ से ८९७ तक रहे होगे, क्योकि उनको यह विश्वास नही होता कि शकराचार्य केवल ३२ वर्ष तक ही जीवित रहे होगे।

कि बौद्ध धर्म और उपनिषदीय धर्म मे कोई विशेष अन्तर नही है, सिद्धान्ततः दोनो एक समान ही है। उनकी कारिका के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ मे आचार्य गौडपाद कहते हैं कि मैं उस महान् पुरुष की ('द्विपदावरम्') की स्तुति करता हूं जिसने अपने 'सम्बुद्ध' ज्ञान से उस सत्य का अनुभव किया कि संसार मे सारे दृष्ट 'धर्म' (आभास) इस शून्य आकाश (गगनोपमम्)[1] के समान है। पुनः वे कहते है कि मैं उस महान् सन्त की उपासना करता हू जिसने यह उपदेश दिया है (देशिता) कि ससार के सारे ससर्गों से दूर रहने (असपर्क होने) से ही मनुष्य का कल्याण है। इस ससार से लेशमात्र भी स्पर्श न रहे (अस्पर्श योग) इसमे ही मनुष्य का हित है। बौद्ध दर्शन से मेरा कही भी मतभेद नही है न मुझे इस दर्शन मे किसी प्रकार का विरोध ही प्रतीत होता है (अविवाद-अविरुद्धश्च) कुछ लोग विवाद करते है कि उत्पत्ति सत् तत्वो की ही होती है। अन्य लोग कहते है कि केवल उन तत्त्वो की उत्पत्ति होती है जो विद्यमान नही है। 'अभूत' अर्थात् जो नही है वही उत्पन्न (जात) होता है। कुछ अन्य कहते हैं कि भूत और अभूत दोनो की उत्पत्ति नही है, केवल एकाकी अभूत अजात तत्त्व है ('अद्वयम-जातिम्') मै उनमे सहमत हू जो कहते है कि ससार मे कुछ भी 'जात' नही है।[2] उनकी कारिका के उन्नीसवे अध्याय मे उन्होने पुन कहा है कि किसी प्रकार की उत्पत्ति का प्रश्न ही नही है। कुछ भी जात नही है 'सर्वथा बुद्धैरजाति परिदीपित.'।

पुन. श्री गौडपाद अपनी कारिका के चतुर्थ अध्याय के ४२वे श्लोक मे कहते है कि भगवान् बुद्ध ने 'जाति' का कथन केवल 'वस्तुवादी' लोगो के लिए किया है जो यथार्थ-वाद की दृष्टि से इतने पीडित है कि 'अजात' अर्थात् अपने न होने की कल्पना से भी भयभीत हो जाते है। चतुर्थ अध्याय के ९०वे छन्द मे उन्होने 'अग्रयान' का उल्लेख किया है जो 'महायान' का नाम है और ९८वे और ९९वे छन्द मे उन्होने कहा है कि ससार मे जो कुछ दिखाई देता है वह आभासमात्र है, भ्राति है, माया है। इस तथ्य को मुक्त पुरुष एव बुद्ध ही सर्वप्रथम जान पाते है। फिर वे अपनी कारिका को एक स्तोत्र के द्वारा समाप्त करते है जो सम्भवत भगवान बुद्ध की स्तुति है।[3]

श्री गौडपाद की कारिका के चार भाग है—(१) 'आगम' (शास्त्र) (२) 'वैतथ्य'

---

[1] लकावतार पृष्ठ २९ से तुलना कीजिए। 'कथम् च गगनोपमम्'।

[2] गौडपाद-कारिका चतुर्थ अध्याय का २, ४ (दूसरा चौथा श्लोक)।

[3] गौडपाद-कारिका ४,१००१। श्री दास गुप्ता का कथन है कि अपने अनुवाद मे उन्होने शकराचार्य के भाष्य का अवलम्बन नही किया है क्योंकि शकराचार्य ने इन सभी स्थलों की व्याख्या हिन्दू-दर्शन की दृष्टि से करने का प्रयत्न किया है। अत उन्होने गौडपाद की कारिका का जो अर्थ स्पष्ट दिखाई देता है उसी के अनुसार गौडपाद के दर्शन का विवेचन किया है।

(अयथार्थता) (३) 'अद्वैत' (एकता) (४) 'अलात शान्ति' (जलते हुए अगारों का शमन)। प्रथम भाग मे मुख्यत माडूक्य उपनिषद् की व्याख्या है जिसके कारण इस ग्रन्थ को 'माडूक्य-कारिका' कहते है। अन्य तीन भागो मे श्री गौडपाद ने अपने मत की स्थापना की है। इन भागो का माडूक्य-उपनिषद् से कोई सम्बन्ध नही है।

प्रथम भाग मे श्री गौडपाद ने आत्मा के तीन स्वरूपो का वर्णन किया है–(१) वह स्वरूप जब हम जाग्रत अवस्था मे ससार की प्रत्याक्षानुभूति करते है। यह विश्व के सम्पर्क मे आती हुई 'वैश्वानर आत्मा' है। दूसरा स्वरूप वह है, जब आत्मा स्वप्नावस्था मे अनुभूति करती है। इस अवस्था मे स्थूल विश्व से सम्पर्क विच्छेद हो जाता है परन्तु स्थूल शरीर से सम्पर्क रहता है यह 'तैजस आत्मा' है। (३) तीसरी अवस्था ('सुषुप्ति') अवस्था है। आत्मा का यह स्वरूप उस अनुभूति का है जब सारे स्थूल सम्बन्धो का विच्छेद हो जाता है। यह वह आनन्दमय 'प्रज्ञावस्था' है जब किसी प्रकार का सविकल्पक ज्ञान नही रहता है, सारे सविकल्प ज्ञान का लोप होकर एक निर्विकल्प, शुद्ध चेतन, आनन्दमय स्थिति हो जाती है। यहाँ आत्मा का 'प्राज्ञ' स्वरूप है। जो इन तीनो अवस्थाओं को जानता है वह सासारिक कर्मानुभूतियो के बन्धन से मुक्त रहता है।

इसके पश्चात् गौडपाद सृष्टि-रचना सम्बन्धी विभिन्न मतो का विवेचन करते है। कुछ लोगो का मत है कि यह सृष्टि 'प्राण' से उत्पन्न हुई है। कुछ लोगो का मत है कि यह प्रकृति, (उत्पत्ति के आदि कारण) की 'विभूति' (प्रसारित रूप) है। अन्य लोगो का मत है कि यह सृष्टि 'स्वप्न' मात्र है, यह केवल 'माया' है। कुछ कहते हैं कि परमात्मा की इच्छामात्र से सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। एक मत है कि यह प्रकृति समय-समय पर उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। कुछ का मत है कि यह प्रभु की क्रीडामात्र है, कुछ कहते है कि यह केवल प्रभु का विलास है (क्रीडार्थम) क्योकि प्रभु का ऐसा 'स्वभाव' है। उनमे किसी कामना का प्रश्न ही नही उठता। प्रभु तो पूर्णकाम है।

श्री गौडपाद किसी भी पक्ष की ओर अपना मत प्रकट नही करते है। निष्पक्ष दृष्टि से व्याख्या करते हुए वे कहते है कि आत्मा का चतुर्थ स्वरूप 'अदृष्ट' (जो दिखाई नही देता) है। इसका किसी से कोई सम्बन्ध नही रहता है अत. यह सब व्यवहारो से परे (अव्यवहार्यम्) है। यह स्वरूप 'अग्राह्यम्' (जो ग्रहण नही किया जा सकता) लक्षणहीन (अलक्षण) कल्पनातीत (अचिन्त्यम्) वर्णनातीत (अव्यपदेश्य) सारभूत एकात्मा रूप (एकात्मप्रत्ययसार) और प्रपचहीन अर्थात् जिसमे किसी प्रकार की सासारिक विकृति या माया का निवास नही है (प्रपचोपशम) शान्त (शान्तम्) कल्याणकारी (शिवम्) और एक (अद्वैत) है।[1] कारिका के द्वितीय अध्याय मे श्री

[1] इसकी तुलना नागार्जुन की प्रथम कारिका में वर्णित 'प्रपचोपशमम् शिवम्' से कीजिए।

गौड़पाद कहते हैं कि संसार को स्वप्नवत् कहने से यह अर्थ है कि यह सारा संसार अयथार्थ है, इसका कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। यदि इस ससारी माया (प्रपच) का कोई अस्तित्व होता तो इसका अन्त भी होता, परन्तु यह केवल भ्रान्ति-मात्र है। केवल एक परमात्मा का ही अस्तित्व है, यही यथार्थ शाश्वत तत्व है, वही (परमार्थतः) परम अर्थ है। जिस प्रपच का न आदि था, न अन्त है, उसके वर्तमान का प्रश्न ही नही उठता। पर हमारे अज्ञान से यह माया रूपी ससार सत्य दिखाई देता है। यह माया हमारे मन मे उत्पन्न होती है और वही समाप्त हो जाती है। जिसका आदि और अन्त है वह निश्चित ही असत् है। जिस प्रकार हम स्वप्न मे देखी वस्तुओ को उस क्षण मे सत्य मान लेते है उसी प्रकार हम बाह्य जगत् के दृश्यों और अनुभूतियो को कुछ देर के लिए सत्य मान कर भय, आशा आदि के ससार मे जीने लगते है, पर दोनों ही असत्य, कल्पनात्मक मायामय स्थितियाँ हैं। जो कुछ मन मे कल्पना करते हैं अर्थात् जो स्वरूप हम अपने मन मे स्थापित कर लेते है वही हम प्रत्यक्ष के क्षणों मे बाह्य जगत् मे देखने लगते है। बाह्य पदार्थों को हम दो क्षणो का अस्तित्व कह सकते हैं। एक क्षण वह जब हम उनको देखना प्रारम्भ करते है और दूसरा क्षण वह जब हम उनको देखते है। परन्तु यह सब हमारी अपनी कल्पना है। यथार्थ दृष्टि से किसी भी वस्तु का वास्तविक अस्तित्व नही है।

जिस प्रकार अन्धार मे रज्जु सर्प के समान दिखाई देती है उसी प्रकार अज्ञान के कारण आत्मा अपने स्वय के स्वरूप को अनेक भ्रान्त रूपो मे देखती है और पुन बाह्य स्थितियो की भ्रान्त कल्पना करती है। वास्तविक सत्य यह है कि न उत्पत्ति है और न विनाश। (न निरोधो, न चोत्पत्ति॰) न कोई बन्धन मे है, न किसी प्रकार का बन्धन है, न मुक्त होने का प्रयत्न करने वाला कोई व्यक्ति है, न कोई मुक्त होना चाहता है। यह सब माया ही है।[१] मनुष्य का मन अस्तित्वहीन (अभूत) सत् (अस्तित्व) की कल्पना मे परम आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। एकता की भावना से सुख का

'अनिरोधम् अनुत्पादम् अनुच्छेदम् अशेषवतम् अनेकार्थम् अनानार्थमनागमम् अनिर्गमम् य प्रतीत्यसमुत्पादम् प्रपचोपशमम् शिवम् देशयामास सबुद्धस्तम् वन्दे वदतम् वरम्।"
श्री नागार्जुन रचित 'निर्वाणपरीक्षा' अध्याय के इस कथन से तुलना कीजिए–

पूर्वोपलम्भोपशम प्रपचोपशम. शिव न क्वचित् कस्यचित् कश्चित् धर्मो बुद्धेन-देशित.।

सम्भवत, बौद्ध दार्शनिकों ने सर्वप्रथम 'प्रपंचोपशमम् शिवम्' वाक्य का प्रयोग किया है।

[१] नागार्जुन कारिका, माध्यमिकवृत्ति, बी टी एस. पृ॰ तीन पर देखिए 'अनिरोध-मनुत्पादम्'।

अनुभव करता है। एक या अनेक की सारी कल्पना असत्य है, 'अद्वय' की कल्पना भी भ्रान्ति है अर्थात् केवल कल्पनातीत एक सत्ता ही सत्य है। न अनेकता है, न पृथकत्व है न अपृथक्त्व है, जैसा कहा है–'न नानेदम् न पृथक् नापृथक्'[1] वे साधु सन्त जो राग द्वेष, भय आदि से मुक्त हो गए हैं जो क्रोधादि से उपरत हो गए हैं जो वेदों के महत्तम ज्ञान को समाहित कर बन्धनमुक्त हो गए हैं, वे उसे कल्पनातीत, माया प्रपंच से निवृत्त, शान्त स्थिति के रूप मे देखते है जिसमे सारे त्वरो का उपशमन हो गया है (निर्विकल्पः प्रपंचोपशमः) वही अद्वितीय एकत्व है।[2]

तीसरे अध्याय मे गौडपाद कहते हैं कि सत्य 'आकाश' के समान है। जिस प्रकार हम आकाश को कल्पना से जन्म, मरण आदि से, शरीरो में, सभी स्थानो पर भिन्न-भिन्न रूप में देखते है परन्तु वह सर्वत्र एक रूप आकाश तत्व ही है, उसी प्रकार सत्य भी सर्वव्यापक अभिन्न तत्त्व है। 'माया' के कारण ही एक अद्वैत अनेक रूप मे दिखाई देता है। जो कुछ भिन्न-भिन्न द्वैत रूप दिखाई देता है वह स्वप्न का फल है, मनुष्य दिवास्वप्न देखता हुआ अनेक कल्पनाएँ करता है जिसका यथार्थ कुछ भी नहीं है। जन्म, मत्यु, अनेकरूपता सब माया का प्रपच है।[3] सत्य अमर है, इसमे किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नही है। पर स्वभावत शाश्वत अपरिवर्तनशील है। सत्य का जन्म और मरण नही है। स्वप्न मे अनेक मनोकल्पनाएँ होती है उसी प्रकार जाग्रत अवस्था मे एक सत्य अनेक दिखाई देता है परन्तु जब मन की वृत्ति शान्त होती है तब सब भय, दुःख आदि की समाप्ति होकर सब प्रपचो का अन्त हो जाता है। यही मन की शाश्वत अवस्था है। सारी वस्तुओं और प्रपचों को दुःख स्वरूप मानकर ('दुःख सर्वम् अनुस्मृत्या') सारी कामनाओं और वासनाओ आदि का परित्याग करना उचित है। यह चिन्तन करना चाहिए कि न किसी वस्तु का जन्म होता है और न मरण।

---

[1] "माध्यमिक वृत्ति" बी. टी एस. पृ० ३ मे इस वाक्य से तुलना कीजिए–'अनेकार्थम् अनानार्थम्' आदि।

[2] लंकावतार सूत्र' पृ० ७८ 'अद्वयससार परिनिर्वाणवत् सर्व धर्म. तस्मात् तर्हि महामते शून्यतानुत्पादाद्वयनिः स्वभाव लक्षणे योग. करणिय.'। पुनः पृ० ८, ४६ पर देखिए पदुत स्वचित्र विषयविकल्प अदृष्ट्या नवबोधनात् विज्ञानानाम्, स्वचित दृश्यमात्रानवतारेण महामते वालपृथग्जना भावाभावस्वभावपरमार्थ दृष्टि द्वयवादिने भवन्ति।

[3] नागार्जुन कारिका (बी टी-एस.)पृ० १९६ से तुलना कीजिए–'आकाशम शशशृंगश्च बन्ध्याया पुत्रइव च असन्तश्चाभि. व्यजयन्ते तथाभावेन कल्पना'। और इसके समकक्ष गौड़पाद कारिका तीसरे अध्याय का २८वाँ छन्द देखिए–

असतो मायया जन्म तत्वतो नैव जायते।
वन्ध्या पुत्रो न तत्त्वेन मायाय वापि जायते॥

यह सब माया का प्रपंच मात्र है। सारी कामनाओं और वासनाओं को छोड़ कर चित्तवृत्तियों का निरोध करना चाहिए। शान्तमना होकर, उस महान् अद्वैत के साथ मन एवं हृदय को 'लय' करने का यत्न करना चाहिए। सुखादि की कामना का परित्याग कर, निर्विषय, विरक्त, स्थिर चित्त होने से प्रपंच और माया का लोप हो जाता है। ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देने लगता है। फिर मनुष्य 'सर्वज्ञ' हो जाता है, तब उसे कुछ भी जानने की इच्छा और आवश्यकता नही रहती।

'अलात शान्ति' नामक चतुर्थ अध्याय मे श्री गौडपाद इस अन्तिम स्थिति का पुन: वर्णन करते हैं।[1] संसार मे सारे 'धर्म' (सत्व आभास) यथावत् रहते है।[2] इनका नाश नही होता। इनके जन्म और मरण का प्रश्न ही नही उठता। जिसकी वास्तविक स्थिति ही नही है उसका ह्रास या विनाश कैसे हो सकता है। इस प्रकार अनेक तर्कों को उपस्थित करते हुए श्री गौडपाद कहते है कि जो कारण को कार्य रूप समझते हैं अर्थात् जो यह कहते हैं कि प्रत्येक कार्य बीजरूपेण कारण में निहित है वे कारण को अजन्मा ('अज') कैसे मान सकते है? क्योंकि निश्चित ही उनके तर्क के अनुसार इस प्रकार कारण की उत्पत्ति होती है। जो जन्म लेने के कारण परिवर्तन-शील है, वह शाश्वत नही कहा जा सकता। यदि यह कहा जाता है कि वस्तुओं का प्रादुर्भाव उस तत्व से होता है जिसकी स्वयं की कोई उत्पत्ति नही है तो इसका भी हमको ससार मे अन्य कोई उदाहरण नही मिलता। इस हेतु और फल के अनन्त दूषित चक्र का कही अन्त नही दिखाई देता। हेतु के बिना फल नही हो सकता। फल के बिना हेतु नही हो सकता। किसी भी अर्थ में विचार किया जाए, यह स्पष्ट है कि अपने आप 'स्वभावत' हेतु या फल कुछ भी उत्पन्न नही हो सकता। जिसका कोई प्रारम्भ नही है, जो अनादि है, उसकी जन्म की कल्पना भी युक्ति-संगत प्रतीत नही होती। सारा अनुभव (प्रज्ञप्ति) किसी न किसी कारण पर निर्भर प्रतीत होता है। कारण के बिना न किसी प्रकार का अनुभव सम्भव होगा न किसी प्रकार का सुख या दु:ख ('सक्लेश')। जब हम इस कार्य-कारण-क्रम की दृष्टि से विचार करते है तो हमको यह अनुभव होता है कि ये एक दूसरे पर निर्भर है, परन्तु जब हम यह खोजते हैं कि सत्य क्या है, तो हमको लगता है कि ये सब कारण मिथ्या है। हमारा मन (चित्) किसी भी वस्तु के सम्पर्क मे ही नहीं आता, क्योंकि किसी भी वस्तु का

---

[1] 'अलात शान्ति' शब्द भी बौद्ध दर्शन से लिया गया है। नागार्जुन कारिका (बी. टी. एस) पृ० २०६ देखिए जिसमें 'शतक' से एक श्लोक का उद्धरण दिया गया है।

[2] 'धर्म' शब्द भी 'आभास' या अस्तित्व के अर्थ में बौद्ध दर्शन का है। हिन्दू दर्शन मे इसका अर्थ जैमिनी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–'चोदनालक्षण: अर्थ. धर्म:'। वेदों के आदेश से धर्म निश्चित होता है।

अस्तित्व हीं नही है। यह सब मन में वस्तुओं का कल्पनात्मक आभास मात्र है जो अनेक रूपों में अन्तर्मन मे ही तरंगायित होता रहता है। इस अन्तर्मन से बाहर कुछ नही है। हम सारी भौतिक सृष्टि अपने मन मे ही कल्पना के आधार पर करते रहते हैं। यह सारी उत्पत्ति शून्य में ही (स्वे) प्रतिस्थापित है। यह सब असत्य है। जो अजात, अजन्मा है, उसे हम जात रूप में देखते हैं, यह निश्चित ही भ्रान्ति है क्योकि स्वभावतः जो अजात है वह अपने स्वभाव को नहीं बदल सकता। तत्वत. सत्य यह है कि उत्पत्ति की स्थिति ही नही है। संसार की सारी वस्तुएँ उस 'मायाहस्ती' के समान असत्य है जिसका कोई अस्तित्व ही नही है। इनका अस्तित्व उतनी ही देर के लिए है जितनी देर वे हमारे अनुभव में स्थिर दिखाई देती हैं। जैसे ही उनका चित्र-रूप हमारे मन से हटता है, उनकी कल्पना का भी लोप हो जाता है। परन्तु वह एक (विज्ञान) पूर्ण ज्ञान मय तत्व है न वह उत्पन्न होता है और न गति करता है, न चलता है और न किसी प्रकार का रूप ही धारण करता है। उसका कोई स्थूल रूप ही नहीं है, वह शान्त ('शान्तम्) अवस्तुरूप (अवस्तुत्व) है। यह 'विज्ञान' ही मूल सत्य तत्व है। जिस प्रकार जलते हुए अगार को हम स्पन्दन करता देखते है परन्तु वास्तव मे उसकी कोई गति नही होती इसी प्रकार हमारी चेतना का स्पन्दन गतिशील (स्पन्दिता) दिखाई देता है। सारी कल्पना के रूप इस चेतना पर प्रति-स्थापित कर दिए जाते हैं, यद्यपि चेतना मे इन कल्पनाओं का का कोई वास्तविक रूप नही होता। चेतना और इन काल्पनिक आभासो मे कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध नही है। 'द्रव्य' का कारण 'द्रव्य' ही हो सकता है और जो द्रव्य नही है उसका कारण अद्रव्य होना चाहिए। परन्तु यह (माया) आभास न द्रव्य है न अद्रव्य। अत. यह न चित् से उत्पन्न हो सकता है न चित् इस माया से उत्पन्न हो सकता है। इस कारण-कार्य के विचार से ही इस काल्पनिक ससार की उत्पत्ति होती है, जैसे ही इस कल्पना का अन्त हो जाता है ससार की भी समाप्ति हो जाती है। मनुष्य स्वय ही इस जाल को बुनकर उसमे फंसा रहता है। हम प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति किसी अन्य वस्तु के प्रसग मे करते है, इस आपेक्षिक कल्पना से भी सिद्ध है कि किसी भी वस्तु का अपना कोई 'शाश्वत' स्वतत्र अस्तित्व नही है। वस्तुओ का जब 'उत्पाद' ही नही होता तो 'उच्छेद' या बिनाश का प्रश्न ही नही उठता। सारे धर्म (आभास) काल्पनिक हैं अतः मायामय है। सारी वस्तुएँ मानो इन्द्रजाल के समान जादू से उत्पन्न हुई है। जैसे ही यह इन्द्रजाल टूय कि सारी वस्तुओ का तमाशा समाप्त हो जाता है। जैसे स्वप्न या इन्द्रजाल में मनुष्य उत्पन्न होते हुए मरते हुए दिखाई देते हैं पर वास्तविक रूप मे उनकी कोई स्थिति नहीं है। जिसकी स्थिति काल्पनिक एव आपेक्षिक है (कल्पित सवृत्ति) उसकी कोई 'पारमार्थिक' वास्तविक स्थिति नही हो सकती, क्योकि जिसका अस्तित्व किसी अन्य पर निर्भर है उसका अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नही हो सकता। यह सब निर्बुद्धि व मूर्ख मनुष्यों के मन की प्रवंचना मात्र है जो इस प्रकार सोचते है कि वस्तुओ का

अस्तित्व है, अस्तित्व है भी, नही भी है, किसी प्रकार का अस्तित्व ही नही है आदि। जो तत्व को जानते हैं उन्हे यह स्पष्ट है कि यह सब माया मात्र है। शून्य के अतिरिक्त और कुछ नही है।

उपर्युक्त विचार-प्रवाह से यह स्पष्ट सा दिखाई देता है कि यह विचार-धारा बौद्ध दर्शन मे नागार्जुन रचित कारिकाओं के 'माध्यमिक' दर्शन से और 'लंकावतार' में वर्णित विज्ञानवादी दर्शन से उद्धृत है। श्री गौडपाद ने विज्ञानवादी और शून्यवादी दर्शन के विचारो का मन्थन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मूलतः यह उपनिषदो के तत्त्व ज्ञान से ही उत्पन्न हैं। गोडपाद हिन्दू थे या बौद्ध—यह प्रश्न अनावश्यक है। यह निश्चित है कि बुद्ध एवं वे सिद्धान्त जिन्हे वे स्वमत के रूप में समझते थे, के प्रति गौडपाद का सर्वाधिक आदर था। उपनिषदों मे वर्णित महान् परम आत्मा के ही स्वरूप को बौद्ध दर्शन मे अवर्णनीय, अनिर्वचनीय, अरूप विज्ञान' के रूप मे देखा गया है जो महाशून्य के समान सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार आचार्य गौड़पाद ने उपनिषदो के अध्ययन की प्रेरणा उत्पन्न कर वैदिक और औपनिषदीय सत्यों की पुन स्थापना करने का प्रयत्न किया है। आचार्य गौडपाद के इस दृष्टिकोण को परिवर्तित कर उपनिषदो के सत्य के परीक्षण और स्थापन का कार्य उनके विद्वान् शिष्य शकर ने पूर्ण करने का सकल्प किया। आचार्य शकर पर अपने गुरु गोविन्दाचार्य से भी अधिक श्री गौडपाद का प्रभाव था और वे चाहते थे कि आचार्य गौडपाद के द्वारा प्रतिपादित वेदान्त-दर्शन का प्रसार सारे भारत मे किया जाए। अपने इस सकल्प म वे कहाँ तक सफल हुए यह अगले पृष्ठो से स्पष्ट होगा।

आचार्य शंकर (७८८-८२०) और वेदान्त

वेदान्त दर्शन की आधार-भूमि उपनिषदो मे वर्णित तत्त्व माना जाता है जिसको श्री बादरायण ने 'ब्रह्म-सूत्र' मे सार रूप मे सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है। वैदिक साहित्य मे उपनिषद् सबसे अन्त मे आते है अत उपनिषदो के दर्शन को 'उत्तर मीमासा' के नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। आचार्य जैमिनी ने 'पूर्व मीमासा-सूत्र' की रचना की है जो वेदो और 'ब्राह्मणो' की मीमासा है। इस प्रकार पूर्व मीमासा दर्शन और उत्तर मीमासा दर्शन वैदिक साहित्य के दो भाग हो गए है। उत्तर मीमासा दर्शन का ही साराश श्री बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' मे वर्णित किया है। इन ब्रह्मसूत्रो की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है परन्तु आचार्य शकर का भाष्य सबसे अधिक विद्वता-पूर्ण और प्रामाणिक माना जाता है। आचार्य शंकर के महान् व्यक्तित्व के कारण भी शाकरभाष्य ने प्रसिद्धि और यश प्राप्त किया है। श्री शकराचार्य के भाष्य और उनके द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन की ऐसी मान्यता है कि हम जब कभी वेदान्त दर्शन की चर्चा करते है तो उससे शंकराचार्य के वेदान्त का ही अर्थ लिया जाता है।

अर्थात् शांकरमत वेदान्त दर्शन का समानार्थक सा बन गया है। यदि अन्य किसी व्याख्या का प्रसग आता है तो हम साधारणतया उन आचार्यों का नाम जोड़ देते है जो उस विशिष्ट मताग के प्रवर्तक है जैसे रामानुजमत अथवा वल्लभमत आदि। प्रस्तुत अध्याय मे शकर और उनके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन का निरूपण किया गया है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र और दस उपनिषदो पर भाष्य लिखे है। कई स्थानो पर इनके अर्थ जटिल दिखाई देते हैं, पर उनके शिष्य और अनुयायियो द्वारा भी शाकर भाष्य पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। ये सभी अनुयायी इस बात का आग्रह रखते है कि हमने शकर के विचारो का यथातथ्य अनुमोदन किया है। अत. इस अध्याय मे इस सारे साहित्य के आधार पर शाकर वेदान्त की व्याख्या की गई है।

हिन्दू दर्शन के अन्य अगो का आधार केवल वे सूत्र है जिनके द्वारा मत विशेष की स्थापना की गई है जैसे जैमिनी-सूत्र, न्याय-सूत्र आदि। परन्तु वेदान्त दर्शन का मूल आधार वेद और उपनिषद् माने गए है। सूत्र केवल उन वेद और उपनिषद् के उपदेशो का क्रम बद्ध साराश मात्र हैं। सूत्रो के द्वारा वैदिक दर्शन को व्यवस्थित ढग पर सूक्ष्म रूपेण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। श्री शकराचार्य ने कभी भी किसी विशेष दर्शन के प्रणेता होने का दावा नही किया है। उनका मत है कि वेद और उपनिषदो मे वर्णित ज्ञान-दर्शन का ही निरूपण श्री बादरायण के ब्रह्मसूत्र मे किया गया है और इसी दर्शन को उन्होने हिन्दू मात्र के समक्ष प्रस्तुत किया है जो सभी हिन्दुओ को मान्य होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे एक कठिनाई मीमासा दर्शन के दृष्टिकोण से भी आती है जो ये मानते थे कि वैदिक साहित्य दर्शन न होकर धार्मिक आचरण और अनुष्ठान के आदेश है जिनमे किसी प्रकार के ऊहापोह अथवा तर्क का स्थान ही नही है। श्री शकराचार्य ने इस सम्बन्ध मे अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि वैदिक साहित्य मे ब्राह्मण-ग्रन्थो मे अवश्य ही कर्मकाड की व्यवस्था आदेशात्मक ढग पर दी हुई है, पर यह सारे वैदिक साहित्य के लिए सत्य नही है। अन्य भागो मे और उपनिषदो मे अद्वैत परमात्मा के महान् स्वरूप का निदर्शन किया गया है जिसके अध्ययन से बुद्धिमान् लोग सहज ही मोक्ष प्राप्त कर सकते है। कर्मकाड और निषेधात्मक व्यवस्था साधारण व्यक्तियो के लिए है जो एक विषय से दूसरे विषय की ओर इन्द्रियानन्द की खोज मे दौडते फिरते है। जिनका ध्येय परमात्मा के सत्य स्वरूप को जानने का है, जिन्होने इन्द्रियो को जीत लिया है और जो ब्रह्म के शाश्वत, अप्रतिम, अद्वितीय शुद्ध, प्रबुद्ध रूप को जानना चाहते है उनको उपनिषदो और वेदों का अध्ययन श्रेयस्कर है। श्री शकराचार्य ने कभी भी तर्कादि का आश्रय लेकर अपने मत या दर्शन की स्थापना करने का प्रयत्न नही किया। उनका ध्येय सदैव उपनिषदो के ज्ञान और दर्शन की स्थापना और उसका युक्ति सगत प्रतिपादन रहा है। जहाँ कही भी उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध मे किसी भी मत में उनको सन्देह दिखाई दिया, उन्होंने उसको

मिटाने का प्रयत्न किया है। केवल इस निमित्त ही उन्होने अन्य मतों का खंडन किया है कि यह ब्रह्म-ज्ञान सर्वमान्य हो। अपने इस ब्रह्म ज्ञान की स्थापना उन्होने न केवल 'ब्रह्मसूत्र' के भाष्य द्वारा ही की प्रत्युत् इस निमित्त उन्होने उपनिषदों पर भी विद्वत्तापूर्ण भाष्य प्रस्तुत किए है। उनके मतानुसार सारे उपनिषदों मे एक ही आस्तिक दर्शन पाया जाता है जिसमे एक ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन और उस तक पहुँचने का मार्ग-निर्देश किया गया है। उनके शिष्यो ने भी अनन्य भक्ति से अपने गुरुदेव के मत का अक्षरशः प्रतिपादन करने का यत्न किया है। जो स्थल श्री शंकराचार्य ने केवल सकेत मात्र देकर छोड दिए हैं उनकी पूर्ण व्याख्या उनके शिष्यो ने की है। इन सब ग्रन्थों मे यह सिद्ध किया गया है कि न्यायादि दर्शन भ्रान्तिपूर्ण और आत्मविरोधी हैं। साख्य मे वर्णित महत्, प्रकृति आदि का उल्लेख किसी भी उपनिषद् या वैदिक साहित्य मे नहीं पाया जाता है। श्री शकराचार्य के शिष्यो ने वेदान्त दर्शन की ज्ञान मीमासा का भी विस्तृत विवेचन किया है जिसमे माया, ब्रह्म और ससार के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। हमारे प्रत्यक्ष अनुभव, युक्ति और तर्क से कही भी हम ब्रह्म दर्शन मे कोई विरोधाभास नही देखते। हमारा तर्क केवल उपनिषदो के ज्ञान को समझने और ब्रह्म को जानने के लिए ही प्रयुक्त होना चाहिए। तर्क-शास्त्र को केवल तर्क के लिए नियोजित करना व्यर्थ का श्रम है। उपनिषत्प्रकाशित सत्य को स्वीकार करने हेतु मस्तिष्क को ग्रहणशील बनाना ही तर्क का सच्चा प्रयोजन एव कार्य है। उपनिषत्सम्मत सिद्धान्तो के उन्मूलन एव विरोध के लिए तर्क का उपयोग करना तर्क का विनाश करना है। न्याय और तर्क का उपयोग ब्रह्म-दर्शन और ब्रह्म-ज्ञान के निमित्त ही होना चाहिए।

सस्कृत मे श्री शकराचार्य की अनेक जीवनियाँ लिखी गई है। इनमे 'शकर दिग्विजय', 'शकर विजय विलास' और 'शकरजय' प्रसिद्ध है। यह निश्चित सा ही है कि उनका जन्म मलाबार प्रान्त मे सन् ७०० से ६०० ईसवी मे हुआ होगा। उनके पिता शिवगुरु तैतिरीय शाखा के यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। श्री शकर के सम्बन्ध मे अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ और किवदन्तियाँ प्रचलित हैं। ऐसा कहा जाता है कि वे भगवान् शकर के अवतार थे। वे आठ वर्ष की अवस्था मे साधु हो गए और आचार्य गोविन्द के शिष्य बने। आचार्य गोविन्द नर्मदा नदी के किनारे किसी पहाड की गुफा में निवास करते थे। इस आश्रम मे रहकर श्री शकर ने अपने गुरु से दीक्षा ली और पुन. वाराणासी होते हुए बदरिकाश्रम चले गए। कहा जाता है कि उन्होने ब्रह्मसूत्र का भाष्य केवल बारह वर्ष की अवस्था में लिखा था। दस उपनिषदो पर भाष्य इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य के पश्चात् ही लिखे गए होगे। पुनः वाराणासी आकर श्री शकर ने अखिल भारतवर्ष मे वेदान्त मत का प्रचलन और अन्य अवैदिक मतों का खंडन करने का संकल्प किया। इस हेतु वे सर्वप्रथम कुमारिल के पास गए। कहते हैं उस समय श्री कुमारिल मृत्युशय्या पर थे, अतः उन्होंने शंकर को अपने शिष्य मंडन मिश्र से

शास्त्रार्थ करने की आज्ञा दी। आचार्य शकर ने मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ मे परास्त कर वेदान्त की दीक्षा दी और उन्हें अपना शिष्य बना लिया। श्री मंडन मिश्र ने साथ ही साधु आश्रम भी स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् श्री शंकराचार्य भारत भर में भ्रमण करते हुए वेदान्त दर्शन की पुष्टि और स्थापना मे सलग्न हो गए। अनेक नैयायिको और तर्काचार्यो को शास्त्रार्थ मे हराकर उन्होने वेदान्त मत के सत्य स्वरूप का निरूपण किया। भारत के धार्मिक जीवन मे श्री शकराचार्य का अपना अत्यन्त विशिष्ट स्थान है।

इस प्रकार शकराचार्य ने आचार्य गौडपाद द्वारा प्रतिपादित इस मत की स्थापना की कि इस ससार मे केवल ब्रह्म की ही स्थिति है। उपनिषदों और ब्रह्म-सूत्र मे केवल अद्वैत ब्रह्म का ही उपदेश प्राप्त होता है। अपने सारे भाष्यो मे उन्होने इसी मत की पुष्टि करने का प्रयत्न किया है।[1] ब्रह्मसूत्र के भाष्य मे सर्वत्र ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य पाद किसी प्रचलित द्वैतधारा का खडन करने का प्रयत्न कर रहे है जो आशिक रूप मे साख्य की सृष्टि-रचना-सिद्धान्त को मानते हुए प्रकृति और परमात्मा इन दोनो के अस्तित्व को भिन्न भिन्न रूप मे स्वीकार करती है। ब्रह्मसूत्र के किसी अन्य भाष्य मे इस अद्वैतवादी सिद्धान्त को ब्रह्मसूत्र के उद्धरणो से सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया होगा क्योकि आचार्य शकर स्थान-स्थान पर यह सिद्ध करते है कि उपर्युक्त उद्धरणों में वाक्य विच्छेद उचित ढग से नही किया गया है। एक स्थान पर शकराचार्य स्पष्ट रूप से ऐसा कहते है कि अन्य लोग ब्रह्मसूत्र और उपनिषदो की विभिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत करते है जिससे अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती है। इन भ्रान्तियो को नष्ट करने के लिए और जो आत्मा परमात्मा के एकत्व को नही मानते है (आत्मैकत्व) उनके मत का खडन करने के लिए ही मैं अपना 'शारीरक' भाष्य प्रस्तुत कर रहा हूँ।[2] इन अन्य भाष्यो के सम्बन्ध मे श्री रामानुज के ग्रन्थो के उद्धरणो से कुछ जानकारी प्राप्त होती है। श्री रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य की भूमिका मे लिखा है कि उनके पूर्व अनेक विद्वानो ने आचार्य बोधायन के ब्रह्मसूत्र-भाष्य का सक्षिप्त सार प्रस्तुत किया किया है। मैं आचार्य बोधायन के परम्परागत मत के आधार पर ही ब्रह्मसूत्र की व्याख्या कर रहा हूँ। इसी प्रकार 'वेदार्थ-सग्रह' नामक ग्रन्थ में आचार्य रामानुज ने वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वानो मे बोधायन, टक, गुहदेव, कपर्दिन, भारुचि का उल्लेख किया है और द्राविडाचार्य का नाम भाष्यकार के रूप मे उद्धृत किया है। छान्दोग्य उपनिषद (३, १०, ४) के भाष्य मे जहाँ इस उपनिषद् मे सृष्टि-रचना-सिद्धान्त की

---

[1] श्री शकराचार्य के मुख्य ग्रन्थो मे, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुडक, माडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक और छान्दोग्य की टीकाएँ और 'ब्रह्मसूत्र' का भाष्य सम्मिलित है।

[2] ब्रह्मसूत्र पर शकर-भाष्य १ १।१.१६।

व्याख्या की गई है, वहाँ 'विष्णु पुराण' के सृष्टि रचना-सिद्धान्त से उपर्युक्त सिद्धान्तों के विरोधाभास को स्पष्ट करते हुए आचार्य शकर ने कहा है कि उपर्युक्त विषय में 'आचार्य' का ऐसा मत है। (अत्रोक्तः परिहारः आचार्यैः) श्री आनन्दगिरी का कथन है कि यहाँ शंकर का सकेत श्री द्रविडाचार्य की ओर है। रामानुज के भाष्य से यह प्रकट होता है कि द्रविडाचार्य द्वैतवादी थे और शकर के उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि द्रविडाचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् का भाष्य भी लिखा था।

बादरायण रचित 'ब्रह्मसूत्र' पर जितने भी भाष्य मिलते हैं उनसे यह प्रकट होता है कि लगभग सभी मत इस ग्रन्थ को उपनिषदो के सार के रूप मे स्वीकार करते थे। परन्तु इन सूत्रों की व्याख्या करते हुए अपने मत के अनुसार विभिन्न मतव्य प्रकट करते हुए इस विषय पर मतभेद प्रस्तुत किया जाता था कि सूत्र विशेष उपनिषद् के किस श्लोक या छद के प्रसग मे लिखा गया है अथवा उसका विशिष्ट अर्थ या भावार्थ क्या है। यह ब्रह्मसूत्र चार भागो मे विभक्त है। इन चार 'अध्यायों' को पुनः चार-चार 'पादो' (उप अध्याय) में विभक्त किया गया है। प्रत्येक 'पाद' को फिर कई 'अधिकरणों' में (व्याख्या के विषय) विभाजित किया गया है। अनेक सूत्रो से मिलकर एक अधिकरण बनता है। इन सूत्रो मे प्रस्तुत विषय पर अनेक प्रश्न और व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई है और तत्सम्बन्धी तर्कादि दिए गए है जिसके आधार पर किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। शकर के अनुसार दूसरे भाग के प्रथम चार पदो को छोडकर शेष सभी सूत्र उपनिषद् के श्लोको और छन्दो की व्याख्या के रूप मे प्रस्तुत किए गए है। श्री शकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त-दर्शन की पुष्टि करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही है। एक ब्रह्म ही एकमात्र शाश्वत तत्त्व है। दूसरी पुस्तक के प्रथम पाद मे साख्य के दृष्टिकोण की कुछ कठिनाइयों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। पुन इस दूसरे भाग के दूसरे पाद मे साख्य, योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, जैन, भागवत और शैव मत का खडन किया गया है। प्रथम चार सूत्रो के भाष्य और इन दो पादो मे हमे शकर के अद्वैत दर्शन का स्वरूप स्पष्ट होता है। अद्वैत वेदान्त के मुख्य सिद्धान्तो का निरूपण दूसरे अध्याय के इन्ही दो पादों की टीका मे विशेष रूप से किया गया है। शकराचार्य के दर्शन मे तर्क का महत्व केवल यही है कि यह हमे शास्त्रो के अध्ययन और उनके यथातथ्य अर्थों को समझने में सहायक होता है। वास्तविक सत्य केवल तर्क से नही ज्ञात हो सकता। जो अधिक कुशल तार्किक है वह सहज ही एक तथ्य को सत्य के रूप मे प्रमाणित कर देता है। फिर उसी सत्य को दूसरा तार्किक अपनी विद्वता से असत्य प्रमाणित कर देता है। अतः सत्य केवल तर्क से नही जाना जा सकता। शाश्वत मूल्यो और एक सत्यज्ञान के लिए वेद-उपनिषद् का अध्ययन आवश्यक है। शंकर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनकी उपनिषदो की व्याख्या युक्तिसगत और बौद्धिक अनुभव के अनुकूल

है। जो ज्ञान अनुभव से युक्ति सगत नही प्रतीत होता, उसे मान्य नही कहा जा सकता। उपनिषद् सत्य का भंडार है पर उनका मनन करने के लिए जिस सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, वह दृष्टि श्री शकराचार्य ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, ऐसा उनका अभिमत है। वह किसी स्वतत्र दर्शन की स्थापना करने का आग्रह नही रखते। उनका ध्येय केवल इतना ही है कि उपनिषदो की बौद्धिक और यौक्तिक व्याख्या प्रस्तुत की जाए जिससे उपनिषदो के सत्य को अनुभव के आधार पर सर्व साधारण और विद्वज्जन स्पष्ट रूप से ग्रहण कर सकें। शास्त्र और उपनिषद् ही अन्ततोगत्वा प्रामाणिक और मान्य है, किसी भी प्रामाणिकता का आधार तर्क नही हो सकता, वह तो केवल साधन मात्र है।

इन्द्रिय, शरीर और विषयो के साथ हम अपने आपको इतना एकरस कर लेते हैं कि हम शरीर और आत्मा के रहस्य को समझ ही नही पाते।

माया के कारण हम समझते है कि सुख दुःख आदि की अनुभूति हमारी आत्मा को होती है जो शरीर मे भिन्न है। हम आत्मा और शरीर को एक ही मान लेते हैं। आत्मा शुद्ध प्रबुद्ध, चित रूप है, यह सर्वदा आनन्दमय है। सत्, चित्, आनन्द रूप आत्मा सदैव निर्लिप्त और एकरस रहती है। माया के कारण अनादि भ्रान्ति से भ्रमित हम अपने आप को इन्द्रियादि शरीर से पृथक् नही कर पाते है। जो केवल छाया के समान है, उसको सत्य मानकर अपने मन मे ही सुख-दुःख का अनुभव करते है। यह सारा विश्व मायामय है। इसको उपनिषद्, शास्त्रादि ने स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है, इसके लिए किसी तर्क या प्रमाण की आवश्यकता नही है। जो वस्तु शास्त्र-सम्मत है उसमे तर्क का कोई स्थान ही नही है। यदि आत्मा ही एक मात्र सत्य और शाश्वत व्यापक तत्व है तो अन्य सब असत्य होना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब माया है।

मीमासा-दर्शन का मत है कि वेद कर्मकाड का आदेश देते है। अत उपनिषद् भी धार्मिक कर्मों का निर्देशन करते है क्योकि उपनिषद वेदो का ही अग है। उपनिषदो मे ब्रह्म की मीमासा इस हेतु की गई है कि उसकी विधिवत् उपासना की जाए। ब्रह्म को परम आत्मा के समान समझ कर उसकी उपासना और ध्यान करना चाहिए, ऐसा आदेश समझना चाहिए। शकराचार्य इस मत से पूर्णतय सहमत नही है। उनका कथन है कि उपनिषदो मे अन्तिम सत्य का निरूपण किया गया है। ब्रह्म ही अन्तिम सत्य है। जिसने इस सत्य को सम्यग रूप से जान लिया है, उसे अन्य किसी कर्मकाड की आवश्यकता नही है। वह स्वत ही पूर्णकाम प्रबुद्ध और शान्त हो जाता है। जिसने सत्य का दर्शन कर लिया है उसे फिर किस कर्म की आवश्यकता रह जाती है। कर्मकाड, नियमादि बन्धन उन लोगो के लिए है जो निम्न श्रेणी मे है, जिन्होंने पूर्णज्ञान प्राप्त नही किया है, जो जिज्ञासु रूप में अभी ज्ञान के निम्न सोपानो में भटक रहे है।

जिन्हें किसी भौतिक या दैविक सुख की आकांक्षा नही है, जिनकी तृष्णा का लोप हो गया है, जो कर्मकाड आदि की स्थिति से ऊपर उठकर वीतराग, उपरत हो चुके हैं, ऐसे प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए उपनिषद् का ज्ञानकाड है। भगवद्गीता की टीका में भी श्री शंकराचार्य ने इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि कर्म का आधार कामना है। किसी कामना से प्रेरित होकर मनुष्य शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है। जब मनुष्य कामना के वशीभूत होकर यज्ञादि कर्मकाड करता है, तो उसकी दृष्टि से किसी फल की प्राप्ति की ओर रहती है। वेदों की आज्ञा मानकर नियमादि का पालन और अन्य कर्मों मे भी यही कामना प्रेरक शक्ति होती है। मनुष्य इस अवस्था में कर्म के चक्र मे व्यथित रहता है। जैसे ही मनुष्य इस कर्म-मार्ग का परित्याग कर और ऊपर उठता है, वह ज्ञानमार्ग की ओर अग्रसर होता है। सारी कामनाओं का परित्याग कर, निष्काम, वीतराग होकर केवल ब्रह्म को जानने की इच्छा रखता हुआ उपनिषदो और वेदो के अध्ययन से सत्य को जान कर व्यक्ति स्वय ही मोक्ष की ओर उन्मुख हो उठता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए ही वेदान्त का मनन श्रेयस्कर है। जो वेदान्त का अध्ययन करना चाहते है उनमे निम्न गुण होने आवश्यक है—

(१) नित्यानित्य वस्तुविवेक—शाश्वत और क्षणिक मूल्यो का अन्तर जानने की बुद्धि (२) 'इहामुत्रफल भोगविराग'—सासारिक और पारलौकिक फलों के भोगो के प्रति उदासीन वृत्ति; (३) शम दमादिसाधन सम्पत्—शम (शान्तमना) दम, सयम, त्याग, ध्यान, धैर्य और श्रद्धा की सम्पदा की प्राप्ति (४) 'मुमुक्षत्व'—मोक्ष की उत्कट अभिलाषा। जो व्यक्ति इन गुणो से विभूषित है वही सच्चे अर्थ मे वेद, उपनिषद के पठन-पाठन का अधिकार है। जैसे ही मुमुक्षु को आत्मा और परमात्मा का रहस्य स्पष्ट होकर यह सत्य ज्ञान प्राप्त होता है कि एक ब्रह्म ही सारे ससार मे विद्यमान है, आत्मा ही परमात्मा है, ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या माया है, वैसे ही उसे सही अर्थों में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है वह वीतकाम होकर चिदानन्द मे लीन हो जाता है, किसी कर्मकांड यज्ञादि की उसे अपेक्षा ही नहीं रहती। इस प्रकार 'ज्ञान' और 'कर्म' के मार्ग भिन्न-भिन्न (अधिकारिभेद) प्रकार के व्यक्तियों के लिए है। अपनी योग्यता के अनुसार ही वे ज्ञान मार्ग या कर्ममार्ग के अधिकारी बनते है। यह भी स्पष्ट है कि ज्ञान और कर्म के मार्ग को एक साथ सयोजित (ज्ञान-कर्म-समुच्चयभावः) भी नहीं किया जा सकता क्योकि एक ही व्यक्ति दोनो मार्गों का अधिकारी नहीं बन सकता। आचार्य गौडपाद और शकर के वेदान्त दर्शन मे यही अन्तर है कि श्री शकराचार्य ने आचार्य गौडपाद के दर्शन से बौद्ध विचारो का पूर्णरूपेण परिष्कार कर प्राचीन उपनिषदों की सुव्यवस्थित, यौक्तिक व्याख्या के आधार पर वेदान्त दर्शन की स्थापना की है। आचार्य गौड़पाद को कई विद्वान् 'प्रच्छन्न बौद्ध' (छिपा हुआ बौद्ध) मानते थे परन्तु उनके विचारों का हिन्दू वेदान्त दर्शन पर विशिष्ट प्रभाव पड़ा है। यह कहना

अनुचित नहीं होगा कि उनके शिष्य शंकर और शकराचार्य की शिष्य-परम्परा के द्वारा जिस शुद्ध वेदान्त दर्शन की स्थापना की गई है, उसके आदि स्रोत आचार्य गौडपाद ही थे। इस अध्याय मे जिस वेदान्त दर्शन का निरूपण किया गया है वह शकराचार्य की शिष्यपरम्परा के द्वारा प्रवर्तित और प्रस्थापित वेदान्त दर्शन है जो इस समय तक एक निश्चित सुबद्ध रूप को प्राप्त कर चुका है और जिसके अभाव मे वेदान्त दर्शन को पूर्ण रूपेण समझना कठिन होगा। यह उत्तर वेदान्त शकराचार्य के सिद्धान्तो से कहीं भी भिन्न नही है। केवल जिन प्रश्नो को शकराचार्य ने स्पष्ट नही किया है, उन सबको उनके शिष्यो के द्वारा विद्वत्तापूर्वक स्पष्ट किया गया है। प्रस्तुत अध्याय मे श्री शंकराचार्य ने वेदान्त के जिन मुख्य सिद्धान्तो का निरूपण किया है उनकी चर्चा की गई है।

शकर के अनुसार सारी सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश का आदि कारण ब्रह्म है। नाना रूपो मे, अनेक नामो से जो कुछ यहाँ हम देखते है उन सबका आदि मूल वह ब्रह्म ही है। स्थान, काल, हेतु की अपेक्षा से नानाविध इस कल्पनातीत सृष्टि का ओर-छोर नही दिखाई देता। अनेक प्रकार के व्यक्ति, अनेक प्राणी यहाँ अनेक प्रकार के फलो का भोग करते हुए दिखाई देते है। उनको देखकर बुद्धि विस्मित और स्तभित रह जाती है। इस सारे ससार का सृष्टा पालक और सहारकर्त्ता वही एक ब्रह्म है।[1]

ब्रह्म की स्थिति और अस्तित्व के सम्बन्ध मे शकर का कथन है कि यह सारा ससार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है पर ब्रह्म किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न नही हुआ है अन्यथा इस दूषित चक्र का कोई अन्त नही होगा अर्थात् अनवस्था हो जाएगी। उपनिषदो के आधार पर यह विश्व किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, वह अन्य तत्व ब्रह्म ही हो सकता है। पुन यह सारा विश्व एक विशिष्ट व्यवस्था-क्रम मे बधा हुआ है। कोई चेतन, ज्ञानमय शक्ति इस ससार का सचालन करती है वह ब्रह्म ही है। इसके अतिरिक्त हममे से प्रत्येक की ज्ञान-चेतना के रूप मे ब्रह्म विद्यमान है। हमारी आत्मा के रूप मे ब्रह्म सारे प्राणियो मे ज्ञान के प्रकाश को उत्पन्न करता है। जिस चेतना से हम वस्तुओ को जानते है, उनका सज्ञान प्राप्त करते है वह भी ब्रह्म का रूप है। जो वस्तुएँ ज्ञात की जाती है वे भी ब्रह्म की शक्ति से प्रकाशित होती है। वह सज्ञान-प्रक्रिया में ज्ञेय और ज्ञान और ज्ञाता रूप आत्मा के रूप मे स्थित है। वही 'साक्षी' है, उसको जब हम नही मानते तब भी वह उस निषेध मे नही मानने वाली आत्मा के रूप मे स्पष्ट दिखाई देता है। वही सारभूत तत्व है, वही ससार मे व्यापक एक आत्मा है।

शकर के अनुसार ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द रूप है। यह ब्रह्म-तत्व ही आत्मा के

---

[1] शंकर-भाष्य १.१ २। इसके अतिरिक्त डयूसेन महोदय का सिस्टम आफ वेदान्त भी देखिए।

रूप में हमारे शरीर में विद्यमान है। जागृत अवस्था में अनेक मायामय अनुभूतियों में हम विचरण करते रहते है। हमारा अहम् प्रत्येक अनुभूति के साथ यह अनुभव करता है कि मैं ऐसा कर रहा हू, मैं यह सुख-दु.ख भोग कर रहा हूं। परन्तु जब हम गहरी निद्रा मे, सुषुप्त अवस्था मे, होते हैं तो हमारी आत्मा का शरीर और बाह्य भौतिक जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इस अवस्था में आशिक रूप से उस निर्मल आनन्द की स्थिति का आभास प्राप्त करते हैं जो ब्रह्मानन्द की स्थिति है। परन्तु प्राणिमात्र अपने भिन्न-भिन्न (नानाविध) रूपो मे मायामात्र है। इन सबके अन्दर जो सत्, चित्, आनन्द तत्व व्याप्त है, वही सत्य ब्रह्म तत्व है।

सारी सृष्टि माया है, परन्तु इस ससार को मायारूपी सृष्टि के रूप मे देखकर हम कह सकते है कि सम्भवत ईश्वर ने इस ससार को केवल क्रीड़ारूपेण अपने आनन्द के लिए बनाया है। जिस दृष्टि से हम सबका अस्तित्व है और इस विश्व का अस्तित्व दिखाई देता है उस दृष्टि से हम सृष्टा का भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं कि ईश्वर ने ही इस ससार को बनाया है, वही सृष्टिकर्त्ता है। परन्तु यदि सृष्टि का कोई वास्तविक अस्तित्व नही है, तो किसी सृष्टिकर्त्ता के भी अस्तित्व का कोई प्रश्न नही उठता। सत्य दृष्टि से न सृष्टि का अस्तित्व है न सृष्टिकर्ता का। ब्रह्म जो महान् आत्मा के रूप मे सर्वत्र स्थित है, वही इस विश्व का 'उपादान कारण (तत्वरूप हेतु) और वही 'निमित्त कारण' (कर्त्तारूप) है। कारण-कार्य मे कोई भेद नही है। यह कार्य रूपी ससार मायामय है। यह ब्रह्म की माया का प्रसार है, माया व्याप्ति के मूल मे ब्रह्म अवस्थित है। नाम, रूप, भेद से अनेक वस्तुएँ दिखाई देती है, पर तत्वरूपेण उनमे कोई अन्तर नही है। मिट्टी से चाहे घडा बनाया जाए, या कोई अन्य पात्र। सभी पात्रो मे मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नही है। मिट्टी की स्थाली और घड़े मे 'नामरूप' का ही अन्तर है। यह विश्व ब्रह्म रूप है, अत यही कार्य रूपेण अनेक 'नामरूपो' मे अवस्थित होता है। यह उसका 'व्यावहारिक' अस्तित्व है, परन्तु कारण रूप मे वह अपने सत्य स्वरूप 'पारमार्थिक' रूप मे शाश्वत ब्रह्म के रूप मे स्थित है।[1]

वेदान्त दर्शन के मुख्य तत्व

शंकर वेदान्त का मुख्य तत्व अद्वैतवाद है। प्राणिमात्र मे जो भिन्न-भिन्न आत्मा

---

[1] ब्रह्म-सूत्र के शाकर-भाष्य के मुख्य तत्वों का श्री डयूसेन महोदय ने अपनी पुस्तक 'सिस्टम आफ वेदान्त' मे बड़े सुन्दर ढग से निरूपण किया है अतः उस सबकी यहाँ पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी। श्री शंकराचार्य के अनुयायियों के दृष्टिकोण को विशेष रूप से ध्यान में रखकर, वेदान्त दर्शन की व्याख्या इन पृष्ठों मे की गई है।

दिखाई देती है, वह एक ही आत्मा है। यह एकात्मा ही शाश्वत सत्य है। अन्य सब मिथ्या है। प्राणियों से भिन्न जो पार्थिव जगत् है, वह भी असत्य है। आत्मा ही सत्य रूप है। सारे मानसिक और भौतिक व्यापार क्षणिक हैं। अन्य सारे दर्शन जीवन मे वस्तु सत्य को खोजते हुए पार्थिव जगत् मे हमारे व्यवहार के हेतु प्रामाणिक तथ्य उपस्थित करते हैं। उनकी दृष्टि वस्तुवादी और ससार की व्यावहारिक मर्यादाओं से सीमित है। परन्तु वेदान्त इस दृश्यमान जगत् को कोई महत्व न देते हुए इसे माया प्रतिबिंब मानकर उस मूल तत्व की ओर दृष्टिपात करता है जिससे यह सारा ससार प्रतिभासित हो रहा है। वेदान्त उस अन्तिम सत्य को खोजता है जो इस अनेकविध, सूक्ष्मतम पार्थिव व्यापार के मूल मे अवस्थित है। श्वेतकेतु को शिक्षा देते हुए वेदान्त के एक प्रामाणिक ग्रन्थ 'महाकाव्य' मे कहा है, 'हे श्वेत केतु तत्वमसि'। तुममे ही वह महान् निहित है। तुम ही वह सत्य हो। तुम ही आत्मा और ब्रह्म हो। 'तत् त्वम् असि' वेदान्त का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त वाक्य बन गया है। अपनी आत्मा के स्वरूप का यह ज्ञान ही सत्यज्ञान है। क्योंकि जैसे ही यह ज्ञान हो जाएगा, ससार की माया का स्वयमेव ही लोप हो जाएगा। इस ज्ञान के अभाव मे ही मनुष्य इधर उधर भटकता फिरता है। परन्तु जब तक मन मे वासनाओं और तृष्णा का आवेग शान्त नही होता, हम इस महान् सत्य को सच्चे अर्थों मे ग्रहण नही कर पाते। शुद्ध चित्त होकर जब आत्मा मोक्ष की इच्छा से अन्तिम सत्य को खोजती है तब गुरु दीक्षा देता है कि तुम ही वह महान् सत्य हो (तत्वमसि)। इस दीक्षा से वह स्वय उस सत्य के साथ आत्मसात् कर एकनिष्ठ हो जाता है। सत्, चित्, आनन्द रूप मे रमता हुआ निर्धूम प्रकाश के समान जाज्वल्यमान हो उठता है। सारी अविद्या, ममत्व आदि का नाश हो जाता है। साधारण अज्ञान, मेरा-तेरा आदि का कोई महत्व ही नहीं रहता। यह ससार एक इन्द्रजाल के समान प्रतिबिंब रूप दिखाई देता है। माया के बन्धन स्वयमेव अलग हो जाते है। वह केवल ज्ञानी होकर निर्द्वंद विचरण करता है।

अन्य भारतीय दर्शनो की यह मान्यता है कि मनुष्य मोक्ष प्राप्ति के अनन्तर सासारिक सुख-दुख आदि अनुभूतियो से ऊपर उठकर सारे सकल्प-विकल्पो के ऊहापोह का परित्याग कर वीतराग हो शुद्ध, निर्मल, आनन्दमय स्थिति को प्राप्त हो जाता है। यहाँ मूल कल्पना यह है कि कर्मों के बन्धन से छूटकर मनुष्य वासनादि के जजाल से मुक्त होकर, एक ऐसी उन्नत अवस्था मे पहुँच जाता है, जहाँ सासारिक पार्थिव व्यापार का उसके लिए कोई महत्व नही है। वह वीतकाम, निर्बन्ध सत्ता होकर सारे सासारिक जजाल से मुक्ति पा जाता है। उसने धर्मादि आचरण से अपने सारे सासारिक बन्धनों का क्षय कर दिया है। वह परमहस पद प्राप्त कर निर्बन्ध हो गया है। उस आनन्द मय स्थिति मे उसे पार्थिव जगत् से किसी प्रकार की अपेक्षा नही है। पर अन्य सारे प्राणी इस पार्थिव जगत् के बन्धन से उसी प्रकार बधे हुए अनेक कर्म करते रहते हैं।

पुराने कर्मों के भार से दबे हुए, आत्मा के स्वरूप को न जानते हुए, तृष्णा के जाल में फँस कर मनुष्य अनेक कर्म करता रहता है। इस प्रकार इस ससार की गति चलती रहती है। मुक्ति का अर्थ अपने आपको इस संसार के बन्धनो से मुक्त करना माना जाता है जिसमे मनुष्य अपने मन मे ही अनेक प्रकार के कष्ट पाता रहता है। न्याय वैशेषिक और मीमासा मुक्ति की इस शुद्ध निर्मल स्थिति को अचेतन स्थिति मानते हैं और साख्य एव योग इसे पूर्ण शुद्ध, निर्मल 'चित्' स्थिति मानते है।

परन्तु वेदान्त का मत यह है कि इस पार्थिव जगत् का कोई अस्तित्व ही नही है। यह केवल भ्रान्त कल्पना मात्र है। यह केवल उस क्षण तक रहता है जब तक हमको सत्य ज्ञान नहीं होता। ब्रह्म के स्वरूप का सही ज्ञान होते ही इस सासारिक माया का लोप हो जाता है। माया ससार की समाप्ति का कारण यह नही है कि हम अपने आपको ससार से विरक्त कर लेते है, अथवा इससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रखते, परन्तु इसलिए कि इस पार्थिव व्यापार का कोई सत्याधार नही है। अनादि काल से चली आती हमारी ससार सम्बन्धी कल्पनाओ के पीछे कोई आधार ही नही है। ये भ्राति मात्र कल्पनाएँ है। हमको न अपने सम्बन्ध मे कुछ पता है, न इस ससार के सम्बन्ध मे। जो कुछ साधारण दृष्टि और अनुभव से हमको दिखाई देता है उसको ही हम सत्य मानकर अपने दैनिक कर्मों मे प्रवृत्त हो जाते हैं। यह सत्य है कि इस सारे दृश्यमान् जगत् मे एक व्यवस्था और क्रम दिखाई देता है। परन्तु यह व्यवस्थित नियमित ससार यदि हमारी अनुभूति के आधार पर सत्य दिखाई देता है तो यह सत्य एक आपेक्षित सत्य है। हमारी इन्द्रियानुभूति ही इस सत्य का आधार है। सीपी के टुकड़े को देखकर मनुष्य उसे अनेक बार चाँदी का टुकडा मान लेता है और उसे उठाने को भागता है। पर जैसे ही उसे सत्य-बोध होता है कि यह चाँदी का टुकडा न होकर सीपी मात्र है, वह उसे छोडकर चल देता है। फिर वह पुन भ्रम मे नही पडता। इसी प्रकार मनुष्य सत्यज्ञान के पूर्व ससार को सत्य समझ कर इसकी ओर दौडता है पर जैसे ही भ्रान्ति का लोप होता है वह सत्य को जानकर इससे विमुख हो जाता है। चाँदी के टुकडे की भ्रान्ति कुछ क्षणो के लिए प्रामाणिक दिखाई देती है। वह जीवन के अन्य तथ्यो की तरह हृदय मे अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प आशादि उत्पन्न करती है। इस पार्थिव सत्य से प्रेरित मनुष्य कर्म के लिए उद्यत होता है, परन्तु जब वह उसको हाथ मे उठाता है, उसे वास्तविक सत्य का पता चलता है। वह तत्काल उसे दूर फेक देता है उसके हृदय मे फिर किसी प्रकार का मोह उस शुक्ति-खड की ओर नही रहता। अत उपनिषद् का कथन है कि एक ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है, भ्रान्ति है। जो इस एक सत्य को छोडकर अनेक प्रपचो मे फँसता है उसे दुःख और निराशा ही प्राप्त होती है। द्विधाओ में फँसा मन ब्रह्म से विमुख हो जाता है।

अन्य दर्शनो का मत है कि मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् भी संसार इसी प्रकार

चलता रहेगा। हमारे लिए इस ससार का अस्तित्व इसलिए नही रहता कि हम इन्द्रिय-जगत् से दूर हो जाते हैं। जब इन्द्रियो का कार्य-क्षेत्र समाप्त हो जाता है तो मोक्ष के अनन्तर हमारे लिए ससार का अस्तित्व नही रहता। सांख्य दर्शन मे मोक्ष प्राप्त 'पुरुष' शुद्ध रूप मे अवस्थित हो जाता है। बुद्धि तत्व 'पुरुष' से अलग होकर प्रकृति मे लय हो जाता है। मीमांसा और न्याय दर्शन मे मोक्ष की स्थिति मे आत्मा का मन से विच्छेद हो जाता है, परन्तु वेदान्त की स्थिति भिन्न है। जिसने ब्रह्म को पा लिया है, जिसने इस महान् सत्य का दर्शन कर लिया है, उसके लिए इस सासारिक माया का मिथ्या रूप स्वयमेव समाप्त हो जाता है। प्रारम्भ से ही इस माया-ससार का कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। परन्तु हम अनादि काल से चली आ रही मिथ्या भ्रान्ति के कारण ससार को सत्य मान लेते है। जो सत्य है, उसे हम सत्य रूप मे ग्रहण कर सकते है, पर जो असत्य है, मिथ्या है, वह सत्य के समक्ष ठहर ही नही सकता। जब सत्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है, तो माया का लोप हो जाता है। उपनिषदो मे कहा है कि सत्य एक ही हो सकता है, अनेक सत्य नही हो सकते। ब्रह्म ही एक सत्य है। शकराचार्य ने इस अनेक का अर्थ ब्रह्मेतर अन्य सारी वस्तुओ के रूप मे किया है, अत इन सबको मिथ्या और असत्य माना है। क्योकि ब्रह्म के अतिरिक्त और सब असत्य, माया, भ्रान्ति है, अत. इस एक सत्य को ग्रहण करने से माया का लोप हो जाता है। परन्तु एक शका यह होती है कि माया और ब्रह्म का क्या सम्बन्ध है, माया ब्रह्म से कैसे सलग्न हो जाती है। वेदान्त इस शका को वैध नही मानता है। यह सारहीन प्रश्न है, क्योकि ब्रह्म का माया से कोई सम्बन्ध ही नही है। व्यष्टि अथवा ब्रह्माड रूपी समष्टि के किसी भी प्रसग मे किसी भी काल मे माया का ब्रह्म से सम्बन्ध नही सोचा जा सकता। माया की उत्पत्ति से, अथवा किसी भी भ्रान्त कल्पना से सत्य पर कोई प्रभाव नही पडता। माया का अस्तित्व 'अविद्या' मे है। सत्यज्ञान के उदय होने पर 'अविद्या' का लोप हो जाता है। जब तक भ्रान्ति रहती है, 'अविद्या' के कारण यह सब प्रपच का आभास वास्तविक सा प्रतीत होता है। सत्यज्ञान के उदय के साथ ही यह आभास स्वप्नवत दूर हो जाता है। इस ससार का अस्तित्व केवल 'प्रातीतिक सत्ता' है, जब तक हम माया भ्रान्ति से ग्रसित रहते है, यह ससार सत्य प्रतीत होता है। माया का रूप विचित्र है। यह साधारण तर्क के परे है। इसका भाव है अथवा अभाव, यह कहना भी कठिन है। माया है, या नही है, यह नही कहा जा सकता (तत्त्वान्यत्वाभ्याम निर्वचनीया)। स्वप्न के समान ही, हमारी सारी इन्द्रियानुभूति के आधार के रूप मे यह माया सत्य प्रतीत होती है। इसका अस्तित्व हमारे प्रत्यक्ष मे निहित है। इस प्रत्यक्ष के आधार पर यह अस्तित्व सत्य दिखाई देता है। परन्तु हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अनन्तर इसका कोई अस्तित्व नही है। अर्थात् हमारी मिथ्या दृष्टि से जो कुछ हम दिखाई देता है, इस दृश्याभास के परे इसका कोई स्वतत्र आधार या अस्तित्व नही है। जैसे स्वप्न का सत्य उस क्षण तक ही

वास्तविक प्रतीत होता है, जब तक वह स्वप्न् भंग नहीं होता, इसी प्रकार हमारी मोह निद्रा का यह दृश्यमान् जगत् भी उस समय तक सत्य रहता है जब तक हम इस निद्रा में मग्न रहते हैं। यदि इस मिथ्या प्रत्यक्ष और संज्ञान का कोई अर्थ है तो वह भी उतना ही असत्य है, इस असत्य माया से ब्रह्म पर कोई प्रभाव नही होता। ब्रह्म परम सत्य है। सत्य का असत्य से कोई सम्बन्ध नही हो सकता। ब्रह्म माया से परे है। माया शून्य है, ब्रह्म यथार्थ है। यथार्थ शून्य-रिक्तता से कभी भी प्रभावित नही हो सकता। इस ससार मे ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब शून्य के समान हैं। ब्रह्म ही मनन करने योग्य एक मात्र सत्य है।

जगत् प्रपंच का मिथ्या रूप

यह सारा संसार मिथ्या है। यह माया का रूप है। इस मिथ्या ससार का रूप भी अनिश्चित है। यह प्रपच कालापेक्षा से 'सत्' और 'असत्' दोनों ही है। काल की दृष्टि से यह संसार असत् है क्योंकि इसका अस्तित्व शाश्वत नहीं है। इसका स्वरूप तब तक ही दिखाई देता है जब तक सत्य ज्ञान का उदय नही होता। सत्य ज्ञान के पश्चात् यह 'तुच्छ' प्रतीत होने लगता है। फिर इसका कोई अस्तित्व ही नही रहता। यह जगत् प्रपच 'सत्' भी है। यह सत् इस अर्थ मे है कि जब तक मिथ्या ज्ञान का अस्तित्व है, यह संसार वास्तविक दिखाई देता है। अत अज्ञान के क्षणो तक यह यथार्थ के रूप मे प्रतिभासित होता है। परन्तु क्योकि इसकी सत्ता सभी काल मे सत्य नहीं है, यह शाश्वत सत्ता नहीं है, अतः यह 'असत्' है। जब यथार्थ को इसके सत्यरूप मे जान लिया तो जो असत्य है उसका स्वयमेव लोप हो जाता है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यह संसार न कभी था, न है, न आगे कभी रहेगा। मिथ्या दृष्टि से जो सत् प्रतीत होता है, सत्य दृष्टि से वही भ्रान्ति के रूप मे दिखाई देता है। जैसे शुक्ति मे रजत का आभास होता है तो हम रजत की सत्ता को सत्य मान कर तदनुसार कर्म करते है परन्तु भ्रान्ति-निवारण के साथ ही हम समझ जाते है कि 'रजत' (चाँदी) खंड न कभी था, न है, न रहेगा। ब्रह्मानुभूति के साथ ही संसार की निस्सारता का अनुभव होने लगता है। जैसे ही इस ज्ञान का उदय होता है कि ससार मिथ्या है, हमे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारा पूर्वज्ञान भी मिथ्या है। यह ससार असत् है, इसके सम्बन्ध मे हमारी कल्पना भी असत् है। ससार माया है। परन्तु माया का भी स्वयं कोई अस्तित्व नही है। माया और ब्रह्म दो वस्तुएँ नही हैं। अद्वैत ब्रह्म की ही शाश्वत स्थिति है। इस माया की विचित्रता यह है कि यह 'सत्' के साथ स्थित दिखाई देती है। परन्तु इसका कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। संसार की सत्ता हमको सत् रूप मे दिखाई देती है, यही माया है। सत्य वह है जो सब काल में, सभी स्थितियों मे, सत्य हो। जो किसी भी समय मे प्रमाणों से असत्य सिद्ध न हो। एक

वस्तु को हम सत्य तब तक ही मानते हैं जब तक उसको कोई अन्यथा सिद्ध न कर दे, परन्तु क्योंकि ज्ञान के उदय से यह संसार मायामय प्रतीत होता है, अतः इसे सत् नहीं कहा जा सकता।[1] ब्रह्म ही इस संसार मे एक शाश्वत सत्य है, वही सत् है, वही अद्वैत रूप मे स्थित है। सत्य और मिथ्या का स्वरूप समझना आवश्यक है। मिथ्या को मिथ्या प्रमाणित करने से भी हम किसी सत्य पर नही पहुँच सकते। सत्य स्वयं अपनी सत्ता से स्थित है, इसको किसी अन्य प्रतिरोधी सत्ता की अपेक्षा नहीं है। माया के कारण ब्रह्म की सत्ता नही है। माया असत्य है, माया के मिथ्यात्व से भी ब्रह्म प्रमाणित नही होता। सत्यज्ञान से संसार की निस्सारता, मिथ्या ज्ञान की निस्सारता और माया का असत् इन सबका स्वयंमेव बोध हो जाता है।

ब्रह्म की सत्ता के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नही है, ब्रह्म स्वय प्रकाशित ('स्वप्रकाश') है। इसका कोई रूप नही है। अत. यह इन्द्रियो से नही जाना जा सकता। हम जिन वस्तुओं को, भावनाओ आदि को अपने ज्ञान से ग्रहण करते हैं वह 'दृश्य' की संज्ञा से जाना जाता है। 'ब्रह्म' स्वय 'दृश्य' न होकर 'द्रष्टा' है। चित् वृत्ति के क्षेत्र मे आकर सारी वस्तुएँ हमारे सज्ञान द्वारा ग्राह्य होती है। कोई भी पदार्थ स्वय अपने आपको प्रकाशित नही कर सकता। जब हम अपनी चित्तवृत्ति को वस्तु विशेष की ओर केन्द्रित करते है तो वह हमारे ज्ञान का विषय बन जाती है। ब्रह्म को भी जब तक हम उपनिषदो मे वर्णित विषय के रूप मे देखते है, हम इसे इसी प्रकार जानते है। परन्तु जब वह अपने सत्य स्वरूप मे देखा जाता है, तो वह साधारण वस्तुओ से पृथक् दिखाई देता है। अपने शुद्ध स्वरूप मे वह निराकार, निर्गुण, स्वप्रकाशी एव द्रष्टा के रूप मे स्थित है। ब्रह्म का कोई रूप नही है। 'दृश्यता' की कल्पना मे 'जड़त्व' की भावना निहित है। जिसे हम देखते है उसका भौतिक आधार होना चाहिए। इस 'जड़त्व' से निश्चित है कि वह वस्तु स्वयं प्रकाशित नही है, यह उसका 'अनात्मत्व' है, इसमे ही उसका 'अज्ञानत्व' निहित है। अर्थात् हमारे ज्ञान-क्षेत्र के सारे पदार्थ जड एव किसी अन्य ज्ञान मे प्रकाशित है, वे स्वय अपने आपसे प्रकाशित नही हैं, क्योंकि उनमे स्वय में अपने आपको प्रकाशित करने की शक्ति नही है। हमारा ज्ञान मिथ्या है, अत उस ज्ञान-क्षेत्र से प्रकाशित सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं। शुक्ति में रजत की भावना जैसे असत्य है उसी प्रकार हमारे ज्ञान का तात्कालिक रूप भी असत्य है। परन्तु यह ज्ञान जब शाश्वत तत्व के रूप मे स्थित होता है, तब शाश्वत सत्य का दर्शन करता है। शुद्ध ज्ञान पर माया का ऐसा प्रभाव होता है कि वह सीमित क्षणिक 'परिच्छिन्न' पदार्थों को यथार्थ का रूप देकर मोहाविष्ट हो स्वय सीमित हो जाता है। परन्तु ज्ञान निस्सीम है, अनन्त है, शाश्वत है। वह वस्तु-काल की सीमाओं से बंधा

---

[1] 'अद्वैत सिद्धि' और 'मिथ्यात्वनिरुक्ति' पुस्तक देखिए।

हुआ नहीं है। ज्ञान सर्वत्र स्थित है, सभी वस्तुओं मे सभी कालों मे प्रवाहित होता रहता है। इस शुद्ध ज्ञान रूप मे जड वस्तुओं का निक्षेप माया के कारण होने से मिथ्या संसार की कल्पना सत् दिखाई देने लगतीहै। जैसा कहा है कि 'घटादिकम् सदर्थे कल्पितम्, प्रत्येकम् तदनुविद्धत्वेन प्रतीयमानत्वात्'। अतः ब्रह्म से भिन्न यह ससार मिथ्या है। ब्रह्म वह उपादान कारण है जिसमें इस सारी माया का निक्षेप किया गया है। ब्रह्म ही सत्य है, यह संसार प्रपंच ब्रह्म से प्रकट, ब्रह्म मे अत्यन्त भाव से स्थापित मिथ्या परिभास मात्र है। 'चित्सुख' मे कहा गया है, 'उपादान निष्ठा त्यन्ताभावप्रतियोगित्व लक्षणमिथ्यात्व सिद्धि। एक ब्रह्म ही सत्य है,जगत् मिथ्या है।

इस दृश्यमान् जगत् (सांसारिक प्रपंच) का स्वरूप

यह सासारिक प्रपच माया है, हमारे मन की भ्रान्ति है। परन्तु यह भ्रान्ति शुक्ति (सीपी) मे रजत की भ्रान्ति से भिन्न है। शुक्ति मे रजत की भ्रान्ति 'प्रातिभासिकी' भ्रान्ति है जो कुछ समय पश्चात् हमारे अन्य अनुभव से असत्य सिद्ध हो जाती है। परन्तु इस सांसारिक भ्रान्ति का इस ससार मे अन्त नही होता, हमारा सारा व्यवहार इस भ्रान्ति के परिप्रेक्ष्य मे ही होता है। अत. इस भ्रान्ति को 'व्यावहारिकी' भ्रान्ति कहते है। जब तक ब्रह्म सम्बन्धी सत्य ज्ञान का उदय नही होता हम इस ससार को ही सत्य मान कर तदनुकूल आचरण करते है। अनादि काल से चले आते हुए अनादि सामूहिक अनुभव से यह भ्रान्ति और भी अधिक घनीभूत हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य का एक सा ही अनुभव होने से हम सब ससार को यथार्थ के रूप मे देखने लगते है। परन्तु सत्य ज्ञान होने पर एक समय ऐसा आता है जब सासारिक प्रपचो का हमारे निकट कोई अर्थ नही रहता। यह सब तुच्छ दिखाई देने लगता है। तब हम सहज ही यह कह उठते है कि यथार्थ की दृष्टि से उस ससार का कोई महत्व नही है, यह अवास्तविक है। फिर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सब केवल एक सामूहिक भ्रान्ति मात्र है। वेदान्त के इस मत के सम्बन्ध में एक शका यह उत्पन्न होती है कि जब हम संसार को 'सत्य' रूप मे अपने सामने स्पष्ट रूप मे देखते है तो हम इसकी यथार्थता को अस्वीकार किस प्रकार कर सकते है। वेदान्त इस शका का समाधान करते हुए उत्तर देता है कि सत्य इन्द्रियो से नही जाना जा सकता। इन्द्रिय-ज्ञान का क्षेत्र सीमित है। न इसे हम सम्यक् ज्ञान का विषय कह सकते है क्योंकि उस महान् सत्य को जाने बिना सम्यक् ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। शाश्वत सत्य, अपरिवर्तनीय स्वतत्र और सर्वोपरि होना चाहिए। इस सत्य को इन्द्रियों के अनुभव से नही जाना जा सकता। इन्द्रियाँ अनुभूति का माध्यम हैं पर उस अनुभूति की प्रामाणिकता उनके क्षेत्र से बाहर है। जो कुछ हम इन्द्रियो के माध्यम से देखते है वह केवल दृश्यमात्र है और यह नहीं कहा जा सकता कि हमारी पुनः दृष्टि से जो अभी देखा है वह ऐसा ही दिखाई देगा। इन सब

इन्द्रिय-विषयों के मध्य में कभी-कभी सत्य, प्रकाश की अद्भुत चमक के समान एक क्षण के लिए कौंध जाता है। हमारी चेतना मे एक क्षण के लिए जिस सत्य की चमक दिखाई देती है वही ससार का आधार है। यह 'सत्' ही वह सत्ता है जो सारे ससार के सभी भौतिक-अभौतिक तत्वों मे सूत्र रूपेण निहित है। यह वही 'अधिष्ठान' है जिस पर इस दृश्यमान् जगत् की स्थिति है। इस सत् पर ही ससार की अवस्थिति है। यही सारे कार्यों मे अनन्त धारा के रूप मे प्रवाहित होता रहता है। अत जिसकी वास्तविक सत्ता है वह यह 'सत्' है, इसके अनेक स्वरूपो का कोई महत्व नहीं है। सारी भौतिक घटनाओ एव दृश्यो के भीतर यह सत् ही शाश्वत सूत्र है (एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीति.)। न्याय का कथन है कि वस्तुओ का अस्तित्व उनके सत्रूप को प्रकट करता है परन्तु न्याय का यह मत सत्य नही है। वस्तुओ का अस्तित्व एक आभास मात्र नही है। इस सारे आभास का आधार एक ही सत् तत्व है। इस सारी भ्रान्ति और माया का 'अधिष्ठान' यह 'सत्' है जो सर्वत्र व्यापक है। सारे आभास में इसी की स्थिति है। यह 'सत्' भिन्न-भिन्न वस्तुओं मे भिन्न-भिन्न नही है। एक ही सत् भिन्न-भिन्न रूप मे सब मे व्याप्त है। जो कुछ हमे दिखाई देता है उसे यदि प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सत्य मानने का विचार भी किया जाए तो हमको यह सोचना पडेगा कि हमारा प्रत्यक्ष कितना विश्वसनीय है। अनेक बार बुद्धि द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि जो प्रत्यक्ष हमको सत्य दिखाई देता है वह वास्तविकता से अत्यन्त दूर है। उदाहरण के लिए साधारण दृष्टि से सूर्य को देखकर हम समझते है कि यह एक लघु पिंड है पर हमारा यह प्रत्यक्ष कितना भ्रान्तिमय है इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नही है। अत. हमारा प्रत्यक्ष अनुभव प्रामाणिक नही माना जा सकता। संसार को हम यथार्थ मान कर यह सोच सकते थे कि इससे परे और कुछ नहीं है, यही सत्य है जो हमारे प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है। परन्तु श्रुति और अनुमान का सकेत इससे भिन्न है। बुद्धि से भी यह जाना जाता है कि प्रत्यक्ष सदैव सत्य ही नही होता। यह भी सत्य है कि हम अपने सारे व्यवहार के लिए अपने प्रत्यक्ष पर निर्भर है, उसी के 'उपजीव्य' है। परन्तु हमारी निर्भरता (उपजीव्यता) प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता सिद्ध नही कर सकती। किसी वस्तु की वैधता उसकी 'परीक्षा' पर निर्भर करती है। विवेचन और विश्लेषण से हम यह अध्ययन करते है कि हमारे विश्वासो का आधार कहाँ तक सत्य है। यह भी सही है कि सभी व्यक्तियो के साक्ष्य से इस जगत् की सत्ता और स्थिति स्पष्ट प्रकट होती है। हमारे प्रत्यक्ष के आधार पर हम जो कर्म करते हैं उसके प्रतिफल से भी सासारिक व्यापार की वैधता सिद्ध होती है। वेदान्त भी इसे अस्वीकार नही करता कि सासारिक व्यापार की स्थिति है। वेदान्त का मत यह है कि यह व्यापार शाश्वत नही है। एक समय ऐसा आता है जब यह व्यापार अर्थहीन हो जाता है। यह नाशवान है। सासारिक वस्तुओ की उपादेयता और अनुभूति हमारे किसी अन्य अनुभव के आधार पर मिथ्या सिद्ध हो जाती हैं। मुक्त पुरुष के

लिए यह संसार माया मात्र दिखाई देता है। ब्रह्मज्ञानी के लिए यह सारा ससार निरर्थक प्रवचना मात्र है जो स्वय असत्य है और जो सत्य को देखने में व्यवधान स्वरूप है। अत. स्पष्ट है कि हमारे प्रत्यक्ष से वेदान्त दर्शन के इस मत का कि संसार मिथ्या है, माया मात्र है, खडन नही हो सकता। शास्त्रोपनिषद् सभी एक मत है कि हमारे प्रत्यक्ष से जो नानाविध ससार दिखाई देता है वह शाश्वत सत्य नही है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य दृष्टिकोण से भी यह संसार असत्य दिखाई देता है। ज्ञान चेतना ('दृक्') और इस चेतना की विषय वस्तुओ ('दृश्य') मे भी कोई वास्तविक सम्बन्ध दिखाई नही देता। हमारी चेतना के द्वारा वस्तु विशेष एक क्षण के लिए प्रकाशित हो उठती है जिससे उस वस्तु का सज्ञान प्राप्त होता है। अत ज्ञान चेतना के इस सहसा प्रकाश की कौंध मे ही हम सब वस्तुओ को देखते है। परन्तु चेतना और इसके क्षेत्र की वस्तुओ मे कोई सम्बन्ध दिखाई नही देता। न तो इन दोनो मे कोई 'सयोग' सम्बन्ध है न 'समवाय' सम्बन्ध है। अर्थात् पहले सम्बन्ध मे इन दोनों वस्तुओ का योग होना चाहिए और दूसरे (समवाय) मे व्याप्ति। पर इन दोनो सम्बन्धो के अतिरिक्त हमे और किसी सम्बन्ध का पता नही चलता। ससार की सारी वस्तुओ मे यही दो सम्बन्ध पाए जाते हैं।

हम कहते हैं कि अमुक वस्तु हमारे ज्ञान का विषय है। ज्ञान की इस विषयात्मकता (वस्तुनिष्ठता) से क्या अर्थ है। इसका यह अर्थ नही हो सकता कि वस्तु विशेष मे मीमासा की 'ज्ञानता' के समान कोई विशेष गुण या प्रभाव उत्पन्न हो जाता है, क्योकि ऐसा कोई गुण या प्रभाव देखने मे नही आया। प्रभाकर की भाँति हम यह भी नही कह सकते कि विषयात्मकता से व्यावहारिक अर्थ (उपादेयता) का बोध होता है क्योंकि कई वस्तुएँ ऐसी है जिनको हम देखते है पर वे हमारे किसी अर्थ की नही होती। उदाहरण के लिए आकाश हमारी ज्ञान-चेतना का विषय है पर हमारे लिए उपादेय नही है। इसी तरह हम यह भी नही कह सकते कि यह विषय-वस्तु हमारे विचारो की उत्प्रेरक है अथवा 'ज्ञान-कारण' है। क्योकि यह व्याख्या उन वस्तुओ के लिए सत्य हो सकती है जिनको हम इस समय देखते है। परन्तु अनेक वस्तुएँ ऐसी है जो हमारी ज्ञान-चेतना से पूर्व काल से स्थित है। अत जो वस्तु तत्काल ज्ञान-चेतना के क्षेत्र मे नहीं आती वह ज्ञान-कारण नही हो सकती। वस्तुओ की इस अभिदृश्यता (वस्तुनिष्ठता) से यह भी अर्थ नही हो सकता कि ये वस्तुएँ ज्ञान-चेतना पर अपना बिब प्रक्षेप करती है, और इसलिए यह ज्ञान का विषय मानी जाती है। यह उन वस्तुओ के लिए तो सत्य हो सकता है जो हमारे तत्काल प्रत्यक्ष का विषय है, परन्तु जो वस्तुएँ अनुमान से जानी जाती है उनके विषय में हम ऐसा नही कह सकते। अनुमान की विषय-वस्तुएँ बहुत दूर होने के कारण हमारी चेतना को अपने बिब-प्रक्षेप से प्रभावित नही कर सकती। इस प्रकार हम किसी भी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करें हमारी समझ में

नहीं आता कि हमारे ज्ञान का इन बाह्य वस्तुओं से किस प्रकार का वास्तविक सम्बन्ध हो सकता है। अतः इन सबको देखते हुए यही कहा जा सकता है कि ससार स्वप्न मे दिखाई देने वाले प्रतिबिंब के समान आभास मात्र है, ऐसी ऐन्द्रजालिक माया है जो दिखाई देती है, पर जो वास्तव मे सारहीन, निःस्वत्व है।

यद्यपि यह सारा ससार और इस बाह्य जगत् की वस्तुएँ माया मात्र है फिर भी वस्तु विशेष के प्रकाश मे आने के लिए हमारी चित्तवृत्तियाँ उस ओर प्रवाहित होनी चाहिए जिसके द्वारा उस वस्तु से इन्द्रिय-सम्पर्क स्थापित होता है। सरल शब्दो मे हमारी इन्द्रियाँ उस वस्तु को ग्रहण करती है जिस ओर उस क्षण मे हमारी वृत्ति का झुकाव होता है। यदि ऐसा ही है तो फिर शका यह उठती है कि हम इन सब वस्तुओ और इस बाह्य जगत् को वास्तविक क्यो नही मान लेते। जो वस्तुएँ हमारी इन्द्रियो के द्वारा स्थूल रूप से ग्रहण की जाती है, उनकी 'सत्' स्थिति होनी ही चाहिए। वेदान्त का उत्तर जटिल है। वेदान्त का कथन है कि ससार की सारी वस्तुएँ सत् का प्रतिबिंब मात्र है। सत् है परन्तु यह सारे माया जगत् के अधिष्ठान के रूप मे है। इस सत् के ऊपर मायामय आभास की स्थिति है। यह आभास या माया हर समय विद्यमान है। इसके किस अग को क्षण विशेष मे दिखाई देना है यह हमारी चित्वृत्ति पर निर्भर करता है। जिस प्रकार जिस काल जैसी हमारा वृत्ति होती है, उसी वृत्ति के अनुरूप हमे माया का स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है। यह इस प्रकार प्रकाशित होता है जैसे किसी दीपक के प्रकाश मे अन्धकार दूर होकर किसी वस्तु का सम्पूर्ण रूप दिखने लगता है। यह दृश्य सदैव ही क्यो नही दिखाई देता ? वेदान्त का उत्तर है कि यद्यपि यह मायामय रूप सदैव स्थित है परन्तु यह अज्ञान के आवरण से छिपा हुआ है। हमारे अज्ञान के आवरण के हटते ही सत् पर आक्षिप्त माया रूप दिखाई देने लगता है। चित् वृत्ति के नियोजित करने पर तदविषयक ज्ञान का प्रकाश एकदम फैलकर इस आवरण को हटा देता है और वस्तु दिखाई देने लगती है। इस प्रकार हमारी ज्ञान-चेतना एक ऐसे प्रकाश के रूप मे स्थित है जो सदैव प्रज्वलित रहता है, इसका क्रमिक उदय नही होता। हमारी चित्वृत्ति के माध्यम से यह प्रकाश वस्तु विशेष को प्रकाशित करता है। जब शुक्ति खड मे रजत की भ्रान्ति होती है तो 'दोष' न वस्तु का है, न नेत्र का है और न अन्य किसी तत्व का है। सारा दोष हमारी वृत्ति का है जिससे हम प्रत्येक चमकने वाली शुक्ति को रजत के रूप मे देखने लगते है। इस भ्रान्ति मे, हमारी भ्रान्ति का आधार (अधिष्ठान) चित् है, जो सीपी मे चाँदी को देखता है। अतः भ्रान्ति का कारण हमारा अज्ञान (अज्ञान) है, उचित सज्ञान के द्वारा हम सीपी को सीपी के रूप मे देखते है। अतः भ्रान्ति का विषय विषय-वस्तु न होकर उसका ज्ञान है। विषय-वस्तु अर्थात् शुक्ति के स्वरूप मे कोई अन्तर नहीं है, वह ज्यों का त्यो है। हमारे मन मे भ्रान्ति तद्विषयक ज्ञान के कारण

है। इस प्रकार इस भौतिक प्रकृति का आधार 'सत्' है। 'सत्' के ऊपर आधारित इस सारे संसार मे 'चित्' व्याप्त है। वृत्ति के प्रवाह से यह जगत् ज्ञान के प्रकाश-क्षेत्र मे आकर वृत्ति के अनुरूप दिखाई देने लगता है। जैसे ही हमारी वृत्ति के सम्पर्क में आकर अज्ञान का आवरण दूर होता है हम वस्तुओ को उनके विशिष्ट रूपों मे देखने लगते है। कभी कभी ऐसी शका उपस्थित की जाती है कि जब सारा संसार चित्त-वृत्तियो के अनुरूप ही दिखाई देता है तो फिर इस वृत्ति के अतिरिक्त अन्य किसी अन्य ('चित्') तत्व के अस्तित्व का प्रश्न ही नही उठता। क्योंकि सारा संसार अथवा जो कुछ हम देखते हैं उसका तो सारा आधार हमारी अपनी चेतन वृत्ति है। वेदान्त का उत्तर है कि हमारी चेतना वृत्ति जिस यथार्थ को देखकर उसकी व्याख्या करती है, उसका होना आवश्यक है। यदि उसका कोई अस्तित्व ही न हो तो हमारी वृत्ति का भी कोई आधार नही रहेगा। अत. यह मानना पडेगा कि संसार मे एक अनन्त, स्वप्रकाशित सत् तत्व है जो हमारी चित्तवृत्तियो की परिवर्तनशील अवस्थाओ से परे है। अनेक परिस्थितियो और उपाधियो के ससर्ग मे यह सत् तत्त्व अनेक रूपों मे दिखाई देता है। इस 'सत्' तत्त्व से ही माया और अज्ञान प्रकट होता है। यही सत् रूप हमारे चित् का आधार है, उस चित् का जिसके द्वारा हम 'सत्' को जानते है। यह चित् ही हमारी सारी वृत्तियो मे व्याप्त है। यही सत्-चित् ससार में शुद्ध चित् रूप मे अवस्थित है। वस्तुत सारी प्रकृति मे एक ही शुद्ध चित् रूप ओत प्रोत है जो सारी प्रकृति का आधार और आधेय है। यही प्रकृति है और यही चित् मे स्थित होकर प्रकृति को प्रकाशित कर रहा है। 'दृक्' (देखने वाला) और 'दृश्य' (जो कुछ दिखाई देता है) 'द्रष्टा' और प्रकृति मे कोई अन्तर नही है। इन दोनो मे एक ही सत् व्याप्त है। इस सत् तत्त्व पर ही सारी माया का आधार है।

कभी कभी यह शका प्रस्तुत की जाती है कि साधारण मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति मे वस्तु विशेष के विशिष्ट गुणो की ओर ध्यान न देने मे भ्रान्ति हुआ करती है। उदाहरण के लिए जब हम सीपी को देखकर कहते है कि यह चाँदी का टुकड़ा है, तो हमने जिसे यह कह कर सबोधन किया है उसके सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान अनिश्चित है, उसके सीपी होने के विशिष्ट गुणों को हम नही देख पाए हैं, अत उसे चाँदी समझ लिया है। परन्तु ब्रह्म जो शुद्ध चित् स्वरूप है किसी प्रकार के निश्चित अथवा अनिश्चित गुण रूप नही है, वह निर्गुण है अत भ्रान्ति का कोई प्रश्न नही उठता। वेदान्त का उत्तर यह है कि जब ब्रह्म ससार के आधार (अधिष्ठान) के रूप मे स्थित होता है, तो उसका केवल 'सत्' रूप होता है। चित् रूप और आनन्द रूप उस समय अप्रकाशित रहता है। चिदानन्द रूप ब्रह्म का विशिष्ट रूप है। इस विशिष्ट रूप को न देख पाने से ही हमें भ्रान्ति होती है। माया का आवरण सत् रूप के ऊपर छाया हुआ है। जब संसार की किसी वस्तु को देखते है ता हम 'सत्' के बाह्य रूपो को देखकर उसी से

अभिभूत हो जाते हैं। ससार के बाह्य ग्रावरण के नीचे जो एक सत् रूप व्याप्त है, हम उसको भी न देख कर केवल उसके ग्रनेकविध बाह्य माया रूपों को देख कर उन्हीं को सत्य मानकर व्यवहार करते हैं। हमारी पार्थिव चेतना मे ब्रह्म का सत् स्वरूप भी प्रकट नही हो पाता। जब हम यह कहते है कि यह घड़ा है तो 'यह' जिस 'सत्' को प्रकट करता है वह सत् का बाह्य रूप है। सत् एक है। यह एक ही सत् बाह्य प्रपच के ग्रनेक रूपों मे दिखाई देता है। ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूप को न जानने के कारण ही भ्रान्ति हुग्रा करती है।

पुनः यह कहा जाता है कि जब यह जगत् हमारे सारे व्यावहारिक कर्मों के लिए पर्याप्त है ग्रौर जब ग्रन्य किसी वस्तु की इस ससार से परे ग्रावश्यकता नही है, इसको ही यथार्थ मानना चाहिए। फिर इस ससार को ही सत् समझना उचित है। वेदान्त का कथन है कि बहुधा भ्रान्तिमय प्रत्यक्ष से भी ग्रनेक व्यावहारिक क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती है। जैसे रस्सी को जब हम सर्प के रूप मे देखते है तो उससे वैसा ही भय लगता है, जैसाकि वास्तविक साँप को देख कर लगता है। स्वप्नों को देखकर हम दुःख ग्रौर सुख का ग्रनुभव करते है। कभी-कभी स्वप्न के भय से हम जड़ीभूत हो जाते है, परन्तु हम इनको यथार्थ के रूप मे कदापि स्वीकार नहीं करते है। ग्रनादि-काल से सचित सस्कारों के कारण भ्रान्ति उत्पन्न होती रहती है। जैसे हमारी जाग्रत ग्रवस्था मे ग्रनुभूत प्रत्यक्ष के ग्रन्तर्मन पर पड़े सस्कारों से स्वप्नो की सृष्टि होती है, उसी प्रकार पूर्वजन्म के शुभ-ग्रशुभ कर्मों के ग्रनुसार हमारे सस्कारो का निर्माण होता है ग्रौर तदनुकूल इस जन्म मे हमारी भोगानुभूति का विनिश्चयन होता है। प्रत्येक व्यक्ति के ग्रपने कर्मों के ग्रनुसार ही इस ससार मे उसके ग्रनुभूति-क्षेत्र का निर्माण होता है। एक व्यक्ति के सस्कारो से दूसरे व्यक्ति का ग्रनुभूति-क्षेत्र ग्रथवा भाग का विनिश्चयन नही हो सकता। परन्तु यह भोगानुभूति उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार स्वप्नानुभूति मिथ्या होती है। परन्तु साथ ही इस दृश्यमान् जगत् की ग्रनुभूति को हम केवल व्यक्तिनिष्ठ स्वानुभूति नही कह सकते। मनुष्य के ग्रपने व्यक्तिगत सज्ञान के पूर्व भी इस प्रकृति का प्रवाह ग्रनादिकाल से इसी प्रकार चला ग्रा रहा है जिसका हमको स्वय कोई ज्ञान नही है। हमारे ग्रपने ग्रस्तित्व से ग्रथवा ग्रनुभूति से इस प्रकृति-प्रवाह पर कोई प्रभाव नहीं पडता। यह सासारिक प्रपच इसी प्रकार युगो से चला ग्रा रहा है (स्वेन ग्रध्यस्तस्य सस्कारस्य वियदाद्य ध्यासजनकत्वोपपत्ते तत्प्रतीत्यभावेपि तदध्यासस्य पूर्वम् सत्वात् कृत्स्नस्यापि व्यवहारिक पदार्थस्य ग्रज्ञात सत्वाम्युपगमात्)।

कभी कभी यह शका भी की जाती है कि ग्रधिष्ठान (भूमि) ग्रौर भ्रान्त कल्पना की वस्तु मे सादृश्य होने से भ्रान्ति उत्पन्न होती है। जैसे सीपी (ग्रधिष्ठान) ग्रौर कल्पना-वस्तु चाँदी मे सादृश्य होने से भ्रान्ति होती है। परन्तु ग्रधिष्ठान रूप ब्रह्म ग्रौर सासारिक प्रपच मे कोई साम्य या सादृश्य नहं है ग्रत भ्रान्ति का कोई प्रश्न

नही उठता। लेकिन वेदान्त का उत्तर है कि भ्रान्ति केवल सादृश्य के ही कारण नहीं अन्य दोषों से भी भ्रान्ति हो जाती है। जैसे पित्त के आधिक्य से श्वेत शख पीला दिखाई देता है। सादृश्य के कारण वस्तु विशेष की पूर्व स्मृति के सस्कार मन में स्पष्ट हो उठते हैं और इस प्रकार भ्रान्ति उत्पन्न होती है, परन्तु सादृश्य के अतिरिक्त भी अन्य कारणो से पूर्व संस्कारो की स्मृति जाग्रत हो जाती है। कभी-कभी 'अदृष्ट' से भी मनुष्य माया मे फँसता है। यह अदृष्ट पूर्व जन्म के शुभ-अशुभ कर्मों के कारण बनता है। इस 'अदृष्ट' को हम साधारण दृष्टि से नहीं देख पाते। साधारण भ्रान्ति के लिए किसी दोष की आवश्यकता है, परन्तु इस सासारिक माया-भ्रान्ति के लिए किसी दोष की अपेक्षा नही है क्योंकि अनादि-अनन्त काल से इसी प्रकार चली आ रही है और इसका एकमात्र कारण 'अविद्या' है जिससे हम सासारिक माया-मोह में फँस कर ब्रह्म के वस्तविक सत् रूप को माया के आवरण मे नही देख पाते। ब्रह्म ही वह अधिष्ठान है जिस पर माया का अवलम्ब है। माया-संसार मे भी वही ब्रह्म अपने तेज स्वरूप में स्थित इस माया-रूप को प्रतिभासित कर रहा है। माया के आवरण मे भी वह स्वप्रकाशित ब्रह्म ही सारी माया के प्रत्यक्ष का कारण और आधार है। इस आधार (अधिष्ठान) को इसके सत्य स्वरूप मे देखने के लिए चित्तवृत्ति पर से अविद्या का आवरण हटाने की आवश्यकता है। जैसे ही हम सारे संसार के अधिष्ठान सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म का दर्शन होता है, माया स्वयमेव नष्ट हो जाती है। तेजस्वी स्वयं प्रकाशित परमब्रह्म को जैसे ही हम उसके सत्य स्वरूप में प्राप्त करते है वैसे ही माया का लोप हो जाता है।

अज्ञान की परिभाषा

सारी माया-भ्रान्ति का कारण अज्ञान है। यह अज्ञान अनादि है, यह भावरूप (जिसकी स्थिति है,) परन्तु ज्ञान के द्वारा इसे दूर किया जा सकता है। अज्ञान के लिए कहा है 'अनादि भावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्।' समयापेक्षा से जितनी वस्तुएँ सादि (जिनका प्रादुर्भाव होता है) है, उन सबमे यह अनादि अज्ञान प्रकट होना है। सारे भौतिक पदार्थ इस अज्ञान-अधकार के आवरण से आवृत्त है। किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए अज्ञान को दूर करना आवश्यक है। अज्ञान 'चित्' का ही अभावात्मक रूप है और चित् के समान ही अनादि है। अज्ञान चित् से सपृक्त है। जहाँ ज्ञान नही है वहाँ अज्ञान है, 'चित्' की स्थिति अनादि अनन्त है। 'अज्ञान' भी चित् का ही अन्यथा रूप है। यह भावरूप है। 'भाव' यहाँ अभाव का विलोम न होकर अभाव से भिन्नता सूचित करता है। (अभावविलक्षणत्व मात्रम् विविक्षितम्)। परन्तु अज्ञान की स्थिति अन्य पार्थिव वस्तुओ की स्थिति से भिन्न है। अज्ञान को भावरूप मे कहने का कारण एकमात्र यह है कि यह अभाव नही है। परन्तु साधारण भौतिक वस्तु के

समान इसका पार्थिव भाव भी नहीं है। कभी कभी यह शंका की जाती है कि अज्ञान किसी क्षणिक दोष से भ्रान्ति के रूप में उत्पन्न होता है अतः यह अनादि नहीं है। वेदान्त का मत है कि अज्ञान का कल्पनात्मक भ्रान्ति होने का अर्थ यह नहीं है कि यह क्षणिक है। अज्ञान को क्षणिक तभी कहा जा सकता है जबकि इसका आधार माया (जिसका इस अज्ञान से सम्बन्ध है) भी क्षण भर के लिए ही उत्पन्न होती, परन्तु जैसे माया-प्रवाह का कोई आदि नहीं है, उसी प्रकार अज्ञान भी अनादि है। जैसे इसका अधिष्ठान चित्‌रूप ब्रह्म अनादि है उसी प्रकार ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान भी अनादि है। चित् ही सारी माया का आधार है, चित् सर्वदा भावी है, अत. अज्ञान भी सदैव स्थित रहता है और इस प्रकार अनादि है। अज्ञानावरण से प्रत्येक वस्तु आच्छादित है, सारी अस्पष्टता, अनिश्चितता इसी अज्ञान के कारण है। अत यह अज्ञान न भाव है, न अभाव। यह निश्चयात्मकता से परे है। सभी कुछ अस्पष्ट, भ्रान्ति व अनिश्चित है, यही अज्ञान का स्वरूप है जिसके कारण हम संसार में भाव-अभाव की स्थिति को यथार्थ रूप में नहीं देख पाते। परन्तु यह अज्ञान ज्ञान के द्वारा दूर किया जा सकता है। यद्यपि यह अनादि है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इससे मुक्त नहीं हुआ जा सकता। ज्ञान से सभी भ्रान्तियाँ और माया दूर हो जाती है। कुछ वेदान्तियों का मत है कि अज्ञान मायातत्त्व है। उनके अनुसार यद्यपि इसकी निश्चित भावात्मक सत्ता नहीं है परन्तु यह निश्चित रूप से वह तत्त्व है जिससे माया साकार होती है। यह आवश्यक नहीं है कि किसी वस्तु का आधार तत्त्व कोई निश्चित सत्त्व ही हो। किसी भी उपादान कारण तत्त्व के लिए केवल यह आवश्यक है कि मूल तत्त्व का भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यह भी सत्य नहीं है कि जिसका भाव है वही तत्त्व अनेक परिवर्तनों में स्थित रहता है। जो भाव के लिए सत्य है वह अभाव के लिए भी सत्य है। अत माया असत् है, माया का कारण अज्ञान भी असत् है और ये दोनों ही अनादि है।

प्रत्यक्ष और अनुमान से अज्ञान की सत्ता की स्थापना

जिस अज्ञान की परिभाषा हम यह कह कर करते है कि यह अनिश्चित है, इसका न भाव है, न अभाव, उसको हम प्रत्यक्ष अनुभव से भी जानते है। जब हम यह कहते है कि 'मै अपने आपको या किसी को नहीं जानता' तो हम अज्ञान को प्रत्यक्ष रूप से देखते है। इसी प्रकार जब हम यह कहते है कि 'मै गहरी निद्रा में सो रहा था, मुझे कुछ पता नहीं है' तक भी हम अज्ञान की स्पष्ट सत्ता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के प्रत्यक्ष में हम किसी निश्चित भाव की कल्पना नहीं करते, न हम किसी निश्चित गुण रूप की बात कहते है और न हम किसी अभाव की ही कल्पना करते है। परन्तु फिर भी हम एक निश्चित बात कहते हैं कि मुझे अपने आपका कुछ पता नहीं है। यहाँ

एक शंका यह उत्पन्न होती है कि 'मैं नहीं जानता' से किसी अनिश्चित 'अज्ञान' का अर्थ है, तात्पर्य यह है कि मुझे अमुक वस्तु का 'ज्ञान' नहीं है। यहाँ 'ज्ञान' के 'अभाव' से अर्थ है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वेदान्त का कथन है कि 'अभाव' में एक निश्चित भाव है। यह किसी निश्चित वस्तु के अभाव का द्योतक है। अतः 'अभाव' शब्द किसी वस्तु विशेष के गुण धर्म को ध्यान में रखते हुए, उसके न होने का परिचायक है। परन्तु जब हम यह कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता' या मुझे इसका कोई ज्ञान नहीं है तो उससे अर्थ एक अनिश्चित, वस्तु हीन अज्ञान से है जिससे किसी विशेष वस्तु के अभाव की संकल्पना नहीं होती। साथ ही यह अनिश्चित अज्ञान भावरूप भी है, क्योंकि 'अभाव' नहीं है। अभाव रूप न होने से 'भावत्व' स्पष्ट है। परन्तु यह 'भावत्व' अन्य पार्थिव वस्तुओं के 'भावत्व' से भिन्न है क्योंकि यह अज्ञान-भाव केवल एक अनिश्चित, गुण-रूप विहीन न जानने की कल्पना है। अभाव का अर्थ सभी वस्तुओं के (सर्व साधारण) अभाव से न होकर विशिष्ट वस्तु के अभाव से हुआ करता है। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि अभाव से अर्थ सामान्य अभाव से है तो भूमि पर घडा होते हुए भी हमको उसका अभाव मानना पडेगा, परन्तु ऐसा नही है। अतः विशिष्ट वस्तु के अभाव का अर्थ किसी सर्व सामान्य अभाव से नही है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सामान्य अभाव-कल्पना विशिष्ट वस्तु से सम्बन्धित न होने से हमारी चेतना ग्रहण नही कर सकती। किसी भी अभाव की चेतना 'उपलब्धि' के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी निश्चित वस्तु के अभाव की द्योतक होनी चाहिए। अत सामान्य अभाव मे विशिष्ट ज्ञान का कोई अर्थ नही रहता। सामान्य अभाव से अर्थ होगा किसी भी वस्तु का ज्ञान न होना। परन्तु 'अज्ञान' इससे भिन्न है। किसी वस्तु का ज्ञान होने पर भी' अज्ञान' स्थित रहसकता है। अनेक वस्तुओ को जानते हुए भी 'अज्ञान' स्थिर रहता है। इस दृष्टि से यह कहना अनुचित नही होगा कि जब हम यह कहते हैं कि 'मैं नही जानता' तो यह एक विशिष्ट प्रकार का प्रत्यक्ष (उपलब्धि) है जो अनिश्चितता अथवा अज्ञान का सूचक है। हमारा यह भी अनुभव है कि हम यह जान कर कि इस विषय मे हमको निश्चित रूप से अज्ञान है, हम उस अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करते है। अत. यह स्पष्ट है कि अज्ञान का प्रत्यक्ष 'अभाव' के प्रत्यक्ष से भिन्न है। हमारी प्रत्यक्ष-चेतना (साक्षी चैतन्य) कुछ इस प्रकार की है कि यह ज्ञान और अज्ञान दोनो को ग्रहण करती है, दोनो को ही उनके अनेक रूपो में समझने मे समर्थ है। हमारी चित्तवृत्ति जब एक दिशा मे प्रेरित होती है तो हम उस वस्तु के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करते है जिसे 'वृत्तिज्ञान' कह सकते है। 'वृत्तिज्ञान' अज्ञान का विरोधी है। हमारे चैतन्यमन मे जो सभी वस्तुओ का प्रत्यक्षकर्त्ता (साक्षी चैतन्य) है ऐसी विशिष्टता है कि वह सारे 'भाव' को निश्चित ज्ञानात्मक रूप में अथवा अनिश्चित अज्ञान के रूप मे ग्रहण करता है। परन्तु यह 'अभाव' को समझने मे असमर्थ है, क्योंकि 'अभाव' प्रत्यक्ष नहीं है। 'अभाव' में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष

नहीं होता, यह वास्तव में प्रत्यक्ष की अनुपस्थिति अथवा 'अनुपलब्धि' है। परन्तु जब मैं यह कहता हूं कि 'मैं नहीं जानता' तो अन्तश्चेतना में स्पष्ट ही नहीं जानने का प्रत्यक्ष होता है। न्याय-दर्शन की दृष्टि से एक और विशेष प्रकार की शका उपस्थित की जाती है कि 'विशेषण' के बिना विशेष्य (विशिष्ट) का ज्ञान सम्भव नहीं है। वस्तु को जाने बिना उसके विषय मे चेतना मे किसी प्रकार का अनिश्चय नही हो सकता। वेदान्त का उत्तर है कि यह कथन मान्य नही है कि 'विशेषण' के बिना विशिष्ट वस्तु का ज्ञान सम्भव नहीं है। कई अवस्थाओ मे हम पहले वस्तु को देखते हैं और फिर उसके गुण स्वभाव को जानते है। यहाँ 'अभाव' एक निश्चित अतिरिक्त तत्त्व न होकर केवल 'भाव' का ही अन्य रूप है। इस तर्क से नैयायिक भी सहमत होगे कि जब हम यह कहते हैं कि 'यहाँ घडे का अभाव नही है' तो हम किसी अभाव की अतिरिक्ति तत्त्व के रूप मे कल्पना नही करते, क्योकि घडा हमारे सामने पहले से ही स्थित है। जिस प्रकार उन वस्तुओं के सम्बन्ध मे हमे भ्रान्ति होती है जो अस्तित्वमय है जिनका निश्चित 'भाव' है, उसी प्रकार उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे भी भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है, जिनका अभाव है। जैसे मृग-मरीचिका मे जल के अभाव मे जल की भ्रान्ति होती है। अत यह मानने कोई कठिनाई नही होनी चाहिए कि अभाव भी माया के कारण अनेक रूपों मे मन को भ्रान्त करता है। इस प्रकार अभाव का विषय भी भावरूप होने से यह कथन अमान्य नही कहा जा सकता कि 'मैं नही जानता' में किसी प्रकार का निश्चित प्रत्यक्ष नही है। इस वाक्य मे अनिश्चित अज्ञान का प्रत्यक्ष स्पष्ट है। इसी प्रकार 'मुझे पता नही है कि तुम क्या कहते हो' इस वाक्य में किसी 'अभाव' का प्रत्यक्ष नही है, क्योकि यदि ऐसा होता तो पहले यह जानना आवश्यक था कि वक्ता ने निश्चित शब्दो मे क्या कहा है और यदि यह जान लिया है, तो यह उक्ति असम्भव है है कि 'मैं नही जानता कि तुम क्या कहते हो।'

इसी प्रकार जब हम गहरी निद्रा से जगकर यह कहते हैं कि, 'मैं बडी देर मे सो रहा था, मुझे कुछ पता नही है।' तो यह भी निद्रा मे अनिश्चित अज्ञान का प्रत्यक्ष है। कुछ लोगो का कथन है कि निद्रा मे किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्भव नही है। जो कुछ जागृत अवस्था मे निद्रा की अवस्था के बारे मे कहा जाता है वह अनुमान मात्र है। अत यह कहना कि मुझे निद्रा के कारण कुछ पता नही है, अनुमान के आधार पर कहा जाता है। पर यह कथन असत्य है। जाग्रत अवस्था मे यह अनुमान करने का कोई आधार नही है कि सुषुप्तावस्था मे इन्द्रियो ने अपना सक्रिय व्यापार बन्द कर दिया था। दोनों अवस्थाओ मे किसी प्रकार की सहव्याप्ति नही है। निद्रा की अवस्था में चित्वृत्ति मे अनिश्चित 'अज्ञान' की अवस्था होती है और जाग्रत अवस्था मे उस अज्ञान के 'संस्कार' के आधार पर मनुष्य यह कहता है कि 'मुझे कुछ पता नही है'। यह निद्रा वस्था में अज्ञान का प्रत्यक्ष है। यह 'ज्ञान भाव' के अभाव का द्योतक नहीं

है, पर एक अन्य प्रत्यक्ष है। किसी वस्तु का ज्ञानभाव उस वस्तु के भौतिक अस्तित्व का परिचायक है। उसका विरोधी अभाव उस वस्तु विशेष के न होने का सूचक है। अत. यह भावना कि मुझे कुछ पता नही है, इससे भिन्न प्रकार की अवस्था का प्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष है, जो जाग्रत और सुषुप्त दोनों अवस्थाओ मे अज्ञान का सज्ञान कराता है।

'अज्ञान' की उपस्थिति का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि जब हम किसी विशेष सदर्भ मे उस विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेते है, जिसके बारे मे हमने पहले यह कहा था कि हमको इस सम्बन्ध मे कुछ पता नही है, तो उस अज्ञान का निवारण हो जाता है। जैसे अधकार मे प्रकाश की किरण प्रकट होती है उसी प्रकार अज्ञान अन्धकार के आवरण को हटाने वाले ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है।[1] इसके अतिरिक्त अज्ञान के कारण ही माया की उत्पत्ति होती है। अज्ञान ही सारी भ्रान्ति का आधार है, अज्ञान ही माया तत्त्व है। ब्रह्म को हम माया-तत्त्व नही कह सकते, क्योकि वह शाश्वत, अपरिवर्तनशील, अनन्त तत्त्व है। इस अज्ञान के कारण ही वह हमको अपने सत्, चित्, आनन्द रूप मे प्रकट नही हो पाता। यदि अज्ञान नही होता, तो हमको वह सदैव ही प्रत्यक्ष दिखाई देता। यह अज्ञान हमको अपनी 'साक्षी-चेतना' से, जिससे हम सभी सासारिक वस्तुओ का प्रत्यक्ष करते है, दिखाई देता है। यह 'साक्षी चेतना' हमारे शुद्ध 'चित्' से भिन्न है। शुद्ध 'चित्' रूप 'अविद्या' के कारण 'साक्षीचेतना' के रूप मे प्रकट होता है जिससे हम ससार के माया-व्यापार का प्रत्यक्ष करते रहते है। जैसे ही इस अविद्या का नाश होता है, शुद्ध चित् रूप सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रकट हो जाता है।

'अज्ञान' 'अहंकार' और 'अन्तकरण' की सस्थिति और कार्य

'अज्ञान' का आधार 'चित्' है। 'चित्' प्रकाशमय है। जब शुद्ध चित् रूप मनुष्य की चित्तवृत्तियो द्वारा धारण किया जाता है तो अज्ञान का विनाश हो जाता है। इसके पूर्व चित् अज्ञान के आवरण मे छिपा रहता है। अज्ञान का अधिष्ठान शुद्ध चित् रूप है, माया से अभिभूत 'अहम्' या 'मैं' के पीछे जो 'चित्' है, वह स्वय अज्ञान से उत्पन्न होता है। अर्थात् अहम्-भावना अज्ञान के कारण उत्पन्न होती है। परन्तु वाचस्पति मिश्र का कथन है कि शुद्ध चेतन रूप अज्ञान का आधार नही है। अज्ञान का आधार 'जीव' है। श्री माधवाचार्य इन दोनो दृष्टियो का समन्वय करते हुए कहते है कि अज्ञान के कारण जीव के द्वारा चिन्मय रूप को देखने मे बाधा पहुँचती है अत. वे इसे 'चत्'

---

[1] इस प्रसग में 'पंचपादिका-विवरण', 'तत्त्वदीपन' और 'अद्वैतसिद्धि नामक ग्रन्थ देखिए।

पर आश्रित होते हुए भी जीवाश्रित मानते है जैसा उन्होने 'विवरण प्रमेय' पृष्ठ ४८ पर कहा है–बिम्बमात्राश्रितम् अज्ञानम् जीवपक्षपातित्वात् जीवाश्रितम् उच्यते। यह भावना कि 'मैं कुछ नहीं जानता' अहं और साक्षी चेतना के संयोग से उत्पन्न प्रतीत होती है परन्तु वास्तव मे अन्त करण और अज्ञान के निकट सम्पर्क का फल है।

अज्ञान चित् पर आश्रित है और चित् ही इसका विषय है। ज्योतिर्मय चित् अज्ञान के आवरण मे छिपा रहता है। इस आवरण से चित् के तेजस् स्वरूप मे किसी प्रकार का ह्रास नही होता। न इस अज्ञान से 'चित्' रूप ब्रह्म का किसी प्रकार का अवरोध होता है और न यह अज्ञान चिन्मय ब्रह्म के किसी भी कार्य मे बाधा डाल सकता है। स्थिति यह है कि इस अज्ञान के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि न तो कोई ब्रह्म नाम की वस्तु है और न उसका किसी प्रकार का प्रकाश्य रूप है–'नास्ति न प्रकाशते व्यवहार.'। ब्रह्म अज्ञान के कारण छिपा हुआ है इसका यही अर्थ है कि अज्ञान की ऐसी योग्यता है (तद्योग्यता) कि वह ब्रह्म को उसी प्रकार छिपा लेता है जैसे निद्रा मे हमारी ज्ञान चेतना मे किसी भी वस्तु का बोध नही होता। मनुष्य अज्ञान के कारण सुषुप्तावस्था मे रहता है। जिससे वह यथार्थ को नही देख पाता। इस प्रकार अज्ञान के कारण सत्य का प्रकाश हम तक नही पहुँच पाता। यह अज्ञान न केवल चिन्मय रूप को, प्रत्युत ब्रह्म के आनन्द रूप को भी हमसे दूर रखता है जिससे हम क्षणिक भौतिक आनन्दो को ही सर्वोपरि सुख मानकर ब्रह्मानद से वचित रहते हैं। अज्ञान के अनेक स्वरूप है। अज्ञान एक होते हुए भी अनेक प्रकार से हमारे अनुभव और व्यक्तित्व को आच्छादित किए रहता है। अज्ञान के इन अनेक रूपो को 'अवस्था-ज्ञान' या 'तुलाज्ञान' कहते हैं। 'वृत्तिज्ञान' या ज्ञान-चेतना से अवस्थाज्ञान का नाश होकर यथार्थ का ज्ञान होता है।

अज्ञान के कारण ही मनुष्य मे 'अहम्' भावना का जन्म होता है। मनुष्य का अहम् उसकी आत्मा, शरीर, पूर्व सस्कार, अनुभव और चित् का सयुक्त रूप है। अत्पज्ञ, पार्थिव सीमाओ मे आबद्ध इस अहम् के कारण ही अपार्थिव, निस्सीम, निर्गुण ब्रह्म को हम नही देख पाते। अनादि काल से चले आते हुए दूषित सस्कार और जन्म-जन्मान्तरों की प्रपचमयी वासनाएँ 'अन्त करण' मे सचित होती रहती है और ये हमारे अहम् को परिपुष्ट करती रहती हैं। हमारी प्रकाशमय आत्मा का ही अन्त.करण वह रूप है जहाँ इन सब वासनाओ का और तज्जनित सस्कारो का निवास है। यह अन्त कारण ही चित् के साथ अहम् का रूप धारण करता है। यह चित् हमारी 'साक्षी-चेतना' है। अतः हम अहम् के दो स्वरूप देखते है। एक वह जो अपरिवर्तनशील चित् रूप आत्म तत्त्व है, दूसरा वह जो अन्त करण है जो सारे सुख-दु ख, सवेदनाओ के साथ सम्बन्धित है, जिसमे सारी अनुभूतियो का निवास होता है, जो अशाश्वत परिवर्तनशील तत्त्व है। यह अन्त.करण और चित् रूप साक्षी चेतना (आत्मा) दोनों ही मिलकर एक हो जाते

हैं। जैसे हम जब यह कहते है कि यह लोहपिंड ज्योतिर्मय हो रहा है तो अग्नि और लोहपिण्ड मिलकर एक हो जाते हैं पर वास्तव मे वे दोनों अलग-अलग तत्त्व हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'मैं देखता हू' तो आत्मा (चित् रूप) और अन्त.करण इन दोनो का सयोग हो जाता है और वे साधारण दृष्टि से एक ही दिखाई देते है। इस प्रकार अहम् कल्पना के दो भाग है एक सत् तत्त्व है और दूसरा असत् (अयथार्थ)।

प्रभाकर का मत है कि आत्मा और अन्त.करण को हम भिन्न भिन्न नहीं मान सकते। जलते हुए लोहपिंड की उपमा यहाँ अनुचित प्रतीत होती हैं क्योकि अग्नि और लोहपिंड को हम भिन्न तत्त्वो के रूप में स्पष्ट रूपेण देखते है, पर आत्मा और अन्त करण अलग-अलग कभी नही दिखाई देते। आत्मा स्वय प्रकाशित तत्त्व नही है। वास्तव में ज्ञान की ऐसी क्षमता है कि यह एक ही क्षण मे ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता को प्रकाशित कर देता है। (पुटिसिद्धान्त) 'अनुभव' अथवा प्रत्यक्ष एक ऐसे प्रकाश की भाँति है जो वस्तु और आत्मा दोनो को स्पष्ट कर देता है तथा इसे किसी अन्य सहायता की अपेक्षा नही है। वेदान्त का इस मत से विरोध है। वेदान्त का कथन है कि प्रभाकर के मतानुसार ज्ञान और आत्मा मे किसी सम्बन्ध का प्रश्न ही नही उठता। यदि यह कहा जाए कि ज्ञान अपने आपको स्वयं प्रकाशित करता है तो यही बात आत्मा के लिए भी कही जा सकती है। सत्य यह है कि चित् रूप आत्मा और ज्ञान मे कोई अन्तर नही है। श्री कुमारिल 'अनुभव' (विचार प्रत्यक्ष) को एक क्रिया के रूप में मानते हैं और प्रभाकर तथा न्याय दर्शन इसे आत्मा के गुण के रूप मे देखते है।[1] परन्तु यदि यह 'अनुभव' अन्य क्रियाओं की भाँति एक क्रिया मात्र है तो यह अपने आपको प्रकाशित नही कर सकती। यदि यह तत्त्व है और परमाणु रूप है तो फिर यह एक वस्तु का अति सूक्ष्म भाग ही प्रकाशित कर सकती है। यदि यह सर्वव्यापक है, तो सभी वस्तुओ को एक साथ ही प्रकट कर देगी। यदि यह मध्याकार है तो इसे अन्य भागो की अपेक्षा होगी, न यह पूर्ण हो सकेगी और इस प्रकार इसे आत्मा की आवश्यकता नही होगी। यदि यह प्रकाश की भाँति आत्मा का गुण है तो भी यह मानना पड़ेगा कि यह आत्मा से उत्पन्न है। इस प्रकार सभी दृष्टियो से यह मानना पडता है कि आत्मा स्वप्रकाशित अस्तित्व है। अपने ज्ञान मे किसी को भी सन्देह नही

---

[1] न्याय के अनुसार आत्मा 'चित्' के सम्पर्क के कारण ही चेतन है परन्तु यह स्वयं 'चित्' नही है। उपयुक्त संयोग के कारण ही आत्मा चेतन है। आत्मा के स्व-प्रकाशित होने के खडन मे न्याय मंजरी (पृ० सं० ४३२) मे कहा गया है–

"सचेतनश्चिता योगात्तदयोगेन विना जड़ा।
नार्थावभासादन्यद्धि चैतन्यम् नाम मन्महे॥

होता, सभी उसको सत्य मानते हैं। आत्मा ही वह 'विज्ञान' है जो सदैव प्रकाशमय है शुद्ध बुद्ध चैतन्य है।[1]

जाग्रत और सुषुप्त अवस्था मे 'चित्' सर्वदा विद्यमान रहता है। पर प्रगाढ़ निद्रा में अहकार का लोप हो जाता है। गहरी नीद मे अन्त करण और अहंकार दोनो ही अज्ञान में समाविष्ट हो जाते हैं और केवल आत्मा और अज्ञान विद्यमान रहते हैं। पुनः जगने पर अन्तःकरण की वृत्ति के रूप मे अहकार फिर से उत्पन्न हो जाता है और तब यह अह अज्ञान के प्रत्यक्ष को इन शब्दो मे प्रकट करता है कि मैं गहरी तद्रा में निमग्न था, मुझे कुछ पता नही था। यह 'अहकार', 'अन्त करण' की 'वृत्ति' है और 'अविद्या' के कारण उत्पन्न होती है। यह अहकार आत्मा पर प्रतिस्थापित 'ज्ञान-शक्ति' और 'क्रिया-शक्ति' के रूप मे प्रकट होता है। इस अहकार की क्रिया-शक्ति के कारण ही आत्मा सक्रिय तत्त्व के रूप मे दिखाई देता है। अह की माया से आत्मा आवृत्त होकर ऐसी प्रतीत होती है कि वही जब कार्यों को कर रही है, पर आत्मा चित् रूप है, अन्त करण की क्रियाशील तत्त्व 'अह' पुरातन वासना सस्कारों से प्रेरित आत्मा पर सवार हो अनेक प्रकार के खेल खेलता है। यह अन्तःकरण सन्देह-विवेक के सन्दर्भ में 'मानस', ज्ञान की निश्चित उपलब्धि क्षमता के रूप मे 'बुद्धि' और धारणा शक्ति के रूप मे 'चित्' नाम से जाना जाता है। अर्थात् 'मानस' बुद्धि और चित् अन्त करण के ही विभिन्न रूप है।[2] इस अन्त करण के सयोग मे शुद्ध चित् रूप, 'जीव' कहलाता है। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि अज्ञान कोरी काल्पनिक वस्तु नही है, सत् के आश्रय पर अज्ञान की स्थिति है, सारे प्रकृति-प्रपच मे अन्तर्निहित मूल तत्त्व यह अज्ञान ही है। अर्थात् इस माया-प्रपच का कारण और मूल अज्ञान है। शुद्ध चित् के द्वारा ही अज्ञान का वास्तविक रूप दिखाई देता है। इस माया-प्रपच के नीचे सत्-चित्-रूप छिपा हुआ है वह भी इसी अज्ञान की गति से स्पष्ट होता है जब अन्त करण मे शुद्ध वृत्ति के द्वारा ही हमे सत् चित् रूप दिखाई देता है। जीव के साथ ही अनादि काल से अनेक सशय, धर्म, अधर्म, सस्कारादि अनेक वृत्तियो को धारण करने वाला अन्त करण भी सलग्न हो जाता है और अनेक जन्म-जन्मान्तरो मे पूर्व सस्कारो के आधार पर नवीन माया-सृष्टि से उद्भ्रान्त होता रहता है।

अनिर्वाच्यवाद और वेदान्त की द्वन्द्वात्मकता

वेदान्त के अनुसार अज्ञान के प्रत्यक्ष मे कोई कठिनाई नही है। इस विश्व मे

---

[1] 'न्याय मकरद' पृ० १३०, १४० 'चित् सुख' और विवरण प्रमेय संग्रह' पृ० ५३, ५८ देखिए।

[2] 'वेदान्त परिभाषा' पृ० ८८ बम्बई सस्करण देखिए।

केवल दो वर्ग है, एक सत्, स्वप्रकाशित, तेजोमय ब्रह्म और दूसरा अनिश्चित अज्ञान। इस अज्ञान की आधार भूमि माया है। ब्रह्म भी इस अज्ञान के कारण अनेक माया रूपों में और प्रकृति-प्रपंच मे नानाविध स्वरूपों मे प्रकट होता है। अर्थात् हम उस सत् रूप को उसके सत्य स्वरूप में न देख कर माया और अज्ञान के कारण सांसारिक प्रपंच को ही सत्य मान लेते है। यह अज्ञान भाव और अभाव दोनों से भिन्न है और जब ब्रह्म-ज्ञान का उदय होता है तो स्वयमेव दूर हो जाता है। साथ ही इस अज्ञान के विषय में हम इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते है कि यह एक अनिश्चित रूप है। परन्तु यह सहज ही समझ मे नही आता कि ससार का यह सुव्यवस्थित क्रम, घटनाएँ अनेक प्रकार के सुन्दर सतुलित रूप और शरीरादि इस अनिश्चित अज्ञान से कैसे उत्पन्न होते है।

मन, बुद्धि, प्राण और सारे भौतिक पदार्थ इस अज्ञान से कैसे विकसित होते है यह भी एक अबूझ प्रहेलिका सी प्रतीत होती है। यह कल्पना युक्ति संगत प्रतीत नही होती। वेदान्त के अनुसार यह भी ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि भौतिक ससार के सम्बन्ध मे हमारी सारी धारणाएँ असत्य, मिथ्या और आधारहीन है। एक ब्रह्म ही वह प्रकाशमय तत्त्व है, अन्य सब अनिश्चित, अज्ञान स्वरूप माया-जगत् है। यदि यह मान लिया जाए तो फिर सारे ससार मे कोई निश्चित क्रम और व्यवस्था नही होनी चाहिए। अज्ञान का अव्यवस्थित, क्रमहीन, अनिश्चित स्वरूप ससार के कार्यों मे भी दिखाई देना चाहिए, फिर किसी प्रकार के भौतिक नियम अथवा किसी वस्तु के होने या न होने के सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन होना चाहिए। श्री हर्ष और उनके भाष्यकार चित्सुख ने वेदान्त के इन मूल सिद्धान्तों की विशेष रूप से आलोचना की है, जिसका विवेचन इस अध्याय मे करना कठिन दिखाई देता है। यथार्थ सम्बन्धी विचार का यहाँ एक सक्षिप्त उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

'खंडनखंडखाद्य' नामक ग्रन्थ मे 'भेद' की कल्पनाओं का विवेचन किया गया है। इसके अनुसार वस्तुओं मे भेद की केवल चार व्याख्याएँ की जा सकती है।

(१) 'स्वरूप-भेद'—जहाँ वस्तु विशेष के बाह्य रूप, गुण के आधार पर अन्तर देखा जाता हो जैसाकि प्रभाकर का मत है।

(२) 'अन्योन्याभाव'—इसके अनुसार दो वस्तुओं मे भेद का अर्थ है कि एक का दूसरे मे 'अभाव' है जैसा नैयायिकों का मत है।

(३) 'वैधर्म्य'—जिसमे गुणों का विरोध हो जैसाकि वैशेषिक का मत है।

(४) 'पृथक्त्व'—जिसमे भेद होना स्वयं मे एक गुण हो जैसाकि न्याय में 'पृथक्त्व' एक गुण के रूप मे माना जाता है।

पहली व्याख्या के अनुसार यह कहा जाता है कि घट और पट दोनों अपने स्वरूप और अस्तित्व के आधार पर एक दूसरे से भिन्न है। परन्तु यदि केवल पट को देख कर हम यह कहते है कि यह घट से भिन्न है तो इसका अर्थ यह होगा कि पट के स्वरूप मे कही घडे का भी समावेश हो गया है अन्यथा केवल वस्तु को देखकर हम यह कैसे कह सकते है कि वस्त्र घडे से भिन्न है। यदि भेद का प्रत्यक्ष इन्द्रियो के द्वारा किया जा सकता है तो इसका अर्थ यह होगा कि यह भेद किसी अन्त वस्तु से होना चाहिए और यदि इन्द्रियाँ उस दूसरी वस्तु का भी प्रत्यक्ष उसी क्षण नही करती है तो पहली वस्तु के गुण धर्म मे किसी अन्य वस्तु का न्यास न होने से उस अन्तर का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि एक ही वस्तु के प्रत्यक्ष-क्षण मे दो वस्तुओ के गुण-धर्म का रूप दिखाई देता है तो इसमे स्पष्ट ही विरोधाभास दिखाई देता है जो सम्भव नहीं है। अत. वस्त्र मे भेद को हम एक अस्तित्व के रूप मे नही देख सकते और यदि दूसरी वस्तु को हम एक साथ नही देख पाते है तो इस भेद के अस्तित्व को भी नही देख सकते। यदि यह कहा जाता है कि वस्त्र स्वयं ही वह अस्तित्व है जो घडे के भेद को स्पष्ट करता है तो फिर यह पूछना पडेगा कि घडे का स्वरूप क्या है, उसका गुण-धर्म कैसा है ? वस्त्र से भिन्न होना यदि घडे का अपना गुण है तो फिर घडे के स्वरूप मे कही वस्त्र का रूप भी निहित होना चाहिए क्योकि जब तक ऐसा न हो, उस भेद का प्रत्यक्ष नही हो सकता। यदि यह कहा जाता है कि घडा शब्द के कहने से ही भेद का बोध होना है अर्थात् घडा ऐसा पारिभाषिक शब्द है जिससे स्वय भेद का बोध होता है तो यह भी समझ मे नही आता क्योकि ऐसा वाच्य शब्द कैसे हो सकता है जो भेद का बोध कराता है और जिसका किसी अन्य वस्तु से कोई सम्बन्ध नही है क्योकि भेद किन्ही दो वस्तुओ की तुलना मे ही सम्भव है। स्वतन्त्र रूप मे किसी भी भेदवाची शब्द की स्थिति सम्भव नही प्रतीत होती। पुन यदि घडे का गुण वस्त्र है तो घडे के ऊपर वस्त्र आधारित होना चाहिए अथवा यह कहना चाहिए कि घडा वस्त्र मडित होना चाहिए। यह कहना भी कठिन है कि गुणो का वस्तुओ से क्या सम्बन्ध होता है, यदि इस सम्बन्ध का अभाव माना जाए तो फिर प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु का गुण हो सकती है। और यदि किसी प्रकार का सम्बन्ध माना जाए तो फिर सम्बन्ध के लिए भी किसी अन्य सम्बन्ध की आवश्यकता होगी। फिर उस सम्बन्ध के लिए किसी अन्य सम्बन्ध की और इस दूपित चक्र का कही अन्त ही नही होगा। यदि यह कहा जाए कि घडे को जब अन्य वस्तुओ के प्रसग मे देखा जाता है तो वह घडे के रूप मे दिखाई देता है, पर जब इसको वस्त्र के प्रसग मे देखते है तो यह भेद के रूप मे दिखाई देता है। परन्तु यह सम्भव नही है क्योकि घडे का प्रत्यक्ष, भेद के प्रत्यक्ष से सदैव भिन्न रहेगा। सत्य तो यह है कि भेद का प्रत्यक्ष घडे और वस्त्र दोनो के प्रत्यक्ष से भिन्न है। घडा और वस्त्र दोनो का अस्तित्व है यह इस कथन से भिन्न है कि इन दोनो मे भेद है। अतः घड़े को भेद अथवा भेद का प्रतीक नहीं कहा जा सकता। घड़े के अस्तित्व के

लिए किसी अन्य अस्तित्व की अपेक्षा नहीं है। उपर्युक्त तर्क से यह स्पष्ट है कि भेद किसी अन्य वस्तु का गुण नही हो सकता। हमारे वस्तु के प्रत्यक्ष में भेद का कोई स्थान नहीं है।

भेद की दूसरी व्याख्या 'अन्योन्याभाव' है जिसमे यह कहा जाता है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव है। जब यह कहा जाता है कि घडे का वस्त्र में अभाव है या वस्त्र का घड़े मे अभाव है तो इसका अर्थ यह है कि पहले वस्त्र का घडे मे या घड़े का वस्त्र में भाव होना चाहिए और इस भाव की अब अनुपस्थिति होने से यह अभाव कहा जा रहा है और फिर अभाव से यह भेद उत्पन्न हुआ है। यदि वस्त्र मे घडे का भाव है, वस्त्र का घडे मे होना पाया जाता है अथवा घडे मे वस्त्र का निवास है तो इसका अर्थ होगा कि घड़े और वस्त्र का एक ही रूप है, दोनो एक ही है, दोनों में अस्तित्व-साम्य है। यदि यह कहा जाता है कि दोनो मे तादात्म्य है, दोनों मे अस्तित्व-साम्य है, तो भेद रूप का विवेचन कठिन है, उन दोनो मे किसी प्रकार का भेद नही किया जा सकता। यदि 'अन्योन्याभाव' का अर्थ वस्त्र मे घटत्व का अभाव या घट में पटत्व का अभाव है तो कठिनाई यह है कि घटत्व मे ऐसा कोई गुण नही है जिसका घट से भेद माना जा सके और न पटत्व मे ऐसा गुण है जिसे घटत्व के समरूप माना जा सके। यदि हम पटत्व और घटत्व मे समरूपता मानते है तो हम यह भी कह सकते है कि वस्त्र में वस्त्रत्व नही है घट मे घटत्व नही है, जो एक विचित्र विरोधात्मक उक्ति होगी।

भेद की तीसरे प्रकार की व्याख्या 'वैधर्म्य' है। वैधर्म्य से यह समझा जाता है कि वस्तु विशेष के गुण-धर्म मे भिन्नता (अपमृनि) है। प्रश्न यह उठता है कि क्या यह गुण-धर्म की विषमता इस प्रकार की है कि यह अन्य वस्तु से इसके स्वाभाविक अन्तर को प्रकट करती है। क्या घट का वैधर्म्य, वस्त्र के वैधर्म्य से अन्तर प्रकट करता है? यदि यह सत्य है तो प्रत्येक वस्तु के लिए अनन्त वैधर्म्य गुण चाहिए, जो इसे अन्य वस्तुओं से अलग करते है, और फिर उस दूसरी वस्तु के लिए भी उसी क्रम मे भेद के प्रतीक अनन्त वैधर्म्य गुण चाहिए, इस प्रकार इस क्रम का भी एक दूषित चक्र स्थापित हो जाएगा। यदि यह कहा जाता है कि घट और वस्त्र के वैधर्म्य गुण एक ही हैं तो फिर तादात्म्य के कारण दोनों मे भेद की कोई स्थिति ही नही उठती। यदि यह कहा जाता है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप स्वयमेव ही दूसरी वस्तु से भेद का परिचायक है क्योंकि प्रत्येक वस्तु दूसरे से भिन्न है और दूसरे को स्वत ही पृथक् कर देती है तो ये वस्तुएँ भेदरहित होकर 'निःस्वरूप' (आधार हीन) हो जाएगी। यदि इसके विपरीत यह कहा जाता है कि प्रत्येक वस्तु के स्वाभाविक स्वरूप से अर्थ उस 'स्वरूप विशेष' से है जो दूसरी वस्तुओं से विभेद का द्योतक है, तो इस विशेष स्वरूप के अभाव में स्वाभाविक स्वरूप एक रूप या अनन्य दिखाई देना चाहिए। इसी प्रकार हम 'पृथक्त्व' के विवेचन से भी इसी निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि पृथक्त्व नाम का भी कोई

गुण नहीं है जिसके आधार पर हम वस्तुओं के भेद को स्पष्ट कर सकें। पृथक्त्व के सम्बन्ध में भी हमको यह विचार करना पड़ेगा कि यह पृथक्त्व एक ही वस्तु में पाया जाता है या भिन्न वस्तुओं मे पाया जाता है। यह पृथक्त्व वस्तु मे निवास करता है या उसके बाहर। यह वस्तु से समरूप है या भिन्न रूप है ? इस सब विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि भेद का भेद पाना इतना सरल नही है जैसा प्रथम दृष्टि से प्रतीत होता है। इस प्रकार का सूक्ष्म तर्क भारतीय दर्शन में सर्वप्रथम 'कथावत्यु' के प्रथम अध्यायों मे पाया जाता है। पाणिनि के 'महाभाष्य' मे पतजलि ने इसी प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया है। परन्तु इसका विस्तृत प्रयोग सर्वप्रथम श्री नागार्जुन ने किया है। उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ससार मे सभी कुछ निस्सार, क्रम, व्यवस्था हीन है जिसके बारे मे कुछ भी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। सभी वस्तुओं मे एक ऐसा विरोधाभास है कि किसी भी वस्तु मे कोई तथ्य नही है। सभी मिथ्या है और यह सब विश्व एक महाशून्य के अलावा और कुछ नही है। श्री शकराचार्य ने न्याय और बौद्ध दर्शन का खडन करने के लिए इस तर्क पद्धति का आशिक रूप से प्रयोग किया था परन्तु श्री हर्ष ने उस पद्धति का पूर्णरूपेण प्रयोग कर अपने मार्मिक, सूक्ष्म तर्क से न्यायादि दर्शनों की सारी मान्यताओं को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और यह सिद्ध कर दिया कि दर्शन के आधार पर जिन वस्तुओं की परिभाषा दी जाती है और जिनको महत्व दिया जाता है उनके सम्बन्ध मे यह भी नही कहा जा सकता कि वे है या नही है। इस प्रकार न्याय की मान्यताओं के खडन से यह सिद्ध कर दिया गया कि जिन वस्तुओं को हम सत्य मानते है, वे सत्य का आभास मात्र हैं, उनकी कोई वास्तविक स्थिति है ही नही। वेदान्त को इससे बड़ी सहायता मिली। वेदान्त ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यही यथार्थ है। ससार का सारा ही व्यापार आभास मात्र है, यह हमे व्यवहार मे सत्य दिखाई देता है पर वास्तव मे यह सब अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है जिसका अस्तित्व किसी तर्क की कसौटी पर सिद्ध नहीं हो सकता। तर्क की दृष्टि से माया भी 'अनिर्वचनीय' है। इस सारे प्रपच को किसी भी प्रकार किसी भी परिभाषा में बाँधना कठिन है, क्योंकि जो आभास मात्र है उसका कोई भी सत् स्वरूप तर्क से सिद्ध करना असम्भव है। श्री हर्ष के पश्चात् चित्सुख ने 'तत्त्वदीपिका' ग्रन्थ की रचना की जिसमे उसने हर्ष का अनुसरण किया। इस प्रकार वेदान्त दर्शन ने जहाँ एक ओर शून्यवाद का आश्रय लिया, वहाँ दूसरी ओर विज्ञानवाद का आश्रय लेकर यह स्थापना की कि ज्ञान स्वप्रकाशित तत्त्व है और अन्त में आत्मा या 'चित्' ही अन्तिम ज्योतिर्मय सत्य रूप है।

कारण-सिद्धान्त

वेदान्त दर्शन सतत परिवर्तित होने वाले घटनाक्रम का मनन करते हुए यह

विवेचन करता है कि उस परिवर्तन का प्रत्येक क्षण मे घटने वाली अनेक क्रियाओं का मूल कारण कहाँ छिपा हुआ है ? अन्य दर्शनो में प्रत्येक घटना को किसी पूर्व कारण से सम्बद्ध किया है। कारण के अभाव मे कार्य नही होता। कार्य विशेष की पृष्ठभूमि मे अपरिवर्तनीय, निरूपाधिक कारण-सयोग अवश्य रहता है, जिसके अभाव मे कोई भी कार्य सम्भव नही है। परन्तु वेदान्त दर्शन के लिए इतनी व्याख्या पर्याप्त नही है क्योंकि इससे यह समझ मे नही आता कि एक विशिष्ट कारण-सयोग से कार्य विशेष कैसे सम्भव होता है। यह कारण-कार्य-सयोग क्यों कर होता है यह जानने की आवश्यकता है। साधारण दृष्टि से जो कारण किसी कार्य का दिखाई देता है, वह उस सीमा तक ठीक है कि एक कारण-सामग्री से एक कार्य-विशेष सम्पन्न हो जाता है। अत हम केवल ऊपरी दृष्टि से कारण-कार्य के युग्मों से सतोष कर लेते है। परन्तु हम यह जानना चाहते है कि वह मूल कारण कौनसा है जिससे घटादि की उत्पत्ति होती है। यदि हम केवल दृश्यमान जगत् के स्थूल रूप से दिखाई देने वाले कारण से सतोष कर लेते है, तो फिर प्रत्येक घटनाक्रम के पीछे कुछ स्थूल रूप मे जो साधारण कारण-सयोग दिखाई देता है वह पर्याप्त है। परन्तु इससे तो दार्शनिक दृष्टि से कोई प्रगति नही होती। न्याय की दृष्टि से इतना ही पर्याप्त हो सकता है परन्तु हमारे मूल प्रश्न का कोई उत्तर नही मिलता कि इस कारण-कार्य की सम्भावनाओं की पृष्ठभूमि मे क्या है। न्याय-दृष्टि मे काल की अपेक्षा से कारण का पूर्ववर्ती होना आवश्यक है। परन्तु न्याय के अनुसार काल सतत प्रवाहशील है, निरन्तर गतिमान् काल मे कही व्यवधान नही है। काल का पूर्ववर्ती और अनुवर्ती होना घटना-क्रम की अपेक्षा से ही है। घटना के अभाव मे काल के अनुवर्ती होने की कल्पना कठिन है। पुन. समय का पौर्वापर्य और अनुक्रम मे घटनाक्रम की अपेक्षा होने से इनमे 'अन्योन्याश्रय' भाव है। अतः इनमे से किसी को भी स्वतत्र रूप मे नही देखा जा सकता। जो किसी अन्य पर निर्भर है वह स्वतन्त्र कारण के रूप मे नही माना जा सकता। किसी कार्य के लिए दूसरी (शर्त) उपाधि निरपवादिता अथवा अपरिवर्तनीयता है। यदि इस अपरिवर्तनशीलता से अर्थ किसी वस्तु की कार्य से पूर्व निरपवाद रूप से पूर्ववर्तिता है तो फिर यह घटना भी युक्ति सगत होनी चाहिए कि धोबी के घर अग्नि का कारण अथवा धूम्र का कारण वेशोखनन्दन (गर्दभरान) होना चाहिए क्योकि वह वहाँ निरपवाद रूप मे उपस्थित रहता है। यदि इससे ऐसी पूर्ववर्तिता से अर्थ है जिसके द्वारा कार्य की सम्पन्नता मे सहायता मिलती है तो यह समझना कठिन है कि ऐसी कौन सी वस्तु हो सकती है, क्योकि केवल पूर्ववर्तिता ही बोधगम्य वस्तु दिखाई देती है। यदि इस अपरिवर्तनीयता से उस वस्तु की ओर सकेत किया जाता है जिसके उपस्थित रहने से कार्य होता है तो यह भी निरर्थक प्रतीत होता है। जैसे केवल बीज के होने से पौधा नही हो सकता। पुन. यदि यह कहा जाता है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति उसी दशा मे हो सकती है जब उसके सहयोगी साधन (सहकारीकरण) भी उसके साथ हों

तो भी यह समझ मे नही आता कि कारण से क्या अर्थ है। यदि अनेक कारणों से कार्य होता है, तो फिर किसी एक कारण से कार्य के होने और न होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसा मूल कारण है जिसके होने से कार्य अवश्य सम्पन्न होता है और न होने से नही होता। जहाँ अनेक कारणों से कोई कार्य होता है तब यह भी कहना कठिन है कि प्रत्येक कारण विशेष का कोई अपना विशिष्ट फल होता है (वात्स्यायन और न्याय मंजरी) क्योंकि मृत्तिका से ही एक ही प्रकार के घड़ा, स्थाली, पात्र आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। अब यदि कारण की परिभाषा से कारण-संयोग का उल्लेख किया जाता है, तो यह भी समझ मे नही आता कि कारण-संयोग से क्या अर्थ है ? इस संयोग से अर्थ कारण-सामग्री से है या उससे भिन्न किसी अन्य वस्तु से है ? यदि इसका अर्थ कारण-सामग्री से है तो यह सामग्री संसार मे सदैव ही उपस्थित है अतः फल होता ही रहना चाहिए। यदि इसका अर्थ किसी अन्य तत्त्व से है तो वह भी सदैव उपस्थित रहने से फल होता ही रहना चाहिए। 'सामग्री' का अर्थ यदि कारण समूह की फल से पूर्ववर्ती अन्तिम क्रिया है तो कारण-सामग्री से इस क्रिया का सम्बन्ध समझ मे नही आता। यदि क्रिया या गति क्यों होती है यह भी विचारणीय है। यदि कार्य विशेष इस क्रिया से ही होता है तो फिर कारण-सामग्री की कल्पना का कोई अर्थ नही रहता। यदि यह कहा जाता है कि कारण वह है जिससे कोई कार्य निश्चित रूप से होता है तो यह अवश्यभावी कारण-वादिता भी तर्कसंगत दिखाई नही देती। इस प्रकार इस कारण-कार्य-शृंखला से हम किसी भी ऐसे सिद्धान्त का पता नही लगा सकते जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इस सिद्धान्त के अनुसार कोई कार्य सिद्ध होता है। यह सारा कार्यरूप जगत् माया रूप है जिसका कोई निश्चित युक्ति-संगत कारण नही खोजा जा सकता। इसकी उत्पत्ति अज्ञान से है, अतः यह सब अनिश्चित आभास मात्र है। यह सब प्रपंच एक दिवास्वप्न के समान लोप हो जाएगा। इस सारे सांसारिक प्रपंच का एक ही आधार-भूत मूल कारण वह ज्योतिर्मय सत् चित् ब्रह्म है जिसके ऊपर इस समस्त माया का न्याय होने से यह सत् दिखाई देने लगता है। वही इस प्रकृति का आदिकारण है जो हमारे अनुभवो की पृष्ठभूमि के रूप मे अवस्थित है। अज्ञान अविद्या के कारण यह सारा माया-संसार हमारे अनुभव में सत् रूप दिखाई देता है परन्तु यह भ्रान्ति मात्र है। मिट्टी के पात्रो के अनेक रूप होते है, पर सभी पात्रो मे एक मिट्टी ही मूल तत्व है, वही एक सत् है जो नाना प्रकार के पात्रों में समान रूप से विद्यमान है, अन्य सब रूप, बाह्य आभास मात्र हैं, असत् हैं। उसी प्रकार ब्रह्म ही एक मात्र सत् रूप है जो सारे माया-रूपों का सांसारिक प्रपंच और दृश्यमान् जगत् का आधार तत्त्व है। अन्य सब केवल मिथ्या रूप हैं जिसे भ्रान्ति के कारण वास्तविक मान कर जीव जीवन भर भ्रमित होता रहता है।

इस एक मूल कारण के सारे दृश्याभासों और प्रपंचों में स्थित होने के सिद्धान्त

को 'विवर्त्तवाद' कहते हैं। यह साख्य के 'परिणामवाद' से भिन्न है। परिणामवाद मे कार्य को सूक्ष्म कारण के महत् विकास के रूप मे माना गया है। इसमें कारण अपनी प्राथमिक अवस्था मे बीज रूपेण अवस्थित रहता है, इसका विकास कार्य रूप मे सम्पन्न होता है, यह कार्यरूप ही विभवरूप कारण का क्षमता रूप है। जब किसी कारण के द्वारा कारण रूप से भिन्न फल होता है यह 'विवर्त' कहा जाता है। जब कारण से तदनुरूप परिणाम निकलता है तो उसे 'परिणाम' सज्ञा दी जाती है जैसा इस उक्ति से स्पष्ट है—"कारणस्वलक्षणान्यथाभावः परिणामः तदविलक्षणेविवर्त्त" या "वस्तुनस्तत्स-मसत्ताकोऽन्यथाभावः परिणाम तदविषमसत्ताक विवर्त्त.।" वेदान्त का न्याय के कारण-कार्य-सिद्धान्त से उतना ही विरोध है जितना कि साख्य के परिणामवादी कारण सिद्धान्त से। वेदान्त का कथन है कि गति, विकास, स्वरूप, विभव और वास्तविकता आदि तत्व तर्क से कही भी नही ठहरते, केवल शब्द मात्र रह जाते है, इन शब्दो से इस माया-प्रकृति के दृश्यमान् रूप का ही बोध होता है, इससे इस सासारिक प्रपच के कारण पर कोई प्रकाश नही पडता। ये सारे सिद्धान्त जो कुछ इन्द्रियो से प्रत्यक्ष दिखाई देता है केवल उसकी ही व्याख्या करते है। सत्य यह है कि यद्यपि यह सासारिक प्रपच और इसका कारण एक ही नही है, परन्तु कारण के अभाव मे इस सारे प्रपच को किसी प्रकार नही समझा जा सकता, कारण के अर्थों मे ही यह सारा प्रपच अर्थवान् है, अन्यथा यह सब अर्थहीन है—तदभेदम् विनैव, तद्व्यतिरे केण दुर्वचम् कार्य्यम् विवर्त्तः।

ब्रह्म और ससार के इस सम्बन्ध के प्रकाश मे वेदान्त दर्शन के अनेक विद्वान् सासारिक माया के कारण की व्याख्या करते हुए कभी अविद्या-अज्ञान का विशेष विवेचन करते है तो कभी ब्रह्म का अथवा कभी इन दोनो का ही समान रूप से महत्व-पूर्ण मानकर दोनो पर बल देते है। 'सक्षेप-शारीरक' के प्रसिद्ध लेखक 'सर्वज्ञात्ममुनि' और उनके अनुयायी ब्रह्म को इस प्रपच का उपादान कारण मानते है। श्री प्रकाशात्मन् अखडानन्द और श्री माधवाचार्य का मत है कि माया (मे स्थित) ब्रह्म अर्थात् जिसमे माया का प्रादुर्भाव होता है वह 'ईश्वर' इस ससार का आदि कारण है। अर्थात् संसार की उत्पत्ति ब्रह्म अपनी माया के साथ करता है और यह रूप ईश्वर रूप कहलाता है। यह ससार ईश्वर मे स्थित माया का परिणाम है, ईश्वर स्वय विवर्त्त-कारण-तत्व है। कुछ अन्य विद्वानो का मत है कि माया वह है जो सारे ब्रह्माड मे व्याप्त है, अविद्या माया का वह अश है जो जीव को भ्रमित करती है। यह सारा सासारिक प्रपच माया-निर्मित है और व्यक्ति के मन मस्तिष्क को उत्पन्न करने वाली अविद्या है जिसमे जीव उपादान कारण है। सरल शब्दो मे 'अविद्या' की जीव के सदर्भ मे वही स्थिति है जो माया की इस प्रपच के सदर्भ मे है। कुछ लोगो का मत है कि ईश्वर और उसकी माया जीव को ही दिखाई देती है, अत यह अधिक उपयुक्त होगा कि हम जीव को ही अविद्या-अज्ञान से आच्छादित मानकर यह स्वीकार करे कि ईश्वर और

माया की अभिव्यक्ति जीव के लिए ही होती है। अन्य लोगों का मत है कि ब्रह्म और माया दोनों को ही कारण मानना चाहिए, ब्रह्म शाश्वत कारण उपादान है और माया वह तत्व है जो परिणाम के रूप में प्रकट होती है। वाचस्पति मिश्र का मत है कि इस सांसारिक आभास का कारण माया-ब्रह्म ही है। माया सहकारी कारण है और ब्रह्म मूल कारण है। माया के कारण ही जीव को ब्रह्म सांसारिक आभास के रूप में दिखाई देता है। 'वेदान्त सिद्धान्त' ग्रन्थ में श्री प्रकाशानन्द ने अपना मत स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म शुद्ध चेतन रूप है। वह माया से प्रभावित नहीं होता। वह न माया रूप में प्रकट होता है, न कारण रूप ही धारण करता है। वह इस संसार से परे शुद्ध प्रबुद्ध रूप है। संसार कारण केवल माया है। यही उपादान है और यही निमित्त। यह सांसारिक प्रपंच माया से ही निर्मित और प्रेरित है।

वेदान्त के इन सारे मतों से एक बात स्पष्ट है कि वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही अपरिवर्तनीय, शाश्वत आदि कारण है। उसके अनन्तर अन्य सब कार्य, प्रपंच, क्षणिक, अनिर्वचनीय, माया मात्र है। ऋग्वेद में माया शब्द का प्रयोग अद्भुत क्षमता और दैविक शक्ति के रूप में हुआ है। अथर्ववेद में उस शब्द का प्रयोग संसार में निहित रहस्य को विशेष रूप से प्रकट करने के लिए कई बार किया गया है। उसके पश्चात् यह रहस्य के साथ जादू के अर्थ में प्रयोग में आने लगा। बृहदारण्यक, प्रश्न और श्वेताश्वतर उपनिषदों में इस शब्द का प्रयोग जादू के रूप में किया गया है। प्राचीन पाली ग्रन्थों में इसका प्रयोग प्रवचना के अर्थ में किया गया है। बुद्ध-कोष ने इसका ऐन्द्रजालिक शक्ति के अर्थ में प्रयोग किया है परन्तु श्री नागार्जुन रचित 'लंकावतार' में इसका अर्थ भ्रान्ति, आभास के रूप में किया गया है। श्री शंकर ने इसका प्रयोग माया के प्रस्तुत अर्थ में किया है, इसे सृष्टि की उत्पादिका सहकारी कारण-शक्ति और प्रपंच-सृष्टि दोनों ही रूपों में माना गया है। हिन्दू लेखकों में सर्व प्रथम श्री गौडपाद ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि संसार की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। यह माया मात्र है। जब परम सत्य का ज्ञान हो जाता है तो इस माया का स्वयमेव लोप हो जाता है क्योंकि यह अस्तित्व हीन प्रवचनामात्र है, यह सत्य के प्रकाश में जल के बुदबुद की भाँति समाप्त हो जाती है। श्री गौडपाद ने ही यह तर्क प्रस्तुत किया है कि जाग्रतावस्था में दिखाई देने वाली संसार की सारी वस्तुएँ स्वप्नवत् हैं। यह एक स्वप्न संसार है जिसमें कुछ भी सारमय नहीं है। आत्मा ही द्रष्टा और दृश्य है। माया के कारण इस संसार की स्थिति केवल आत्मा में है। यह आत्मा ही मूल तत्त्व है। यही सत् है और अन्य सब द्वैत मिथ्या है। क्योंकि केवल आत्मा ही सत् है, अतः अन्य सारे अनुभव भी मिथ्या हैं। शंकराचार्य श्री गौडपाद के शिष्य गोविन्द के पट्ट शिष्य थे। उन्होंने गौड़पाद के दर्शन का विकास कर अपने 'ब्रह्मसूत्र' के

भाष्य में इन सिद्धान्तों का विशद विवेचन प्रस्तुत कर वेदान्त दर्शन की स्थापना की, जो अब तक के विकसित वेदान्त दर्शन का मूल है ।

वेदान्त का प्रत्यक्ष और अनुमान-सिद्धान्त[1]

'प्रमा' (यथार्थज्ञान) का साधन प्रमाण है। प्रमाण से सिद्ध होता है कि हमारा ज्ञान कितना सत्य है। यदि प्रमाण की परिभाषा में स्मृति को स्थान न दिया जावे तो प्रमाण वह साधन है जिससे नवीन ज्ञान की प्राप्ति होती है अथवा यह कह सकते हैं कि प्रमाण से 'अनधिगत' (जो पहले से प्राप्त नहीं किया गया है) ज्ञान की प्राप्ति होती है। वेदान्त मे 'प्रमा' का अर्थ वह सत्य ज्ञान है जिसको किसी भी अनुभव से असत्य नही जाना गया है अथवा जिसका खडन नही किया गया है–(अबाधितार्थ विषय ज्ञानत्व) प्रमा में स्मृति को सम्मिलित नही किया जाता। इस सम्बन्ध में यह शका की जाती है कि जब हम किसी वस्तु को एक क्षण विशेष मे देखते है तो अन्य क्षणो में प्रथम क्षण के प्रत्यक्ष की रूप कल्पना की स्मृति बनी रहती है और उसके आधार पर ही हम प्रत्यक्ष दर्शन के प्रसग मे उस ज्ञान को अभिव्यक्त करते हैं। अतः यह नही कहा जा सकता कि प्रमा मे स्मृति सम्मिलित नही है। वेदान्त का समाधान यह है कि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष में हमारी मनोवृत्ति, जब तक हम उस वस्तु को देखते हैं, एक सी ही रहती है, जब तक इस मनोवृत्ति की स्थिति मे अन्तर नही आता, हम यह नही कह सकते कि प्रत्येक क्षण का प्रत्यक्ष भिन्न है और दूसरा क्षण पहले क्षण के प्रत्यक्ष का बिम्ब मात्र है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति एक पुस्तक को दो क्षणो के लिए देखता है, तो इन दोनो क्षणो मे उसकी मनोदशा एक सी ही रहती है अत वह एक ही मनोदशा से सम्पूर्ण प्रत्यक्ष को आत्मसात् करता है। इस प्रकार जब तक विषय-वस्तु का परिवर्तन नहीं होता, मनोदशा मे कोई अन्तर नही आता। इस प्रत्यक्ष की क्रिया मे समय के प्रवाह का भी अवचेतन मन में ध्यान रहता है पर उससे प्रत्यक्ष पर कोई

---

[1] धर्मराजाध्वरीन्द्र और उनके पुत्र श्री रामकृष्ण ने वेदान्त दर्शन मे अनुमान और प्रत्यक्ष के सिद्धान्त की स्थापना की। ये सिद्धान्त वेदान्त दर्शन के मतानुकूल है। प्रारम्भ मे वेदान्त विद्वान् संसार को माया, भ्रान्ति सिद्ध करने पर ही विशेष बल देते रहे और इसको युक्ति संगत सम्पूर्ण दर्शन बनाने का प्रयत्न नही किया। अनुमान सिद्धान्त के प्रतिपादन मे धर्मराजाध्वरीन्द्र ने मीमासा-दर्शन का आश्रय लिया है। अर्थापत्ति, शब्द, उपमान, अनुपलब्धि आदि की व्याख्या और इनको वेदान्त मे सम्मिलित करने के लिए भी धर्मराजाध्वरीन्द्र मीमांसा दर्शन के आभारी हैं। धर्मराजाध्वरीन्द्र के पूर्व भी वेदान्ती विद्वान् मीमासा का ही अनुसरण करते थे।

प्रभाव नही पड़ता। इस सारे काल में मनोवृत्ति एक सी ही रहती है अतः प्रमा में स्मृति का कोई स्थान नही रहता। जब तक उस परम ब्रह्म का ज्ञान नही होता इस बाह्य जगत् की सारी वस्तुओं के अबाधित अनिधगत ज्ञान को प्रमा के रूप मे मान्य समझना चाहिए।

जब इन्द्रियों के माध्यम से 'अन्त.करण' (मन) का सम्पर्क बाह्य वस्तुओं से होता है तो मन उसी ओर प्रवृत्त हो जाता है और उस वस्तु के बिम्बरूप को ग्रहण कर लेता है, इस मनोदशा को 'वृत्ति' कहते हैं। विषय के अनुकूल ही 'वृत्ति' का निर्माण होता है।[1] अन्त.करण जब किसी विषय को तदनुकूल वृत्ति द्वारा ग्रहण करता है तो तत्संबंधी अज्ञान दूर हो जाता है। जो वस्तु उस समय तक अज्ञान-अन्धकार मे छिपी हुई थी वह अब 'चित्' के द्वारा प्रकाशित होकर स्पष्ट दिखाई देने लगती है। अज्ञान स्वय ही सासारिक वस्तुओं की सृष्टि कर उनको विशिष्ट 'आवरण' से ढक देता है। यह प्रपंच अज्ञान की 'विशेष' शक्ति का प्रतीक है और अन्धकार अज्ञान का आवरण है जिससे यह सृष्टि ढकी हुई है। वस्तु प्रत्यक्ष मे अन्तःकरण की वृत्ति वस्तु विशेष की ओर आकर्षित होकर उसके रूप को ग्रहण करती है। इस वृत्ति के द्वारा 'चित्' का प्रकाश विषय-वस्तु पर केन्द्रित होकर उसे प्रकाशित कर देता है और इस प्रकार अज्ञानावरण को दूर कर देता है। यथार्थ मे बाह्यान्तर कुछ भी नही है, पर अज्ञान की माया के कारण अनेक जीव, स्थान, काल आदि से आवृत भौतिक प्रपच-जगत् वास्तविक दिखाई देता है और यह सब भी पुन अज्ञान आवरण मे इस प्रकार ढका रहता है कि इसके प्रत्यक्ष के लिए भी इन्द्रियो को आत्मस्थ 'चित्' का आश्रय लेना पड़ता है, जिसके प्रकाश के अभाव में बाह्य जगत् की कोई भी वस्तु दिखाई नही देती। इस प्रकार आत्मपरक दृष्टि से प्रत्यक्ष आत्म-चेतना का वस्तु-चेतना से अभेद होने पर होता है। अर्थात् जब तक अन्त चेतना, बाह्य चेतना के साथ सयोग नही करती और इस प्रकार इन्द्रिय विषयों का तदनुकूल चित्तवृत्ति के द्वारा ग्रहण नही करती वस्तु का प्रत्यक्ष सम्भव नही है। इस सयोग का अर्थ यह है कि द्रष्टा की आत्म-चेतना और बहिर्चेतना मे कोई भेद नहीं रहता—तत्तदिन्द्रिययोग्यविषया वच्छिन्न चैतन्याभिन्नत्वम् तत्तदाकार विषयावच्छिन्न ज्ञानस्थ तत्तदशे प्रत्यक्षत्वम्। अन्त करण मे स्थित ज्ञान-चेतना को 'जीवसाक्षी' कहते है जो 'चित्' मे स्थित प्रत्यक्ष कर्त्ता तत्व है।

---

[1] वेदान्त 'मानस' (मन) को इन्द्रियो से भिन्न मानता है। अन्त.करण इसके अनेक क्रिया रूपो मे 'मानस', 'बुद्धि', 'अहकार' और 'चित्' मे जाना जाता है। सन्देह के प्रसग में 'मानस', सज्ञान क्रिया मे 'बुद्धि', चेतना मे अहभाव की उत्पत्ति होने से 'अहकार' और स्मृति की क्रिया मे यही अन्तःकरण चित्तरूप मे जाना जाता है। यह चारों एक ही अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं। अन्तःकरण अज्ञान का ही एक रूप या वृत्ति है।

वेदान्त के अनुसार निश्चित पूर्व 'संस्कार' के आधार पर दो वस्तुओं में 'व्याप्ति ज्ञान' के द्वारा जब किसी वस्तु के बारे में निर्णय किया जाता है तो वह अनुमान प्रमाण है। उदाहरण के लिए हमारे पूर्व संस्कार से यह ज्ञात है कि धूम-अग्नि मे व्याप्ति-सम्बन्ध है। अत जब पहाडी पर धुंआ दिखाई देता है तो अवचेतन मन मे स्थित इस व्याप्ति-ज्ञान का संस्कार स्पष्ट हो उठता है और यह अनुमान सहज ही हो जाता है कि पर्वत पर अग्नि होनी चाहिए। यह अनुमान पर्वत और धूम के प्रत्यक्ष-ज्ञान के आधार पर है। व्याप्ति ज्ञान से केवल धूम का अग्नि से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सह व्याप्ति की कल्पना या ज्ञान का आधार यह है कि उक्त सम्बन्ध में कभी भी अपवाद (व्यभिचार ज्ञान) नही पाया जाता। इस अव्यभिचारी व्याप्ति का दर्शन मुख्य तथा व्यक्तिगत और आत्मपरक होने से, पुन अनेक उदाहरणों के द्वारा इस व्याप्ति कल्पना की पुष्टि की आवश्यकता प्रतीत नही होती जैसा कहा है--भूयोददर्शनम् सकृदर्शनम् वेति विशेषो नादरणीय.। वेदान्त के अनुसार यदि अपवाद नही तो एक ही उदाहरण मे व्याप्ति का पाया जाना पर्याप्त है। यह व्याप्ति एक घटना मे देखी गई है या शताधिक उदाहरणो में पायी जाती है इसका कोई महत्त्व नही है। व्याप्ति का दो वस्तुओं के भाव मे पाया जाना ही वेदान्त के लिए मान्य और अभीष्ट है। अत वेदान्त केवल 'अन्वय व्याप्ति' को ही स्वीकार करता है जिसमे दो वस्तुओ के भाव मे व्याप्ति पायी जाती है, न्याय की 'अन्वय व्यतिरेकी', 'केवलान्वयी' और 'केवलव्यतिरेकी' व्याप्ति को वेदान्त निरर्थक और अप्रमाण्य समझता है। वेदान्त किसी भी पूर्ण प्रमाण के लिए न्याय के पाँच तर्क वाक्यो के स्थान पर तीन ही तर्क वाक्य पर्याप्त समझता है। उदाहरण के लिए (१) प्रतिज्ञा-पर्वत पर अग्नि है (२) हेतु—क्योंकि पर्वत पर धूम है (३) दृष्टान्त जैसे रसोई मे धूम अग्नि के साथ पाया जाता है।[१] क्योंकि वेदान्त अनुमान के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त समझता है, अत इसका मत है कि जिस प्रकार सीपी मे चादी का आभास मिथ्या है, उसी प्रकार ब्रह्म के अतिरिक्त सारा ससार मिथ्या है। उसके लिए किसी अन्य उदाहरण की आवश्यकता नही है। यह एक ही दृष्टात ससार की मिथ्या निस्सारता के लिए पर्याप्त है.—ब्रह्मभिन्नम् सवम्मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात् यदेम् तदेवम् यथा शुक्तिस्यम्। उपर्युक्त अनुमान मे पहला आधार वाक्य है–[२] ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या है–(२) दृष्टान्त–जैसे शुक्ति मे रजत का आभास मात्र है, परन्तु शुक्ति से भिन्न यह रजत मिथ्या निस्सार है।

---

[१] वेदान्त केवल तीन आधार वाक्य मानता है। ये तीन या तो 'प्रतिज्ञा', 'हेतु', और उदाहरण होने चाहिए या उदाहरण, उपमय, निगमन होने चाहिए। न्याय पाँच भाग करता है–'प्रतिज्ञा' 'हेतु' 'उदाहरण', 'उपमय', 'निगमन'।

[२] वेदान्त दर्शन मे, उपमान, अर्थापत्ति, शब्द और अनुपलब्धि मीमांसा के ही समान है, अतः उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

आत्मा, जीव, ईश्वर, एकजीववाद और दृष्टि-सृष्टि-वाद

सत्य के लिए कई बार कहा गया है कि यह 'स्वयप्रकाश' है। यह अपने आप ही प्रकाशित है। इसका अर्थ यह है कि इसको जानने का प्रयत्न करना आवश्यक नही है, यह सदैव ही हमारे सामने रहता है—अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्वम्। अतः वेदान्त के अनुसार 'स्वय प्रकाश' का अर्थ है कि यह हमारी अनुभूति चेतना मे सदैव स्वतः विद्यमान रहता है, इसको जानने के लिए चेतना के प्रयत्न की आवश्यकता नही है। कुछ वस्तुएँ चेतना के द्वारा ग्रहण किए जाने वाले पदार्थ कहे जाते है, इससे उन वस्तुओं के इस गुण की ओर संकेत होता है कि उनमे चेतना के द्वारा ग्राह्य किए जाने की योग्यता है। यह योग्यता किसी समय किसी वस्तु मे उपस्थित या अनुपस्थित हो सकती है। अत॰ यह वस्तु, इसकी उत्पत्ति या प्रकृति के लिए किसी अन्य तत्व पर निर्भर है। परन्तु अनुभूति-चेतना (चित्) एक ऐसी वस्तु है जो अपने प्राकट्य के लिए किसी अन्य पर निर्भर नही है। प्रत्युत् प्रत्येक वस्तु को स्वय प्रकाशित करती है। संसार के सारे पदार्थ इस 'अनुभूति' के द्वारा ही जाने जाते हैं। यदि इस अनुभूति-चेतना के ज्ञान के लिए किसी अन्य चेतना की आवश्यकता हो तो उस चेतना के लिए किसी तीसरी अनुभूति चेतना की आवश्यकता होगी और इस क्रम का कही अन्त नही होगा जिससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। यदि यह अनुभूति चेतना वस्तु को देखने के समय (जब हम इसका ज्ञान प्राप्त करते है) प्रकट न हो तो हमको यह सन्देह होगा कि हमारा वस्तु-प्रत्यक्ष सही है अथवा नही। सरल शब्दो मे जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते है, हमारे अतर्मन मे यह बात स्पष्ट रूप से रहती है कि हम अपनी अनुभूति-चेतना से इस वस्तु विशेष का ज्ञान प्राप्त कर रहे है। इस प्रकार हमारी अनुभूति अपने आप को स्वयमेव प्रकट करती हुई सारे सासारिक अनुभवो को प्रतिभाषित करती रहती है। यही हमारी अनुभूति-चेतना (चित्) का स्वप्रकाशित रूप है। यह उस दृष्टिकोण से भिन्न है जिसमे चेतना का अनुमान वस्तुओ की 'ज्ञानता' से किया जाता है।

वेदान्त का कथन है कि इस स्वप्रकाशित चेतना (चित्) और आत्मा में कोई अन्तर नही है। यह 'चित्' ही आत्मा है जो सारी अनुभूतियो का केन्द्र है। यह आत्मा सारी वस्तुओ को प्रकाशित करती है। यह स्वय किसी ज्ञान का विषय नही है। किसी को भी अपनी आत्मा के होने के सम्बन्ध मे कोई सन्देह नही रहता। सारी ज्ञान वृत्तियो मे आत्मा का बोध निश्चित रूप से उपस्थित रहता है। जिसे हम आत्मा का बोध कहते हैं वह सासारिक दृष्टि से आत्मा का अहम् रूप का बोध मात्र है। यह अह ही हमारे नश्वर शरीर मे आत्मरूप मे जाना जाता है। शुद्ध चेतन महान् आत्मा सारे विश्व मे एकरूपेण स्थित है, यह सर्वव्यापक विश्वात्मा के रूप मे अवस्थित है। जब यह आत्मा शरीर में उपस्थित होकर सासारिक अनुभूतियो का विषय बनती है तो

यह जीवात्मा कहलाती है। यह जीवात्मा ही सारे सासारिक अनुभवों को अनुभूति-चेतना के रूप में ग्रहण करता है परन्तु यह आत्मा का केवल शरीरस्थित रूप है। जिस प्रकार 'ईश्वर', ब्रह्म अथवा परम आत्मा का प्रकृत रूप है उसी प्रकार जीव आत्मा का प्रकृत रूप है। ईश्वर ब्रह्म का वह रूप है जो माया के साथ सारे ससार का निर्माण कर उसमें स्थित है। माया के दो रूप है, एक वह जो ससार की उत्पत्ति (विक्षेप) करता है और दूसरा वह जो अज्ञान के द्वारा आवृत (आवरणरूप) करता है। शुद्ध चित् रूप ब्रह्म, माया के साथ इस प्रपच के मध्य 'ईश्वर' के रूप मे स्थित होता है और यही अविद्या के साथ जीव रूप मे शरीर मे स्थित होता है। माया 'अज्ञान' का शुद्ध सृष्टि-कर्त्ता रूप है और अविद्या विकृत अनुभूतिपरक जीव रूप है।

ब्रह्म और माया के सम्बन्धो की व्याख्या वेदान्त ने 'उपाधि' या प्रतिबिम्ब रूप और 'अवच्छेद' कल्पना से भी की है। प्रतिबिम्ब कल्पना की व्याख्या करते हुए वेदान्त का कथन है कि सूर्य आकाश मे अपने शुद्ध रूप मे चमकता है, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब अनेक प्रकार के जल मे पड़ता है। जल के शुद्ध, अशुद्ध आलोडित होने से सूर्य के बिम्ब मे अनेक परिवर्तन, और अनुरूपता, अशुद्धि आदि उत्पन्न होती है परन्तु इससे सूर्य की अपनी शाश्वत प्रभा प्रभावित नही होती। सूर्य के एक होते हुए भी, अलग अलग स्थानो मे इसके अनेक प्रकार के बिम्ब दिखाई देते है जो माध्यम की शुद्धता अशुद्धता के अनुसार उनकी प्रकृति के अनुकूल होते है। यही प्रकृत रूप है। ये रूप असत्य और अयथार्थ है, फिर भी सत्य प्रतीत होता है।

दूसरी कल्पना घटाकाश-प्रकोष्ठाकाश रूप है। एक ही आकाश घडे मे और प्रकोष्ठ मे स्थित है। घडे या कक्ष मे स्थित होने से आकाश के रूप मे कोई अन्तर नही होता। वास्तव मे आकाश निस्सीम, असीम, ('अवच्छिन्न') अविच्छिन्न है, फिर भी घडे मे या कमरे मे, इसको हम सीमित कल्पना मे देखते हैं। जब तक घटपात्र है इसमे आकाश सीमित रहता है, यह कमरे मे सीमित आकाश से भी भिन्न प्रतीत होता है, परन्तु घटपात्र के समाप्त होते ही यह घटाकाश, महाकाश मे लीन हो जाता है।

प्रतिबिम्ब वादी वेदान्तियो मे श्री नृसिंहाश्रम मुनि के अनुयायियो का मत है कि जब शुद्ध 'चित्' माया मे अवस्थित होकर प्रकट होता है तो वह 'ईश्वर' रूप कहलाता है। वही चित् अविद्या के सम्पर्क मे व्यक्ति या जीवरूप मे प्रकट होता है। श्री सर्वज्ञात्म माया और अविद्या मे कोई भेद नही मानते। उनका मत है कि जब 'चित्' सारी अविद्या के कारण रूप मे स्थित होता है तो वह ईश्वर रूप धारण करता है। अविद्या से उत्पन्न अन्तःकरण में जब चित् रूप प्रतिभासित होता है तब वह जीव रूप मे दिखाई देता है।

जीव आत्मा का वह स्वरूप है जो अहं रूप मे सारी सासारिक अनुभूतियो आदि का भोग करता है। जीव के तीन स्वरूप हैं। सुषुप्ति अवस्था मे, अन्तःकरण का

कार्य समाप्त हो जाता है, अहंरूप निश्चल हो जाता है, तब यह स्थिति 'प्राज्ञ' या 'आनन्दमय' अवस्था कहलाती है। स्वप्नावस्था मे जो सूक्ष्म शरीर के साथ सयुक्त रहता है, इस स्थिति मे यह जीव की 'तैजस' अवस्था कही जाती है। जब मनुष्य जाग्रत अवस्था मे रहता है तब उसकी आत्मा का सम्बन्ध सारे स्थूल जगत् मे रहता है, इस अवस्था मे आत्मा स्थूल और सूक्ष्म दोनो शरीरो के सम्पर्क मे रहती है अत यह 'विश्व' रूप कहलाता है। इसी प्रकार आत्मा अपने शुद्ध मे 'ब्रह्म' माया के सम्पर्क मे 'ईश्वर', सूक्ष्म प्रकृतितत्व मे स्थित होकर, 'हिरण्यगर्भ', और स्थूल जगत् मे नियन्ता रूप में स्थित 'विराट पुरुष' कहलाती है।

अविद्या से आवृत 'जीव' 'पारमार्थिक' (सत्) सज्ञा से जाना जाता है, जब यही जीव अहम् और इन्द्रियो के सम्पर्क से अनेक व्यापारो मे प्रवृत्त होता है तो 'व्यावहारिक' (प्रकृत) और स्वप्नावस्था मे स्वप्नात्मा रूप मे 'प्रातिभाषिक' (माया) कहलाता है।

श्री प्रकाशात्मा का मत है जीव अज्ञान मे स्थित ईश्वर का ही स्वरूप है। माया के सम्पर्क मे ब्रह्मचित् ही ईश्वर कहलाता है, पुन: अज्ञान रूप मे 'जीव' कहलाता है। वास्तव मे जीव ईश्वर से भिन्न और कोई ब्रह्म चैतन्य नही है, जब जीव अपनी सीमाओ से मुक्त हो जाता है तो वही ब्रह्म रूप हो जाता है।

जो जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध को अवच्छेद कल्पना मे देखते है उनका मत हैं कि प्रतिबिम्ब केवल उन वस्तुओ का ही सम्भव है जिनका कोई वर्ण या रूप हो। अत. जीव 'चित्' का अन्त:करण द्वारा सीमित (अवच्छिन्न) रूप है। ईश्वर वह रूप है जो अन्त:करण की सीमा से परे है। जीव के अनेक रूप अनेक अन्त.करणो के कारण हैं। ये अन्त:करण घट घट में व्याप्त जीव के अनेक रूप है जो जीव रूप मे ईश्वर जाने जाते हैं। जीव सीमित रूप है, चित् सर्वव्यापक रूप है। परम सत्य केवल सत् चित् ब्रह्म है, यही वेदान्त दर्शन का मुख्य तत्व है। अनेक वेदान्ती विद्वानों ने जीव, ससार, ईश्वर आदि की अनेक रूप मे कल्पना की है, परन्तु उन सब मे यही विचारधारा पायी जाती है कि ससार माया रूप भ्रान्तिमात्र है, ब्रह्म ही सत्य है, वही चित् है, वही आनन्द है।

वेदान्त मे एक धारा एकजीववाद है। जिसके अनुसार सारे ससार मे एक ही जीव और एक ही शरीर है। अनेक शरीर और अनेक जीव, एक भ्रान्त कल्पना के कारण दिखाई देते है। जब तक वह परम जीव सासारिक अनुभूति-बन्धन मे बँधा रहेगा, ये स्वप्न जीव और स्वप्न ससार इसी प्रकार चलते रहेंगे। जैसे यह सारा संसार और अनेक जीव स्वप्नवत् है, उसी प्रकार दु:ख से मुक्ति की कल्पना या मोक्ष भी स्वप्नवत् है, न ससार है, न मोक्ष। एक विश्वजीव ही परम शाश्वत तत्व है, उस एक जीवपिंड के अनन्तर और कुछ भी सत्य नही है। यही 'एकजीव' सिद्धान्त है।

कुछ अन्य वेदान्तियों का मत है कि संसार में प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी भ्रान्ति-कल्पना स्वयं उत्पन्न करता है, एक ही भ्रान्ति सबके लिए सत्य नही है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी अपनी कल्पना है, उसी के अनुसार वह संसार को इसके मिथ्या रूप में देखता है। वास्तव मे ससार में पार्थिव, भौतिक रूप मे कुछ भी अवस्थित नही है। जैसे अन्धकार में रज्जु सर्प को देखकर मनुष्य भयभीत होकर इधर उधर भागते हुए अपने अपने भ्रान्ति-भय का अपनी कल्पना के अनुसार कथन करते है, परन्तु वास्तव मे न कोई सर्प है न भय का कारण। परन्तु प्रत्येक की भय-कल्पना अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार है। इसी प्रकार ससार मे प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी कल्पना और दृष्टि के अनुसार अपनी माया-सृष्टि की उत्पत्ति करता हुआ अपनी कल्पनाओ के अनुसार अपनी अनुभूतियो और सुख-दुखादि की सृष्टि करता रहता है। वास्तव मे कोई पार्थिव, भौतिक जगत् नाम की वस्तु ही नही है। सारी सृष्टि अपने मन की ही है। मनुष्य अपने प्रत्यक्ष के साथ ही अपनी भ्रान्ति की सृष्टि कर लेता है। यह सिद्धान्त 'दृष्टि-सृष्टिवाद', सिद्धान्त कहलाता है। साधारण वेदान्त के मत के अनुसार वस्तुओ का पार्थिव अस्तित्व है जिनको हम इन्द्रियानुभूति के आधार पर प्रत्यक्ष रूप मे देखते है और यह पार्थिव जगत् अनुभवो की सामान्य भूमि है, अर्थात् अनुभवो का आधार एक सा है। यद्यपि यह सारे अनुभव अज्ञान के कारण होने है परन्तु अनुभवों के मूल इन्द्रियो द्वारा देखे जाने वाले पार्थिव पदार्थ है। ये भौतिक पदार्थ ही वे आधार है जिनको इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष देखा जाता है और जिनकी अनुभूति सभी जीवो को होती इसके विपरीत दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्त का मत यह है कि वस्तुवादी पार्थिव जगत् का अपना कोई अस्तित्व नही है। इस सारे जगत् की सृष्टि अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार मनुष्य स्वय कर लेता है। इस वाद की अपनी कोई वस्तुवादी ज्ञान मीमासा नही है। केवल इतना ही कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव उसकी अविद्या के अनुसार होता है और पूर्व सस्कार भी इसी अविद्या के रूप है। यह वाद बौद्ध धर्म के 'विज्ञान-वाद' से अधिक साम्य रखता है अन्तर केवल इतना है कि बौद्ध दर्शन किसी शाश्वत तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार नही करता और वेदान्त परम ब्रह्म को शाश्वत स्थिति मे विश्वास करता है, हमारा क्षणिक और भ्रान्तिमय सासारिक प्रत्यक्ष का कारण माया है जो ब्रह्म के सत्य रूप को अपने आवरण मे छिपाए रहती है।

अज्ञान मानसिक और भौतिक घटनाक्रम अज्ञान के ही विभिन्न रूप है। अज्ञान के स्वरूप को समझना कठिन है। अज्ञान को हम अपनी चेतना के सूक्ष्म रूप से जानते हैं परन्तु इसको शब्दों में प्रकट करना कठिन प्रतीत होता है। इसीलिए इसको अनिर्वचनीय कहा है। वेदान्त का कथन है कि यह जानते हुए भी कि तर्क और युक्ति के आधार पर सभी सांसारिक कल्पनाएँ निर्मूल और आधारहीन सिद्ध हो जाती हैं, यह निश्चित करना अत्यन्त जटिल है कि अज्ञान को किस प्रकार वर्णित किया जाए।

अनादि काल से हम भ्रान्त कल्पनाओं के कारण स्वप्रकाशित सत् तत्व को नहीं देख पाते। हम बाह्य स्वरूपो और प्रकृति आदि के चक्र मे पड़कर उनमे छिपे हुए सत्य को दृष्टिगत नही करते। ससार मे उत्पन्न नाना रूप और पार्थिव पदार्थों का प्रत्यक्ष भी हम अज्ञान के कारण सत् रूप में कर बैठते है। हमारा अज्ञान हमे असत् को सत् और सत् को असत् रूप मे देखने को बाध्य कर देता है। जैसे मिट्टी से बने अनेक पात्रो मे, मिट्टी ही स्थायी सत् रूप है, अन्य आकृतियाँ मृत्तिका के ही अनेक रूप है, इसी प्रकार स्वप्रकाशित ब्रह्म के ही सत् तत्व से सासारिक प्रपच की स्थिति है। कठिनाई यह है कि ब्रह्म को भी हम अज्ञान के अनेक रूपो के माध्यम से ही देख पाते है। सारे विश्व मे एक ही शाश्वत सत् स्थिति और अस्तित्व है, वही महान् सत् है और वह ब्रह्म है। अज्ञान का अनस्तित्व भी नही कहा जा सकता क्योंकि अज्ञान का अभाव नही है। परन्तु अज्ञान का भाव होते हुए भी एक सत् की अपेक्षा से अज्ञान का अस्तित्व असत् है। सत् जब अज्ञान को प्रकाशित करता है, तो उसका अर्थ यह है कि हम असत् को देख पाते है और उसके स्वरूप को समझ कर यह अनुभव करते है कि हम इन असत् अज्ञान रूपो को ही सत् मान बैठे है। यह अज्ञान शुद्ध चित् के सम्पर्क मे आकर ही स्पष्ट होता है जो इस 'चित्' को आवृत करता हुआ उसी के प्रकाश से दिखाई देता है। अत. 'चित्' रूप आत्मा की सहायता के अभाव मे जब हम अज्ञान को जानने का प्रयत्न करते है तो कठिनाई यह होती है कि हमारे ज्ञान का आधार सासारिक माया है, और ज्ञान के अभाव मे अज्ञान को जानना असम्भव है। अत. हम केवल इतना ही कह सकते है कि हमारी सारी मायानुभूति मे अज्ञान का एक विशिष्ट स्थान है अथवा यह कहना चाहिए कि हमारी सारी काल्पनिक पार्थिव अनुभूतियो का आधार यह अज्ञान है। यदि अज्ञान की असत्ता है तो यह सत्ता रूप मे कभी भी प्रकट नही होना चाहिए और यदि इसकी कोई सत्ता नही है तो यह सत्ता सदैव रहनी चाहिए जिसके कारण अज्ञान की समाप्ति की कल्पना अनुचित होगी। अत अज्ञान के लिए कहा गया है कि तत्वान्य तत्वाभ्याम् अनिर्वाच्य, जिसका अर्थ है कि अज्ञान तत्व या अतत्व के रूप में अवर्णनीय है। यह अज्ञान सत् है क्योकि यह हमारी सासारिक अनुभूतियो का आधार है। पुन: इसके अनेक स्वरूपो का कोई तार्किक युक्ति-सगत वास्तविक आधार नही है, इसके सारे स्वरूप भ्रान्त कल्पना-रूप और क्षणिक प्रकृति है, अतः अपनी ही प्रकृति के अनुसार यह असत् है। इस असत् रूप के प्रकाश में ही दृष्टिसृष्टिवाद ने कहा है कि हमारे अनुभव अविद्या के कारण है, इनका कोई सर्वनिष्ठ पार्थिव आधार नहीं है। इस मत को वेदान्त सिद्धान्ततः स्वीकार करता हुआ कहता है कि यह सत्य है परन्तु सासारिक व्यवहार की दृष्टि से (प्रतिकर्म व्यवस्था) हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि हमारी सारी अनुभूतियो की सामान्य आधारभूमि के रूप मे पार्थिव जगत् की स्थिति है। इसी 'व्यवस्था' के आधार पर हम वेदान्त दर्शन की दृष्टि से हमारी अनुभूतियों की क्रिया को समझने का प्रयत्न करेंगे।

चित् के तीन स्वरूप हैं—प्रथम विश्वव्याप्त परम आत्म रूप है जो शुद्ध बुद्ध चित् रूप है। द्वितीय जीव या आत्मा रूप है जो शरीर में विद्यमान सीमित रूप है, जो 'जीवसाक्षी' के रूप में प्रत्यक्षकर्त्ता है, जो संज्ञान का केन्द्र है, जिसमें ज्ञान-शक्ति निहित है। तीसरा स्वरूप अन्तःकरण या मन है जो हमारे अन्तर मे अविद्या का केन्द्र है। जिस प्रकार बाह्य ससार में सारा पार्थिव जगत् अविद्या का स्वरूप है उसी प्रकार अन्तःकरण अविद्या का आधार है। अन्तःकरण या मन की अविद्यात्मक स्थिति, मनोदशा या मनोवृत्ति कहलाती है। अन्तःकरण हमारे इस जीवन के और पूर्व के जन्मों के संस्कारो को भी धारण करता है। अज्ञान-वृत्तियों की यह विशेषता है कि शुद्ध चित् रूप पर इनका ('अध्यास') न्यास इसी रूप मे ही सकता है। इस रूप मे ही ये जीवात्मा की विभिन्न साक्षी चेतना के रूप मे पहचानी जा सकती है। अज्ञान चित् को छिपाए रहता है। चित् के द्वारा ही अज्ञान का ज्ञान और विनाश होता है। सरल शब्दो मे यह कहना उचित होगा कि अन्तःकरण या मन की विभिन्न वृत्तियों का उदय हमारे अज्ञान रूपी विकार से उत्पन्न होता है। अविद्या-अज्ञान की वृत्तियो के कारण ही हम ससार के पार्थिव प्रपंच के सम्पर्क मे आते है। अन्तःकरण की वृत्ति को जब हम वस्तु विशेष पर केन्द्रित करते है तो वह वृत्ति शरीर से मानो बाह्य जगत् मे आकर (शरीर मध्यात्) वस्तु अनुरूप चेतना का निर्माण करती है, यह चेतना सदैव प्रकाशित चित् के रूप मे उस वस्तु को प्रकाशित कर प्रकट करती है और इस प्रकार जीवात्मा उसको प्रकाशित भी करती है। चेतना के इस प्रकाश से उस वस्तु विशेष का अज्ञानावरण हट जाता है। उदाहरण के लिए इस अविद्याजनित ससार मे घडा पार्थिव रूप मे स्थित है। परन्तु जीवात्मा को उसका कोई बोध नहीं है अत वह अज्ञानावरण से आवृत है। मनोवृत्ति को यदि घड़े की ओर केन्द्रित किया जाता है या हमारी वृत्ति घडे की ओर चलायमान होती है तो इस वृत्ति के घडे पर केन्द्रित होने से वह वृत्ति इस घडे के रूप को ग्रहण कर 'चित्' रूप जीवात्मा से सम्पर्क करती है। चित् उस वृत्ति के रूप को प्रकाशित कर घडे को ज्ञान रूप मे ग्रहण करता है। अतः चित् के प्रकाश मे घड़े के अज्ञान का आवरण निरावृत्त हो जाता है। इस सारे पार्थिव जगत् की पृष्ठभूमि मे एक सत् ब्रह्म के रूप मे स्थित है। ब्रह्मचित् का पार्थिव सत् रूप अर्न्तचित् के साथ सम्पर्क मे आकर ज्ञान के प्रकाश मे इन सारी वृत्तियों के माध्यम से पार्थिव वस्तुओ को प्रकट करता है। परन्तु अविद्या के कारण हम बाह्य जगत् के अधिष्ठान के रूप में स्थित और प्रवाहित मूल सत् का दर्शन नही करते। परन्तु पार्थिव जगत् के प्रत्यक्ष मे भी आन्तरिक दृष्टि से हम चित् के तीन रूप देखते हैं, प्रथम—सारे पार्थिव जगत् की पृष्ठ भूमि मे स्थित चित्रूप (२) जीवात्मा या प्रमाता (व्यक्ति) में स्थित चित् रूप (३) अन्तःकरण की वृत्तियो मे वृत्ति-चेतना के रूप में स्थित चित् रूप। इस प्रकार 'प्रत्यक्ष-प्रमा' (प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त सत्यज्ञान) स्वयं चित् है जो वृत्तियों के माध्यम से प्रवाहित होकर बाह्य पार्थिव जगत् में अन्तर्धारा के रूप में

अवस्थित होकर महान् चित् के द्वारा प्रकाशित इस प्रपंच का दर्शन करती है। अन्तोगत्वा तीनों चित् एक महान् शुद्ध ब्रह्म के माया रूप है।

वेदान्त में 'प्रमा' का अर्थ 'अबाधित' जिसका खडन नही किया गया है) ज्ञान की प्राप्ति है। प्राप्त ज्ञान की सत्यता उसी समय तक है जब तक इसको असत् सिद्ध नही किया जाता है। इस प्रकार यह सांसारिक आभास जो इस समय सत्य प्रतीत होता हैं, ब्रह्म की सत्यता के बोध होने पर मिथ्या दिखाई दे सकता है। एक मात्र शाश्वत सत्य वह ही है जिसको कभी भी मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस सारे सासारिक ज्ञान की वैधता की एक ही कसौटी है कि किसी समय यह सारा ससार असार हमे नि सत्व तो नही दिखाई देने लगेगा। इस दृष्टि से ब्रह्म ही इस संसार मे स्थायी सत्य है। ब्रह्मज्ञान होते ही यह सारा ससार मिथ्या दिखाई देने लगता है।

हमे सुख-दुःख की आन्तरिक अनुभूति भी हमारे अन्त करण की वृत्तियों को आत्मा के समरूप मानने के कारण होती है। अन्त.करण की वृत्ति को आत्मारूप मानकर हम कहते है कि 'मैं प्रसन्न हूं' या 'मैं दु.खी हूं'। जब तक मनोवृत्ति एक सी ही स्थिति में रहती है, हमको उस वस्तु या उस भावना-वृत्ति के परिवर्तन के साथ हमारी अनुभूति मे भी परिवर्तन हो जाता है। वेदान्त का मत है कि प्रत्यक्ष और अनुमान हमारी मनोवृत्ति के दो रूप हैं। वह इन दोनो को भिन्न 'जाति' के रूप मे नही मानते है। जब मैं यह कहता हूं कि पर्वत पर अग्नि है, तो इस अनुमान मे मेरा अन्त करण पर्वत और धूम्र को प्रत्यक्ष रूप मे देखता है और इनके सम्पर्क मे आकर इस रूप को ग्रहण करता है, परन्तु वह अग्नि को प्रत्यक्ष रूप मे नही देखता अतः मेरी मनोवृत्ति अपने दूसरे रूप मे अग्नि का अनुमान करती है। इस प्रकार दोनो ही एक ही वृत्ति की दो दशाएँ है जिनमे चित्रूप निहित है। पार्थिव बाह्य जगत् के चित् का जब अन्तर्मन के चित् से तादात्म्य होता है तब यह भाव उत्पन्न होता है। इस तादात्म्य का अर्थ यह है कि वस्तु और व्यक्ति में हमारी वृत्ति एक ही 'सत्य' का दर्शन करती है। अनुमान का 'सत्य' हमारी अन्त करण की प्रत्यक्ष-चेतना मे पूर्व सस्कार के आधार पर परोक्ष रूप मे देखा जाता है। इस प्रकार मनोवृत्ति के द्वारा किसी सत्य को आत्मसात् करना ही प्रत्यक्ष है। इससे कोई अन्तर नही पडता कि अन्त.करण की वृत्ति के द्वारा उस वस्तु को भौतिक रूप मे देखा जाता है अथवा दूरस्थ होने से वृत्ति-सम्पर्क किसी अन्य प्रकार से होता है। उदाहरण के लिए यदि वेदान्त नाम के व्यक्ति को पहले देखा जा चुका है और यदि कोई व्यक्ति शब्दों के द्वारा यह प्रकट करता है कि 'यह वही देवदत्त है' तो अन्त करण की वृत्ति का शब्दो के साथ देवदत्त पर केन्द्रित होने से, यह देवदत्त का प्रत्यक्ष है। इस प्रकार शब्द-ज्ञान भी वेदान्त के अनुसार उस वस्तु का स्पष्ट प्रत्यक्ष है। इस वाक्य के द्वारा जिस वेदान्त की बात कही गई है, उसमे और पहले देखे हुए वेदान्त की कल्पना मे अन्य कोई विशिष्ट ज्ञान के योग न होने से वेदान्त में इसे

'निर्विकल्प प्रत्यक्ष' माना जाता है क्योंकि इन शब्दों के द्वारा कि 'यह देवदत्त है', अन्य किसी विचार का प्रश्न नहीं है और इस वाक्य से एक ही सम्पूर्ण कल्पना होती है। इसी प्रकार जब गुरु यह कहता है कि 'तुम ब्रह्म हो' तो इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान 'सविकल्प' नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से इस वाक्य के दो भाग है जिनको एक संयोजक के द्वारा संयुक्त किया गया है, परन्तु तात्पर्य दृष्टि से दोनों का तादात्म्य रूप स्थापित किया गया है। अतः यह निर्विकल्प सत्य है। वेदान्त-दृष्टि प्रत्यक्ष में निर्विकल्प, सविकल्प भेद नही मानती, केवल शब्द-प्रत्यक्ष मे निर्विकल्प, सविकल्प का अन्तर स्वीकार करती है। निर्विकल्प के लिए यह आवश्यक है कि वाक्य के द्वारा एक ही तथ्य का उल्लेख होना चाहिए, एकत्ववाची वाक्य ही निर्विकल्प है, अनेक कल्पनाओ या तथ्यो को प्रकाशित करने से वाक्य सविकल्प कहलाता है, उदाहरण के के लिए राजपुरुष आ रहा है ('राजपुरुष आगच्छति'), इस वाक्य मे दो तथ्यो पर प्रकाश डाला है, पहला राजपुरुष और दूसरी उसके आने की कल्पना पर, अत यह 'सविकल्प' है।[1]

वेदान्त कुमारिल के षट् प्रमाणो को स्वीकार करता है और मीमामा की भाति ज्ञान को 'स्वतः प्रामाण्य' मानता है। वेदान्त की दृष्टि से भी ज्ञान के किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है। ज्ञान स्वयं ही वैध है। परन्तु मीमासा और वेदान्त की दृष्टि से से प्रमा (ज्ञान) के अर्थों में थोडा अन्तर है। मीमामा मे प्रमा वह है जो हमें किसी कर्म की ओर प्रेरित करती है और उसका प्रामाण्य इसी मे है कि हम किसी ज्ञान को प्राप्त कर उसे सत्य मान कर तदनुकूल कर्म करते है। जब तक तदनुकूल कर्म करने से हमारा ज्ञान मिथ्या सिद्ध नही होता हम उस ज्ञान को प्रामाणिक मानते है। वेदान्त में प्रमा का कर्म से कोई सम्बन्ध नही माना गया है। प्रमा वह है जो 'अबाधित' है, जिसे किसी ने असत्य सिद्ध नही किया है। मीमासा के स्वत प्रामाण्य की परिभाषा के साथ वेदान्त ने एक और उपाधि (शर्त) जोड दी है। वेदान्त के अनुसार वही ज्ञान सत्य और प्रामाणिक है जो अबाधित है और जो किसी दोष से दूषित नहीं है, अर्थात् यदि इन्द्रिय-दोष से कोई ज्ञान दूषित हो जाता है तो वह किसी के द्वारा असत्य सिद्ध नही किए जाने पर भी प्रामाणिक नही कहा जा सकता। पर इस शर्त (उपाधि) के अतिरिक्त वेदान्त न्याय के समान किसी अन्य उपाधि को महत्व नही देता। न्याय-दृष्टि से निश्चित परिस्थिति और उपाधि के अनुकूल होने पर ही ज्ञान की सत्यता को स्वीकार किया जा सकता है। न्याय ज्ञान के स्वत प्रामाण्य को स्वीकार नही करता। वेदान्त ने बीच का मार्ग चुना है। किसी बाह्य उपाधि के मानने से ज्ञान स्वतः प्रामाण्य नहीं कहा जा सकता। दोष की उपाधि को स्वीकार करने से यह शका की जाती है कि यदि 'दोष न हो' इस उपाधि को माना जाता है

---

[1] वेदान्त-परिभाषा' और 'शिखामणि' देखिए।

तो फिर ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य नहीं रहता। वेदान्त का उत्तर है कि यह उपाधि निषेधात्मक है। अतः इसका भाव नहीं माना जा सकता। दोष का अभाव निश्चित स्वीकारात्मक उपाधि नहीं है और इस अभाव की दृष्टि से ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य में कोई अन्तर नहीं आता। वेदान्त के लिए यह मार्ग उसके दर्शन की पूर्णता की दृष्टि से आवश्यक हो गया था। वेदान्त यह नहीं कह सकता था कि शुद्ध 'चित्' जो ज्ञान चैतन्य मे प्रतिभासित होता है उसको किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता है, न वह यह कह सकता था कि सारे भौतिक स्वरूपों का ज्ञान वैध है। ऐसा कहने से यह सारा जगत् जिसे वह माया का आभास मात्र मानता है सत्य और वैध माना जायेगा। अतः वेदान्त ने मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए कहा कि हमारा सारा भौतिक ज्ञान अवैध और असत्य है क्योकि यह ज्ञान अविद्या-दोष से उत्पन्न होता है। साधारण क्षेत्र मे भी वही ज्ञान सत्य और प्रामाण्य है जो किसी इन्द्रियादि-दोष से मुक्त हो। यदि दोष का अभाव हो तो अन्य और कोई कारण नहीं है जो हमारे ज्ञान के स्वत प्रामाण्य को और उसकी सत्यता को अमान्य ठहरा सके।[१]

वेदान्त का भ्रान्ति सिद्धान्त

पूर्व अध्यायो मे मीमांसा के इस मत का अध्ययन कर चुके है कि ज्ञान सत्य है। इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञान इसीलिए प्रामाणिक है कि वह ज्ञान है—'यथार्थ. सर्वे विवादस्पदी भूता. प्रत्यया. प्रत्ययत्वात्।' भ्रान्ति के सम्बन्ध मे मीमांसा का कथन है कि देखी हुई वस्तु (शुक्ति) और जिस वस्तु की स्मृति के उदय होने से (रजत खंड) भ्रान्ति होती है, उनके भेद को न देखने के कारण भ्रान्ति होती है। यह भ्रान्ति तब तक सत्य रहती है जब तक कि प्रत्यक्षकर्त्ता सीपी को चाँदी के रूप मे उठाने को प्रस्तुत नहीं होता। जैसे ही वह उस सीपी को उठाता है, उसकी भ्रान्ति दूर हो जाती है। वेदान्त इस दृष्टिकोण का विरोधी है। उसका कथन है कि इस भेद के अप्रत्यक्ष से क्या अर्थ है। जिस वस्तु की स्मृति है उसके भिन्नत्व को न देखने से क्या तात्पर्य है। यदि यह कहा जाता है कि दोनो के असम्बन्धित होने के अप्रत्यक्ष से अर्थ है (अर्थात् इस तथ्य को नहीं देखा गया कि इसका चाँदी से कोई सम्बन्ध नहीं है) तो यह केवल अभाव का प्रत्यक्ष है जो दोनों पक्षो मे समान है और मीमांसा मे अभाव का अर्थ स्पष्ट रूप से उस 'भूमि' का भाव है जिस पर अभाव माना जाता है। उदाहरणार्थ 'घड़े का भूमि पर अभाव है' का अर्थ भूमि की उपस्थिति है। यदि इन दोनों मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है तो इससे अर्थ केवल इतना होगा कि

---

[१] 'स्वतः प्रामाण्य' पर 'वेदान्त परिभाषा', 'शिखामणि', 'मणिप्रभा' और 'चित्सुख' नामक ग्रन्थ देखिये।

'चांदी' और 'यह' है। यदि यह मान भी लिया जाए कि इन दोनो वस्तुओ के भेद को परिलक्षित नही किया गया तो इस निषेधात्मक स्थिति से कोई भी मनुष्य किसी प्रकार की कर्मप्रेरणा ग्रहण नही कर सकता। यदि यह कहा जाता है कि यह प्रत्यक्ष दोषपूर्ण था, या सामान्य प्रत्यक्ष था जिसके कारण ठीक से समझ मे नहीं आ सका कि यह चादी है या सीपी, तो भी इस ऊपरी साम्य से कोई व्यक्ति उसको चांदी समझ कर कार्य नहीं करने लगता। जैसे यदि कोई व्यक्ति 'गवय' (जगली गाय) को देखता है वह यह सोचता है कि इसका साम्य गाय से है, परन्तु ऐसा सोच कर वह गवय के साथ वैसा व्यवहार नही करता है जैसा कि गाय के साथ करता है। इस प्रकार मीमासा के मत को किसी भी दृष्टि से देखा जाए यह तर्क-सम्मत नही दिखाई देता।[1] वेदान्त का मत है कि भ्रान्ति केवल आत्मपरक कल्पना नही है। भ्रान्ति उसी प्रकार वास्तविक घटना है जैसे बाह्य वस्तुओं का पार्थिव अस्तित्व है। दोनो मे अन्तर केवल इतना है कि भ्रान्ति इन्द्रियादि-दोष से उत्पन्न होती है और बाह्य जगत् ऐसे किसी विशिष्ट दोष से उत्पन्न न होकर अविद्या-दोष से उत्पन्न होता है। वेदान्त के मतानुसार भ्रान्ति के क्रम मे सर्व-प्रथम इन्द्रिय-दोष के कारण उपस्थित वस्तु के सम्बन्ध मे 'यह है' 'मनोवृत्ति का उदय होता है। पुन. मनोवृत्ति मे और वस्तु मे 'चित्' प्रति-भासित होता है। इस 'चित्', के साथ सलग्न अविद्या मे आन्दोलन होता है जिसका कारण वृत्तिदोष है। इस अविद्या की क्रिया और पूर्व स्मृति के सस्कार के सयोग से चांदी का आभास होने लगता है इस प्रकार इन दो स्पष्ट क्रियाओ मे एक मनोवृत्ति मे चांदी के रूप का पूर्व सस्कार के कारण उदय और दूसरा वास्तविक रजत खण्ड की माया-सृष्टि, इन दोनों का बोध 'साक्षी' चैतन्य' (वह चित जो प्रत्यक्ष कर्त्ता है।) को होता है। इन दोनों भिन्न क्रियाओ का आधार एक ही है ('यह' होने से हमको एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे ज्ञान-भ्रान्ति होती है इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि प्रत्येक चांदी की भ्रान्ति की दशा मे एक रजत-खण्ड की ऐसी 'माया-सृष्टि' होती है जिसका हम शब्दो मे सहज वर्णन नही कर सकते, जिसे वेदान्त ने स्वय 'अनिर्वचनीय' कहा है। वेदान्त के अनुसार 'सत्' के तीन रूप हैं–प्रथम 'पारमार्थिक सत्' है जो शाश्वत, सपूर्ण, सर्वोपरि 'सत्' है। दूसरा 'व्यावहारिक सत्' है जो हमारे नित्य प्रति के सासारिक व्यवहार का सत् है और तीसरा 'प्रातिभासिक सत्' है जिसकी स्थिति हमारी तात्कालिक भ्रान्ति मे है 'व्यावहारिक', 'सत्', जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, तब तक हमारे सारे कर्मों मे व्यवहार रूप मे सत्य प्रतीत होता है। मनुष्य परम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष के पूर्व ही इस व्यावहारिक अनुभूति की निस्सारता का अनुभव करता है। 'प्रातिभासिक सत्' अल्पकाल के लिए होता है क्योंकि इसका दोष हमारे साधारण व्यवहार-जगत् के

[1] इस विषय पर 'विवरण-प्रमेय-सग्रह' और 'न्यायमकरन्द' 'अख्याति'–खण्डन प्रसंग मे देखिए।

अनुभवों में ही प्रकट होता है। यह इन्द्रियादि दोष से उत्पन्न प्रतिभास-मात्र है। जैसे व्यावहारिक जगत् अविद्या का भौतिक परिणाम है और हमारे मानसिक आत्मपरक कल्पना का बिंब न होकर पहले से ही स्थित है इसी प्रकार दोष के कारण शुक्ति में चाँदी की भ्रान्त सत्ता है अविद्या का 'परिणाम' है। इस भ्रान्ति मे अविद्या और इन्द्रिय-दोष के परिणाम स्वरूप रजत-खण्ड की 'अनिर्वचनीय' 'माया-सृष्टि' होती है। इस भ्रान्ति की पृष्ठभूमि मे अन्तःकरण का अविद्या-दोष से वृत्ति परिवर्तन है। अविद्या दोष के परिणामस्वरूप ही यह भ्रान्ति होती है।

'चित्' की दृष्टि से यह भ्रान्ति केवल 'विवर्त्त' है और अविद्या की दृष्टि से 'परिणाम' है। विवर्त्त मे कार्य अथवा फल कारण के स्वरूप मे भिन्न होता है जैसे कारण रूप चित् भ्रान्ति (माया) से भिन्न है। परिणाम मे कारण और कार्य का आन्तरिक तत्त्व एक ही होता है। अत अविद्या तत्त्व के अनुरूप ही रजत का माया-प्रत्यक्ष है। एक शका यहाँ पर उत्पन्न होती है कि यदि अन्त करण की दोष-वृत्ति की पृष्ठभूमि मे स्थित 'चित्' के रजत खण्ड की भ्रान्ति सत्ता मे स्थित चित् के सयोग के कारण उत्पन्न होती है तो इसका स्वरूप 'अहम्' पूर्ण होना चाहिए अर्थात् तब भ्रान्ति यह होनी चाहिए कि 'मैं भी रजत-खण्ड हूँ' जैसे हम यह कहते हैं कि 'मैं सुखी हूं' या 'मै दुखी हूं' वेदान्त इसके उत्तर मे यह समाधान प्रस्तुत करता है कि पूर्व सस्कार का स्मृति आधार 'यह चाँदी है' यह कल्पना है परन्तु जब यह कहा जाता है कि 'मै प्रसन्न हूँ' तब अह-वृत्ति के सयोग मे प्रसन्नता का अनुभव किया जाता है, यहाँ पूर्व-वृत्ति सस्कार का रूप अहंपूर्ण है अत अह के प्रसग मे 'चित्' कार्यशील होता है। 'यह चाँदी है' इस पूर्व-कल्पना वृत्ति-सस्कार मे 'इदम्' रूप पर सस्कार आधारित है, अत दोनों अवस्थाओं मे यद्यपि चित् का सयोग एक ही है, पर सस्कार के अनुसार अनुभूति का प्रसग 'अहं और 'इदम्' मे भिन्न है।

इसी प्रकार निद्रा-दोष से स्वप्नावस्था मे चित् पर इसी प्रकार के भ्रान्ति-जगत् का 'अध्यास' (आरोपण) होता है। स्वप्नानुभूतियो का आधार स्मृति नही हो सकती, क्योकि स्वप्न मे मनुष्य देखता है कि मैं रथ पर सवार बादलो से ऊपर उड रहा हूँ'। स्वप्न मे सारी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती है अत हमारा 'चित्' वस्तु के सम्पर्क मे नहीं आता या वेदान्त की भाषा मे वस्तु चित् की स्थिति का अभाव होता है। परन्तु स्थान, काल, वस्तु आदि की सारी अनुभूतियो का आरोपण (अध्यास) इस आन्तरिक शुद्ध 'चित्' पर होता है, अत जाग्रदवस्था मे स्वप्नानुभूति का क्रम चलते रहना चाहिए। परन्तु वेदान्त का उत्तर है कि कोई भी अनुभूति का क्षण उस समय तक ही रहता है जब तक उस ओर वृत्ति स्थिर रहती है। क्योकि जाग्रत अवस्था मे अन्त.करण भिन्न-भिन्न वृत्तियो मे परिवर्तित होता रहता है अतः यह सम्भव नहीं है कि स्वप्न की अनुभूति जाग्रत् अवस्था मे भी चलती रहे। इस प्रकार निद्रादोष की समाप्ति के साथ

ही अनुभूति का क्रम समाप्त हो जाता है। यह इन स्वप्नानुभूतियो से निवृत्ति है। यह हो सकता है कि जो कुछ स्वप्न मे देखा गया है उसका सस्कार स्मृति मे स्थित हो परन्तु अनुभव क्रम की समाप्ति हो जाती है। 'निवृत्ति' 'बाध' से भिन्न है। जिस सीपी को हम चाँदी के भ्रान्ति रूप मे देख रहे थे, जब उसके सही रूप का ज्ञान हो जाता है तो वह भ्रान्ति की समाप्ति हो जाती है। यह भ्रान्ति की समाप्ति ही 'बाध' कहलाती है। जब हम सीपी को चाँदी के रूप मे देखते हैं तो हम चाँदी को सत् रूप मे देखते हैं अर्थात् चाँदी ही दिखाई देने लगती है। चाँदी के लिए यह 'सत्' भावना भ्रान्ति नही है, यद्यपि चाँदी का अस्तित्व भ्रान्ति सृष्टि है। इस प्रत्यक्ष मे शुक्ति का 'सत्' चाँदी के 'सत्' मे परिवर्तित होकर हमको शुक्ति पर आधारित चाँदी की भ्रान्ति के रूप मे दिखाई देता है। इस प्रकार चाँदी की भ्रान्ति मे दो भ्रान्तियाँ निहित है। पहली अकथनीय चाँदी की उत्पत्ति है—(अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति) और दूसरी भ्रान्ति सीपी की सत् स्थिति का इस 'अनिर्वचनीय' रजत-खण्ड मे न्यास या आरोपण है। इस आरोपण से हमने उस अनिर्वचनीय रजत-कल्पना को सत् रूप प्रदान कर दिया जो वास्तव मे शुक्ति का सत् रूप है। यही न्याय की 'अन्यथा ख्याति' है जिसको वेदान्त भी स्वीकार करता है। वेदान्त का कथन है कि जब इन्द्रियो के समक्ष दो भिन्न वस्तुएँ उपस्थित हो और जब एक के गुणो का दूसरी वस्तु मे भ्रान्त प्रत्यक्ष किया जाए तो यह भ्रान्ति, 'अन्यथा ख्याति' भ्रान्ति कहलाती है। उदाहरण के लिए यदि एक स्फटिक (मणि) और जपा-पुष्प एक स्थान पर उपस्थित हों और यदि कोई यह कहता है कि लाल स्फटिक रखा है तो यह 'अन्यथा ख्याति' होगी। परन्तु यदि एक वस्तु मेरी इन्द्रियो के समक्ष उपस्थित है और अन्य नही है और फिर यदि उस वस्तु की भ्रान्ति होती है तो यह 'अनिर्वचनीय ख्याति' कहलाती है। वेदान्त की दृष्टि से 'अन्यथा ख्याति' की कल्पना भी आवश्यक है, क्योकि वेदान्त के अनुसार ससार के सत् की कल्पना का आधार ब्रह्म है जो शाश्वत सत् है और जो हमारे जीव चित् मे सदैव हमारी सासारिक अनुभूतियों को प्रकाशित करता है। अत ब्रह्म के सत् को हम ससार मे स्थापित कर इस माया जगत् को सत्य मान लेते है। इस प्रकार यह सासारिक प्रपच केवल मायाभास है, इस आभास मे हम सत् ब्रह्म के गुणो को आरोपित कर देते है। यह ब्रह्म के गुणारोपण की ससार मे 'अन्यथा ख्याति' है। इस सारे विश्व मे एक ब्रह्म ही सत्य और शाश्वत तत्त्व है।

वेदान्त का नीति-शास्त्र और मोक्ष-सिद्धान्त

वेदान्त के अनुसार जब योग्य पात्र अपने गुरु से यह दीक्षा प्राप्त कर लेता है कि 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तुम ही वह ब्रह्म हो' तो उसे मोक्ष-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह संसार निस्सार और थोथा दिखाई देने लगता है। वेदान्त के अध्ययन के लिए पात्रता-प्राप्ति के पूर्व निम्न गुणों की आवश्यकता है प्रथम, जिसने वैदिक साहित्य, कोष,

व्याकरण आदि सारे उपांगों सहित वेदों का अध्ययन किया हो। द्वितीय, जो पूर्वजन्मों में और इस जन्म में प्रार्थना, उपासना आदि 'नित्यकर्म' करता रहा हो। इसके साथ ही सोलह सस्कार आदि 'नैमित्तिक कर्मों' को भी यथाविधि करता रहा हो। जिसने अपनी स्वार्थमयी भावना पर विजय प्राप्त कर ली हो और जिसे स्वर्ग की भी कामना न रह गई हो। अतः जिसने सारे 'काम्यकर्मो' का भी परित्याग कर दिया हो। जिसने साथ ही 'निषिद्ध कर्मों' जैसे हिंसादि विचारो को भी अपने मन से निकाल दिया हो, जिससे उसका चित्त शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों के बन्धन मे मुक्त हो गया हो। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि नित्य और नैमित्तिक कर्मों से कर्म-बन्धन की उत्पत्ति नही होती। इस प्रकार जिसने अपने मन को उपर्युक्त चर्या से पवित्र कर लिया हो और जिसने निम्न चार गुणो को धारणा कर लिया हो, वही वेदान्त साधना का अधिकारी पात्र माना जाता है। ये चार गुण इस प्रकार हैं:—(१) शाश्वत और अशाश्वत (क्षणिक) का पूर्ण ज्ञान (२) इस पृथ्वी और स्वर्ग के सुखो की कामना का परित्याग (३) सारे सुखो के प्रति वितृष्णा और विराग तथा सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा (४) इन्द्रियो का सयम जिससे इन्द्रियाँ केवल सत्य ज्ञान की ओर प्रवृत्त हो—(दम)। इसके पश्चात् उसको चाहिए कि वह 'उपरति' का अभ्यास कर पुन. प्रवृत्त न हो। उपरति के साथ वह 'तितिक्षा' का अभ्यास करे (कष्ट-सहिष्णुता), जिससे उसे सर्दी-गर्मी आदि का कष्ट पीड़ित न करे। सत्य ज्ञान के प्रति निष्ठा और गुरू और उपनिषदो मे श्रद्धा रखता हुआ मोक्ष की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित होकर उपनिषदो का 'श्रवण' अध्ययन और मनन (विचार) करे। इस प्रकार जीवन व्यतीत करता हुआ पुन:, निदिध्यासन' की ओर प्रवृत्त हो जिसमे ध्यान-योग के द्वारा सारे ससार में एक ब्रह्म की व्याप्ति के महान् सत्य को हृदयंगम कर ब्रह्म-प्राप्ति का प्रयत्न करता रहे। अर्थात् यह विचार करे कि ब्रह्म के अनन्तर इस ससार मे कुछ नही है, ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करने के लिए अपने आपको सुसज्जित करे। वेदान्त योग की क्रिया मे उन सारे तत्वो को स्वीकार करता है जो (साख्य) योग मे आवश्यक हैं। अन्तर केवल इतना है कि साख्य-योग मे 'पुरुष' और प्रकृति के भेद को समझ पाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है और वेदान्त मे ब्रह्म के स्वरूप को सत्य मान कर उसकी अनुभूति से मोक्ष-प्राप्ति होती है। जिसने 'अहं ब्रह्मास्मि'[१] का अनुभव कर लिया उसे फिर और कुछ जानने को नही रहता वह संसार के सारे माया-बन्धनो से मुक्त हो जाता है। वेदान्त का मत है कि श्रेय की प्राप्ति के हेतु वैदिक आदेशों का पालन कर कर्मकाड में प्रवृत्त होना साधारण मनुष्यो के लिए उचित है। वाचस्पति मिश्र का विश्वास है कि वैदिक कर्मादेशो के पालन से सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य मे पात्रता की वृद्धि होती है परन्तु उच्चतम लक्ष और ध्येय उपनिषदो की महान् शिक्षा के अनुसार सत्य-ज्ञान

[१] 'वेदान्त सार' और 'अद्वैत-ब्रह्म सिद्धि' देखिए।

को प्राप्त कर जीव का ब्रह्मानन्द में लीन होना है। प्रकाशात्म और उनके अनुयायियों का मत है कि वैदिक कर्मों के करने से न केवल पात्रता में वृद्धि होती है परन्तु सद्गुरु की कृपा प्राप्त होती है और साधना के मार्ग की सारी बाधाओं का अन्त हो जाता है।

अज्ञान के अल्प स्वरूप साधारण ज्ञान से ही नष्ट हो जाते हैं। परन्तु ब्रह्म-ज्ञान के उदय के साथ अज्ञान का मूल नाश हो जाता है। यद्यपि ब्रह्म ज्ञान का उदय भी इसकी प्रारम्भिक अवस्था मे ज्ञान की एक अवस्था है परन्तु वह इतना विलक्षण है कि जब उसका उदय होता है तो ज्ञान की वह स्थिति भी जिसमें ब्रह्मज्ञान उदित होता है (और जो वृत्ति होने के कारण स्वय अज्ञान का ही स्वरूप है) उसके द्वारा नष्ट हो जाता है। जब वह स्थिति नष्ट हो जाती है तो अनत और असीम शुद्ध ब्रह्म ज्ञान अपने पूर्ण प्रकाश मे चमकने लगता है। इसीलिए कहा गया है कि जिस प्रकार एक काष्ठ खड मे सद्भूत अग्नि पहले सारे नगर को जलाती है और फिर उस काष्ठ खड को भी जला देती है उसी प्रकार अन्तिम ज्ञान-स्थिति मे प्रकट हुआ ब्रह्मज्ञान समस्त मायामय दृष्य प्रतिभासो को तो नष्ट कर ही देता है, अन्त मे उस अन्तिम ज्ञान स्थिति को भी नष्ट कर देता है।[1]

मुक्ति की अवस्था वह होती है जिसमे विशुद्ध ब्रह्मज्ञान का प्रकाश अनन्त चित्, सत् और आनन्द के घन रूप मे विलक्षण रूप से चमकने लगता है और समस्त ज्ञान माया और भ्रम की तरह विलीन हो जाते है। जिस प्रकार इस प्रपच की सारी सत्ता उस एक अखण्ड सत्ता का ही प्रतिफलन है उसी प्रकार सारे आनन्द भी उसी चरम आनन्द के स्वरूप है जिसका कुछ आभास हमे स्वप्न-रहित गहरी निद्रा से हो सकता है। ब्रह्म की सत्ता अन्य दृश्य सत्ताओ से पृथक् और अमूर्त धारणा मात्र नही है जैसा कि नैयायिको की सत्ता (जाति के अर्थ मे) होती है किन्तु वह यथार्थ और वास्तविक सत्ता है जो शुद्ध चित् और आनन्द के साथ अपने पूर्णत्व में प्रतिभासित होती है। सत् ही शुद्ध चित् और शुद्ध आनन्द है। अब, मुक्ति के समय अविद्या कहाँ जाती है इस प्रश्न का उत्तर देना उतना ही कठिन है जितना यह कि अविद्या कैसे प्रकट हुई और प्रपच मे कैसे व्याप्त है? यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि अनिर्वचनीय अविद्या का उद्भव स्थिति और विनाश भी अनिर्वचनीय है। वेदान्त की मान्यता है कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी कुछ समय तक शरीर रह सकता है, यदि व्यक्ति के पूर्वाजित कर्म बचे रहे। अत मुक्त व्यक्ति भी सामान्य साधक की भांति चलता फिरता रह सकता है, किन्तु वह मोक्ष प्राप्त कर चुकने के कारण नए कर्मों मे लिप्त नही होता ज्यो ही पूर्व कर्मों के फल पूर्ण होकर समाप्त हो जाते है त्योंही उसका शरीर भी मुक्त हो जाता है और उसके बाद उसका आगे जन्म नहीं होता क्योंकि चरम ज्ञान के उदय के कारण उसके अनादि पूर्व जन्मों के सारे कर्म नष्ट हो जाते है, वह किसी भी

---

[1] सिद्धान्तलेश।

मायात्मक ज्ञान में लिप्त नहीं होता जिससे कि उसमें कोई ज्ञान कर्म या भावना पैदा हो सके, ऐसे व्यक्ति को जीवन मुक्त कहा जाता है अर्थात् जीते हुए भी मुक्त। उसके लिए 'समस्त प्रपंच समाप्त समझना चाहिए। वह स्वतः प्रकाश आत्मज्ञान स्वरूप हो जाता है और उस स्थिति में अन्य समस्त स्थितियाँ विलीन (विलुप्त) हो जाती हैं।[1]

वेदान्त तथा अन्य भारतीय दर्शन शाखायें

वेदान्त न्याय के बिल्कुल विपरीत दिशा मे जाने वाला दर्शन है और वह सशक्त तर्कवादो द्वारा उसका खण्डन करता है, स्वयं शकर अपने वेदान्त का आरम्भ न्याय दर्शन के सिद्धान्तो मे विरोध और असगतीथ बताते हुए करते हैं जैसे कारण-सिद्धान्त, अणुवाद, समवाय सम्बन्ध, जाति का सिद्धान्त इत्यादि।[2] उसके अनुयायियो ने और भी बढ चढ कर न्याय का खडन किया जैसा कि श्री हर्ष, चित्सुख, मधुसूदन इत्यादि के सर्को मे देखा जा सकता है। मीमासा से इसका विभेद इस बात से स्पष्ट है कि इसने न्याय वैशेषिक के पदार्थ स्वीकार किए है किन्तु इसमे मीमासा के प्रमाण (अनुपात, उपमिति, अर्थापत्ति, शब्द तथा अनुपलब्धियो) के यों मान लिए गए हैं। ज्ञान के स्वतन्त्र प्रामाण्य और स्वत. प्रकाश होने के सिद्धान्त का जो वेदान्त ने माना है, मीमासा भी समर्थन करती है। किन्तु कर्मकाड के बारे मे मीमांसा से इसका मतभेद है और इस बात पर वेदान्त मे बडा शास्त्रार्थ हुआ है कि वेद-विहित कर्मकाण्ड केवल सामान्य व्यक्तियो के लिए है किन्तु उनके स्तर से ऊपर उठे हुए व्यक्तियो के लिए वैदिक कर्मकाड की आवश्यकता नही क्योंकि उन्हे चरम, ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए, कर्मकाड तो तब तक ही आवश्यक हैं जब तक, इन सबसे परे, ज्ञान कांड का स्वाध्याय और वेदात-विद्या की साधना मे व्यक्ति नही लग जाता।

साख्य और योग के साथ वेदान्त का अधिक निकट सम्बन्ध है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वेदान्त मे आत्म-शुद्धि इत्यादि वे सभी साधन स्वीकार किए हैं जो योग ने बतलाए थे। वेदान्त और साख्य मे यह मुख्य अन्तर है कि साख्य के अनुसार जगत् के कारणभूत तत्व, पुरुषो के समान, वास्तविक हैं। बाद में जाकर वेदान्त ने भी साख्य के समान यह मान लिया कि वह अनेक जगह माया को सत्व, रज और तम, इन तीन गुणो से बनी मानता है।

वेदान्त ने यह भी माना कि इन तीन तत्वो के कारण माया के विभिन्न स्वरूप बन जाते है। वह ईश्वर को शुद्ध सत्व से बना चैतन्य मानता है। किन्तु वेदान्त में सत्व, रज और तम गुणो के रूप मे माने गए हैं, साख्य की तरह तत्वों के रूप मे नही।

---

[1] देखे, पचदशी।

[2] देखें, शंकर द्वारा न्यायमत का खडन, शाकर भाष्य ११-२।

इसके अतिरिक्त दृश्य प्रपंच-रूपी माया के अनेक रूपों के वर्णन के बावजूद उसे अनिर्वचनीय माना गया है और उसका स्वरूप सबसे विलक्षण बतलाया गया है। उसे नितांत अयथार्थ, शून्य भ्रमात्मक बताया गया है जिसका अस्तित्व केवल आभासात्मक है। प्रकृति को भी अनिर्वचनीय और अपरिभाष्य कहा गया है (उसके स्वरूप का संकेत करने के बावजूद उसे अलक्षण ही माना गया है) तथापि उसे तत्वों के समूह के रूप में देखा गया है। उसे स्वरूप देने वाले तत्व जब तक आपस में नहीं मिलते तब तक उसके कोई भी लक्षण या गुण प्रकट नही होते जिनसे उसका निर्वचन किया जा सके, अतः उसे अलक्षण कहा गया। माया को अव्याख्येय और अनिर्वचनीय कहा गया। सांख्य के अनुसार आत्मा को अलग-अलग इकाई माना गया था जबकि वेदांत मानता है कि कुल मिलाकर आत्मा एक है जो माया के कारण विभिन्न रूपो मे दिखती है। साख्य जिस प्रकार अध्यास या भ्रम मानता है उस प्रकार वेदान्त में भी है किन्तु साख्य में अध्यास का स्वरूप, प्रकृति और पुरुष मे भेद ना कर पाना माना गया है जबकि वेदान्त मानता है कि उनमे न केवल भ्रान्ति होती है किन्तु मिथ्या और अनिर्वचनीय धारणा भी। साख्य मे कारणता सिद्धान्त वास्तविक रूपान्तरण के रूप में बतलाया गया है किन्तु वेदान्त मे सारी सृष्टि आभास मात्र है। यद्यपि इस प्रकार के अनेक विभेद है किन्तु ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्भवतः उपनिषद् काल मे जब साख्य और वेदात की दर्शन धाराएँ उद्भूत हुई थीं उस समय लगभग समान स्रोतों से ही ये निकली, उनमे केवल प्रवृत्तियो का ही अन्तर था, किन्तु बाद मे जाकर उनमे स्पष्ट विभेद दिखलाई देने लगा। यद्यपि शकर ने यह सिद्ध करने का पूरा प्रयत्न किया है कि उपनिषदो मे साख्य के सिद्धान्त नही पाए जाते किन्तु उसके निर्वचनों और तर्कों से सहमत नहीं हुआ जा सकता। ज्यो-ज्यो उसके तर्कों को हम देखते हैं, हमारी यह धारणा बलवती होती जाती है कि साख्य की मूल धारणाओ का स्रोत भी उपनिषदें ही रही होंगी। शंकर और उसके अनुयायी बौद्धों के तर्क की द्वन्द्वात्मक पद्धति का ही अनुसरण करते पाए जाते हैं। शकर का ब्राह्मण नागार्जुन के शून्य के बहुत निकट लगता है। एक तत्व के रूप मे शुद्ध सत्ता और शुद्ध असत् मे भेद करना कठिन है। बौद्ध विज्ञानवाद के स्वय-प्रकाशता सिद्धान्त पर शकर का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। विज्ञानभिक्षु आदि आचार्यों ने शकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है और इसमें बहुत सच्चाई मालूम होती है। मेरी भी यह मान्यता बनती है कि शकर का दर्शन प्रमुखत बौद्धो के विज्ञानवाद और शून्यवाद की समन्वय है जिसमे आत्मा के अमरत्व का सिद्धान्त जोड़ दिया गया है।

—oo—